हिंदी - रसगंगाधर

(द्वितीय भाग)

पुरुषोत्तम शर्मा
चतुर्वेदी

परिचय

जयपुर राज्य के शेखावटी प्रांत में खेतड़ी राज्य है। वहाँ के राजा श्री अजीतसिंह जी बहादुर बड़े यशस्वी और विद्याप्रेमी हुए। गणितशास्त्र में उनकी अद्भुत गति थी। विज्ञान उन्हें बहुत प्रिय था। राजनीति में वह दक्ष और गुणग्राहिता में अद्वितीय थे। दर्शन और अध्यात्म की रुचि उन्हें इतनी थी कि विलायत जाने के पहले और पीछे स्वामी विवेकानंद उनके यहाँ महीनों रहे। स्वामी जी से घंटों शास्त्र-चर्चा हुआ करती। राजपूताने में प्रसिद्ध है कि जयपुर के पुण्यश्लोक महाराज श्रीरामसिंहजी को छोड़कर ऐसी सर्वतोमुख प्रतिभा राजा श्रीअजीतसिंह जी ही में दिखाई दी।

राजा श्रीअजीतसिंह जी की रानी आउआ (मारवाड़) की चंपावत जी के गर्भ से तीन संतति हुईं—दो कन्याएँ, एक पुत्र। ज्येष्ठ कन्या श्रीमती सूरजकुँवर थीं जिनका विवाह शाहपुरा के राजाधिराज सर श्रीनाहरसिंहजी के ज्येष्ठ चिरंजीव और युवराज राजकुमार श्रीउमेदसिंहजी से हुआ। छोटी कन्या श्रीमती चाँदकुँवर का विवाह प्रतापगढ़ के महारावल साहब के युवराज महाराजकुमार श्रीमानसिंह जी से हुआ। तीसरी संतान जयसिंह जी थे जो राजा श्रीअजीतसिंह जी और रानी चंपावत जी के स्वर्गवास के पीछे खेतड़ी के राजा हुए।

इन तीनों के शुभचिंतकों के लिये तीनों की स्मृति संचित कर्मों के परिणाम से दुःखमय हुई। जयसिंह जी का स्वर्गवास सत्रह वर्ष की अवस्था में हुआ और सारी प्रजा, सब शुभचिंतकों, संबंधियों, मित्रों और गुरुजनों का हृदय आज भी उस आँच से जल ही रहा है। अश्वत्थामा

के व्रण की तरह यह घाव कभी भरने का नहीं। ऐसे आशामय जीवन का ऐसा निराशात्मक परिणाम कदाचित् ही हुआ हो। श्रीसूर्य्यकुमारी जी को एक मात्र भाई के वियोग की ऐसी ठेस लगी कि दो ही तीन वर्ष में उनका शरीरांत हो गया। श्रीचाँदकुँवर बाई जी को वैधव्य की विषम यातना भोगनी पड़ी और भ्रातृ-वियोग और पति-वियोग दोनों का असह्य दुःख वे झेल रही हैं। उनके एक मात्र चिरंजीव प्रतापगढ़ के कुँवर श्रीरामसिंहजी से मातामह राजा श्री अजीतसिंह जी का कुल प्रजावान् है।

श्रीमती सूर्यकुमारी जी के कोई संतति जीवित न रही। उनके बहुत आग्रह करने पर भी राजकुमार श्रीउमेदसिंह जी ने उनके जीवन-काल में दूसरा विवाह नहीं किया। किंतु उनके वियोग के पीछे, उनके आज्ञानुसार, कृष्णगढ़ में विवाह किया जिससे उनके चिरंजीव वंशांकुर विद्यमान हैं।

श्रीमती सूर्यकुमारी जी बहुत शिक्षिता थीं। उनका अध्ययन बहुत विस्तृत था। उनका हिंदी का पुस्तकालय परिपूर्ण था। हिंदी इतनी अच्छी लिखती थीं और अक्षर इतने सुंदर होते थे कि देखनेवाला चमत्कृत रह जाता। स्वर्गवास के कुछ समय के पूर्व श्रीमती ने कहा था कि स्वामी विवेकानंद जी के सब ग्रंथों, व्याख्यानों और लेखों का प्रामाणिक हिंदी अनुवाद मैं छपवाऊँगी। बाल्यकाल से ही स्वामी जी के लेखों और अध्यात्म, विशेषतः अद्वैत-वेदांत, की ओर श्रीमती की रुचि थी। श्रीमती के निर्देशानुसार इसका कार्यक्रम बाँधा गया। साथ ही श्रीमती ने यह इच्छा प्रकट की कि इस संबंध में हिंदी में उत्तमोत्तम ग्रंथों के प्रकाशन के लिये एक अक्षय निधि की व्यवस्था का भी सूत्रपात हो जाय। इसका व्यवस्थापत्र बनते न बनते श्रीमती का स्वर्गवास हो गया।

महाराज कुमार उम्मेदसिंह जी ने श्रीमती की अंतिम कामना के अनुसार—

२०००० बीस हजार रुपये देकर काशी-नागरी प्रचारिणी सभा के द्वारा इस 'सूर्यकुमारी ग्रंथमाला' के प्रकाशन की व्यवस्था की।

३०००० तीस हजार रुपये के सूद से गुरुकुल विश्वविद्यालय काँगड़ी में 'सूर्यकुमारी आर्य भाषा गद्दी या चेयर' की स्थापना की।

५००० पाँच हज़ार रुपये से उपर्युक्त गुरुकुल में चेयर के साथ ही सूर्यकुमारी निधि की स्थापना कर सूर्यकुमारी ग्रंथावलि के प्रकाशन की व्यवस्था की।

५००० हजार रुपये दरबार हाई स्कूल, शाहपुरा में सूर्यकुमारी विज्ञान-भवन के लिये प्रदान किए।

इस सूर्यकुमारी ग्रंथमाला में स्वामी विवेकानंद जी के यावत् निबंधों के अतिरिक्त और भी उत्तमोत्तम ग्रंथ छापे जायँगे और लागत से कुछ अधिक मूल्य पर सर्वसाधारण के लिये सुलभ होंगे। ग्रंथमाला की बिक्री से होनेवाली आय इसी में लगाई जायगी। यों श्रीमती सूर्यकुमारी जी तथा श्रीमान् महाराजकुमार उम्मेदसिंह जी के पुण्य तथा यश की निरंतर वृद्धि होगी और हिंदी-भाषा का अभ्युदय तथा उसके पाठकों को ज्ञान लाभ होगा।

श्रीहरिः

निवेदन

नवविकसितनीलनीरजातद्युतिहारिस्वशरीरसौभगेन ।
मदनमददमाय दत्तपत्रं व्रजवनिता दयितं विभुं स्मरामः ॥

परिस्थिति

प्रथम भाग के लेखन के समय जैसी परिस्थिति थी, प्रायः वैसी ही परिस्थिति में यह भाग भी लिखा गया है। यद्यपि संयोगवशात् इस भाग का आरंभ और समाप्ति दोनों ही जूनागढ़ हवेली के अधिपति गोस्वामी श्री पुरुषोत्तमलालजी महाराज के यहाँ रहते हुए ही हुए, तथापि कुछ अंश को छोड़कर इस भाग का सर्वांश बंबई के श्री गोकुलाधीश-मंदिर के अधिपत्ति गोस्वामी श्री मग्नलालजी (उपनाम श्री गोपिका-वल्लभजी) महाराज के आश्रय में ही लिखा गया है। और, मुझे उनकी सहृदयता तथा सज्जनता की भूरि भूरि प्रशंसा करनी चाहिए कि उनके सद्व्यवहार ने मुझे इस घोर परिश्रम-साध्य कार्य के करने में कभी निराश अथवा हतोत्साह नहीं होने दिया। यद्यपि इसके लिखते समय एक बार भयंकर उदर-शूल के कारण, जिसने लगभग आठ महीने मेरा पिंड नहीं छोड़ा, ऐसा प्रतीत होने लगा था कि

यह कार्य अधूरा ही रह जायगा, तथापि श्री गोवर्धनधरण की दया से किसी तरह उत्प्रेक्षांत भाग तो समाप्त हो ही गया। इस भाग के लिखते समय भी मुझे यद्यपि सी० पी० के नागपुर, वर्धा, हिंगनघाट आदि तथा गुजरात के अहमदाबाद, नडियाद आदि और मारवाड़ के जयपुर, जोधपुर आदि के अतिरिक्त काठियावाड़ के अनेक गावड़ों में भटकना पड़ा है, तथापि इसका अधिकांश भाग बंबई और वेरावल बंदर (प्रभास क्षेत्र) में ही लिखा गया है; क्योंकि हमारा अधिकांश वास उन दिनों वहीं रहा।

अनुवाद

अनुवाद के विषय में इतना कहना आवश्यक है कि हमने इस भाग में पद्यों का पद्यानुवाद नहीं रखा; क्योंकि एक तो इससे वैसे ही पुस्तक बहुत बड़ी हो जाती और दूसरे उसके लिये समय भी अधिक चाहिए था, जिसका हमारे पास प्रायः अभाव था।

विषय-विवेचन

भूमिका का यह अंश हमने यद्यपि द्वितीय भाग में भी प्रथम भाग की तरह ही रखा है और इसके लिये परिस्थिति-वश हमें कष्ट भी अधिक उठाना पड़ा है (विशेषतः अलंकार भाग के लिये, जिसे हम अभी दे भी नहीं रहे हैं) तथापि जैसे प्रथम भाग में अवकाशाभाव से भावों के विषय में

विशेष नहीं लिखा जा सका वैसे ही इस भाग में भी अलंकारों के विषय में (बहुत कुछ अंश तैयार होने पर भी) अधूरा रहने के कारण कुछ भी न दिया जा सका। यदि ईश्वरेच्छा से तीसरा भाग प्रकाशित हुआ तो वह समग्र अंश उसके साथ दे दिया जायगा।

इस विषय में हम इतना कह देना आवश्यक समझते हैं कि इस भाग में जो 'काव्य के आत्मा' के विषय में विचार किया गया है वह पूर्णतया प्राचीन होते हुए भी साहित्य-दर्पण के अनुकूल नहीं है। आजकल लोग साहित्य-दर्पण के अनुसार 'रस' को ही काव्यात्मा मानने लग गए हैं। पर हम अपनी बुद्धि के अनुसार जहाँ तक समझ पाए हैं ध्वन्यालोक, काव्यप्रकाश और रसगङ्गाधर के कर्त्ताओं के मत अलंकारसर्वस्वकार के ही अनुकूल पाते हैं और इसलिये हमने केवल रस को नहीं, किंतु त्रिविध (वस्तु, अलंकार और रस रूप) व्यंग्य को काव्य का आत्मा लिखा है। इस विषय में मतभेद को अवकाश है, और यदि कोई सहृदय विद्वान् निष्पक्ष होकर इस विषय में कुछ विचार करना चाहेंगे तो हम उनके विचारों को सोचने, समझने और स्वीकार करने के लिये अवश्य उद्यत हैं, पर इसमें संदेह नहीं कि इस पुस्तक में जो विचार हमने प्रकट किए हैं अभी तक हम उन्हीं विचारों के हैं। अतः यहाँ हम यह स्पष्ट कर देना चाहते हैं कि—इस भाग के छपते समय अलंकार प्रकरण के

आरंभ में (पृ० १८५) 'काव्य का आत्मा है (रस)' इस वाक्यांश में जो 'रस' शब्द लिख दिया गया है वह 'संपादक जी' का है, हमारा नहीं। हमारे हिसाब से तो रसगङ्गा-धरकार त्रिविध व्यंग्य को ही काव्य का आत्मा मानते हैं।

प्रोत्साहन

प्रथम भाग यद्यपि वैसी परिस्थिति में लिखा गया था, तथापि अनेक विद्वानों ने उसकी लिखित और प्रकाशित प्रति को विवेचनापूर्ण दृष्टि से देखकर और हमारे श्रम की प्रशंसा करके हमको पूर्णतया प्रोत्साहित किया है। उनमें से मुख्य मुख्य मान्य विद्वानों के नाम धन्यवाद सहित नीचे लिखे जाते हैं।

स्थानाभाव तथा आत्मप्रशंसा को उचित न समझने के कारण उनकी विस्तृत सम्मतियाँ यहाँ नहीं दी जा सकीं, इसके लिये हम क्षमा चाहते हैं।

महामहोपाध्याय श्री गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी, प्रिंसिपल संस्कृत कालेज, जयपुर।

* स्व० महामहोपाध्याय श्री हरनारायणजी शास्त्री, प्रोफेसर, हिंदू कालेज, देहली।

---

* हमें खेद के साथ लिखना पड़ता है कि म० म० श्री हरनारायण शास्त्रीजी की द्वितीय भाग देखने की प्रबल इच्छा थी और उन्होंने मुझसे कहा भी था, किंतु हमारे अभाग्यवश वे इस भाग के प्रकाशन से पूर्व ही स्वर्गवासी हो गए।

स्व० महामहोपाध्याय श्री रामकृष्ण शास्त्री, अहमदाबाद (गुजरात)

स्व० महामहोपाध्याय श्री देवीप्रसाद कविचक्रवर्त्ती, काशी।

श्रीमान् बालकृष्णजी मिश्र, दर्शनशास्त्राध्यापक, विश्व-विद्यालय, काशी।

स्व० श्रीमान् भट्ट नंदकिशोरजी शास्त्री, आशुकवि, विद्या-विभागाध्यक्ष, श्री नाथद्वारा।

श्रीमान् बालकृष्णजी शास्त्री, भूतपूर्व प्रधानाध्यापक, श्री गोवर्द्धन संस्कृत पाठशाला, नाथद्वारा।

श्रीमान् मार्कण्डेय मिश्र, प्रधानाध्यापक, श्री गोवर्धन पाठ-शाला, नाथद्वारा।

श्रीमान् चंद्रदत्तजी ओझा, व्याकरणाचार्य, वाइस-प्रिंसिपल, संस्कृत कालेज, जयपुर।

स्व० श्रीमान् बिहारीलालजी साहित्य-वेदांताचार्य, भू० पू० साहित्य-प्रधानाध्यापक, जयपुर।

श्रीमान् भट्ट मथुरानाथजी शास्त्री, साहित्याचार्य, साहित्य-प्रधानाध्यापक, जयपुर।

* श्रीमान् साहित्याचार्य विश्वेश्वरनाथजी रेउ, अध्यक्ष पुरातत्त्व विभाग, जोधपुर।

---

* आपने सरस्वती में समालोचना लिखी थी। आपने हमें जोधपुर राजकीय पुस्तकालय से प्रथम भाग और द्वितीय भाग की भूमिका लिखते समय अनेक पुस्तकें देकर भी अनुगृहीत किया था। तदर्थ अनेक धन्यवाद।

* श्रीमान् परमेश्वरानंदजी शास्त्री, संस्कृत प्रधानाध्यापक, सनातन धर्म कालेज, लाहौर।

उपसंहार

अंत में हम श्री गोवर्धनधरण से विनम्र प्रार्थना करते हैं कि वह इस परिश्रम से संपादित अनुवाद को विद्वानों का प्रेमभाजन बनावे।

गणेशचतुर्थी
सं० १९९४

पुरुषोत्तम शर्म्मा चतुर्वेदी,
मेयो कालेज, अजमेर।

---

* आपने हिंदी रसगंगाधर के कई हिंदी पद्य 'अलंकार-कौमुदी' नामक स्व-रचित ग्रंथ में उद्धृत भी किए हैं।

श्रीहरिः

विषय-विवेचन

(द्वितीय भाग)

उपक्रम

प्रथमानन में 'ध्वनि-काव्य (उत्तमोत्तम काव्य)' के भेदों का निरूपण करते हुए यह लिखा जा चुका है कि—'ध्वनि-काव्य' के पाँच भेद हैं; रसध्वनि, वस्तुध्वनि, अलंकारध्वनि, अर्थांतरसंक्रमित वाच्यध्वनि और अत्यंत तिरस्कृत वाच्यध्वनि। और साथ ही यह भी लिखा जा चुका है कि—इन भेदों में से पहले तीन अभिधामूलक हैं और शेष दो लक्षणामूलक।

इन पाँचों में से 'रसध्वनि' का सविस्तर वर्णन प्रथमानन के अंत तक किया जा चुका है। इस 'आनन' के आरंभ में शेष चार ध्वनि-काव्यों का वर्णन किया गया है और अवशिष्ट भाग में अलंकारों का। अभिधामूलक और लक्षणामूलक ध्वनियों के प्रसंग से, मध्य में, अभिधा और लक्षणा का भी यथेष्ट वर्णन कर दिया गया है। यह है द्वितीय 'आनन' के विषयों का संक्षेप।

'ध्वनि' शब्द के अर्थ

उक्त ध्वनियों के विवेचन से पूर्व हम यह आवश्यक समझते हैं कि—'ध्वनि' शब्द संस्कृत-भाषा में किन किन अर्थों में व्यवहृत होता है इसका निरूपण कर दिया जाय। 'ध्वनि' शब्द साहित्य-शास्त्र में पाँच* अर्थों में आता है—शब्द, शब्द की एक शक्ति व्यंजना, रस आदि पूर्वोक्त पाँचों व्यंग्य, रस आदि व्यंग्यों की प्रतीति—अर्थात् ध्वनित होना और उत्तमोत्तम काव्य।

इनमें से प्रकृत अनुवाद में हमने प्रायः 'व्यंग्य' और 'उत्तमोत्तम काव्य' के अर्थ में ही 'ध्वनि' शब्द का व्यवहार आवश्यकतानुसार किया है। पाठकों को क्लिष्टता न जान पड़े इसलिये अन्य अर्थों में 'ध्वनि' शब्द का प्रयोग हमने नहीं किया। इतने पर भी यदि संस्कृत भाषा के अनवरत अभ्यास के कारण कहीं अन्य अर्थों में 'ध्वनि' शब्द का प्रयोग हो गया हो तो पाठक प्रसंगानुसार यथोचित अर्थ समझ लें—यह प्रार्थना है।

---

* इह काव्यपुरुषावतारस्य ध्वनिकारस्य व्यवहारात्—ध्वनतीति ध्वनिः शब्दः, ध्वन्यतेऽनेनेति ध्वनिः शब्दादिशक्तिः, ध्वन्यत इति ध्वनिः रसादिरर्थः, ध्वननं ध्वनिरिति रसादिप्रतीतिः, ध्वन्यतेऽस्मिन्निति ध्वनिः काव्यम् इत्येवं ध्वनियोगा उपलभ्यन्ते। इति सा० द० भूमिकायां म० म० श्री दुर्गाप्रसादद्विवेदमहाभागाः।

काव्य का आत्मा

प्रथमानन की भूमिका की टिप्पणी में हम 'काव्य की आत्मा' के विषय में कुछ प्रसिद्ध विद्वानों के मत दिखा चुके हैं और यह प्रतिज्ञा भी कर चुके हैं कि इन पर विस्तृत विचार द्वितीयाननन की भूमिका में किया जायगा। इस ग्रंथ के कर्त्ता ने* 'व्यंग्य' अर्थ को काव्य की आत्मा माना है, अतः व्यंग्य अर्थ के भेदों पर विचार करने से पूर्व उक्त विषय पर विचार कर लेना प्रसंगप्राप्त है, इसलिये यहाँ इस विषय का विचार किया जाता है। संक्षेप में अब तक 'काव्यात्मा' के विषय में सात मत प्राप्त होते हैं, जो निम्नलिखित हैं—

१—**रस** (अग्निपुराण)।

---

*"अस्य प्रागभिहितलक्षणस्य **काव्यात्मनो व्यंग्यस्य** रमणीयता-प्रयोजका अलंकारा निरूप्यन्ते।"

द्वितीय आनन, उपमा का आरंभ

यहाँ व्यंग्य शब्द का अर्थ केवल रस कहना ग्रंथकार के आशय के विरुद्ध है; क्योंकि एक तो काव्यलक्षण के विवेचन के अवसर पर ही स्वयं ग्रंथकार ने लिखा है कि "यत्तु रसवदेव काव्यम्' इति साहित्य-दर्पणे निर्णीतम्, तन्न। वस्त्वलंकारप्रधानानां काव्यानामकाव्यत्वा-पत्तेः......" इत्यादि। दूसरे, अलंकारों से उपस्कार्य प्रधान व्यंग्यों में भी उन्होंने तीनों तरह के व्यंग्यों को प्रधान माना है। देखिए "इयं चैव-भेदोपमा **वस्त्वलङ्काररसरूपाणां प्रधानव्यङ्ग्यानां** वस्त्वलङ्कारयोर्वाच्ययोश्चोपस्कारकतया पंचधा"।

(काव्यमालासंस्करण पृष्ठ १८२) इत्यादि।

२—**रीति**—अर्थात् विशेष प्रकार की पद-रचना (वामन)।

३—**वक्रोक्ति**—अर्थात् उक्ति की विचित्रता (कुंतक) ।

४—**भोग**—अर्थात् आस्वादन अथवा रसव्यंजना (भट्टनायक) ।

५—**ध्वनि**—अर्थात् चमत्कारी व्यंग्य अर्थ (ध्वनि-कार और उनके अनुयायी) ।

६—**असंलक्ष्यक्रम व्यंग्य** अर्थात् रस-भाव आदि(विश्वनाथ)।

७—**औचित्य** (क्षेमेंद्र) ।

इन सब मतों का विवेचन करने से पूर्व हम, अलंकार-शास्त्र के सुबहुमान्य ग्रंथ 'अलंकार-सर्वस्व' के कर्त्ता ने काव्यात्मा के विषय में प्राचीन मतों का सार दिखाते हुए जो सिद्धांत स्थिर किया है उसके निरूपक संदर्भ का अविकल अनुवाद संदर्भ सहित आप लोगों के समक्ष उपस्थित करते हैं—

"**भामह,* उद्भट** आदि प्राचीन अलंकारशास्त्रकार व्यंग्य अर्थ (ध्वनि) को वाच्य अर्थ का उपस्कारक होने के

---

* "इह हि तावद्भामहोद्भटप्रभृतयश्चिरन्तनालङ्कारकाराः प्रतीयमानमर्थं वाच्योपस्कारकतयाऽलङ्कारपक्षनिक्षिप्तं मन्यन्ते। तथा हि—पर्यायोक्ताप्रस्तुतप्रशंसासमासोक्त्याक्षेपव्याजस्तुत्युपमेयोपमानत्वयादौ वस्तुमात्रं गम्यमानं वाच्योपस्कारकत्वेन 'स्वसिद्धये पराक्षेपः परार्थं स्वसमर्पणम्' इति यथायोगं द्विविधया भङ्ग्या प्रतिपादितं तैः।

रुद्रटेन तु भावालङ्कारो द्विधैवोक्तः (गुणीभूतागुणीभूतवस्तुविषयत्वेनेत्यर्थः)। रूपकदीपकापह्नुतितुल्ययोगितादावुपमाद्यलङ्कारो वाच्योपस्कारकत्वेनोक्तः। उत्प्रेक्षा तु स्वयमेव प्रतीयमाना कथिता। रसव-

कारण, अलंकार के पक्ष के अंतर्गत मानते हैं—अर्थात् उनके मत से कोई भी व्यंग्य अलंकार ही हो सकता है, स्वतंत्र नहीं। अतएव पर्यायोक्त, अप्रस्तुतप्रशंसा, समासोक्ति, आक्षेप, व्याजस्तुति, उपमेयोपमा और अनन्वय आदि अलंकारों में जो केवल वस्तु (बात) ध्वनित होती है उसे उन्होंने वाच्य अर्थ का उपस्कारक मानकर 'कहीं वाच्य अर्थ अपनी सिद्धि के लिये व्यंग्य अर्थ का आक्षेप करता है और कहीं व्यंग्य अर्थ के लिये अपना अर्पण कर देता है—अर्थात् कहीं वाच्य अर्थ प्रधान रहता है और कहीं गौण'—इन दो प्रकारों से जहाँ जैसी संगति हुई वैसे प्रतिपादित किया है। सारांश यह है कि चाहे व्यंग्य प्रधान हो अथवा अप्रधान वे उसे वाच्य अर्थ का उपस्कारक, अतएव अलंकार ही मानते थे।

रुद्रट ने तो एक प्रधान और दूसरा अप्रधान इस तरह (प्रधान व्यंग्य और गुणीभूत व्यंग्य दोनों को) दो प्रकार का भावालंकार माना है। रूपक, दीपक, अपह्नुति और तुल्य-

---

त्प्रेयःप्रभृतौ तु रसभावादिर्वाच्यहेतुत्वेनोक्तः । तदेवं त्रिविधमपि प्रतीयमानमलङ्कारतया ख्यापितमेव । वामनेन तु सादृश्यनिबन्धनाया लक्षणाया वक्रोक्त्यलङ्कारं ब्रुवता कश्चिद् ध्वनिभेदोऽलङ्कारतयैवोक्तः । केवलं गुणविशिष्टपदरचनात्मिका रीतिः काव्यात्मत्वेनोक्ता । उद्भटादिभिस्तु गुणालङ्काराणां प्रायशः साम्यमेव सूचितम् । विषयमात्रेण भेदप्रतिपादनात् । संघटनाधर्मत्वेन चेष्टः । तदेवमलङ्कारा एव काव्ये प्रधानमिति प्राच्यानां मतम् ।

योगिता आदि में उपमालंकार को (जो व्यंग्य होता है) वाच्य के उपस्कारक रूप में और उत्प्रेक्षा को तो स्वयं ही प्रतीयमान (व्यंग्य) कहा है, और रसवान्, प्रेय आदि अलंकारों में रस, भाव आदि को वाच्य की शोभा का कारण बताया है। इस तरह उन्होंने (वस्तुरूप, अलंकाररूप और रसादिरूप) तीनों प्रकार का व्यंग्य (मान अवश्य लिया है, पर उसे) अलंकाररूप से प्रसिद्ध किया है। सारांश यह कि आचार्य रुद्रट की सूक्ष्म दृष्टि में तीनों प्रकार के व्यंग्य आ गए थे अवश्य, पर उन्होंने उन्हें स्वतंत्र नहीं, किंतु अलंकार-रूप माना है।

"वामन ने सादृश्यमूलक लक्षणा को वक्रोक्ति अलंकार कहा है, अत: किसी प्रकार की ध्वनि (व्यंग्य) को उसने अलंकाररूप कहा है अवश्य, पर काव्य की आत्मा तो उसने केवल रीति को माना है, जो कि गुणव्यंजक पदों की रचना रूप है। तात्पर्य यह कि गुण अलंकारों से उत्कृष्ट हैं—इस बात को यद्यपि वामन ने समझ लिया है तथापि व्यंग्यों के चमत्कार को वह यथेष्टरीत्या न समझ सके और अतएव जो व्यंग्य उनके ध्यान में आया उसे उन्होंने अलंकारों में निविष्ट करने का ही प्रयत्न किया है।

"रहे वामन से पूर्व के आचार्य उद्भट आदिक, सो उन्होंने तो गुणों और अलंकारों की प्राय: समानता ही सूचित की है, क्योंकि उन्होंने इन दोनों को विषय-भेद से भिन्न माना है और गुणों को रचना का धर्म माना है।

"इस तरह यह सिद्ध हुआ कि प्राचीन विद्वानों (भामह से लेकर वामन तक—अर्थात् छठी शताब्दी से लेकर नवीं शताब्दी के प्रारंभ तक) का मत था कि काव्य में अलंकार ही प्रधान हैं (व्यंग्यों की प्रधानता उनके ध्यान में नहीं आई थी)।

"वक्रोक्तिजीवितकार ने चतुराई के ढंग से बोलना जिसका स्वभाव है उस अनेक प्रकार की वक्रोक्ति (उक्तियों की विचित्रता) को ही काव्य का जीवन (आत्मा) कहा, और काव्य में व्यापार (तरीके) को प्रधान स्वीकार किया। इनके मत में अलंकार एक तरह के बोलने के तरीके ही हैं। उन्होंने यह भी माना है कि—तीनों प्रकार का व्यंग्य है, पर कवि का दारोमदार व्यापार-रूप उक्ति पर ही होता है। उन्होंने व्यंग्यों का समग्र विस्तार स्वीकार भी किया है, पर 'उपचारवक्रता' आदि नामों से। संक्षेप में उन्होंने यह सिद्धांत स्थिर किया है कि—काव्य का जीवन केवल उक्तियों की विचित्रता है, व्यंग्य अर्थ नहीं।

वक्रोक्तिजीवितकारः पुनर्वैदग्ध्यभङ्गीभणितिस्वभावां बहुविधां वक्रोक्तिमेव काव्यजीवितमुक्तवान्। व्यापारस्य प्राधान्यं च काव्यस्य प्रतिपेदे। अभिधानप्रकारविशेषा एव चालङ्काराः। सत्यपि त्रिभेदे प्रतीयमाने व्यापाररूपा भणितिरेव कविसंरम्भगोचरः। उपचारवक्रतादिभिः समस्तो ध्वनिप्रपञ्चः स्वीकृतः। केवलमुक्तिवैचित्र्यजीवितं काव्यं, न व्यंग्यार्थजीवितमिति तदीयं दर्शनं व्यवस्थितम्।

"भट्टनायक ने तो प्रौढ़ोक्ति से स्वीकार किए हुए व्यंग्यों के व्यापार को काव्य का एक भाग कहते हुए उसी व्यापार की काव्य में प्रधानता बताई है; क्योंकि वह व्यापार शब्द और अर्थ के स्वरूप को नीचा कर देता है। उसने अभिधा और भावना नामक काव्य-व्यापारों के पार करने के बाद, रस का आस्वादन जिसका स्वरूप है और जिसका दूसरा नाम भोग है, उस व्यापार को प्रधानतया विश्राम का स्थान स्वीकार किया है। अर्थात् भट्टनायक के मत में शब्द, अर्थ अथवा उक्ति की विचित्रता तक ही काव्य की क्रिया समाप्त नहीं होती, किंतु वह रस के आस्वादन तक पहुँचती है और वहाँ जाकर समाप्त हो जाती है। इस तरह उसके मत में 'रस का आस्वादन' रूपी व्यापार ही प्रधान वस्तु अथवा आत्मा-रूप है।

"सारांश यह कि—ध्वनिकार श्री आनंदवर्धनाचार्य से पूर्व नवम शताब्दी के उत्तरार्ध तक विद्वानों को यह प्रतीति अवश्य हुई कि शब्द और उसके वाच्य से आगे भी एक वस्तु अवश्य है, पर वे उसके विषय में होनेवाले व्यापार को ही प्रधान मानते रहे—असली वस्तु तक नहीं पहुँच पाए।

"भट्टनायकेन तु व्यंग्यव्यापारस्यैव प्रौढोक्त्याऽभ्युपगतस्य काव्यांशत्वं ब्रुवताया भावितशब्दार्थस्वरूपस्य व्यापारस्यैव प्राधान्यमुक्तम्। तत्रापि अभिधाभावनात्मकव्यापारद्वयोत्तीर्णो रसचर्वणात्मा भोगापरपर्यायो व्यापारः प्राधान्येन विश्रान्तिस्थानतयाङ्गीकृतः।

"इसके अनंतर ध्वनिकार (श्री आनंदवर्धनाचार्य) ने यह सिद्धांत निश्चित किया कि—अभिधा, तात्पर्य और लक्षणा नामक तीनों व्यापारों (शब्दशक्तियों) के पार करने के अनंतर एक और व्यापार होता है, जिसे ध्वनन, द्योतन (और आजकल 'व्यंजना') आदि नामों से पुकारा जाता है और यह इतना आवश्यक है कि बिना इसके माने गुजारा नहीं। परंतु यह व्यापार (जैसा कि भट्टनायक ने मान लिया है) किसी वाक्य का अर्थ नहीं हो सकता, वाक्य का अर्थ तो होता है (इस व्यापार के द्वारा प्रतीयमान होनेवाला) 'व्यंग्य', और वही गुण-अलंकार आदि से सुशोभित किया जाता है—उसी को वे चमत्कारी बनाते हैं, अतः प्रधान होने के कारण वही विश्राम का स्थान है, न कि 'भोग' या 'आस्वादन' रूप व्यापार। क्योंकि व्यापार का स्वरूप विषय (जिसकी प्रतीति के लिये वह व्यापार होता है) को

"ध्वनिकारः पुनरभिधा-तात्पर्य-लक्षणाख्यव्यापारत्रयोत्तीर्णस्य ध्वननद्योतनादिशब्दवाच्यस्य व्यंजनव्यापारस्यावश्यमभ्युपगम्यत्वाद्व्यापारस्य च वाक्यार्थत्वाभावाद् वाक्यार्थस्यैव च व्यंग्यरूपस्य गुणालङ्कारोपस्कर्त्तव्यत्वेन प्राधान्याद्विश्रान्तिधामत्वं सिद्धान्तितवान्। व्यापारस्य विषयमुखेन स्वरूपप्रतिलम्भात् तत्प्राधान्येन प्रधानत्वात् स्वरूपेण विदितत्वाभावात् विषयस्यैव समग्रमसहिष्णुत्वम्। तस्माद् विषय एव व्यंग्यनामाजीवितत्वेन वाच्यः, यस्य गुणालङ्कारकृतचारुत्वपरिग्रहसाम्राज्यम्।

पहले उपस्थित करता है और फिर स्वयं उपस्थित होता है—बिना वस्तु के कोई व्यापार नहीं हो सकता, अतः व्यापार की अपेक्षा विषय की प्रधानता हुआ करती है—ऐसा नियम है, इसलिये सारा भार विषय के ऊपर ही रहता है—अर्थात् व्यापार तो एक साधनमात्र है और वाक्य का जिस चीज पर दारोमदार रहता है, जिसके होने न होने से वाक्य बनता और बिगड़ता है वह तो विषय ही है, जिसे 'व्यंग्य अर्थ' अथवा 'ध्वनि' कहा जाता है। अतः यह सिद्ध हुआ कि यही व्यंग्यार्थ काव्य का जीवन अथवा आत्मा कहे जाने के योग्य है, क्योंकि गुणों और अलंकारों से आविर्भावित सुंदरता को स्वीकार करने का साम्राज्य इसे ही प्राप्त है। (इसी के रस आदि पाँच भेद हैं, जैसा कि लेख के आरंभ में दिखाया जा चुका है।)

"रसादयस्तु जीवितभूता नालङ्कारत्वेन वाच्याः; अलङ्काराणामुपस्कारकत्वाद् रसादीनां च प्राधान्येनोपस्कार्यत्वात्। तस्माद् व्यंग्य एव वाक्यार्थीभूतः काव्यजीवितमित्येष एव पक्षो वाक्यार्थविदां सहृदयानामावर्जकः। व्यञ्जनव्यापारस्य सर्वैरनपह्नुतत्वात् तदाश्रयणे च पक्षान्तरस्याप्रतिष्ठानात्।

"यत्तु व्यक्तिविवेककारो वाच्यस्य प्रतीयमानं प्रतिलिङ्गितया व्यञ्जनस्यानुमानान्तर्भावमाख्यत् तद् वाच्यस्य प्रतीयमानेन सह तादात्म्यतदुत्पत्त्यभावादविचारिताभिधानम्। तदेतत्कुशाग्रधिषणैः क्षोदनीयमतिगहनगहनमिति नेह प्रतन्यते।" अलंकारसर्वस्व।

"रही यह बात कि—इन रस आदि को रुद्रट की तरह अलंकार रूप ही क्यों न मान लिया जाय तो इसका उत्तर यह कि रसादिक (व्यंग्य) काव्य के जीवनरूप हैं—आत्मा हैं, अत: उन्हें अलंकार नहीं कहा जा सकता; कारण, अलंकार सुशोभित करनेवालों का नाम है और रसादिक सुशोभित करनेवाले नहीं किंतु प्रधान होने के कारण सुशोभित होनेवाले हैं।

"अत: यह सिद्ध हुआ कि **वाक्यार्थस्वरूप व्यंग्य ही काव्य का जीवन है**, और यही पत्त वाक्यार्थ समझनेवाले सहृदयों को अपनी तरफ झुकाता है, क्योंकि व्यंजना नामक शब्दशक्ति को कोई छिपा नहीं सकता और उसे स्वीकार कर लेने पर अन्य कोई पत्त ठहर नहीं सकता।

"इसके बाद यद्यपि व्यक्तिविवेककार ने वाच्य अर्थ को व्यंग्य अर्थ के प्रति हेतु मानकर व्यंजना का अनुमान में अंतर्भाव करने का प्रयास किया है, पर वह बिना (अधिक) विचार के है, क्योंकि न तो वाच्य और व्यंग्य में तादात्म्य संबंध ही है और न वाच्य अर्थ से प्रतीयमान की उत्पत्ति ही होती है कि जिससे वाच्य अर्थ को व्यंग्य का हेतु माना जाय।"

यह तो हुई 'अलंकार-सर्वस्व'कार के विवेचन की बात, जिसका सारांश यह है कि **'व्यंग्य अर्थ ही काव्य की आत्मा है'**। अच्छा, अब पूर्वोद्धृत मतों पर विचार करिए।

उनमें से २, ३, ४ और ७ संख्यावाले मत तो किसी प्रकार टिक नहीं सकते। कारण, ३ और ४ संख्यावाले मतों का तो ऊपर लिखे अनुसार अलंकारसर्वस्वकार ने, ध्वनिकार का मत उद्धृत करते हुए, स्वयं ही स्पष्ट शब्दों में अकाट्य युक्ति के द्वारा खंडन कर दिया है। उन्होंने लिखा है कि ये लोग एक प्रकार के व्यापार (द्वारभूत क्रिया) को काव्य की आत्मा मानते हैं, पर व्यापार स्वयं परमुखापेक्षी है—बिना किसी प्रतिपाद्य अथवा साध्य के उसका जन्म ही नहीं हो सकता। ऐसी दशा में प्रधानतया प्रतिपाद्य अर्थ (व्यंग्य) को छोड़कर, व्यापार को, काव्य की आत्मा किसी प्रकार नहीं माना जा सकता।

२ संख्यावाले मत का खंडन भी साहित्यदर्पणकार ने अच्छी तरह कर दिया है। वे कहते हैं कि—'विशिष्ट रचना' रूप 'रीति' काव्य का अंग विन्यास है, और अतएव वह काव्य के शरीर के अंतर्गत कही जा सकती है, न कि काव्य की आत्मा।

रहा ७ संख्यावाला मत, सो वह तो एक आलंकारिक उक्ति है। क्षेमेंद्र के कथन का तो अभिप्राय केवल इतना ही है कि काव्य में औचित्य अत्यंत अपेक्षित वस्तु है। क्योंकि

'अनौचित्यादृते नान्यद् रसभङ्गस्य कारणम्।
औचित्योपनिबन्धस्तु रसस्योपनिषत् परा॥'

इस ध्वनिकार के सिद्धांतानुसार औचित्य रस की पोषक वस्तु

है अतएव वह साध्य नहीं किंतु साधन है। ऐसी दशा में कोई भी सहृदय उसे काव्य की आत्मा नहीं कह सकता। अतः इन मतों पर विशेष लिखकर लेख का कलेवर बढ़ाना व्यर्थ है।

अब केवल तीन मत रह जाते हैं—१, ५ और ६ संख्यावाले। इनमें से संख्या १ में जो रस शब्द आया है, उसका अर्थ केवल शृंगार आदि परिगणित रस ही नहीं है, किंतु 'रस्यतेऽसौ रसः' इस 'योग' के अनुसार जिसका आस्वादन किया जाता है वह वस्तु (अर्थात् आस्वादनीय व्यंग्य) है, अन्यथा 'भाव' आदि के वर्णनवाले काव्य भी निर्जीव हो जायँगे और 'स्तुति-कुसुमांजलि' एवं 'गंगालहरी' प्रभृति सहृदयों के माननीय काव्य भी यथार्थ में काव्य न रहेंगे। अतः १ संख्यावाले और ५ अथवा ६ संख्यावाले मतों का एक ही अभिप्राय है—यह समझना चाहिए।

अब केवल ५ और ६ संख्यावाले मत रह जाते हैं। उनमें से ५ संख्यावाला—अर्थात् ध्वनिकार श्री आनंदवर्धनाचार्य का—मत प्रायः सभी आचार्यों द्वारा सम्मानित है। यहाँ तक कि 'ध्वनि'कार के सिद्धांत का खंडन करनेवाले 'व्यक्ति-विवेक'-कार ने भी लिखा है कि—"काव्यस्यात्मन्यङ्गिनि रसादिरूपे न कस्यचिद्विमतिः'—अर्थात् काव्य की आत्मा और अंगी—अर्थात् प्रधानतया प्रतिपाद्य—रस आदि के विषय में किसी को मतभेद नहीं है। इस मत का विस्तृत विवेचन

ऊपर उद्धृत 'अलंकारसर्वस्व'कार के संदर्भ में किया जा चुका है, अतः अब इस विषय में विशेष लिखकर लेख का कलेवर बढ़ाना व्यर्थ है।

रहा ६ संख्यावाला मत, सो उसमें भी व्यंग्यों का काव्यात्मा होना तो मान ही लिया गया है, केवल वस्तुरूप और अलंकाररूप व्यंग्यों के काव्यात्मा होने में उन्हें विप्रतिपत्ति है। वे कहते हैं—यदि वस्तु, अलंकार और रस तीनों व्यंग्यों को काव्य की आत्मा माना जाय तो एक तो पहेलियाँ भी काव्यों में गिनी जाने लगेंगी और दूसरे "देवदत्त गाँव जाता है" इस और ऐसे वाक्यों में 'उसके नौकर का उसके साथ जाना' आदि व्यंग्य रहता है, अतः ऐसे वाक्य भी काव्य हो जायँगे।

अच्छा, अब इन विप्रतिपत्तियों पर विचार करने से पूर्व जरा यह देख लीजिए कि जो लोग व्यंग्य अर्थ को काव्य की आत्मा मानते हैं, उनका इस विषय में क्या कहना है—वे कैसे व्यंग्यों को 'काव्य की आत्मा' मानते हैं और कैसों को नहीं। इस विषय में ध्वनि-कार कहते हैं—

"प्रतीयमानं पुनरन्यदेव वस्त्वस्ति वाणीषु महाकवीनाम्।
यत्तत् प्रसिद्धावयवातिरिक्तं विभाति लावण्यमिवाङ्गनासु ॥

अर्थात् व्यंग्य एक दूसरी ही चीज है, जो कि महाकवियों की वाणियों में ऐसे प्रतीत होता रहता है जैसे अंग-

नाओं में प्रसिद्ध अंगों के अतिरिक्त लावण्य* ।" और इतना लिखने के बाद लिखते हैं कि—

काव्यस्यात्मा स एवार्थस्तथा चादिकवेः पुरा ।
क्रौञ्चद्वन्द्ववियोगोत्थः शोकः श्लोकत्वमागतः ॥

अर्थात् वही—महाकवियों की वाणी में लावण्य की तरह प्रतीत होनेवाला ही—अर्थ काव्य की आत्मा है। जैसे कि क्रौंच-पक्षियों के जोड़े के वियोग से उत्पन्न आदि-कवि (वाल्मीकि) का शोक श्लोक के रूप में परिणत हो गया।

इसका अभिप्राय यह है कि जो व्यंग्य अंगनाओं के शरीर के लावण्य की तरह आकर्षक और अन्य किसी से अनभिभूत होकर प्रतीत होता है वही काव्य की आत्मा होता है, अन्यथा 'स एव' में 'एवं' शब्द का पूर्ण स्वारस्य नहीं रहता। ऐसी दशा में यह कहना अनुचित न होगा कि स्पष्ट शब्दों में न लिखने पर भी अचमत्कारी व्यंग्य को वे काव्य की आत्मा नहीं मानना चाहते। पर इतने पर भी यदि पहेलियों को काव्य माना जाय—जैसा कि सरस्वती-कंठाभरणकार आदि ने माना है—तो आपको उनकी भी आत्मा व्यंग्य को ही मानना पड़ेगा, क्योंकि पहेली को

---

* मुक्ताफलेषु च्छायायास्तरलत्वमिवान्तरा ।
संलक्ष्यते यदंगेषु तल्लावण्यमिहोच्यते ।

मोतियों में कांति की तरलता (पानी) की तरह जो वस्तु अंगों के अंदर दिखाई देती है उसे लावण्य कहा जाता है।

सुनने और जानने की इच्छा उसी के अधीन है, अतएव 'काव्यवृत्तेस्तादाश्रयात्' इस न्याय से वहाँ व्यंग्य की प्रधानता और चमत्कारजनकता को निह्नुत नहीं किया जा सकता। हमारी राय में तो जब खड्गबंध और मुकुरबंध आदि को काव्य माना जाता है तब वस्तुव्यंजक पहेली का काव्यजगत् से बहिष्कार कर देना कुछ उचित भी नहीं प्रतीत होता।

किंतु हम इस विवाद में नहीं पड़ना चाहते। हमें तो यहाँ इतना मात्र कहना है कि—यदि पहेलियाँ और 'देवदत्त जाता है' आदि वाक्य किसी तरह काव्यों की गिनती में आ जायँ—यदि उनमें काव्य-लक्षण पूर्णतया घटित हो जाय—तो उनकी आत्मा भी आपको व्यंग्य अर्थ ही मानना पड़ेगा और यदि वे काव्य ही नहीं हैं तो फिर उनमें व्यंग्य के प्रतीत हो जाने मात्र से वे काव्य नहीं हो सकते। देखिए, समस्त दर्शनों के अनुसार मनुष्य, पशु-पक्षी और कीट-पतंग सबमें आत्मा एक ही प्रकार की है, किंतु मनुष्य का लक्षण पशु-पक्षी आदि में घटित न होने के कारण उन्हें मनुष्य नहीं कहा जा सकता। ठीक उसी तरह इनमें भले ही व्यंग्य रहे, किंतु यदि इनमें काव्य-लक्षण घटित नहीं होता तो इन्हें काव्य नहीं कहा जा सकता। अत: केवल इस निरर्थक भय से संलक्ष्यक्रम व्यंग्यों को काव्य की आत्मा न मानना युक्तिसंगत नहीं प्रतीत होता।

दूसरे, यदि ऐसा माना जाय—अर्थात् संलक्ष्यक्रम व्यंग्यों को काव्य की आत्मा न माना जाय—तो 'धन-मद से मनुष्य को सुधि-बुधि नहीं रहती' इत्यादि व्यंग्यों की प्रधानतया प्रतीति करवानेवाले

कनक* कनक ते सौगुनी मादकता अधिकाय।
वह खाए बौरात है यह पाए बौराय ॥—बिहारी।

इत्यादि काव्य भी निर्जीव—अतएव चमत्कारशून्य—हो जायँगे। इतना ही नहीं, किंतु सभी वस्तु अथवा अलंकार को प्रधानतया अभिव्यक्त करनेवाले काव्यों की यही दशा होगी।

अत: यह सिद्ध हुआ कि काव्य की आत्मा व्यंग्य अर्थ है और उसी को उपस्कृत करने के लिये गुण, अलंकार आदि की रचना की जाती है, अन्यथा वे अनुपस्कारक होने के कारण अपने नामों को यथार्थतया सार्थक नहीं कर सकते।

व्यंग्य अर्थ, उसके प्रबंधक और ज्ञाता

इस काव्य की आत्मा व्यंग्य अर्थ के विषय में सहृदय-शिरोमणि श्री आनंदवर्धनाचार्य ने क्या ही सुंदर लिखा है। वे कहते हैं—

सरस्वती स्वादु तदर्थवस्तु निष्यन्दमाना महतां कवीनाम्।
अलोकसामान्यमभिव्यनक्ति परिस्फुरन्तं प्रतिभाविशेषम् ॥

---

* इस पद्य में 'यदेव व्यंग्यं तदेवोच्यते यथा तु व्यंग्यं न तथोच्यते' इस न्याय से उक्त व्यंग्य प्रधानतया प्रतीत होता है।

महाकवियों की वाणी से वह व्यंग्य अर्थरूपी स्वादु (रसमय) वस्तु झरती रहती है—उनके शब्दों से अनायास ही उसका प्रवाह सा निकलता रहता है, और इस तरह वह वाणी झलझलाहट करते हुए उनके असाधारण प्रतिभा-विशेष को अभिव्यक्त करती है; जिसका सार यह है कि—व्यंग्य अर्थ ऐसी वस्तु है कि उसके विषय में विशेष न जानने-वाला भी, जैसे बच्चा दूध अथवा मिश्री की तरफ आकृष्ट होता है वैसे, सुनते ही उसकी ओर आकृष्ट* होता है तथा वह वस्तु न तो बलात् लाई जा सकती है और न ऐरे-गैरे लोग वैसे काव्यों को लिख ही सकते हैं—वे तो केवल महा-कवियों के ही बाँट में आए हैं।

इस व्यंग्य अर्थ को समझते कौन हैं, इसके विषय में भी उन्होंने बड़ा सुंदर लिखा है—

शब्दार्थशासनज्ञानमात्रेणैव न वेद्यते।
वेद्यते स हि काव्यार्थतत्त्वज्ञैरेव केवलम् ॥

व्यंग्य अर्थ, शब्द-शास्त्र और पदार्थ-शास्त्र—अर्थात् व्या-करण और न्याय आदि—के जानने मात्र से समझ में नहीं आ सकता। उसे तो केवल काव्यार्थ के तत्त्वज्ञ ही समझ सकते हैं। अर्थात् चाहे कोई कितना ही बड़ा विद्वान् हो वह

---

* जैसे हिंदी में तुलसीकृत रामायण। आज भी सैकड़ों व्यक्ति बिना उसकी विशेषताओं को जाने भी उसकी तरफ आकर्षित होते हैं और रसानुभव करते हैं।

व्यंग्य अर्थों को समझ ही लेगा—वह आशा व्यर्थ है, उसके समझने के लिये काव्यमर्मज्ञ होने की आवश्यकता है—ऐसे-वैसे अर्थात् सहृदयता से शून्य लोगों की वहाँ तक पहुँच नहीं।

शब्दों की शक्तियाँ और उनके प्रतिपाद्य अर्थ

व्यंग्य अर्थ के भेदों पर विचार करने से पूर्व हम शब्द-शक्तियों के विषय में कुछ कहना चाहते हैं। यद्यपि यह क्रम अनुवाद्य ग्रंथ के अनुसार नहीं है, क्योंकि उसमें प्रथमतः व्यंग्य के भेदों पर विचार करके तब शक्तियों पर विचार किया गया है, किंतु वह क्रम समझने में जरा कठिन पड़ता है, इसलिये यह शैली स्वीकार की गई है।

शब्दों में तीन शक्तियाँ हैं—अभिधा, लक्षणा और व्यंजना। इनमें से वैयाकरणों और आलंकारिकों के अतिरिक्त अन्य शास्त्रोंवाले प्रायः व्यंजना को नहीं मानते—उनके हिसाब से दो ही शक्तियाँ हैं अभिधा और लक्षणा। पर वैयाकरणों और आलंकारिकों ने व्यंजना की सिद्धि में कुछ ऐसे अकाट्य प्रमाण दिए हैं कि यदि निरर्थक हठ छोड़ दिया जाय तो विवश होकर व्यंजना अवश्यमेव माननी पड़ती है। अस्तु।

इन शक्तियों को संस्कृत के ग्रंथों में प्रायः 'वृत्ति' के नाम से पुकारा जाता है। यदि केवल 'शक्ति' शब्द आवे तो उसका अर्थ 'अभिधा' होता है। यह याद रखिए*।

---

* इस प्रसंग में इतना और जान लेना भी उत्तम होगा। साहित्य-शास्त्र में वृत्तियों का वर्णन इन ग्रंथों में पाया जाता है—

अभिधा

हम देखते हैं—नौकर से 'घड़ा' इतने अक्षर कहते ही वह एक 'लंबे गलेवाले बर्तन' की तरफ दौड़ता है, वह थाली या

अग्निपुराण, अभिधावृत्तिमातृका, शब्द-व्यापार-विचार, काव्यप्रकाश, साहित्यदर्पण, वृत्तिवार्त्तिक और रसगंगाधर। इनमें से अग्निपुराण का निरूपण कुछ दूसरे ही प्रकार का है। उसे हमने खूब दिमाग लड़ाने के बाद जिस रूप में समझ पाया है उसे हम अनुवाद सहित नीचे दे रहे हैं। इससे पूर्व आप अन्य पुस्तकों का संक्षिप्त हाल सुन लीजिए। **अभिधावृत्तिमातृका** में प्रायः मीमांसकों के मत का अनुसरण किया गया है और व्यंजना नहीं मानी गई। **शब्दव्यापारविचार** एवं **काव्य-प्रकाश** के निर्माता एक ही व्यक्ति हैं श्रीमम्मटाचार्य, अतः उनमें मतभेद के लिये कोई गुंजाइश नहीं। **साहित्यदर्पण** भी इस विषय में काव्य-प्रकाश का ही अनुसरण करता है और जो कुछ विशेषताएँ उसमें हैं उन पर और अन्य ग्रंथों के मतभेदों पर भी आगे विचार किया ही जा रहा है।

अच्छा, अब अग्निपुराण की बात सुनिए। साहित्य-शास्त्र में सबसे पहले शब्द-शक्तियों का वर्णन इसी ग्रंथ में मिलता है। वह बड़ा विचित्र है। वहाँ इन वृत्तियों को भी अलंकारों में ही वर्णन किया गया है। अग्निपुराण में तीन प्रकार के अलंकारों का वर्णन है—शब्दालंकार, अर्थालंकार और शब्दार्थालंकार। इनमें से शब्दार्थालंकारों का वर्णन करते समय एक अलंकार 'अभिव्यक्ति' नाम से माना गया है। उसका विवरण करते हुए लिखा है—

प्रकटत्वमभिव्यक्तिः, श्रुतिराक्षेप इत्यपि।
तस्या भेदौ, श्रुतिस्तत्र शाब्दं स्वार्थसमर्पणम्॥
भवेन्नैमित्तिकी पारिभाषिकी द्विविधैव सा।

चमचे की तरफ नहीं दौड़ता और न अन्य किसी वस्तु की

संकेतः परिभाषेति ततः स्यात् पारिभाषिकी ।
मुख्यौपचारिकी चेति सा च सा च द्विधा द्विधा ॥
सा(स्वा ?)भिधेयस्खलद्वृत्तिरमुख्यार्थस्य वाचकः ।
यया शब्दो निमित्तेन केनचित् सौपचारिकी ॥
सा च लाक्षणिकी, गौणी लक्षणा गुणयोगतः ।
अभिधेयाविनाभूतप्रतीतिर्लक्षणोच्यते ॥
अभिधेयेन संबंधात् सामीप्यात् समवायतः ।
वैपरीत्यात् क्रियायोगात् लक्षणा पञ्चधा मता ॥
गौणी गुणानामानन्त्यादनन्ता, तद्विवक्षया ।
अत्यधर्मस्ततोन्यत्र लोकसीमानुरोधिना ।
सम्यगाधीयते यत्र स समाधिरिह स्मृतः ॥
श्रुतेरलभ्यमानोऽर्थो यस्माद्भाति सचेतनः (साम् ?) ।
स आक्षेपो ध्वनिः स्याच्च ध्वनिना व्यंज्यते यतः ॥
शब्देनार्थेन यत्रार्थः कृत्वा स्वयमुपार्जनम् (स्वमुपसर्जनम् ?) ।
प्रतिषेध इवेष्टस्य यो विशेषाभिधित्सया ॥
तमाक्षेपं ब्रुवन्त्यत्र...........॥

अग्निपुराण अध्याय ३४५ श्लो० ७—१५$\frac{1}{2}$

(शब्द से अर्थ के) प्रकट होने को अभिव्यक्ति कहते हैं। उसके दो भेद हैं—श्रुति (अभिधा-लक्षणा) तथा आक्षेप (व्यंजना)। उनमें से शब्द का अपने अर्थ को अर्पित करना—या समझाना—श्रुति कहलाती है। श्रुति दो प्रकार की है—नैमित्तिकी (किसी निमित्त अर्थात् प्रकृति-प्रत्यय आदि को अथवा किसी प्रयोजन को मानकर होनेवाली) और पारिभाषिकी (किसी परिभाषा को मानकर होनेवाली अर्थात् रूढ़ि)। (बिना किसी निमित्त के किए गए) संकेत को परिभाषा कहते हैं, उसके द्वारा होनेवाली श्रुति पारिभाषिकी कहलाती

तरफ ही दौड़ता है। अतः मानना पड़ेगा कि—इन पूर्वोक्त 'घड़ा' रूपी कुछ अक्षरों का, अथवा यों कहिए कि इस पद

है। नैमित्तिकी और पारिभाषिकी दोनों ही श्रुतियाँ मुख्या (अभिधा) और औपचारिकी (लक्षणा) इस तरह दो दो प्रकार की होती हैं। जिस श्रुति के द्वारा, अपने वाच्य में जिसकी स्थिति स्खलित हो रही है ऐसा (अर्थात् वाच्य अर्थ को ठीक-ठीक प्रतिपादन न करनेवाला), शब्द किसी निमित्त (प्रयोजन अथवा रूढ़ि) के कारण मुख्य से भिन्न अर्थ का वाचक हो जाता है वह श्रुति औपचारिकी मानी जाती है और उसे ही लाक्षणिकी (रूढ़ लक्षणारूप ?) कहते हैं। गौणी लक्षणा गुणों के योग (अर्थात् सादृश्य) के कारण होती है। वाच्य अर्थ से संबद्ध अर्थ की प्रतीति को लक्षणा कहते हैं।

वाच्य अर्थ के साथ (साधारण) संबंध द्वारा, समीपता द्वारा, समवाय (संयोग) द्वारा, विपरीतता द्वारा और क्रिया के योग द्वारा, लक्षणा पाँच प्रकार की मानी गई है। गौणी लक्षणा गुणों के अनंत होने के कारण अनंत प्रकार की होती है। जहाँ लोक-मर्यादा का उल्लंघन न करते हुए (अर्थात् पारम्परिक समय को न तोड़ते हुए) व्यक्ति के द्वारा 'गौणी' के कथन की इच्छा से अन्य वस्तु का धर्म उससे भिन्न वस्तु में आधान (आरोपित) किया जाता है उसे इस शास्त्र में समाधि कहते हैं।

श्रुति (अभिधा-लक्षणा) द्वारा न प्राप्त होनेवाला अर्थ जिस वृत्ति के द्वारा सहृदयों को प्रतीत होता है, वह वृत्ति 'आक्षेप' कहलाती है और वही ध्वनि है, क्योंकि वहाँ ध्वनि के द्वारा शब्द और अर्थ अपने को गौण बनाकर अर्थ को अभिव्यक्त करते हैं एवं जहाँ कोई विशेषता बताने की इच्छा से निषेध सा होता है उसे (भी) आक्षेप कहते हैं।"

का, उस वस्तु के साथ अवश्यमेव कोई संबंध है। यदि ऐसा न होता तो नौकर उस बर्तन के बजाय अन्य वस्तु अथवा व्यक्ति की तरफ़ क्यों न दौड़ता। इसी तरह अन्यान्य पदों का भी अन्यान्य पदार्थों के साथ अवश्य ही संबंध है। पद और पदार्थ के इसी पारस्परिक संबंध को 'अभिधा शक्ति' कहते हैं। इस संबंध अथवा अभिधा के ज्ञात होने पर ही हमें पद से पदार्थ का बोध होता है, अन्यथा नहीं। अतः किसी भी शब्द के अर्थ को समझने के लिये इस पूर्वोक्त संबंधरूपी अभिधा का ज्ञान आवश्यक है।

अच्छा, अब यह भी समझ लीजिए कि अभिधा के ज्ञान के द्वारा शब्द से अर्थ का ज्ञान कैसे होता है। संबंधियों के विषय में यह नियम है कि—एक संबंधी का बोध होने पर दूसरे संबंधी का अपने-आप स्मरण हो आता है, जैसे 'राम' का घर देखने पर 'राम' का। इसी नियम के अनुसार हमें किसी भी नाम (जो एक प्रकार का शब्द है) के सुनते ही उससे संबंध रखनेवाली वस्तु का, और किसी भी वस्तु के देखते ही उसके नाम का स्मरण हो आता है, और इस तरह

यद्यपि ये आक्षेप के भेद ध्वनि के अंतर्गत ही हैं तथापि कुवलयानंदकार ने आक्षेप के द्वितीय भेद को अलंकाररूप ही माना है। जैसा कि कुवलयानंद में लिखा है—

"निषेधाभासमाक्षेपं बुधाः केचन मन्वते।
नाहं दूती तनोस्तापस्तस्याः कालानलोपमः।—लेखक।

अभिधाशक्ति के द्वारा हमें उन उन शब्दों से उन उन अर्थों का बोध होता है।

अभिधा है क्या चीज ?

इस संबंध—अथवा अभिधा—को नैयायिक लोग 'इस पद से यह पदार्थ समझो' इस रूप में होनेवाली ईश्वर की इच्छा (अथवा किसी प्रकार हम लोगों की इच्छा) मानते हैं, किंतु मीमांसकों का कहना है कि यह शब्द की एक शक्ति है और स्वतंत्र पदार्थ है—अर्थात् इसे इच्छा आदि अन्य किसी पदार्थ के अंतर्गत नहीं किया जा सकता। इस विषय में बात मीमांसकों की ही ठीक जँचती है, जिसके हेतु प्रकृत अनुवाद में यथास्थान दिए ही गए हैं और उनके अतिरिक्त एक और भी हेतु है कि यदि अभिधा को ईश्वरेच्छा-रूप माना जाय तो लक्षणा (और विशेषतः रूढ़ लक्षणा) को भी ईश्वरेच्छारूप क्यों न माना जाय। अतः इस विषय में वैयाकरण और आलंकारिक विद्वान् मीमांसकों का ही मत मानते हैं। अतः यह सिद्ध हुआ कि—अभिधा का अर्थ है पद और पदार्थ का पारस्परिक संबंध और वह एक प्रकार की शब्द की शक्ति है।

अभिधा समझने के साधन

किस पद से किस पदार्थ का संबंध है इसके जानने के अनेक साधन हैं। कुछ साधन हिंदी-भाषा-भाषियों की जानकारी के लिये नीचे लिखे जाते हैं—

व्याकरण—प्रकृति, प्रत्यय आदि की अभिधा का ज्ञान व्याकरण से होता है; जैसे 'ज्ञाता' शब्द में 'ज्ञा' का अर्थ जानना और 'तृच् (ता)' का अर्थ कर्त्ता (अर्थात् 'ज्ञाता' आदि शब्दों के 'ज्ञान का कर्त्ता' अथवा 'जाननेवाला' इत्यादि अर्थ व्याकरण से ज्ञात होते हैं)।

उपमान (तुलना)—जैसे 'नीलगाय गाय के समान होती है' इस गाय की तुलना के द्वारा 'नीलगाय' पद का।

कोश—जैसे 'राजहंस' पद का संबंध उस पक्षी से है जिसकी चोंच और पैर लाल हों और सब शरीर श्वेत, क्योंकि कोश में लिखा है कि

"राजहंसास्तु ते चञ्चुचरणैर्लोहितैः सिताः।"

प्रामाणिक पुरुष का कथन—जैसे अध्यापक ने समझा दिया कि 'पिक' शब्द का अर्थ कोयल है।

व्यवहार—जैसे एक बालक के सामने एक बुड्ढे ने एक युवक से कहा—'घड़ा लाओ'। बाद में कहा 'घड़ा ले जाओ और थाली लाओ'। यहाँ बालक ने 'घड़ा' पद का दो बार प्रयोग सुना और उस पदार्थ को देखा और वह समझ गया कि इस पदार्थ का नाम घड़ा है।

प्रधान वाक्य का कोई अंगरूप वाक्य—जैसे यज्ञ के प्रकरण में लिखा है कि 'यवमयश्चरुर्भवति—'यव' का चरु होता है' यहाँ आर्य लोगों में 'यव' शब्द का अर्थ 'जौ' है और म्लेच्छों में 'काँगनी'। तब भ्रम हो जाता है कि

इस वैदिक वाक्य में 'यव' शब्द का क्या अर्थ किया जाय। किंतु इसी के अंगभूत अन्य वाक्य में 'यव' का वर्णन करते हुए लिखा है कि "वसन्ते सर्वसस्यानां जायते पत्रशातनम्। मोदमानाश्च तिष्ठन्ति यवाः कणिशशालिनः।—अर्थात् वसंत में सब साखों के पत्ते गिर जाते हैं, किंतु यवों में बालें आती हैं और बड़े मजे में रहते हैं।" इस वर्णन से यह सिद्ध हो जाता है कि 'यव' शब्द का अर्थ 'जौ' होता है, काँगनी नहीं। काँगनी के लिये उसका प्रयोग भ्रम से होने लग गया है।

विवरण (अर्थात् किसी समानार्थक वाक्य का प्रयोग)—जैसे "वारि अर्थात् पानी" यहाँ 'अर्थात् पानी' लिख देने से 'वारि' शब्द का अर्थ समझ में आ गया।

पूर्वपरिचित पद अथवा पदों का समीपवर्त्ती होना—जैसे "आमों की अवलि पर पिकों की पंक्ति अति मधुर स्वर से कूक रही है।" यहाँ अन्य शब्दों के परिचित होने से 'पिक' शब्द अपने-आप समझ में आ जाता है।

अभिधा के भेद

अभिधा के तीन भेद हैं—रूढ़ि, योग और योगरूढ़ि। कुछ लोग यौगिक रूढ़ि नाम का एक चौथा भेद भी मानते हैं। इन सबका उदाहरण सहित विवरण प्रकृत ग्रंथ में यथा-स्थान यथेष्ट रूप में आ गया है। अतः यहाँ विस्तार करना व्यर्थ है।

वाच्य-अर्थ

इस अभिधा अथवा शक्ति नामक वृत्ति से जिस अर्थ का बोध होता है उसे वाच्य-अर्थ कहा जाता है। इस बात को दूसरे शब्दों में यों कह सकते हैं कि किसी शास्त्र से, किसी गुरु आदि प्रामाणिक पुरुष के मुख से अथवा व्यवहार आदि से हम पद के जिस अर्थ को समझते हैं उसका नाम वाच्य-अर्थ है।

इसी वाच्य-अर्थ को अभिधेय, शक्य अथवा मुख्य अर्थ के नाम से भी पुकारा जाता है।

वाचक शब्द

अभिधाशक्ति द्वारा अर्थ का प्रतिपादन करनेवाला शब्द वाचक कहलाता है।

लक्षणा

शब्दों का प्रयोग पूर्वोक्त मुख्य अर्थ में तो होता ही है, किंतु कहीं कहीं उससे अतिरिक्त अर्थ में भी होता देखा जाता है। एक बुढ़िया सास अपनी पतोहू से उसकी सेवा के कारण प्रसन्न होकर कहती है—'तेरी चूड़ियाँ अमर रहें'; अध्यापक विद्यार्थी से बार बार अर्थ न समझने पर चिढ़कर कहता है—'तुम तो पागल हो'; पाँच मिनिट के काम में १५ मिनिट लगा देने पर मालिक नौकर से कहता है—'डेढ़ पहर लगा दी। इन वाक्यों में, क्रमशः, 'चूड़ियों' का अर्थ

'सौभाग्य', पागल का अर्थ 'मंदबुद्धि' और 'डेढ़ पहर' का अर्थ 'पंद्रह मिनिट' है। पर दुनिया के किसी विद्वान् से पूछ देखिए, किसी कोश को उठाकर देख लीजिए—ये अर्थ आपको नहीं मिलेंगे। अतः मानना पड़ता है कि इन अर्थों का 'चूड़ी' आदि शब्दों से कोई सीधा संबंध नहीं—अथवा यों कहिए कि ये अर्थ उन शब्दों के वाच्य नहीं हैं—यदि ऐसा हो तो कोश आदि में उन शब्दों के ये अर्थ क्यों न लिखे रहते। भला, कहिए तो फिर ये अर्थ हुए कैसे ?

विचार करने पर प्रतीत होता है कि—शब्द प्रथमतः अपने संबंध के द्वारा अपने वाच्य अर्थ को समझाता है, पर जब वह अर्थ वक्ता के तात्पर्य को नहीं समझा सकता—उससे जो बात वक्ता कहना चाहता है वह या तो बिलकुल ही या पूरी तरह से समझ में नहीं आती, तब उस पद के वाच्य अर्थ से संबंध रखनेवाले किसी अन्य अर्थ को, जो वक्ता के तात्पर्य के अनुकूल होता है, उस पद का अर्थ मानना पड़ता है। सारांश यह कि—ऐसा अर्थ पद और पदार्थ के पारस्परिक संबंध द्वारा नहीं, किंतु पद के वाच्य अर्थ से संबंध रखने के कारण प्रतीत होता है।

इस बात को यों समझिए कि—प्रत्येक पद दो तरह से अर्थ का प्रतिपादन करता है—एक अपने साक्षात् संबंध द्वारा और दूसरा परंपरा संबंध—अर्थात् अपने संबंधी (वाच्य) अर्थ के संबंध द्वारा। इनमें से पहले संबंध को अभिधा और

दूसरे संबंध को लक्षणा कहते हैं। जब पहला संबंध काम नहीं कर सकता तभी दूसरा संबंध काम में लाया जाता है। अतएव वृत्तियों में अभिधा का नंबर पहला और लक्षणा का दूसरा है। इस तरह यह बात सिद्ध हुई कि—**वाच्य (मुख्य) अर्थ के संबंध का नाम लक्षणा है।**

इस विषय में 'अभिधावृत्तिमातृका' के कर्त्ता भट्ट मुकुल का यह श्लोक ध्यान में रखने योग्य है—

शब्दव्यापारतो यस्य प्रतीतिस्तस्य मुख्यता।
अर्थावसेयस्य पुनर्लक्ष्यमाणत्वमुच्यते ॥

अर्थात् जिसकी शब्द से सीधी प्रतीति होती है वह अर्थ मुख्य कहलाता है और जो अर्थ अर्थ के द्वारा समझा जाता है—अर्थात् जिस अर्थ के समझने में मुख्य अर्थ बीच में पड़ता है—उस अर्थ को लक्षणा द्वारा प्रतीत हुआ समझना चाहिए।

लक्षणा की प्रवृत्ति के कारण

अब यह सोचिए कि—लक्षणा होती क्यों है—किन कारणों के उपस्थित होने पर लक्षणा का आश्रय लेना पड़ता है। उनमें से सबसे पहला कारण है मुख्य अर्थ का बाधित होना—अर्थात् वक्ता के तात्पर्य के अनुसार मुख्य अर्थ का वाक्य के अर्थ में अन्वित न होना। यानी जब मुख्य

अर्थ प्रकृत वाक्य में या तो बिलकुल ही अन्वित न हो सके अथवा वह वक्ता के तात्पर्यार्थ को पूर्णतया प्रतीत न करवा सके तब लक्षणा होती है।

पर यदि केवल यही मान लिया जाय तो वक्ता कुछ भी बोले और कुछ भी अर्थ लगावे तो उसे रोका नहीं जा सकता और ऐसी स्थिति में वक्ता का तात्पर्य किस अर्थ में है यह समझना एकदम असंभव हो जाय, अतः लक्षणा के दो नियामक कारण और ढूँढ़े गए हैं। वे हैं—रूढ़ि (प्रसिद्धि) और प्रयोजन। अतः मुख्यार्थ के बाधित होने के अतिरिक्त इन दोनों में से किसी एक का होना भी लक्षणा के लिये अनिवार्य है।

इस सबका सारांश यह हुआ कि—मुख्य अर्थ से संबंध न रखनेवाले अर्थ की तो किसी प्रकार प्रतीति हो ही नहीं सकती, क्योंकि मुख्य अर्थ के संबंध का नाम ही लक्षणा है; पर उस अर्थ को भी वह तभी समझा सकता है कि—जब या तो उस अर्थ में वह शब्द प्रसिद्ध (रूढ़) हो गया हो या कोई प्रयोजन सिद्ध करना हो।

तब यह सिद्ध हुआ कि—मुख्यार्थ का वक्ता के तात्पर्य के अनुकूल अथवा पर्याप्त न होना और उस अर्थ में उस शब्द की प्रसिद्धि अथवा कोई प्रयोजन—इन दोनों में से एक—इस तरह लक्षणा के दो कारण हैं। ये जब तक न हों तब तक कोई लक्षणा नहीं हो सकती।

लक्षणा के लक्षण में सुधार

प्राचीन विद्वान् 'वाच्य* अर्थ के संबंध द्वारा वाच्य अर्थ से भिन्न अर्थ की स्मृति' को लक्षणा मानते थे। पर नवीन विद्वानों को यह बात न जँची। कारण, शब्द से अर्थ की स्मृति होने में जिसका ज्ञान कारणरूप हो वह पदार्थ शब्द की वृत्ति (आजकल के व्यवहार के अनुसार शक्ति) कहलाता है; वह वस्तु स्मृतिरूप नहीं, किंतु संबंधरूप है; क्योंकि 'पूर्वोक्त स्मृति (ज्ञान) का ज्ञान' लक्ष्य अर्थ के बोध का कारण नहीं है, 'वाच्य अर्थ के संबंध' का ज्ञान है, अतः उसे ही लक्षणा मानना उचित है, न कि उसकी स्मृति को। इस तरह नवीन विद्वान् 'वाच्य-अर्थ के संबंध' को लक्षणा मानने लगे और वही लक्षण 'रसगंगाधर-कार' ने भी माना है।

लक्षणा के भेद

ऊपर लिखा जा चुका है कि—लक्षणा के दो कारण हैं—एक रूढ़ि (प्रसिद्धि), दूसरा प्रयोजन। इन दोनों कारणों को लेकर लक्षणा के प्रथमतः दो भेद होते हैं। रूढ़ि के कारण होनेवाली लक्षणा को रूढा अथवा निरूढा लक्षणा कहते हैं और प्रयोजन के कारण होनेवाली लक्षणा को प्रयोजनवती। अति प्राचीन आचार्यों ने रूढा लक्षणा के भेद

---

* 'शक्यसंबंधेनाशक्यप्रतिपत्तिर्लक्षणा' इति प्राचीनानां लक्षणम्।

नहीं माने, पर पीछे के आचार्यों ने उसके गौणी और शुद्धा इस तरह केवल दो भेद माने हैं। साहित्यदर्पणकार के अतिरिक्त अन्य सभी आचार्य निरूढा लक्षणा के इससे अधिक भेद नहीं मानते, पर दर्पणकार के भेदों पर हम बाद में विचार करेंगे।

प्रयोजनवती लक्षणा के साहित्यशास्त्र के प्रायः सभी आचार्यों ने छः भेद माने हैं। वे यों हैं—प्रथमतः इस लक्षणा के निरूढा की तरह दो भेद होते हैं—गौणी और शुद्धा। उनमें से प्रयोजनवती गौणी के केवल दो भेद होते हैं—सारोपा और साध्यवसाना। और प्रयोजनवती शुद्धा के चार भेद होते हैं—जहत्स्वार्था, अजहत्स्वार्था, सारोपा और साध्यवसाना। इस तरह प्रयोजनवती लक्षणा के गौणी सारोपा, गौणी साध्यवसाना, शुद्धा जहत्स्वार्था, शुद्धा अजहत्स्वार्था, शुद्धा सारोपा और शुद्धा साध्यवसाना—ये छः भेद होते हैं। अभिधावृत्ति मातृका के कर्त्ता भट्ट मुकुल एवं शब्दव्यापारविचार तथा काव्यप्रकाश के कर्त्ता मम्मट भट्ट ने इतने ही भेद माने हैं।

जहत्स्वार्था और अजहत्स्वार्था के दूसरे नाम

इनमें से जहत्स्वार्था को **जहल्लक्षणा** अथवा **लक्षण-लक्षणा** और अजहत्स्वार्था को **अजहल्लक्षणा** अथवा **उपादान-लक्षणा** भी कहते हैं। यह याद रखिए।

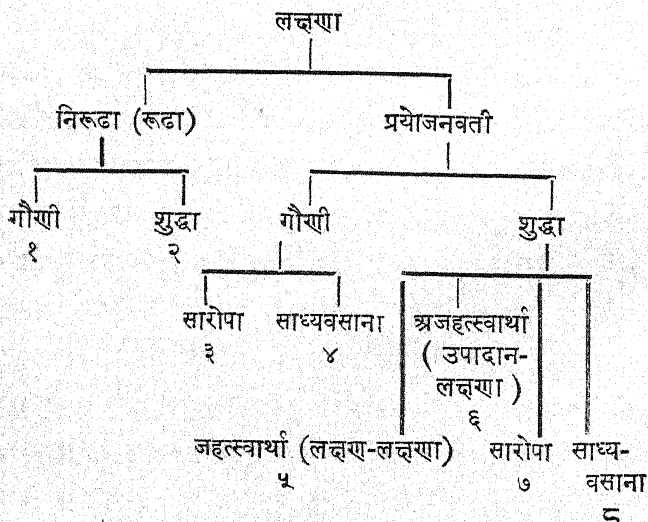
जहदजहत्स्वार्था पृथक् नहीं है

वृत्तिवार्त्तिककार अप्पयदीक्षित ने वेदांतियों के मतानुसार प्रयोजनवती शुद्धा लक्षणा का एक जहदजहल्लक्षणा नाम का भेद और माना है। पर उसके मानने की कोई आवश्यकता नहीं, कारण, वह जहत्स्वार्था से अतिरिक्त नहीं है। नागेश भट्ट ने इस भेद का खंडन करते हुए काव्य-प्रदीप की उद्द्योत नामक व्याख्या में लिखा है—"वस्तुतः तो यह (जहदजहल्लक्षणा) जहत्स्वार्था ही है, क्योंकि जहाँ वाचक शब्द अपने को वाच्य अर्थ के अतिरिक्त अन्य अर्थ के लिये अर्पित कर दे वहाँ जहत्स्वार्था लक्षणा होती है। यह बात दूसरी ही है कि—वह अपने अर्थ को सर्वांश में छोड़े अथवा किसी एक अंश में।" किंतु यदि आप यह शंका करें कि—आखिर जहदजहत्स्वार्था में अपने अर्थ का छोड़ना और न छोड़ना दोनों बातें हैं तो सही, ऐसी दशा में प्रमाण के अभाव से न तो उसे जहत्स्वार्था ही कह सकते हैं और न अजहत्स्वार्था ही तब फिर उसे तीसरा भेद मानना ही उचित है तो इसका उत्तर वृत्तिदीपिकाकार ने बड़ा सुंदर दिया है। वे कहते हैं कि—अजहत्स्वार्था का अर्थ है—जो अपने अर्थ को न छोड़े—अर्थात् जहत्स्वार्था न हो। ऐसी दशा में 'प्रतियोगिविशेषित अभाव के ज्ञान में प्रतियोगी (जिसका अभाव है उस वस्तु) का ज्ञान कारण हुआ करता है—बिना किसी चीज का ज्ञान हुए उसके अभाव का ज्ञान नहीं हो सकता' इस नियम के अनु-

सार पहले जहत्स्वार्था का ज्ञान होता है और पीछे अजहत्स्वार्था का। तब यदि इस भेद का उक्त (नागेश की बताई) रीति से जहत्स्वार्था में समावेश हो सकता है तो अजहत्स्वार्था तक दौड़ने की कोई आवश्यकता नहीं। और इस तरह जहदजहत्स्वार्था को जहत्स्वार्था से अतिरिक्त मानने में कोई विशेष कारण नहीं है।

सब भेदों का संग्रह

इस तरह लक्षणा के कुल आठ भेद होते हैं। यही भेद प्रस्तुत पुस्तक में लिखे हैं और यही साहित्य-शास्त्र में उपयोगी भी हैं। स्पष्टता के लिये हम यहाँ इन भेदों का नकशा दे देते हैं—



आठों भेदों के उदाहरण

यद्यपि मूल ग्रंथ में यथास्थान लक्षणा के उदाहरण आवश्यकतानुसार दिए अवश्य हैं, किंतु वहाँ वे अस्पष्ट-से हैं, अतः स्पष्टता के लिये हम यहाँ नीचे सब उदाहरण लक्षण-संगति-पूर्वक 'हमारे संस्कृत-रत्नाकर' के लेख में से उद्धृत करते हैं—

१ **निरूढा गौणी**—जैसे 'अनुकूल'। यहाँ 'अनुकूल' शब्द का मुख्य अर्थ है 'किनारे का अनुगमन करनेवाला—किनारे किनारे चलनेवाला'। पर जब हम किसी मनुष्य के लिये कहते हैं कि 'यह हमारे अनुकूल है' तब वह अर्थ बाधित हो जाता है, क्योंकि 'हम' कोई नदी तो हैं नहीं कि जिसका कोई किनारा हो और वह उसका अनुगमन करे। हाँ, वह हमारे गुणों का अनुगमन अवश्य कर सकता है। इस तरह 'अनुगुण' शब्द के प्रयोग के स्थान पर लक्षणा के द्वारा 'अनुकूल' शब्द का प्रयोग किया जाता है। यह लक्षणा पारंपरिक प्रसिद्धि के कारण प्रचलित है अतः निरूढा है और अनुकूल तथा अनुगुण में सादृश्य-संबंध होने के कारण गौणी है।

२ **निरूढा शुद्धा**—जैसे 'नीला घड़ा'। यहाँ 'नीला' शब्द के 'नीला रंग' और 'नीले रंगवाला' ये दो अर्थ मानने की अपेक्षा 'नीला रंग' अर्थ मानना सीधा और सर्वसम्मत है। ऐसी दशा में 'नीला रंग' घड़े का विशेषण कैसे हो सकता है, अतः 'नीला' शब्द की 'नीले रंगवाला' इस अर्थ में लक्षणा माननी पड़ती है और तब 'नीला घड़ा' यह प्रयोग

ठीक हो जाता है। यह लक्षणा भी पारम्परिक प्रसिद्धि के कारण प्रचलित है अतः निरूढा है और गुण (नीला रंग) तथा गुणी (नीले रंगवाला) इनमें सादृश्य संबंध न होकर समवाय संबंध होने के कारण शुद्धा है।

३ **प्रयोजनवती गौणी सारोपा**—जैसे 'मुख चंद्र'। यहाँ मुख और चंद्र को अभिन्न मानकर उनका विशेषण-विशेष्य के रूप में प्रयोग किया गया है। पर यह प्रत्यक्ष से विरुद्ध है—मुख और चंद्र को अभिन्न न कभी किसी ने देखा है, न देखने की संभावना है, अतः बाधित है। इसलिये 'चंद्र' शब्द की 'चंद्र के सदृश' अर्थ में लक्षणा करनी पड़ती है और तब 'चंद्रमा के सदृश मुख' इस तरह वाक्य का अर्थ ठीक हो जाता है। यह लक्षणा इसलिये की गई है कि मुख चंद्रमा से अभिन्न अतएव अत्यंत सुंदर प्रतीत हो। इसलिये प्रयोजनवती है। और मुख तथा चंद्रमा में परस्पर सादृश्य रूप संबंध होने के कारण गौणी है। सारोपा यह इस तरह है कि—उपमा (तुलना) में उपमान—चंद्र आदि—को विषयी और उपमेय—मुख आदि—को विषय कहा जाता है, जहाँ विषय और विषयी दोनों को अलग अलग लिखकर उनका अभेद किया जाता है वहाँ उस अभेद को आरोप कहते हैं। प्रकृत उदाहरण में विषय मुख और विषयो चंद्र दोनों को पृथक् पृथक् लिखकर अभेद माना गया है, अतः यह लक्षणा सारोपा है।

४ **प्रयोजनवती गौणी साध्यवसाना**—जैसे 'या पुर महलन में बसत विमल सुधाकर-पाँति'। यहाँ असली चंद्रमा महलों में नहीं किंतु आकाश में रहता है और न वह एक से अधिक है कि उसकी 'पाँति' हो सके। इस तरह मुख्य अर्थ बाधित है। तब यहाँ 'सुधाकर' शब्द का अर्थ असली चंद्रमा नहीं किंतु 'कामिनियों के मुख' करना पड़ता है। यह अर्थ कोश-आदि में लिखा हुआ नहीं है अतः यहाँ लक्षणा है। और उपर्युक्त उदाहरण में लिखित प्रयोजन तथा संबंध होने के कारण उसी के समान प्रयोजनवती तथा गौणी है। साध्यवसाना यह इस तरह है कि—विषय और विषयी में से एक को लिखकर दूसरे का लिखे हुए में अभेद मान लेना अध्यवसान कहलाता है। यह जहाँ हो वह साध्यवसाना है। यहाँ विषयी—चंद्रमा—को लिखा गया है और उसमें अनुक्त विषय—मुख—का अभेद मान लिया गया है, अतः साध्यवसाना है।

५ **प्रयोजनवती शुद्धा जहत्स्वार्था**—जैसे 'आपका गाँव तो गंगा में है'। यहाँ 'गंगा' शब्द का मुख्य अर्थ होता है 'बहता हुआ जल', उसमें गाँव का होना बाधित है। इसलिये लक्षणा द्वारा 'गंगा' शब्द का 'गंगा का तट' अर्थ करना पड़ता है। अब यह सोचिए कि जब तक किसी आदमी का दिमाग ठिकाने हो वह बिना किसी प्रयोजन के 'गंगातट' के स्थान पर 'गंगा' शब्द का प्रयोग नहीं कर

सकता, इसलिये यही मानना पड़ता है कि वक्ता उनके गाँव की भूमि को उतनी ही शीतल और पवित्र बताना चाहता है जितनी कि स्वयं गंगा है, अतः यह प्रयोजनवती है। गंगा और गंगातट में सादृश्य नहीं, किंतु समीपतारूपी संबंध है, इसलिये यह शुद्धा है, और 'बहते जल' रूपी मुख्य अर्थ के सर्वथा छोड़ देने के कारण 'जहत्स्वार्था' है। विपरीतलक्षणा (जैसे किसी दुष्ट से कहना कि 'आप तो बहुत भले आदमी हैं) भी इसी भेद के अंतर्गत है।

६ **प्रयोजनवती शुद्धा अजहत्स्वार्था**—जैसे 'बंदूकें जा रही हैं'। यहाँ बंदूकें जड़ पदार्थ हैं—वे अपने आप जा नहीं सकतीं, अतः उनका 'जाना' क्रिया का कर्त्ता होना बाधित है। इसलिये यहाँ लक्षणा द्वारा 'बंदूकें' का अर्थ 'बंदूकवाले आदमी' करना पड़ता है। 'बंदूकवाले' के स्थान पर 'बंदूक' का प्रयोग उनकी भी बंदूकों के समान हत्या-प्रवणता को सूचित करने के प्रयोजन से किया गया है, अतः यह लक्षणा प्रयोजनवती है। बंदूकों और बंदूकवालों में सादृश्य संबंध नहीं है, किंतु संयोग संबंध है, अतः यह शुद्धा है। और 'जाने' में बंदूकें भी साथ हैं—इसलिये यह अजहत्स्वार्था ही है।

७ **प्रयोजनवती शुद्धा सारोपा**—जैसे 'सुख सज्जन को संग'। यहाँ 'सुख' आत्मा का धर्म है—आत्मा में रहनेवाली चीज है, और यहाँ सज्जन के और हमारे मिलने

को सुखरूप बताया गया है, अतः मुख्य अर्थ बाधित है। इसलिये 'सुख' शब्द की 'सुखकारी' अर्थ में लक्षणा है। 'सुखकारी' को 'सुख' कहना अन्य सुखकारी वस्तुओं से इसकी विलक्षणता बताने के लिये है, अतः यह प्रयोजनवती है। सुख और सज्जन-संग में सादृश्य से भिन्न पैदा होने और पैदा करने रूपी (प्रयोज्य-प्रयोजक भाव) संबंध होने के कारण शुद्धा है। और विषय सज्जन-संग और विषयी सुख के अलग अलग लिखे रहने के कारण सारोपा है।

८ **प्रयोजनवती शुद्धा साध्यवसाना**—जैसे 'जन-लोचन-आनँद बसत व्रज-वीथिन के बीच'। यहाँ भी भगवान् कृष्ण जनता के नेत्रों के आनंदकारी हैं, न कि आनंद, इसलिये लक्षणा है। प्रयोजन और संबंध वही उपर्युक्त हैं अतः प्रयोजनवती और शुद्धा है। यहाँ केवल विषयी (आनंद) ही लिखा है और विषय (भगवान् कृष्ण) नहीं, अतः साध्यवसाना है।

लक्षणा के भेदों का उपयोग

इनमें से निरूढा लक्षणा व्यंग्य-रहित होती है, अतः साहित्यशास्त्र में उसका कोई चमत्कारी उपयोग नहीं होता और अतएव उसके आधार पर न कोई ध्वनि है, न अलंकार। प्रयोजनवती के भेदों में से गौणी सारोपा का रूपक अलंकार में, गौणी साध्यवसाना का रूपकातिशयोक्ति में, और शुद्धा

सारोपा तथा शुद्धा साध्यवसाना का दोनों प्रकार के हेतु-अलंकार में उपयोग होता है। रहे दो भेद, उनमें से शुद्धा जहत्स्वार्था को मूल मानकर 'अत्यंत तिरस्कृत वाच्य' नामक ध्वनि और शुद्धा अजहत्स्वार्था को मूल मानकर 'अर्थांतर-संक्रमित वाच्य' नामक ध्वनि ये दो भेद होते हैं।

अन्य भेद

पहले लिखा जा चुका है कि—प्रयोजनवती में जो प्रयोजन होता है वह 'व्यंग्य' रूप होता है। यह व्यंग्य दो प्रकार का होता है—एक स्पष्ट, दूसरा अस्पष्ट अथवा गूढ़। तदनुसार काव्यप्रकाश के मत में प्रयोजनवती के पूर्वोक्त छः भेदों में से प्रत्येक भेद 'अगूढ़ व्यंग्य' और 'गूढ़ व्यंग्य' इन नामों से दो दो प्रकार के हो जाते हैं।

इस तरह काव्यप्रकाश के हिसाब से दो निरूढा के और बारह प्रयोजनवती के यों लक्षणा के सब मिलाकर १४ भेद होते हैं।

साहित्यदर्पण के भेदों पर विचार

आजकल साहित्यदर्पण का अधिक प्रचार है और केवल हिंदी जाननेवालों में तो अधिकांश लोग संस्कृत ग्रंथों में से उसे ही पहचानते हैं। इसका कारण यह है कि एक तो उसमें साहित्यशास्त्रीय यावन्मात्र विषयों का जैसा संग्रह है वैसा अन्यत्र नहीं है, और दूसरे वह है भी अन्य ग्रंथों की अपेक्षा

सरल। अतः यदि उसमें लिखे भेदों पर विचार न किया जायगा तो, मैं समझता हूँ, यह लेख अधूरा ही रह जायगा। इसलिये आइए जरा उसके भेद-प्रपंच पर भी विचार कर लें।

साहित्यदर्पणकार ने जैसे प्रयोजनवती शुद्धा के चार भेद हैं वैसे ही चार चार भेद निरूढा गौणी, निरूढा शुद्धा तथा प्रयोजनवती गौणी के भी मान लिए हैं। इस तरह चारों भेदों में से प्रत्येक के चार चार अवांतर भेद हो जाने के कारण आठ निरूढा के और आठ प्रयोजनवती के यों लक्षणा के प्रथमतः सोलह भेद हुए। बाद में निरूढा के भेद तो उनसे आगे बढ़ नहीं पाए, पर बेचारी प्रयोजनवती को उन्होंने और भी धर घसीटा। उसके आठ भेदों में से प्रत्येक को, काव्यप्रकाश के अनुसार, अगूढ़ व्यंग्य और गूढ़ व्यंग्य रूप में विभक्त करके आठ के सोलह भेद तो किए सो किए ही, पर उनमें से एक एक को धर्मगत और धर्मिगत इस तरह दो दो रूप में और मानकर प्रयोजनवती के कुल ३२ भेद कर डाले।

अब निरूढा के आठ और प्रयोजनवती के ३२ इस तरह लक्षणा के जो ४० भेद हुए उन्हें प्रत्येक को पदगत (पद में रहनेवाला) और वाक्यगत (वाक्य में रहनेवाला) इस तरह दो दो भेदों में बाँटकर लक्षणा के कुल ८० भेद बना दिए।

यह भेदों का आडंबर अनुपयोगी है। यदि इसका फल है तो केवल यही कि विद्यार्थियों की कठिनता बढ़ गई

है, इससे अधिक कुछ नहीं, क्योंकि विचार करने पर इनमें से कुछ भेद तो बन ही नहीं सकते और शेष चमत्कारहीन एवं निस्सार हैं।

देखिए, सबसे प्रथम तो जो निरूढा लक्षणा के आठ भेद लिखे गए हैं सो सर्वथा व्यर्थ विस्तार है। कारण, निरूढा लक्षणा में कोई व्यंग्य अथवा प्रयोजन तो होता नहीं—वह तो रूढि-मूलक होती है। प्राचीनों ने तो उसके शुद्धा और गौणी दो भेद भी नहीं किए, क्योंकि रूढ़ लक्षणावाले शब्द चाहे सादृश्य-संबंध के कारण प्रचलित हुए हों, चाहे अन्य किसी संबंध के कारण; उनका प्रयोग करने में वक्ता को कोई स्वतंत्रता नहीं—वैसे शब्दों का निर्माण तो जनता के वाक्प्रवाह के वश में है। अतएव तो अभिधावृत्तिमातृका तथा काव्य-प्रकाश में कुमारिल भट्ट का यह श्लोक उद्धृत किया गया है कि—

निरूढा लक्षणाः काश्चित् सामर्थ्यादभिधानवत्।
क्रियन्ते साम्प्रतं काश्चित् काश्चिन्नैव त्वशक्तितः॥

अर्थात् कुछ लक्षणाएँ अभिधा की तरह (प्रसिद्धिरूपी) सामर्थ्य के कारण निरूढ़ हो गई हैं—उनमें रद्दोबदल करने का किसी को कोई अधिकार नहीं। हाँ, कुछ लक्षणाएँ अब भी (प्रयोजनवशात्) बनाई जाती हैं और कुछ अशक्ति (प्रयोजन अथवा रूढ़ि के अभाव) से नहीं। सारांश यह कि निरूढ लक्षणा का निर्माण वक्ता के वश में नहीं। वे

तो भाषा के प्रवाह के साथ बनी हुई हैं। हाँ, प्रयोजनवती के विषय में यह बात नहीं है।

ऐसी दशा में इस निष्प्रयोजन प्रपंच में पड़ना बेचारे छात्रों के क्लेश को बढ़ा देने के अतिरिक्त अन्य कोई अर्थ नहीं रखता। यद्यपि उपर्युक्त पद्य में बताई रीति के अनुसार निरूढ़लक्षणामूलक शब्दों के संकेतित शब्दों के समान होने के कारण उनके मूल संबंध को खोजना भी चमत्कार की दृष्टि से अत्यावश्यक नहीं है, तथापि भाषा-विज्ञान की दृष्टि से यदि कोई जानना चाहे तो इसके लिये लक्षणारूप संबंध सादृश्यरूप है अथवा अन्य संबंधरूप इतना जान लेना पर्याप्त है और इसी लिये मध्यवर्ती आचार्यों ने निरूढ़ा के गौणी और शुद्धा दो भेद मान लिए हैं। किंतु उनमें जहत्स्वार्था आदि भेदों की कल्पना तो सर्वथा अनपेक्षित ही है। जब कि 'कुशल' आदि शब्दों का आजकल रूढ़ि के कारण मुख्य अर्थों में भी लोग प्रयोग नहीं करते तब उनके ऐसे भेदों का काव्य आदि में क्या फल हो सकता है? इसलिये निरूढ़ा लक्षणा दो प्रकार की है—यही मानना उचित और सुबोध है और अधिक भेदों की कल्पना अन्याय्य ही है।

यह तो हुई निरूढा के भेदों की बात। अब प्रयोजनवती के भेदों पर विचार करिए। उसमें जो गौणी के भी जहत्स्वार्था और अजहत्स्वार्था ये भेद मान लिए हैं वे असंभव हैं, क्योंकि गौणी लक्षणा सर्वदा जहत्स्वार्था ही होती है,

अजहत्स्वार्था नहीं। इसका कारण यह है कि अजहत्स्वार्था तभी हो सकती है जब मुख्य अर्थ भी साथ में रहे, पर भला, आप ही सोचिए मुख्य अर्थ का मुख्य अर्थ से सादृश्य कैसा ? क्योंकि सादृश्य भिन्न वस्तु के साथ ही होता है, अपने-आपके साथ नहीं। अत: गौणी के जो प्राचीनों ने सारोपा और साध्यवसाना ये दो भेद माने हैं वे ही ठीक हैं, और वे हमेशा जहत्स्वार्था में ही होते हैं*।

ऐसी दशा में गौणी के जहत्स्वार्था और अजहत्स्वार्था ये दो भेद अशुद्ध ही हैं, क्योंकि वह अजहत्स्वार्था हो ही नहीं

---

* तदेतत् स्पष्टीकृतं "शुद्धैव सा द्विधा (काव्यप्रकाश २।१०)" इति प्रतीकं विवृण्वता काव्यप्रदीपकारेण—

"ननु शुद्धैवेत्यनुपपन्नम्। गौण्या अपि तथात्वसंभवात्। तथा हि—'गौर्वाहीक' इत्यादौ लक्षणलक्षणा तावत् स्फुटैव। उपादान-लक्षणा तु गोबाहीकोभयविषये 'गाव एते समानीयन्ताम्' इत्यादाविति चेत्। मैवम्। अत्रोपचारबीज सबंधः, सादृश्यमन्यो वा ? आद्ये शक्यसादृश्यस्य शक्यावृत्तितया कथं शक्यस्यापि लक्ष्यता ? येनोपादान-लक्षणा (अजहत्स्वार्था) स्यात् (अयं भावः—अजहत्स्वार्थायां हि शक्यरूपस्य स्वार्थस्यात्याग आवश्यकः, अन्यथा अजहत्स्वार्थात्वमेव न स्यात्। स च सादृश्यस्य लक्षणामूलत्वे (प्राचीनमतेनैतत्, नव्यमते सादृश्यस्यैव लक्षणात्वात्) न संभवति, स्वार्थस्यात्यागे सादृश्यस्या-संभवात्। न हि स्वेन स्वस्य सादृश्यं क्वचिद् दृश्यते। तेन सादृश्य अजहत्स्वार्थात्वं न संभवत्येव)। अन्त्ये (=सादृश्येतरसंबन्धसत्त्वे) कथं गौणी, सादृश्यसम्बन्धप्रयुक्तलक्षणाया एव गौणीत्वात्।" इति।

सकती। अतः यह सिद्ध हुआ कि प्राचीनों की परिपाटी के अनुसार उसके छः भेद ही उचित हैं, न कि साहित्यदर्पण के अनुसार आठ भेद।

अब व्यंग्य के गूढ़ और स्पष्ट होने में जो चमत्कार की न्यूनाधिकता होती है (क्योंकि गूढ़ व्यंग्य कुछ लोगों की ही समझ में आ सकता है और अगूढ सबके) उसके अनुसार छः प्रकार की प्रयोजनवती के प्रत्येक भेद के दो दो प्रकार के होने के कारण काव्यप्रकाश में बताई हुई रीति से गौणी के बारह भेद अलबत्ता हो सकते हैं, किंतु धर्म-धर्मिगतता और पदवाक्यगतता के कारण और भी अधिक भेदों की कल्पना करना तो व्यर्थ ही है, क्योंकि ऐसे भेदों की कल्पना एक तो चमत्कारशून्य है, दूसरे लक्षणा वास्तव में अर्थ का संबंध है न कि शब्द का अतः वह साक्षात् पदगत अथवा वाक्यगत हो भी नहीं सकती, और तीसरे यदि ऐसे चमत्कारशून्य भेद माने जायँ तो इसी तरह जातिगत, गुणगत, क्रियागत और द्रव्यगत आदि अन्य भी अनेक भेदों की कल्पना की जा सकती है, इसलिये ऐसे भेदों की कल्पना छात्रों के क्लेश बढ़ाने के अतिरिक्त अन्य किसी विशेष फल को देने में असमर्थ है—इस बात को विद्वान् लोग खूब सोचकर समझ सकते हैं इसलिये इस विषय का अधिक विस्तार न करना ही उचित है।

इस तरह अन्ततो गत्वा यह सिद्ध हुआ कि—लक्षणा के यदि अधिक से अधिक भेद हो सकते हैं तो चौदह, जिनमें

से दो निरूढा के और बारह प्रयोजनवती के। और यदि गूढ़ व्यंग्य और अगूढ़ व्यंग्य के कारण भेद न माने जायँ तो अधिक से अधिक दो प्रकार की निरूढा लक्षणा और छः प्रकार की प्रयोजनवती लक्षणा होती है, जैसी कि प्रकृत पुस्तक में लिखी गई हैं।

लक्ष्य अर्थ और लाक्षणिक शब्द

लक्षणा वृत्ति द्वारा प्रतिपादित होनेवाले अर्थ को लक्ष्य, औपचारिक, लाक्षणिक, अमुख्य आदि शब्दों से कहा जाता है। इसी तरह लक्षणा द्वारा किसी अर्थ के प्रतिपादक शब्द को लक्षक अथवा लाक्षणिक कहा जाता है।

व्यंजना

उक्त दोनों वृत्तियों (अभिधा और व्यंजना) के अतिरिक्त, शब्द में, एक अन्य वृत्ति भी रहती है। उदाहरणार्थ 'सूर्य अस्त हो गया' इस वाक्य को लीजिए। इस वाक्य को यदि मजदूर मालिक से कहता है तो वह समझता है 'छुट्टी का टाइम हो गया', यदि ऋषिकुल अथवा गुरुकुल का अध्यापक ब्रह्मचारियों से कहता है तो वे समझते हैं 'सायं सन्ध्या-वंदन आरंभ करो', यदि दूकानदार अपने नौकर से कहता है तो वह समझता है 'चीजें समेटो' इत्यादि। भला यह तो बताइए—इस वाक्य के ये अर्थ किस कोश में लिखे हैं? और यदि कहीं नहीं लिखे हैं तो इस वाक्य के द्वारा ये और ऐसे

ही अन्य अर्थ समझे कैसे जाते हैं ? आप यह तो कह नहीं सकते कि ये अर्थ इस वाक्य के द्वारा समझ में ही नहीं आते। अतः मानना पड़ेगा कि इन अर्थों को समझाने की शक्ति भी इस वाक्य में अवश्यमेव है। पर इस शक्ति को 'अभिधा' तो कह नहीं सकते, क्योंकि ये अर्थ इस वाक्य के सीधे अर्थ नहीं हैं—सीधा अर्थ तो है 'एक तेज का पुंज क्षितिज के नीचे चला गया—अथवा आँखों से ओझल हो गया'। बस, अभिधा तो यहीं खतम हो जाती है। वह इससे अधिक कोई अर्थ नहीं समझा सकती।

अब यदि आप इन अर्थों को लक्षणा द्वारा ज्ञात समझें तो यह भी नहीं बन सकता, क्योंकि लक्षणा तभी हो सकती है, जब कि मुख्य अर्थ का बाध हो—अर्थात् सीधा अर्थ करने पर या तो उस अर्थ का वाक्य के अन्य अर्थों के साथ अन्वय न हो सके अथवा उस अर्थ से वक्ता का तात्पर्य पूर्ण-तया न समझा जा सके। सो यहाँ है नहीं; क्योंकि यहाँ ऐसा कोई शब्द नहीं जिसमें कोई ऐसी गड़बड़ हो। अतः आपको उक्त वाक्य से उक्त अर्थों को समझानेवाली भी एक शक्ति अवश्य माननी पड़ेगी। बस, इसी शक्ति को कहते हैं 'व्यंजना'। सारांश यह कि जब अन्य शक्तियाँ काम नहीं करतीं, तब जिस शक्ति से अर्थ का बोध होता है, उस शक्ति का नाम व्यंजना है। अतएव साहित्यदर्पणकार ने इसका लक्षण लिखा है—

विरतास्वभिधाद्यासु ययार्थो लक्ष्यते परः।
सा वृत्तिर्व्यंजना नाम शब्दस्यार्थादिकस्य च ॥

अर्थात् अभिधा आदि शक्तियों के निवृत्त हो जाने पर जिससे अन्य अर्थ का बोध होता है उस वृत्ति को व्यंजना कहते हैं और वह न केवल शब्द में ही रहती है, किंतु अर्थ आदि में भी रहती है।

नागेश भट्ट और अप्पयदीक्षित ने व्यंजना का लक्षण नैयायिकों की प्रक्रिया के अनुसार यों बनाया है—किसी प्रसिद्ध अथवा अप्रसिद्ध अर्थ के विषय में उस ज्ञान के उत्पन्न करानेवाली वृत्ति का नाम व्यंजना है जो ज्ञान मुख्य अर्थ से संबंध रखनेवाले और संबंध न रखनेवाले दोनों को समान रूप से समझा सके और जिसमें मुख्य अर्थ का बाधित होना आदि निमित्त न हों। इसका सारांश यह हुआ कि—अभिधा केवल प्रसिद्ध (संकेतित) अर्थों को ही समझा सकती है, अप्रसिद्ध अर्थों को नहीं और लक्षणा मुख्य अर्थ से संबद्ध अर्थ को ही समझा सकती है और सो भी मुख्य अर्थ के बाधित होने पर ही; किंतु व्यंजना के लिये ऐसी किसी भी शर्त की आवश्यकता नहीं है, वह तो सर्वत्र अप्रतिहत रूप से चलती है। अतएव 'सूर्य अस्त हो गया' के उपर्युक्त अर्थ करने में न तो व्याकरण और कोश में उन अर्थों के लिखे रहने की ही आवश्यकता पड़ती है और न मुख्य अर्थ में रुकावट पड़ने की ही।

व्यंजना के सहकारी

पर इसका अर्थ यह न समझिए कि व्यंजना में कोई निमित्त ही नहीं और वहाँ तो जो चाहे सो जैसा चाहे वैसा अड़ंगा लगा सकता है। आचार्य मम्मट ने शब्दव्यापार विचार में लिखा है—व्यंजक शब्द, व्यंग्य अर्थ के प्रकाशित करने में, प्रतिभा की निर्मलता, चतुर लोगों के परिचय और प्रकरण आदि के ज्ञान की अपेक्षा रखता है—विना इनके व्यंग्य अर्थ को यथार्थतया समझना अशक्य है। नागेश ने भी मंजूषा में लिखा है—व्यंजना से अर्थ का बोध उत्पन्न करने में वक्ता, श्रोता और वाच्य अर्थ की विशिष्टता का ज्ञान और प्रतिभा सहकारी हैं, अथवा यों कहिए कि वैसे ज्ञान की उत्पत्ति में परंपरया कारण हैं।

अत: यह सिद्ध हुआ कि इन सहकारियों के अभाव में कोई भी व्यक्ति व्यंग्य अर्थ को नहीं समझ सकता।

क्या व्यंजना अनुमान है ?

यह भ्रम भी नहीं करना चाहिए कि—व्यंजना और अनुमान एक ही वस्तु है—अर्थात् 'सूर्य अस्त हो गया' इत्यादि वाक्यों के द्वारा उन उन अर्थों का अनुमान कर लिया जाता है। कारण, अनुमान में हेतु का निर्दोष होना आवश्यक ही नहीं किंतु अनिवार्य है, क्योंकि यदि हेतु दूषित हुआ तो सारा अनुमान दूषित हो जायगा। पर व्यंजना में यह

बात नहीं होती, वहाँ हेतु दूषित हो अथवा अशुद्ध, व्यंग्य अर्थ अवश्यमेव प्रतीत हो जाता है। इसी तरह कुछ अन्य बातें भी हैं जिनके कारण व्यंजना को अनुमान नहीं कहा जा सकता। पर उन सब बातों को हम यहाँ प्रपंचित करना उचित नहीं समझते।

व्यंजना अर्थ में भी रहती है

व्यंजना वृत्ति अभिधा अथवा लक्षणा की तरह केवल शब्द से ही संबंध नहीं रखती, किंतु निरे अर्थ से भी व्यंग्य अर्थ की प्रतीति हो जाती है। सारांश यह कि—व्यंग्य अर्थ की प्रतीति जिस तरह किसी विशेष शब्द के प्रयोग के कारण होती है उसी तरह वाच्य और लक्ष्य अर्थों के एवं चेष्टा आदि के द्वारा भी हो जाती है।

व्यंजक

व्यंजना द्वारा अर्थ का प्रतिपादक शब्द अथवा अर्थ व्यंजक कहलाता है। व्यंजक शब्द को ध्वनि-शब्द भी कहते हैं।

व्यंग्य अर्थ अथवा ध्वनि

व्यंजना द्वारा प्रतीत होनेवाले अर्थ को व्यंग्य अथवा ध्वनि कहते हैं।

व्यंग्यों के भेद

यह नियम है कि—जब अभिधा अथवा लक्षणा के द्वारा शब्द अपना अर्थ उपस्थित कर चुकते हैं, उसके बाद ही व्यंग्य

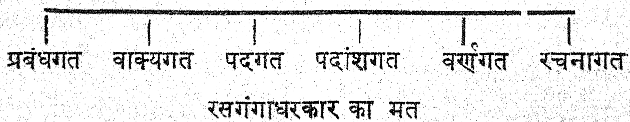
अर्थ की प्रतीति होती है। बिना अभिधा अथवा लक्षणा द्वारा शब्द का कोई अर्थ ज्ञात हुए, प्रथमत: ही, किसी शब्द से व्यंग्य अर्थ प्रकाशित नहीं हो सकता। अत: व्यंग्य अर्थ सबसे प्रथम दो विभागों में विभक्त किए जाते हैं—एक वे जो अभिधा से शब्द का अर्थ प्रतिपादन किए जाने के बाद प्रतीत होते हैं, दूसरे वे जो लक्षणा से अर्थबोध हो चुकने के बाद। इनमें से पहले व्यंग्यों को अभिधामूलक और दूसरे व्यंग्यों को लक्षणामूलक कहते हैं। इन्हीं को काव्यप्रकाशकार आदि, क्रमश:, 'विवक्षितान्यपरवाच्य' और 'अविवक्षितवाच्य' भी कहते हैं।

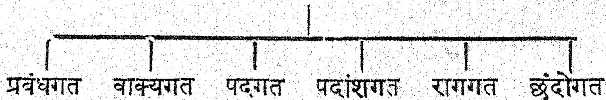
पहले लिखा जा चुका है कि—प्रथमानन में उक्त पाँच व्यंग्यों में से तीन—रसध्वनि, वस्तुध्वनि और अलंकारध्वनि—अभिधामूलक हैं और दो—अर्थांतरसंक्रमित वाच्य और अत्यंत-तिरस्कृत वाच्य—लक्षणामूलक।

अभिधामूलक व्यंग्यों में से रसध्वनि को असंलक्ष्यक्रम व्यंग्य और वस्तुध्वनि तथा अलंकारध्वनि को संलक्ष्यक्रम व्यंग्य कहा जाता है। उनमें से असंलक्ष्यक्रम व्यंग्य को ध्वनिकार तथा उनके अनुयायी काव्यप्रकाशकार आदि ने, इसके व्यंजकों के—प्रबंध (पूरा ग्रंथ), वाक्य, पद, पद का एक भाग (प्रत्यय आदि), वर्ण और रचना—इस तरह—छ: भेद होने के कारण, छ: प्रकार का माना है। इन सबका वर्णन प्रथमानन के अंत में किया जा चुका है। वहाँ यह बात

भी बताई जा चुकी है कि—वर्ण तथा रचना को रसव्यंजक मानना उचित नहीं, वे गुणों के व्यंजक हैं। इस तरह यह सिद्ध हुआ कि—काव्यप्रकाशकार आदि के मतानुसार असंलक्ष्यक्रम व्यंग्य के प्रबंधगत, वाक्यगत, पदगत, पदैकदेशगत, वर्णगत और रचनागत—इस तरह छः भेद हैं और रसगंगाधरकार के मतानुसार यद्यपि वर्णगत और रचनागत इन दो भेदों के छोड़ देने से चार ही भेद होते हैं, तथापि उन्होंने राग आदि को (आदि शब्द से यहाँ छंद लिया जाना उचित है) भी रसव्यंजक माना है, अतः उनके मत से भी छः ही भेद हो जाते हैं। स्पष्टता के लिये हम दोनों पक्षों के छहों भेद नीचे लिखे देते हैं—

असंलक्ष्यक्रम व्यंग्य





इस तरह दोनों मतों के अनुसार असंलक्ष्यक्रम व्यंग्य छः प्रकार के होते हैं, जिनका वर्णन प्रथम आनन के अंत में किया जा चुका है।

संलक्ष्यक्रम व्यंग्य के भेद

इस आनन के आरंभ में संलक्ष्यक्रम व्यंग्य ध्वनि के भेदों पर ही विचार किया गया है। आइए, हम भी जरा उन भेदों को और स्पष्ट कर लें। यह तो पहले लिखा जा चुका है कि—प्रथम वाच्य अर्थ की प्रतीति होने के अनंतर ही व्यंग्य अर्थ प्रतीत होता है। वह व्यंग्य अर्थ दो प्रकार का ही हो सकता है—या तो वस्तुरूप अर्थात् साधारण अथवा अलंकाररूप अर्थात् विचित्रता लिए हुए। ये अर्थ कहीं शब्द के सामर्थ्य से प्रतीत होते हैं और कहीं अर्थ के सामर्थ्य से। जहाँ शब्द के सामर्थ्य से प्रतीत होते हैं वहाँ ये व्यंग्य शब्द-शक्तिमूलक कहलाते हैं और जहाँ अर्थ के सामर्थ्य से प्रतीत होते हैं वहाँ अर्थशक्तिमूलक। इस तरह प्रथमत: संलक्ष्य-क्रम व्यंग्य के ये ही दो भेद होते हैं। उनमें से शब्दशक्ति-मूलक व्यंग्य के तो उक्तरीत्या केवल दो ही भेद हैं—वस्तुध्वनि और अलंकारध्वनि। पर अर्थशक्तिमूलक आठ प्रकार का होता है। इसका कारण यह है कि—प्रथम तो, जैसा कि लिखा जा चुका है, प्रत्येक अर्थ वस्तुरूप अथवा अलंकाररूप दो प्रकार का होता ही है, पर काव्यों में उनमें से प्रत्येक फिर दो तरह का देखा जाता है—एक स्वाभाविक अर्थात् प्रकृति-सिद्ध और दूसरा कवि के द्वारा कल्पित। स्वाभाविक अर्थ को साहित्यशास्त्रवाले 'स्वत:संभवी' कहते हैं और कविकल्पित को 'प्रौढ़ोक्तिसिद्ध'। अब आपने समझ लिया

होगा कि अर्थशक्तिमूलक व्यंग्य जिन अर्थों के बल पर अभिव्यक्त होते हैं वे चार प्रकार के हुए—स्वतःसंभवी वस्तु, स्वतःसंभवी अलंकार, कविप्रौढ़ोक्तिसिद्ध वस्तु और कविप्रौढ़ोक्तिसिद्ध अलंकार। ये चार प्रकार के व्यंजक अर्थ जब कभी किसी अर्थ को अभिव्यक्त करेंगे तो वह अर्थ भी या तो वस्तुरूप होगा या अलंकाररूप। इस तरह अर्थशक्तिमूलक संलक्ष्यक्रम व्यंग्य के कुल आठ भेद होते हैं; जैसे कि द्वितीय आनन के आरंभ में दिखाए गए हैं। उन नामों को दुहराकर हम भूमिका का व्यर्थ विस्तार नहीं करना चाहते।

किंतु काव्यप्रकाशकार ने प्रौढ़ोक्तिसिद्ध अर्थ को दो प्रकार का माना है—कवि के द्वारा कल्पित और कवि के ग्रंथ में लिखे वक्ता के द्वारा कल्पित। कवि के द्वारा कल्पित को 'कविप्रौढ़ोक्तिसिद्ध' कहते हैं और कवि के लिखे वक्ता द्वारा कल्पित को 'कविनिबद्धवक्तृप्रौढ़ोक्तिसिद्ध' कहते हैं। यह जो अंतिम भेद उन्होंने माना है उसके अर्थ भी वही दो प्रकार के होंगे—वस्तुरूप और अलंकाररूप और उनमें से प्रत्येक उन्हीं दो अर्थों को अभिव्यक्त भी करेगा, अतः इन चार भेदों के बढ़ने के कारण काव्यप्रकाशकार के अनुसार अर्थशक्तिमूलक व्यंग्य के बारह भेद होते हैं।

इनके अतिरिक्त काव्यों में कहीं कहीं कोई ऐसे भेद भी दिखाई देते हैं, जिनमें एक व्यंग्य को अभिव्यक्त करने में कुछ शब्दों का सामर्थ्य और कुछ अर्थ का सामर्थ्य दोनों मिलकर

काम करते हैं। ऐसे व्यंग्य को 'शब्दार्थोभयशक्त्युत्थ' कहते हैं।

इस तरह संलक्ष्यक्रम व्यंग्य के मोटे तौर पर तीन भेद हुए—शब्दशक्तिमूलक, अर्थशक्तिमूलक और शब्दार्थोभयशक्तिमूलक। उनमें से प्रथम के दो, द्वितीय के (काव्यप्रकाश के मत से) बारह और तृतीय का केवल एक भेद है।

पर साहित्य-शास्त्र के विधाता इतने मोटे भेद ही इनके करके छोड़ देते यह कैसे हो सकता था? उनके विमर्शानुसार शब्दशक्तिमूलक के उक्त दो भेदों में से प्रत्येक भेद पदगत और वाक्यगत इस तरह दो दो प्रकार का होता है—अतः उसके कुल चार भेद होते हैं। अर्थशक्तिमूलक के बारह भेदों में से प्रत्येक के पदगत, वाक्यगत और प्रबंधगत—इस तरह तीन तीन भेद होते हैं अतः उसके कुल ३६ भेद होते हैं। हाँ, उभयशक्तिमूलक केवल वाक्यगत ही हो सकता है अतः उसका एक ही भेद होता है।

रहे लक्षणामूलक दोनों व्यंग्य। सो वे दोनों भी प्रत्येक पदगत और वाक्यगत इस तरह दो प्रकार के होते हैं, अतः चार भेद ये हुए।

इस तरह अभिधामूलक के (४ + ३६ + १ = ४१) कुल ४१ भेद हुए और लक्षणामूलक के ४। सो संलक्ष्यक्रम व्यंग्यों के कुल ४५ भेद हुए। इनमें यदि असंलक्ष्यक्रम

व्यंग्यों के उक्त ६ भेद और मिला दिये जायँ तो व्यंग्यों के समग्र शुद्ध (अमिश्रित) भेद ५१ होते हैं।

रसगंगाधर का मत

पर रसगंगाधरकार इतने भेद नहीं मानना चाहते। जैसा कि पहले लिखा जा चुका है, वे कविनिबद्ध वक्तृप्रौढ़ोक्ति-सिद्ध अर्थों को पृथक् नहीं मानते, अत: उनके मत से अर्थशक्तिमूलक व्यंग्यों के ३६ भेदों में से १२ भेद तो यों कम हो जाते हैं। इसके अतिरिक्त वे संलक्ष्यक्रम व्यंग्यों को पूरे प्रबंध से अभिव्यक्त होनेवाले भी नहीं मानते क्योंकि उनमें प्रबंधगत भेदों के उदाहरण नहीं दिये हैं ऐसा प्रतीत होता है। इसका कारण संभवत: यह प्रतीत होता है कि पूरे ग्रंथ से तो कोई वस्तु अथवा अलंकार मात्र ही प्रतीत हो—यह संभव नहीं, और जैसे वाक्य-समूहों को काव्य-प्रकाशकारादि ने प्रबंधगतता के उदाहरणों में दिया है, वे एक प्रकार से वक्ता के समग्र अभिप्राय के प्रकाशक वक्तृत्व (Speech) के रूप में एकार्थप्रतिपादक होने के कारण पर-स्पर सापेक्ष अवांतर वाक्यों से निर्मित एक वाक्य ही होते हैं। इसलिये कदाचित् उन्होंने उनको प्रबंधगतता जैसा महान् नाम देना उचित न समझा हो और वाक्यगत भेदों में ही उनका भी समावेश कर लिया हो, क्योंकि ऐसे एक क्रियावाले अनेक वाक्य तो कई ऐसे एक-एक श्लोकों में भी मिल सकते हैं जो

वस्तु से वस्तु को अथवा अलंकार को अभिव्यक्त करते हैं। यदि ऐसा माना जाय तो रसगंगाधरकार के हिसाब से अर्थ-शक्तिमूलक व्यंग्यों के पदगत और वाक्यगत ये दो ही भेद होते हैं सो आठ भेद और भी कम हुए। इस तरह सब मिलाकर बीस भेद तो संलक्ष्यक्रम व्यंग्यों में कम हो जाते हैं।

इधर असंलक्ष्यक्रम व्यंग्यों में भी वे वर्णगत और रचनागत भेद नहीं मानना चाहते—यह लिखा ही जा चुका है। अब यदि नए बढ़ाये हुए रागगत और छंदोगत भेदों को न सम्मिलित किया जाय तो व्यंग्यों के उक्त शुद्ध भेदों में से २२ भेद कम हो जाने के कारण पंडितराज के मतानुसार केवल २९ ही भेद रह जाते हैं और यदि उन्हें भी सम्मिलित किया जाय तो ३१ भेद होते हैं।

मिश्रित भेद

यह तो हुई शुद्ध भेदों की बात। पर काव्यप्रकाश में इन भेदों का एक का दूसरे से मिश्रण चार प्रकार का माना गया है—संदेहसंकर, अंगांगिभाव संकर, एकव्यंजकानुप्रवेश रूप संकर, ये तीन प्रकार के संकर और एक प्रकार की संसृष्टि। तदनुसार एक एक भेद के ५१ भेदों को चौगुने करने पर (५१×५१×४=) १०४०४ मिश्रित भेद होते हैं।

पंडितराज के हिसाब से उक्तरीत्या मिश्रित भेद (२९×२९×४=)३३६४ अथवा (३१×३१×४=)३८४४ ही होते हैं।

समग्र भेद

यदि इन मिश्रित भेदों में शुद्ध भेद जोड़ दिये जायँ तो प्राचीनों के हिसाब से (१०४०४+५१=)१०४५५ और पंडितराज के हिसाब से (३३६४+२९=)३३९३ अथवा (३८४४+३१) ३८७५ व्यंग्यों के समग्र भेद होते हैं।

मिश्रित व्यंग्यों के विषय में साहित्यदर्पण का मतभेद

साहित्यदर्पणकार और उनके पूर्वज चंडीदास, जो काव्य-प्रकाश के एक टीकाकार हैं, मिश्रित भेदों की उक्त संख्या मानने में विप्रतिपत्ति करते हैं। उनका कहना है कि—एक तो अपना अपने साथ कोई मिश्रण नहीं हो सकता, दूसरे जब एक भेद का संकर दूसरे के साथ लिख दिया गया है तब दूसरे के साथ उस भेद का संकर भी वही चीज हुई—अर्थात् जैसे जब अत्यंततिरस्कृत वाच्य का अर्थांतरसंक्रमित वाच्य के साथ मिश्रण लिखा जा चुका है तो फिर अर्थांतर-संक्रमित वाच्य का अत्यंततिरस्कृत वाच्य के साथ मिश्रण कोई अतिरिक्त भेद नहीं रह जाता; अतः ऐसे सब भेदों की गिनती नहीं करनी चाहिए। सो उनके मत से कुल मिश्रित भेद ५३०४ ही होते हैं।

किंतु काव्यप्रदीपकार ने इस मत का खंडन किया है। वे कहते हैं—एक ही ध्वनि यदि भिन्न भिन्न रूपों में आवे—जैसे कि कहीं दो प्रकार की वस्तुध्वनि हो—तो उनके संकर एवं संसृष्टि मानने में कोई बाधा नहीं। अतः अपना अपने

साथ मिश्रण नहीं हो सकता यह कथन निरर्थक है। सो एक बात तो गई। दूसरी बात जो साहित्यदर्पणकार कहते हैं कि जब अत्यंततिरस्कृत वाच्य का अर्थांतरसंक्रमित वाच्य के साथ मिश्रण को अत्यंततिरस्कृत वाच्य के भेदों में लिख दिए जाने पर अर्थांतरसंक्रमित वाच्य के भेदों में वैसे भेद के लिखने की कोई आवश्यकता नहीं, सो भी ठीक नहीं। कारण, जैसे सभी ईख के रस साधारण दृष्टि से एकरूप होने पर भी रसज्ञों की दृष्टि में पौंडे आदि विशिष्ट ईख के रस और साधारण ईख के रस के स्वाद में भेद होता ही है। ऐसी दशा में जैसे जहाँ पौंडे के रस की अधिकता और अन्य रस की न्यूनता होगी उसे, और जहाँ अन्य रस की अधिकता और पौंडे के रस की न्यूनता होगी उसे—इन दोनों मिश्रणों को—एकरूप नहीं कहा जा सकता, वैसे ही जहाँ जिस व्यंग्य की प्रधानता होगी वहाँ उस व्यंग्य के साथ अन्य व्यंग्य का मिश्रण माना जायगा और अन्यत्र अन्य। अतः आपकी यह उपपत्ति भी सुविमृष्ट नहीं है। अब यदि आप कहें कि जहाँ दोनों भेद समान मात्रा में मिश्रित होंगे—किसी एक की प्रधानता न होगी—वहाँ एक भेद आपको और मानना पड़ेगा। तो यह कोई बात नहीं। क्योंकि उसका दोनों नामों में से किसी भी नाम से व्यवहार किया जा सकता है—अर्थात् उस भेद को किसी के साथ भी किसी का मिश्रण कह देने में कोई हानि नहीं। फिर उसका तीसरा नाम रखने की क्या

आवश्यकता है ? अतः साहित्यदर्पण के भेदों की अपेक्षा उपर्युक्त भेद मानना ही उचित प्रतीत होता है।

एक शंका और उसका उत्तर

भेदों के विषय में यह शंका की जा सकती है कि—जब आप लक्षणा के पदगत, वाक्यगत आदि भेद मानने को तैयार नहीं हैं तो व्यंग्यों के ये भेद क्यों मानते हैं ? इसका उत्तर यह है कि—व्यंग्य यदि किसी पद अथवा पद के एक भाग में भी आता है तब भी वह अपने चमत्कार के कारण सारे पद्य को सुशोभित कर देता है। अतएव तो ध्वनिकार ने लिखा है कि—

विच्छित्तिशोभिनैकेन भूषणेनेव कामिनी ।
पदद्योत्येन सुकवेर्ध्वनिना भाति भारती ॥

अर्थात् चमत्कार के कारण सुशोभित होनेवाले आभूषण के द्वारा (जो कि केवल एक अंग में रहता है) जैसे कामिनी सुशोभित होती है, वैसे ही पद से ध्वनित होनेवाले व्यंग्य से सुकवि की वाणी सुशोभित होती है।

अतः जैसे स्थानों के अनुसार भूषणों का विभाग होता है (यथा कान का आभूषण, हाथ का आभूषण आदि) वैसे ही व्यंग्यों का विभाग भी उचित है। पर लक्षणा में स्वतः कोई चमत्कार नहीं रहता—यदि रहता है तो केवल व्यंग्य के द्वारा ही, अतः उसके विभाग बढ़ाना व्यर्थ ही है।

व्यंग्यों के दो प्रकार

ये सभी व्यंग्य दो प्रकार के होते हैं—एक प्रधान रूप से ध्वनित होनेवाले और दूसरे अप्रधान रूप से। प्रधान रूप से ध्वनित होनेवाले व्यंग्यों को 'ध्वनि' के नाम से पुकारा जाता है, और वह जिस काव्य में ध्वनित होता है उसे भी 'ध्वनि' अथवा उत्तमोत्तम काव्य कहा जाता है। अप्रधान रूप से ध्वनित होनेवाले व्यंग्य और काव्य को 'गुणीभूत व्यंग्य' कहते हैं।

गुणीभूत व्यंग्य

गुणीभूत व्यंग्यों का नाम तो इस ग्रंथ में कई जगह आया है, पर उनका विवरण कहीं नहीं है, अत: हम पाठकों के परिचय के लिये इस विषय को स्पष्ट कर देना चाहते हैं। गुणीभूत व्यंग्य आठ प्रकार के होते हैं—१ अगूढ़ व्यंग्य, २ अपरांग व्यंग्य, ३ वाच्यसिद्ध्यंग व्यंग्य, ४ अस्फुट व्यंग्य, ५ संदिग्धप्राधान्य व्यंग्य, ६ तुल्यप्राधान्य व्यंग्य, ७ काकाहठाक्षिप्त व्यंग्य, और ८ असुंदर व्यंग्य।

१ **अगूढ़ व्यंग्य**—जिस व्यंग्य को सहृदयों के अतिरिक्त साधारण लोग भी सहज में समझ लें, वह व्यंग्य एक प्रकार से वाच्य अर्थ के ही समान हो जाता है। ऐसा व्यंग्य अगूढ़ व्यंग्य कहलाता है। यह व्यंग्य प्रधान होने पर भी चमत्कारजनक नहीं होता, अत: गुणीभूत व्यंग्यों में

गिना जाता है। जैसे 'वह तो जीता ही मरा है' 'यहाँ कुछ करने योग्य नहीं है' यह व्यंग्य स्पष्ट प्रतीत होता है।

२ **अपरांग व्यंग्य**—जो व्यंग्य अन्य किसी व्यंग्य का अंग—उपकारक—हो जाता है वह अपरांग व्यंग्य कहलाता है। जैसे किसी मृतक को देखकर यह कहना कि 'यह वह पुरुष है जिसने सैकड़ों को रणांगण में सुलाया है'। यहाँ वीररस करुण का अंग हो गया है।

३ **वाच्यसिद्ध्यंग व्यंग्य**—जिस व्यंग्य के बिना वाच्य अर्थ सिद्ध न हो सके वह व्यंग्य वाच्यसिद्ध्यंग कहलाता है। जैसे 'वैरिवंश दवानल' इस राज-वर्णन में जब तक वैरियों के वंश का 'बाँस' रूप होना न माना जाय (जो कि शब्दशक्तिमूलक व्यंग्य है) तब तक राजा को 'दवानल' कहना नहीं बन सकता, अतः यह व्यंग्य (बाँस होना) वाच्य (दवानल की) सिद्धि का अंग हो गया है।

४ **अस्फुट व्यंग्य**—जिसे सहृदय पुरुष भी कष्ट से समझ सकें वह व्यंग्य अस्फुट कहलाता है। जैसे 'न तुम्हारे देखने में सुख है न न देखने में' इस नायिका की उक्ति में 'जैसे तुम्हारा अदर्शन न हो और वियोग का भय न रहे ऐसा करिए' यह व्यंग्य।

५—**संदिग्धप्राधान्य व्यंग्य**—जिस व्यंग्य की प्रधानता संदिग्ध हो वह व्यंग्य संदिग्धप्राधान्य कहलाता है। जैसे 'शिवजी पार्वतीजी के बिंबाफल-सदृश ओठों को निहारने

लगे'। यहाँ 'चुंबन की इच्छा' रूपी व्यंग्य प्रधान है अथवा 'निहारना' रूपी वाच्य—यह कहना कठिन है, क्योंकि व्यंग्य और वाच्य दोनों ही रसाविर्भावक हैं।

६ **तुल्यप्राधान्य व्यंग्य**—जहाँ वाच्य अर्थ भी उतना ही प्रधान हो जितना कि व्यंग्य अर्थ वह व्यंग्य तुल्यप्राधान्य व्यंग्य कहलाता है। जैसे रावण के दिग्विजय के समय परशुराम के दूत अथवा मंत्री ने रावण से कहा कि 'ब्राह्मणों का अपमान न करने में आपका ही भला है और नहीं तो आपकी अपने मित्र परशुराम से तन जायगी (अथवा ठन जायगी)'। यहाँ 'परशुराम से तन जाना' रूपी वाच्य की और 'परशुराम क्षत्रियों की तरह राक्षसों का भी क्षणभर में क्षय कर डालेंगे' इस व्यंग्य की प्रधानता समान है। दोनों ही एक-से चमत्कारी हैं।

७ **काक्वाक्षिप्त व्यंग्य**—प्रश्न आदि के समय हम लोग जो अपना स्वर बदल देते हैं उस 'स्वर बदलने' को संस्कृत में 'काकु' कहते हैं। जो व्यंग्य इस तरह स्वर बदलने से प्रतीत होता है उसे काकाक्षिप्त व्यंग्य कहते हैं। जैसे 'मैं कुछ नहीं कर सकता' इस वाक्य में एक तरह के स्वर से क्रोध और अन्य तरह के स्वर से बेबसी प्रकट होती है। ये दोनों व्यंग्य गुणीभूत हैं।

८ **असुंदर व्यंग्य**—जिस व्यंग्य में वाच्य अर्थ की अपेक्षा अधिक चमत्कार न हो उस व्यंग्य को असुंदर कहते

हैं। जैसे 'कुंज में से पक्षियों के उड़ने की खड़बड़ाहट सुनकर बहू के अंग-अंग में वेदना हो उठी'। यहाँ 'जिसे संकेत दिया था वह कुंज में घुसा' इस व्यंग्य की अपेक्षा 'बहू के अंग-अंग में वेदना हो उठी' यह वाच्य रसानुगुण होने के कारण कहीं अधिक चमत्कारी है।

शब्दशक्तिमूलक व्यंग्यों का शास्त्रार्थ

इस भाग के आरंभ में शब्दशक्तिमूलक और अर्थशक्तिमूलक व्यंग्यों के भेद लिखने के अनंतर ही शब्दशक्तिमूलक व्यंग्यों की प्रतीति के विषय में तीन मत दिखाए हैं। वे मत शास्त्रार्थी भाषा में होने के कारण विद्यार्थियों को कुछ कठिन पड़ते हैं। वे सरलता से समझ में आ जायँ इसलिये प्रथमतः हम यहाँ उनका संक्षेप सरल भाषा में लिखे देते हैं।

१—व्यंग्यों के भेद लिखते समय यह लिखा जा चुका है कि—अभिधामूलक व्यंग्यों के प्रथमतः दो भेद हैं—एक शब्दशक्तिमूलक, दूसरे अर्थशक्तिमूलक। इनमें से शब्दशक्तिमूलक व्यंग्य वहीं होता है जहाँ अनेकार्थक शब्द हों और उनकी सहायता से अन्य अर्थ प्रकट हो। अब देखना यह है कि—अनेकार्थक शब्दों का प्रस्तुत श्लेष से भिन्न स्थानों पर एक ही अर्थ प्रस्तुत होता है—दूसरे अर्थ का प्रकरण से कोई संबंध नहीं होता। पर ऐसी दशा में भी दूसरा अर्थ हमें प्रतीत अवश्य हो जाता है। यह कैसे होता है?

इस विषय में प्राचीन आचार्यों का मत है कि—द्वितीय (अप्रस्तुत) अर्थ अभिधा द्वारा नहीं, किंतु व्यंजना द्वारा प्रतीत होता है, और अतएव उसे व्यंग्य कहा जाना चाहिए। यद्यपि वह द्वितीय अर्थ भी हमें संकेतज्ञान के द्वारा (कोष आदि से ज्ञात होने पर) ही विदित होता है, अत: नियमानुसार उसे भी वाच्य अर्थ ही माना जाना उचित है, तथापि वे कहते हैं कि—कोष आदि के द्वारा हमें एक शब्द के अनेक अर्थ ज्ञात होने पर भी संयोगादिक (जिन्हें इस ग्रंथ में कहीं कहीं प्रकरणादिक के नाम से भी व्यवहृत किया है और जिनका पृ० ३४ से पृ० ६० तक वर्णन है) अन्य अर्थ की उपस्थिति को रोक देते हैं। अत: यहाँ अभिधा शक्ति काम नहीं देती और वह अर्थ व्यंजना द्वारा प्रतीत होता है। व्यंजना द्वारा प्रतीत होनेवाले अर्थ में ऐसी कोई रोक-टोक अड़ंगा नहीं लगा सकती, क्योंकि वह मानी ही रोकटोकों के उड़ा देने के लिये जाती है। यह है प्रथम मत का संक्षेप।

२—द्वितीय मत में यह दिखाया गया है कि—संयोगादिकों को दूसरे अर्थ का रोकनेवाला मानना अनुचित है। वे तो शब्द के अनेक अर्थों में से वक्ता का तात्पर्य किस अर्थ में है—अर्थात् प्रस्तुत अर्थ कौन है—केवल इतना मात्र समझा देते हैं। यह बोध हो जाने पर कि—इस शब्द का यह अर्थ ही वक्ता के तात्पर्य के अनुसार है, हमें इस अर्थ का अन्वयज्ञान होता है, अन्य का नहीं। सारांश यह कि—

न तो संयोगादिकों के द्वारा केवल एक अर्थ का स्मरण ही होता है और न अप्रस्तुत अर्थ की रुकावट, किंतु उनके द्वारा वक्ता का तात्पर्य किस अर्थ में है इस बात का निर्णय हो जाता है—अर्थात् अमुक शब्द के अमुक अमुक अर्थों में से यहाँ अमुक अर्थ ही वक्ता के अभिप्राय के अनुकूल है यह निश्चित हो जाता है। इस निश्चित अर्थ का ही हमें अन्वय ज्ञान होता है और अन्य अर्थ प्रतीत होने पर भी प्रकृत भाग में अन्वित नहीं होते। ऐसी दशा में भी जो अन्य अर्थ प्रतीत हो जाता है वह अभिधा द्वारा प्रतीत नहीं माना जा सकता, क्योंकि अभिधा में तात्पर्य-निर्णय-हेतु होने के कारण जिस अर्थ में वक्ता के तात्पर्य का निर्णय हो वही अर्थ अभिधा द्वारा प्रतीत करवाया जा सकता है, अन्य नहीं। इस अवस्था में उस अन्य अर्थ को व्यंजना द्वारा प्रतीत अतएव व्यंग्य माने बिना गुजारा नहीं।

३—तृतीय मत में इन दोनों मतों का खंडन किया गया है। वे प्रथम मत की इस बात को मानने के लिये तैयार नहीं हैं कि—अनेकार्थक शब्दों के अनेक अर्थों में से प्रकरणादि के द्वारा, हमें केवल एक ही अर्थ का स्मरण होता है, अन्य का नहीं। कारण, संस्कार और उसके उद्बोधक दोनों के रहने पर स्मरण न होना असंभव है। यदि अनेकार्थक शब्द के एक ही अर्थ का स्मरण हो, अन्य का नहीं, तो 'पय सुंदर है' इस वाक्य के 'पय' शब्द का अर्थ जब वक्ता

के तात्पर्य के विरुद्ध कोई 'जल' कहे तो प्रकरणादि समझने-वाला यह कहता देखा जाता है कि 'महोदय, यहाँ इस शब्द का अर्थ दूध है, जल नहीं'। ऐसी दशा में यदि श्रोता को प्रकरणादि के कारण दूसरा अर्थ उपस्थित ही न होता हो तो वह उस अर्थ का निषेध कैसे कर सकता है। अतः प्रथम मत कुछ नहीं।

अब दूसरे मत को लीजिए। उसमें जो यह लिखा है कि—वक्ता का तात्पर्य जिस अर्थ में नहीं होता वह (अर्थात् अप्रस्तुत) अर्थ व्यंजना द्वारा विदित होता है, क्योंकि अभिधा द्वारा प्रतीत होनेवाला अर्थ बिना तात्पर्य-निर्णय के प्रतीत नहीं हो सकता। सो यह उचित नहीं। इसका हेतु यह है कि 'तात्पर्यज्ञान अभिधा से उत्पन्न होने-वाले बोध में कारण है' इस नियम में कोई उपपत्ति नहीं है। तात्पर्यज्ञान का उपयोग तो केवल इस बात में है कि—इस शब्द के द्वारा यहाँ यही अर्थ सिद्ध होता है, दूसरा अर्थ तो केवल प्रतीत होता है, वह प्रवृत्ति के योग्य नहीं है। अतः उक्त स्थलों में दोनों (प्रस्तुत और अप्रस्तुत) अर्थों को अभिधा द्वारा प्रतीत मानने में कोई बाधा नहीं। यह तो हुई सभी अनेकार्थक स्थलों में यदि आप अन्य अर्थ की भी प्रतीति मानें तब की बात।

पर यदि आप वक्ता के तात्पर्यज्ञान अथवा श्रोता की विशेष प्रकार की बुद्धि-शक्ति को कारण मानकर यह मानें

कि—अप्रस्तुत अर्थ को समझानेवाली व्यंजना कहीं उल्लसित होती है और कहीं नहीं, तो यह भी उचित नहीं। क्योंकि तात्पर्यज्ञान को तो, जैसा कि कहा जा चुका है, व्यंजना का कारण माना नहीं जा सकता—वह तो केवल इतना मात्र समझा देता है कि यहाँ इस शब्द से यह अर्थ अभीष्ट है। रही श्रोता की बुद्धि-शक्ति। सो उसे व्यंजना को उल्लसित करनेवाली मानने के बजाय प्रकरणादि के ज्ञान से दबी हुई अभिधा शक्ति को उद्बुद्ध करनेवाली ही क्यों न मान लिया जाय। वह किसी पद की अन्य अर्थ समझानेवाली अभिधा को उद्बुद्ध न कर व्यंजना को खड़ी करे—यह मानना उपपत्ति-रहित है। इस तरह दोनों मत शिथिल हो जाते हैं।

अब यदि यह माना जाय कि—जहाँ कोई बाधा न हो वहाँ तो दूसरे अर्थ को भले ही अभिधा द्वारा ही सिद्ध समझ लो, किंतु जहाँ दूसरा अर्थ बीभत्स, अतएव बाधित, हो वहाँ उस अर्थ की प्रतीति अभिधा के द्वारा नहीं हो सकती—वहाँ तो व्यंजना माननी ही पड़ेगी, तो यह कोई बात नहीं। क्योंकि बाधित होने का ज्ञान शब्द से उत्पन्न होनेवाले बोध को नहीं रोक सकता—इत्यादि उपाय, जो कि 'इहिं पुर सौधन के शिखर मिलन सूर सों जाइ' इत्यादि कल्पित अर्थों के समझने के लिये किए जाते हैं, उनसे यहाँ भी बोध हो सकता है और जैसे वहाँ बिना व्यंजना के

काम चलता है वैसे यहाँ भी चल जायगा। अतः द्वितीय (अप्रस्तुत) अर्थ का बोध व्यंजना द्वारा होता है यह नहीं माना जा सकता, किंतु वह अर्थ भी अभिधा द्वारा ही ज्ञात होता है—यही सिद्ध होता है। हाँ, प्रस्तुत और अप्रस्तुत अर्थों की उपमा अलबत्ता व्यंजना द्वारा प्रतीत होती है।

इस तरह प्राचीनों की शिथिल होती युक्ति को सहायता देने के लिये पंडितराज ने एक ऐसा स्थल भी ढूँढ़ निकाला है जहाँ अप्रस्तुत अर्थ बिना व्यंजना के प्रतीत ही नहीं हो सकता। वह स्थल है—योगरूढ़ शब्दों से बने पद्य। ऐसा नियम है कि योगरूढ़ शब्दों से जब प्रस्तुत अर्थ प्रतीत हो चुके तब भी अप्रस्तुत यौगिक अर्थ अभिधा द्वारा प्रतीत नहीं हो सकता, क्योंकि रूढ़ि के द्वारा यौगिक अर्थ हटा दिया जाता है। और न वह अर्थ लक्षणा द्वारा ही प्रतीत हो सकता है, क्योंकि जब तक मुख्य अर्थ में बाधा न आवे तब तक लक्षणा होती नहीं। अतः उस अर्थ को व्यंजना द्वारा ही अवगत हुआ मानना पड़ेगा और तब अन्य अप्रस्तुत अर्थों को भी व्यंजना द्वारा प्रतीत मानना ही सरल पक्ष है—यह सिद्ध हो जाता है। यह है उन सब मतों का संक्षेप।

आशा है कि इतना संक्षेप पढ़ लेने से वह विस्तार उतना कठिन नहीं रह जायगा। इसी लिए यह प्रयास किया गया है।

संयोगादिक और व्यंग्यों के उदाहरण

इसके आगे प्रस्तुत ग्रंथ में संयोगादिक (जिन्हें एक शब्द के अनेक अर्थों में से, प्रकृत में, वक्ता का तात्पर्य किस अर्थ में है यह समझने का हेतु माना जाता है) का वर्णन और शब्द-शक्तिमूलक, अर्थशक्तिमूलक और उभयशक्तिमूलक व्यंग्यों के उदाहरण दिए गए हैं, उनका विवेचन किया गया है तथा कहीं-कहीं काव्यप्रकाश में आए उदाहरणों पर भी विचार किया गया है। इनमें से व्यंग्यों के भेदों पर तो हम पहले विचार कर ही आए हैं और शेष बातों का सविस्तर वर्णन ग्रंथ में है, अतः उसे यहाँ प्रपंचित करना व्यर्थ है।

रूपक का शास्त्रार्थ

शब्दशक्तियों के विषय में हम विस्तार से लिख चुके हैं। इसके आगे इस ग्रंथ में रूपक में लक्षणा होती है अथवा नहीं—इस विषय पर सविस्तर विचार किया गया है। वहाँ प्रथमतः गौणी सारोपा लक्षणा का शाब्दबोध दिखाते हुए प्राचीनों के तीन मतों का वर्णन करके यह सिद्ध किया गया है कि 'मुख चंद्र' आदि वाक्यों में चंद्र शब्द का अर्थ 'चंद्र-सदृश' होने पर भी उपमा से उसमें क्या विलक्षणता है। फिर नवीनों—अर्थात् अप्पयदीक्षित—का मत दिखाते हुए 'वृत्तिवार्त्तिक' और 'चित्रमीमांसा' में लिखे उनके विवेचन से भी सुंदर विवेचन करके यह बात सिद्ध की गई है कि—रूपक

में लक्षणा मानने की आवश्यकता नहीं है। और तब स्वयं अपना मत देते हुए अकाट्य युक्ति द्वारा यह सिद्ध किया गया है कि रूपक में सादृश्य का प्रवेश मानना अनिवार्य है अतः लक्षणा माने बिना गुजारा नहीं।

साध्यवसाना लक्षणा

अंत में साध्यवसाना लक्षणा का शास्त्रीय रीति से शाब्द-बोध समझाकर व्यंग्यप्रकरण समाप्त कर दिया गया है।

विषय-सूची

विषय	पृष्ठांक
संलक्ष्य-क्रम ध्वनि	१
संलक्ष्य-क्रम व्यंग्य के भेद	१
काव्य-प्रकाशादि के मत पर विचार	३
शब्दशक्ति-मूलक व्यंग्य के विषय में विचार	४
व्यंजना मानने की आवश्यकता	२७
संयोगादिक	३४
संयोग	३४
विप्रयोग	३६
साहचर्य	३७
विरोधिता	४२
अर्थ	४६
प्रकरण	४८
लिंग	४९
अन्य शब्द की सन्निधि	४९
प्राचीनों के उदाहरण पर विचार	५१
प्राचीनों के लक्षणार्थ पर विचार	५३
सामर्थ्य	५३
औचिती	५६
देश	५७
काल	५७
व्यक्ति	५८
स्वर	५८
अभिनयादिक	५९
उपसंहार	५९
शब्द-शक्ति-मूलक ध्वनियों के उदाहरण	६१
उपमा की अभिव्यक्ति पर विचार	६२

विषय	पृष्ठांक
अन्य अलंकार भी शब्द-शक्ति-मूलक ध्वनि में आते हैं	७१
काव्यप्रकाश के उदाहरण पर विचार	७२
अन्य उदाहरण	७५
शब्द-शक्ति-मूलक वस्तुध्वनि	७७
काव्यप्रकाश के उदाहरण पर विचार	७९
अर्थ-शक्ति-मूलक ध्वनियों के उदाहरण	८२
काव्यप्रकाश के उदाहरण पर विचार	८३
स्वत:संभवि-वस्तु-मूलक अलंकारध्वनि	८६
क्या यहाँ अतिशयोक्ति गुणीभूत व्यंग्य है	८८
उत्तर पक्ष	९२
अन्य उदाहरण	९३
स्वत:संभवि-अलंकार-मूलक वस्तुध्वनि	९४
स्वत:संभवि-अलंकार-मूलक अलंकारध्वनि	९७
कविप्रौढ़ोक्ति-सिद्ध व्यंजक	९८
कवि-प्रौढ़ोक्ति-सिद्ध अलंकारमूलक वस्तुध्वनि	१००
कवि-प्रौढ़ोक्ति-सिद्धवस्तु-मूलक अलंकार ध्वनि	१००
कवि-प्रौढ़ोक्ति-सिद्ध अलंकार-मूलक अलंकार-ध्वनि	१०२
उभय-शक्ति-मूलक ध्वनि	१०३
मतभेद	१०६
उपसंहार	१०७
लक्षणामूलक ध्वनियों के भेद	१०७
जहत्स्वार्था-मूलक ध्वनि	१०८
अजहत्स्वार्था-मूलक ध्वनि	१०९
पदध्वनि और वाक्यध्वनि की पहचान	११०

विषय	पृष्ठांक
अभिधा अथवा शक्ति	१११
लक्षण	१११
अभिधा क्या है ?	१११
अप्पयदीक्षित के मत का खंडन	११२
अभिधा के भेद	११५
अप्पयदीक्षित का खंडन	११७
अभिधा का चौथा भेद	११७
अभिधा के भेद हैं ही नहीं	१२०
एक शंका और उसका उत्तर	१२१
वाचक और वाच्य	१२६
वाच्य अर्थ	१२६
जाति	१२६
जाति का माहात्म्य	१३०
गुण और क्रिया	१३२
यादृच्छिक	१३४
सब शब्द जातिवाची हैं	१३५
लक्षणा	१३६

विषय	पृष्ठांक
लक्षणा के कारण	१३६
लक्षणा के कुछ उदाहरण	१४०
लक्षणा के भेद	१४१
निरूढ़ लक्षणा	१४१
निरूढ़ लक्षणा के भेद	१४३
प्रयोजनवती लक्षणा	१४३
आरोप और अध्यवसान	१४४
सारोपा और साध्यवसाना	१४५
गौणी सारोपा लक्षणा का शाब्दबोध	१४६
पूर्वपक्ष	१४७
उत्तरपक्ष	१४९
प्राचीनों के मत प्रथम मत	१४९
द्वितीय मत	१५१
तृतीय मत	१५४
नवीनों का मत	१५५
नवीनों के मत का खंडन	१६६

विषय	पृष्ठांक
गौणी साध्यवसाना लक्षणा का विचार	१८०
पूर्वोक्त दो मत ठीक हैं या यह मत ?	१८३
अलंकार प्रकरण	१८५
उपमालंकार	१८५
लक्षण	१८५
लक्षण की व्याख्या	१८५
लक्षण की विवेचना	१८६
बिंब-प्रतिबिंब-भाववाली उपमा	१९०
प्राचीन लक्षणों की आलोचना	१९८
उपमा के भेद	२०६
उपर्युक्त भेदों के उदाहरण	२०८
पूर्णोपमा	२०८
पूर्णा श्रौती वाक्यगता	२०८
पूर्णा आर्थी वाक्यगता	२०९
पूर्णा श्रौती समासगता	२१०
पूर्णा आर्थी समासगता	२१०
पूर्णा श्रौती तद्धितगता और पूर्णा आर्थी तद्धितगता	२१०
लुप्ता	२११
उपमानलुप्ता वाक्यगता	२११
धर्मलुप्ता श्रौती वाक्यगता	२१३
धर्मलुप्ता पर एक विचार	२१३
धर्मलुप्ता आर्थी वाक्यगता	२१४
धर्मलुप्ता समासगता श्रौती तथा आर्थी और तद्धितगता आर्थी	२१४
वाचकलुप्ता समासगता	२१५
वाचकलुप्ता कर्मक्यजगता, आधारक्यज्गता और क्यङ्गता	२१५
वाचकलुप्ता कर्तृणमुलगता और कर्मणमुलगता	२१७
धर्मोपमानलुप्ता वाक्यगता और समासगता	२१८

विषय	पृष्ठांक
वाचकधर्मलुप्ता क्विब्गता	२१८
वाचकधर्मलुप्ता समासगता	२१९
वाचकोपमेयलुप्ता क्यज्गता और धर्मोपमानलुप्ता समासगता	२२०
अन्य 'सात' भेद	२२३
वाचकलुप्ता	२२३
उपमानलुप्ता	२२४
वाचकोपमानलुप्ता	२२६
धर्मोपमानलुप्ता	२२६
वाचकधर्मलुप्ता	२२६
भेदों की आलोचना	२२७
अप्पयदीक्षित के विचारों की आलोचना	२२९
बत्तीस भेदों में से प्रत्येक के पाँच पाँच भेद	२३५
व्यंग्य वस्तु को शोभित करनेवाली उपमा	२३६
व्यंग्य अलंकार को शोभित करनेवाली उपमा	२३६
रस को शोभित करनेवाली उपमा	२३७
वाच्य वस्तु को शोभित करनेवाली उपमा	२३७
वाच्य अलंकार को शोभित करनेवाली उपमा	२३८
रस वाच्य नहीं होता	२३८
क्या अलंकार भी अलंकार को शोभित करता है ?	२३९
भेदों की संकलना	२४०
समानधर्म को लेकर उपमा के भेद	२४१
अनुगामी समानधर्म	२४१
केवल बिंब-प्रतिबिंब-भावापन्न समान धर्म	२४२
बिंब-प्रतिबिंब-भावापन्न और अनुगामी दोनों धर्म एक साथ	२४२

विषय	पृष्ठांक
वस्तु-प्रतिवस्तु-भाव से मिश्रित बिंब-प्रतिबिंब-भावापन्न समानधर्म	२४२
उपचरित समानधर्म	२४७
केवल शब्दरूप समान-धर्म	२४८
पूर्वोक्त धर्मों का मिश्रण	२४८
उपमा के भेद	२५६
उपमा की उपस्कारकता	२५७
वाच्य, लक्ष्य और व्यंग्य तीनों प्रकार की उपमाएँ अलंकार-रूप हो सकती हैं	२५८
'चित्र-मीमांसा' पर विचार	२६१
क्या व्यंग्य-उपमा अलंकार नहीं हो सकती ?	२६१
भेदों के विषय में	२६२
लुप्ता में भी बिंब-प्रतिबिंब-भावापन्न धर्म होता है	२६६

विषय	पृष्ठांक
उपमा के अन्य आठ भेद	२६७
केवल निरवयवा	२६८
मालारूप निरवयवा	२६८
समस्तवस्तुविषया सावयवा	२७०
एकदेशविवर्त्तिनी सावयवा	२७१
केवल श्लिष्टपरंपरिता	२७२
मालारूप श्लिष्टपरंपरिता	२७४
केवल शुद्ध परंपरिता	२७६
मालारूप शुद्ध परंपरिता	२७७
रशनोपमा	२७९
उपमा के भेदों की अनंतता	२८०
उपमा की ध्वनि	२८०
उपमा की शब्दशक्ति-मूलक ध्वनि	२८१
शाब्दबोध	२८५

विषय	पृष्ठांक
सादृश्य क्या है ?	२८९
सादृश्य को अतिरिक्त पदार्थ माननेवालों के मत से शाब्दबोध	२९०
एक शंका का समाधान	२९८
सादृश्य को समानधर्म रूप माननेवालों के मत से शाब्दबोध	३२०
लुप्तोपमा के विषयमें	३२२
उपमा के दोष	३२६
कवियों के व्यवहार में प्रसिद्ध न होना	३२७
उपमान और उपमेय का जाति द्वारा अनुरूप न होना	३२७
प्रमाण (परिमाण) के द्वारा अनुरूप न होना	३२८
लिंग और वचन के द्वारा अनुरूप न होना	३२९
बिंब-प्रतिबिंब-भावापन्न धर्मों में धर्म की न्यूनता	३२९
धर्म की अधिकता	३३०
अनुगामी धर्म में काल का अनुपपन्न होना	३३०
पुरुष का उपपन्न न होना	३३३
'विधि' आदि का अनुपपन्न होना	३३३
क्या धर्म का एकत्र अनुवाद्य होना और अन्यत्र विधेय होना भी उपमा का दोष है ?	३३४
बिंब-प्रतिबिंब-भावापन्न धर्मों की न्यूनाधिकता के विषय में एक विचार	३३६
दोष भी दोष नहीं होते	३३९
उपमेयोपमालंकार	३४०
उपक्रम	३४०
लक्षण	३४०
लक्षण का विवेचन	३४१

विषय	पृष्ठांक
उपमेयोपमा के भेद	३४४
अनुगामी धर्मवाली उपमेयोपमा	३४४
बिंब-प्रतिबिंब-भावापन्न धर्मवाली उपमेयोपमा	३४४
उपचरित धर्मवाली उपमेयोपमा	३४५
केवल शब्दरूप धर्मवाली उपमेयोपमा	३४५
व्यक्तधर्मा उपमेयोपमा	३४६
अर्थत: वाक्यभेद का उदाहरण	३४७
चित्र-मीमांसा के लक्षण का खंडन	३४७
अलंकारसर्वस्वकार का खंडन	३५४
अलंकार रत्नाकर का खंडन	३५६
'उपमेयोपमा' अलंकार कब कहलाती है ?	३६०
व्यंग्य उपमेयोपमा	३६०
उपमेयोपमा के दोष	३६१
अनन्वयालंकार	३६३
लक्षण	३६३
लक्षण का विवेचन	३६३
अनन्वय में बिंब-प्रतिबिंब-भावापन्न धर्म नहीं होता	३६६
'अनन्वय' के भेद	३६७
वाचकलुप्त अनन्वय	३६८
धर्म-वाचक-लुप्त अनन्वय	३६९
धर्मोपमान-वाचक-लुप्त अनन्वय	३७०
'रत्नाकर' का खंडन	३७१
अलंकारसर्वस्वकार का खंडन	३७५
अप्पयदीक्षित का खंडन	३७६
अनन्वय की ध्वनि	३७९
असमालंकार	३८०

विषय	पृष्ठांक
लक्षण	३८०
विवेचन	३८०
उदाहरण	३८१
'असम' और 'उपमान-लुप्ता उपमा' में भेद	३८२
'रत्नाकर' का खंडन	३८२
'अनन्वय' को पृथक् अलंकार क्यों माना जाता है ?	३८३
प्राचीनों का मत	३८५
व्यंग्य 'असम'	३८६
असमालंकार के भेद	३८७
उदाहरणालंकार	३८८
लक्षण	३८८
लक्षण का विवेचन	३८८
उदाहरण	३८९
एक बात	३९१
शाब्दबोध	३९१

विषय	पृष्ठांक
'विकस्वरालंकार' के खंडन के लिये उदाहरण	३९७
प्राचीनों का मत	३९९
स्मरणालंकार	४००
लक्षण	४००
उदाहरण	४००
लक्षण का विवेचन	४०२
प्रत्युदाहरण और स्मरणालंकार के विषय में एक खास बात	४०४
अप्पय दीक्षित का खंडन	४०६
'अलंकार - सर्वस्व' और 'अलंकार-रत्नाकर' के लक्षण पर विचार	४१५
स्मरणालंकार की ध्वनि	४१७
स्मरणालंकार में दोष	४१८

विषय	पृष्ठांक
साधारण धर्म के विषय में विचार	४१६
अनुगामी	४२२
बिंब-प्रतिबिंब-भावापन्न	४२२
उपचरितधर्म	४२२
केवल शब्दात्मक धर्म	४२३
रूपकालंकार	४२४
उपक्रम	४२४
लक्षण	४२४
लक्षण का विवेचन	४२४
अभेद किन किन रूपों में आता है?	४२६
'रत्नाकर का खंडन'	४२७
अप्पयदीक्षित का खंडन	४२८
काव्यप्रकाश के लक्षण पर विचार	४३८
रूपक के भेद	४४२
सावयव रूपक	४४२
समस्त-वस्तु-विषय	४४३
एकदेशविवर्त्ती	४४३
रूपक की विधेयता और अनुवाद्यता	४४४
रूपकों का समूह भी रूपकालंकार कहला सकता है	४४७
सावयव रूपक और माला रूपक का भेद	४४८
निरवयव रूपक	४४८
परंपरित रूपक	४४९
श्लिष्ट परम्परित और शुद्धपरंपरित	४५०
सावयव रूपक और शुद्ध परंपरित रूपक में क्या भेद है ?	४५३
उपमान एक हो और उपमेय अनेक हों तो मालारूपक क्यों नहीं माना जाता ?	४५४
परंपरित रूपक के विषय में विचार	४५५
(क) श्लिष्ट परंपरित	४५५

विषय	पृष्ठांक
(ख) शुद्ध परंपरित	४५७
अभेद के विषय में विचार	४५८
परंपरित रूपक के अन्य प्रकार	४६४
वाक्यार्थ रूपक	४६६
अप्पय्यदीक्षित का खंडन	४६७
वाक्यार्थ रूपक का एक अन्य उदाहरण	४६८
ऐसे रूपकों में 'गम्योत्प्रेक्षा' ही क्यों नहीं मान ली जाती है ?	४६९
रूपक का शाब्दबोध	४६९
प्राचीनों का मत	४६९
नवीनों का मत	४७१
तृतीयांत साधारण धर्म-वाले रूपक का शाब्द-बोध	४७७
अभेद के तीन स्थल	४७९
समासगत रूपक का शाब्दबोध	४८१
व्यधिकरण रूपक का शाब्दबोध	४८१
साधारण धर्म	४८२
बिंब-प्रतिबिंब-भावापन्न समानधर्म	४८४
उपचरित समान धर्म	४८४
केवल शब्दात्मक समान धर्म	४८५
हेतु रूपक	४८५
द्विरूपक	४८६
यहाँ रूपक नहीं है	४८६
निम्नलिखित उदाहरण में क्या साधारण धर्म है ?	४८७
अन्योन्याश्रय क्यों नहीं होता ?	४८८
रूपक ध्वनि	४८९
शब्दशक्ति-मूलक रूपक-ध्वनि	४८९

विषय	पृष्ठांक
अर्थशक्ति-मूलक रूपक-ध्वनि	४६१
'आनंदवर्धनाचार्य' की रूपकध्वनि पर विचार	४६२
दोष	४६४
दोषों की निर्दोषता	४६५
परिणामालंकार	४६६
लक्षण	४६६
रूपक से परिणाम का भेद	४६६
समासगत परिणाम	४६७
व्यधिकरण परिणाम	४६८
अप्पयदीक्षित का खंडन	४९९
'अलंकार-सर्वस्व'-कार का खंडन	५०२
कुछ विद्वानों का मत	५०५
शाब्दबोध	५०६
परिणाम की ध्वनि	५११
अप्पयदीक्षित का खंडन	५११
दोष	५१७
स-संदेहालंकार	५१७
लक्षण	५१७
लक्षण का विवेचन	५१७
दूसरा लक्षण	५१९
भेद	५२०
शुद्ध स-संदेह	५२०
निश्चयगर्भ स-संदेह	५२०
निश्चयांत स-संदेह	५२१
प्रत्युदाहरण	५२२
संदेहालंकार अध्यवसान-मूलक नहीं होता	५२२
अप्पयदीक्षित का खंडन	५२५
लक्ष्य ससंदेह	५२७
ससंदेह की ध्वनि	५२८
ध्वनि का प्रत्युदाहरण	५२९

विषय	पृष्ठांक
अप्पयदीक्षित की 'संदेह-ध्वनि' का खंडन	५३०
साधारण धर्म	५३६
उक्त एक अनुगामी धर्म	५३६
उक्त पृथक् अनुगामी धर्म	५३६
अनुक्त पृथक् अनुगामी समान धर्म	५३७
बिंब-प्रतिबिंब-भावापन्न समान धर्म	५३७
लुप्त बिंब-प्रतिबिंब-भावापन्न धर्म	५३८
आहार्य संदेहालंकार	५३९
संदेहालंकार (रूपक की तरह) परंपरित भी हो सकता है	५३९
भ्रांतिमान् अलंकार	५४१
लक्षण	५४१
लक्षण का विवेचन	५४२
उदाहरण	५४५
अप्पयदीक्षित का खंडन	५४५

विषय	पृष्ठांक
अलंकार-सर्वस्वकार का खंडन	५५३
समान धर्म के विषय में विचार	५५४
अथ उल्लेखालंकार	५५५
उल्लेख नं० १	५५५
लक्षण	५५५
लक्षण का विवेचन	५५५
उदाहरण	५५७
अप्पयदीक्षित का खंडन	५५९
संदेह से मिश्रित उल्लेख	५६१
उल्लेख के अन्य भेद	५६२
उल्लेख नं० २	५६३
लक्षण	५६३
दोनों उल्लेखों का पृथक्करण	५६८
उल्लेख की ध्वनि	५६९
शुद्ध उल्लेख नं० १ की ध्वनि	५६९
मिश्रित उल्लेख नं० १ की ध्वनि	५७०

विषय	पृष्ठांक	विषय	पृष्ठांक
उल्लेख नं० २ की ध्वनि	५७०	जात्यवच्छिन्न स्वरूपोत्प्रेक्षा	५९४
अथ अपह्नुति अलंकार	**५७१**	गुणस्वरूपोत्प्रेक्षा	५९६
लक्षण	५७१	क्रिया-स्वरूपोत्प्रेक्षा	५९८
लक्षण का विवेचन	५७१	नैयायिकों के मत से शाब्द बोध	६००
उदाहरण	५७१	वैयाकरणों के मत से शाब्दबोध	६०१
अपह्नुति के भेद	५७३	द्रव्यस्वरूपोत्प्रेक्षा	६०३
प्रत्युदाहरण	५७५	जाति आदि के अभावों की उत्प्रेक्षा	६०५
पर्यस्तापह्नुति अपह्नुति नहीं है (अप्पयदीक्षित का खंडन)	५७६	मालोत्प्रेक्षा	६०६
अन्य भेद	५८०	एक समझने की बात	६०८
अपह्नुति की ध्वनि	५८१	**हेतूत्प्रेक्षा**	६०८
अप्पयदीक्षित के उदाहरण का खंडन	५८२	जाति-हेतूत्प्रेक्षा	६०८
उत्प्रेक्षालंकार	५८८	गुण-हेतूत्प्रेक्षा	६०९
लक्षण	५८८	क्रियाहेतूत्प्रेक्षा	६१०
लक्षण का विवेचन	५८९	द्रव्यहेतूत्प्रेक्षा	६१०
उत्प्रेक्षा के भेद	५९२	जाति आदि के अभावों की हेतूत्प्रेक्षा	६११
उदाहरण	५९४	**फलोत्प्रेक्षा**	६१२
स्वरूपोत्प्रेक्षा	५९४		

विषय	पृष्ठांक
जातिफलोत्प्रेक्षा	६१३
गुणफलोत्प्रेक्षा	६१५
क्रियाफलोत्प्रेक्षा	६१५
जाति आदि के कारण उत्प्रेक्षा के भेद निरर्थक हैं	६१५
गम्योत्प्रेक्षा के उदाहरणों के विषय में	६१६
धर्मस्वरूपोत्प्रेक्षा	६१७
निमित्तधर्म के विषय में कुछ विचार	६१८
शाब्दबोध	६१९
प्राचीनों का मत	६१९
प्राचीनों के मत पर विचार	६२५
आधुनिकों का मत	६२९
आधुनिकों के मत पर विचार	६४१
सिद्धान्त	६४३
विषय के प्रधान न होने पर शाब्दबोध	६४८
कई उत्प्रेक्षाएँ हों तो वहाँ कौन उत्प्रेक्षा बतानी चाहिए ?	६५१
निमित्त धर्म	६५२
श्लेष द्वारा साधारण किया हुआ निमित्त धर्म	६५४

श्रीहरिः

हिंदी-रसगंगाधर

द्वितीय भाग

(द्वितीय आनन के आरंभ से उत्प्रेक्षा पर्यंत)

संलक्ष्य-क्रम ध्वनि*

[प्रथम आनन में यह बात लिखी जा चुकी है कि—व्यंग्य दो प्रकार के होते हैं; (१) 'संलक्ष्य-क्रम' और (२) 'असंलक्ष्य-क्रम'। उनमें से अब तक असंलक्ष्य-क्रम व्यंग्य (रस आदि) का वर्णन किया गया है।] अब संलक्ष्यक्रम व्यंग्य का निरूपण किया जाता है—

संलक्ष्य-क्रम व्यंग्य के भेद

संलक्ष्य-क्रम व्यंग्य प्रथमतः दो प्रकार के होते हैं—एक शब्द-शक्ति-मूलक और दूसरा अर्थशक्ति-मूलक। उनमें से शब्द-

---

* इस प्रकरण में 'ध्वनि' शब्द व्यंग्य का समानार्थक है, अतः बोध-सौकर्य के लिये हमने प्रायः 'व्यंग्य' शब्द का प्रयोग किया है; पर किया जा सकता है 'व्यंग्य' अथवा 'ध्वनि' दोनों शब्दों का प्रयोग। इतना याद रखिए।

शक्ति-मूलक व्यंग्य दो प्रकार के होते हैं। क्योंकि सभी व्यंग्य, वस्तु और अलंकार के भेद से, दो प्रकार के होते हैं। अर्थात् संलक्ष्य-क्रम व्यंग्य के प्रथम भेद के दो भेद हैं—(१) 'वस्तुरूप शब्दशक्ति-मूलक व्यंग्य' और (२) 'अलंकाररूप शब्दशक्ति-मूलक व्यंग्य'।

अर्थशक्ति-मूलक व्यंग्य का व्यंजक अर्थ, प्रथमतः, दो प्रकार का होता है—वस्तुरूप और अलंकाररूप। पर काव्यों में वस्तु और अलंकाररूपी अर्थ दो तरह के पाए जाते हैं; एक वे जो संसार में देखे जाते हैं (जिन्हें काव्यज्ञ लोग 'स्वतःसंभवी' कहते हैं) और दूसरे वे जो केवल प्रतिभा से बनाए हुए—अर्थात् कवि के कल्पित—होते हैं (जिन्हें काव्यज्ञ लोग 'कवि-प्रौढोक्ति-सिद्ध' कहते हैं)। ये चारों प्रकार के अर्थ व्यंजक होते हैं और इनमें से प्रत्येक के द्वारा वस्तुरूप और अलंकाररूप दो तरह के व्यंग्य अभिव्यक्त होते हैं। इस तरह अर्थशक्ति-मूलक व्यंग्य आठ प्रकार के होते हैं। आठों भेदों के नाम यों हैं—१–स्वतःसंभवि-वस्तु-मूलक वस्तुध्वनि, २–स्वतःसंभवि-वस्तु-मूलक अलंकारध्वनि, ३–स्वतःसंभवि*-अलंकार-मूलक वस्तुध्वनि, ४–स्वतःसंभवि-अलंकार-मूलक अलंकारध्वनि, ५–कवि-प्रौढ़ोक्ति-सिद्ध-वस्तु-मूलक वस्तुध्वनि, ६–कवि-प्रौढ़ोक्ति-सिद्ध-वस्तु-मूलक अलं-

---

* यद्यपि समासे संहिताया नित्यत्वम्, तथापि कर्णकटुत्वनिवृत्तये बोधसौकर्याय च 'हिन्दी'-नियमेनाऽसंहितमेवात्र प्रयुक्तम्।

कारध्वनि, ७—कवि-प्रौढ़ोक्ति-सिद्ध-अलंकार-मूलक वस्तुध्वनि और ८—कवि-प्रोढोक्ति-सिद्ध-अलंकार-मूलक अलंकारध्वनि।

काव्य-प्रकाशादि के मत पर विचार

'काव्य-प्रकाश'-कार आदि ने अर्थशक्ति-मूलक व्यंग्य के चार भेद और माने हैं। उनका कहना है कि जिस तरह कवि की प्रौढ़ोक्ति (चमत्कार के अनुकूल कथन) से सिद्ध अर्थ माने जाते हैं, उसी तरह कवि ने काव्य में जिन वक्ताओं का वर्णन किया है, उनकी प्रौढ़ोक्ति से सिद्ध अर्थ भी माने जाने चाहिएँ। वे अर्थ भी वस्तुरूप तथा अलंकाररूप दो तरह के हो सकते हैं एवं उनमें से प्रत्येक के द्वारा वस्तुरूप और अलंकाररूप व्यंग्य अभिव्यक्त हो सकते हैं; अतः 'कवि-निबद्ध-वक्तृ-प्रौढ़ोक्ति-सिद्ध' अर्थ को मूल मानकर चार भेद और माने जाने चाहिएँ।

पर पंडितराज का कथन है कि कवि की प्रौढ़ोक्ति से सिद्ध और उसके वर्णन किए हुए वक्ता की प्रौढ़ोक्ति से सिद्ध—दोनों ही प्रकार के—अर्थ केवल प्रतिभा द्वारा बनाए हुए हैं। वे कवि के हों तो क्या और उसके वर्णन किए वक्ता के हों तो क्या? उन दोनों में एक दूसरे की अपेक्षा कोई विशेषता नहीं; अतः इन चार भेदों को पृथक् गिनना उचित नहीं। यदि आप ऐसा करेंगे तो कवि ने जिनका वर्णन किया है, उन वक्ताओं के वर्णन किए हुए—आदि के कल्पित

अर्थों से भी व्यंग्यों के अन्यान्य भेद बनाए जा सकेंगे। यदि आप कहें कि कवि के वर्णन किए हुए वक्ताओं के वर्णन किए वक्ता भी कवि के वर्णित ही हुए, अत: उनके वर्णित अर्थ भी 'कवि-प्रौढ़ोक्ति-सिद्ध' अर्थों से पृथक् नहीं गिने जा सकते; तो हम कहते हैं कि प्रथम वर्णित वक्ता भी कवि ही हुआ; क्योंकि जो अलौकिक वर्णन में चतुर हो उसे कवि कहा जाता है, सो बात उस वक्ता में भी विद्यमान ही है; यदि वह कोई चमत्कारी बात कहेगा तो उसे भी कवि माना जा सकता है (और वस्तुत: तो उसके द्वारा भी कवि ही कह रहा है); अत: उसके वर्णित अर्थ भी 'कवि-प्रौढ़ोक्ति-सिद्ध' ही हुए, अतिरिक्त नहीं। अत: कवि के प्रथम वर्णित वक्ता को अतिरिक्त भेदों का प्रयोजक मानना उचित नहीं।

यों (दो शब्दशक्ति-मूलक व्यंग्य के और आठ अर्थ-शक्ति-मूलक व्यंग्य के इस तरह) 'संलक्ष्य-क्रम ध्वनि' के कुल दस भेद हुए।

शब्दशक्ति-मूलक व्यंग्य के विषय में विचार

(आगे का प्रकरण समझने के लिये ध्यान में रखिए कि—पूर्वोक्त संलक्ष्य-क्रम व्यंग्य के प्राथमिक दो भेदों में से प्रथम भेद 'शब्दशक्ति-मूलक व्यंग्य' उस जगह हुआ करता है, जहाँ अनेकार्थ शब्दों से कोई अप्राकरणिक—जिसका प्रकरण से संबंध न हो वह—अर्थ व्यंजना-वृत्ति से निकलता है, अतएव

उसे व्यंग्य कहा जाता है। यह प्राचीनों का सिद्धांत है। यह सिद्धांत क्यों माना जाता है और इस पर कैसी कैसी आलोचनाएँ हुई हैं—इस बात को, मतभेदों और उनकी आलोचना सहित, नीचे समझाया गया है।)

क्या अनेकार्थ शब्दों का अप्राकरणिक अर्थ व्यंजना द्वारा ज्ञात होता है?

(१)

कुछ लोगों का कथन है कि—अनेकार्थ शब्दों के सब अर्थों में संकेत-ज्ञान समान रहता है अर्थात् लोग अनेकार्थ शब्दों के सभी अर्थों को समान रूप से समझते हैं, उनमें से किसी को आवश्यक और किसी को अनावश्यक रूप में नहीं याद करते। इस कारण, जब वे ऐसे शब्द को सुनते हैं तो सुनते ही उन्हें वे सब अर्थ याद आ जाते हैं। तब यह संदेह होता है कि यहाँ वक्ता का तात्पर्य किस अर्थ में है—उसने यहाँ इस शब्द का किस अर्थ में प्रयोग किया है? इस संदेह का निर्णय प्रकरण आदि से होता है, अतः श्रोता पुरुष प्रकरणादि की पर्यालोचना करके वक्ता के तात्पर्य का निर्णय कर लेता है।

उदाहरण के लिये कल्पना कीजिए कि—किसी मनुष्य ने किसी हिंदू राजा के विषय में 'सुरभिमांसं भक्षयति' वाक्य का प्रयोग किया। यहाँ 'सुरभि' शब्द के दो अर्थ हो सकते हैं—'सुगंधित' और 'गाय'। ऐसी दशा में हिंदू

राजा का प्रकरण होने से श्रोता यह निर्णय कर लेता है कि यह शब्द यहाँ 'सुगंधित' अर्थ में प्रयुक्त हुआ है, 'गाय' के अर्थ में नहीं; क्योंकि हिन्दू राजा गाय का मांस नहीं खा सकता।

अत: यह मानना पड़ता है कि अनेकार्थ शब्द का प्रथमत: तात्पर्य-ज्ञान होता है और फिर तात्पर्य-ज्ञानरूपी पद-ज्ञान से उस पद का अर्थ केवल एक अर्थ के विषय में होता है; और तब जाकर हमें अन्वय-ज्ञान होता है। अर्थात् प्रथमत: पद-ज्ञान के समय हमें अनेकार्थ शब्द के सब अर्थ उपस्थित रहते हैं; पर प्रकरणादि द्वारा तात्पर्य-ज्ञान हो जाने के अनंतर केवल एक अर्थ का स्मरण रह जाता है। इस सिद्धांत के अनुसार यह मानना पड़ता है कि—हमें अनेकार्थक पदों के अर्थों की उपस्थिति दो बार होती है—प्रथमत: अनेक अर्थवाली और फिर एक अर्थवाली।

अब यह सोचिए कि जिस तरह पहली उपस्थिति अनेक अर्थों के विषय में होती है, उसी तरह दूसरी भी अनेक अर्थों के विषय में क्यों नहीं होती? अत: दूसरी उपस्थिति में प्रकरणादि के ज्ञान अथवा उसके वशवर्त्ती तात्पर्य-निर्णय को प्रतिबन्धक (रोकनेवाला) मानना पड़ेगा; अन्यथा शाब्दबोध भी अनेक अर्थों के विषय में होने लगेगा, जो कि होता नहीं। अतएव (इस सिद्धांत के माननेवालों से भी) प्राचीनों ने यह लिखा है कि "...**अनवच्छेदे**

विशेषस्मृतिहेतवः—अर्थात् संयोग, विप्रयोग आदि (जिनका वर्णन आगे किया जायगा) तात्पर्य-ज्ञान का संदेह होने पर केवल एक अर्थ के विषय में स्मरण होने के हेतु होते हैं।" इसका तात्पर्य यह है कि 'संयोगादि' के कारण अनेक अर्थों में से केवल एक अर्थ की ही स्मृति शेष रह जाता है।

इस तरह यह सिद्ध होता है कि—"सुरभिमांसं भक्षयति" इत्यादि वाक्य से केवल प्राकरणिक अर्थ 'सुगंधित' आदि की ही प्रतीति होनी चाहिए। पर, फिर भी जो दूसरी (अर्थात् 'गाय का मांस खाता है' यह) प्रतीति हो जाया करती है, वह प्रतीति (उस पद के अन्य अर्थ) 'गाय आदि' की उपस्थिति न होने पर कैसे हो सकेगी ? अतः ऐसे स्थलों में उस (द्वितीय) उपस्थिति के लिये व्यञ्जना-वृत्ति माननी चाहिए। अर्थात् यह मानना चाहिए कि अनेकार्थक स्थलों में प्राकरणिक अर्थ का अभिधावृत्ति द्वारा बोध होता है और अप्राकरणिक का व्यञ्जनावृत्ति द्वारा।

पर, यदि आप कहें कि अनेकार्थ शब्द की अपने सभी अर्थों में पृथक्-पृथक् शक्ति (अभिधा) रहती है, अतः एक शक्ति-द्वारा प्राकरणिक अर्थ की उपस्थिति हो जाने के अनंतर दूसरी शक्ति से फिर भी दूसरे अर्थ की उपस्थिति हो सकेगी। तो ऐसा हो ही नहीं सकता। कारण, जिस प्रकरणादि-ज्ञान को आपने दूसरे अर्थों के ज्ञान का प्रतिबंधक माना है, वह उस समय भी तो रहेगा ही—वह उस समय कहीं

चला थोड़े ही जायगा ! और यदि प्रकरणादि-ज्ञान को प्रतिबंधक न मानो तो प्राकरणिक अर्थ की उपस्थिति में ही अप्राकरणिक अर्थ भी होने लगेगा—यही सूझे और वह न सूझे, इसमें आप क्या प्रमाण रखते हैं ? अतः प्रकरणादि-ज्ञान को प्रतिबंधक मानना ही पड़ेगा।

यदि आप यह शंका करें कि प्रकरणादि का ज्ञान वैसे पद से होनेवाले अर्थों की यावन्मात्र उपस्थितियों का प्रतिबंधक होता है—वह तो कभी अन्य अर्थ होने देगा ही नहीं; अतः व्यंजना द्वारा भी अन्य अर्थ की उपस्थिति कैसे हो सकती है ? तो इसका समाधान यह है कि उस तरह की (अप्राकरणिक अर्थ को समझानेवाली) व्यंजना का आविर्भाव ही अप्राकरणिक अर्थ के उपस्थित करवाने के लिये माना जाता है—अन्यथा उसका मानना ही व्यर्थ हो जाय; अतः उस व्यंजना से उत्पन्न न होनेवाली उपस्थिति के प्रति ही प्रकरणादि के ज्ञान का प्रतिबंधक होना माना जाता है—उस व्यंजना से उत्पन्न उपस्थिति के प्रति नहीं। अथवा यह मानना चाहिए कि व्यंजना का ज्ञान प्रतिबंधक के रहते भी दूसरे अर्थ की उपस्थिति को उत्तेजित कर देता है। यही सब सोच-समझकर कहा गया है कि—

"अनेकार्थस्य शब्दस्य वाचकत्वे नियन्त्रिते।
संयोगाद्यैरवाच्यार्थधीकृद्व्यापृतिरञ्जनम् ॥

(काव्यप्रकाश उ० २, का० १९)

"जब संयोगादि द्वारा अनेकार्थ शब्द की वाचकता का नियंत्रण हो जाता है अर्थात् उस शब्द के अन्य अर्थ की उपस्थिति रुक जाती है और वह शब्द उस एक अर्थ के अतिरिक्त अन्य किसी अर्थ को नहीं कह सकता; तब जो उस वाच्य (प्रकरणादि-प्राप्त) अर्थ से भिन्न अर्थ का ज्ञान होता है (जैसे 'सुरभिमांसं भक्षयति' में 'सुरभि' शब्द से 'गाय' का), उसको उत्पन्न करनेवाली क्रिया व्यंजना है।"

(२)

पर दूसरे लोग इन बातों को ज्यों का त्यों नहीं मानना चाहते। उनका कहना है कि 'अनेकार्थ शब्द से जो शाब्द बोध होता है, उसमें तात्पर्य-निर्णय को अवश्यमेव कारण मानना पड़ता है, बिना उसके किसी प्रकार काम नहीं चल सकता। अत: अनेकार्थ शब्द से प्रथमत: अनेक अर्थों की उपस्थिति होने पर भी, तात्पर्य-निर्णय के कारण रूप प्रकरणादि से जब तात्पर्य-निर्णय हो जायगा, तब जिस अर्थ के विषय में तात्पर्य-निर्णय हुआ है उसी अर्थ के अन्वय का बोध होगा, दूसरे अर्थ का नहीं। अर्थात् प्रथमत: अनेक अर्थों के उपस्थित होने पर भी अन्वय उसी अर्थ का होता है, जिसके विषय में तात्पर्य-निर्णय हो, इस मार्ग का आश्रय लेने से न तो यही मानने की अपेक्षा रहती है कि हमें अनेकार्थ शब्द के केवल एक ही अर्थ का स्मरण रहता है और न यही कल्पना करनी पड़ती है कि दूसरे अर्थ की

उपस्थिति रुक जाती है और ऐसी दशा में पूर्वोक्त ("सुरभि-मांसं भक्षयति" आदि) अनेकार्थक स्थलों में प्रकरणादि-ज्ञान के वशीभूत तात्पर्य-निर्णय द्वारा, प्राकरणिक अर्थ का शाब्दबोध हो जाने पर भी, बाद में, उसी शब्द से, जो तात्पर्यार्थ के अतिरिक्त अन्य अर्थ ('गाय' आदि) का शाब्दबोध उत्पन्न होता है, वह बिना व्यंजना के किस क्रिया से सिद्ध हो सकेगा; अतः वहाँ व्यंजना माननी चाहिए। यदि आप कहें कि दूसरा शाब्दबोध भी शक्ति (अभिधा) से ही सिद्ध हो जायगा, तो यह बन नहीं सकता। क्योंकि शक्ति द्वारा जो बोध होता है, उसमें तात्पर्य-निर्णय को कारण माना गया है। और व्यंजना से उत्पन्न बोध में तो तात्पर्यज्ञान की अपेक्षा होती नहीं; क्योंकि इसी लिये वह मानी ही जाती है—यदि व्यंजना में भी तात्पर्य-ज्ञान को कारण माना जाय तो उसका मानना ही व्यर्थ हो जाय। यह है उनका मत।

पर इस मत में यदि कोई प्राचीनों के ग्रंथ से विरोध की शंका करे, कहे कि इस तरह अनेकार्थ शब्द के शाब्दबोध में केवल एक अर्थ के स्मरण की अपेक्षा न रहने पर प्राचीन विद्वानों ने जो ('संयोगादि' के विषय में) "विशेषस्मृतिहेतवः" लिखा है, जिसे पहले मत में उद्धृत किया गया है उस ग्रंथ की कैसे संगति होगी? और यदि प्रकरणादि-ज्ञान को अन्य अर्थ की उपस्थिति का रोकने-

वाला न माना जाय तो 'संयोगादिकों' के कारण जो अनेकार्थ शब्द की वाचकता का नियंत्रण (अन्य अर्थों का रोक देना) कहा गया है, वह भी किस तरह बन सकता है ?

इसका समाधान यह है कि "विशेषस्मृतिहेतवः" इस जगह स्मृति शब्द का अर्थ 'याद आना' नहीं है, किंतु "निश्चय हो जाना" है। अतः 'विशेषस्मृति' शब्द से यहाँ, किसी विशेष (खास) अर्थ के विषय में जो तात्पर्य-निर्णय होता है, उसका ग्रहण किया गया है। अर्थात् 'अनवच्छेदे विशेषस्मृतिहेतवः' का पूर्वोक्त अर्थ नहीं, किंतु यह अर्थ है कि 'संयोगादिक' जहाँ तात्पर्य का संदेह हो वहाँ तात्पर्य का निर्णय कर देनेवाले हैं और 'संयोगादिकों के कारण वाचकता के नियंत्रण' का भी अर्थ 'केवल एक अर्थ के विषय में तात्पर्य-निर्णय उत्पन्न करके उसे शाब्दबोध के अनुकूल बना देना है। इसी तरह 'अवाच्यार्थ' शब्द का अर्थ भी 'तात्पर्यार्थ' से अतिरिक्त अर्थ है'। अर्थात् पूर्वोक्त "अनेकार्थस्य शब्दस्य......" इत्यादि काव्यप्रकाश के श्लोक का अर्थ यह है कि जब संयोगादिक, अनेकार्थ शब्द को केवल एक अर्थ के विषय में तात्पर्य-निर्णय उत्पन्न करके, शाब्दबोध के अनुकूल बना देते हैं तब जो तात्पर्यार्थ से अतिरिक्त अर्थ की प्रतीति होती है, उसे उत्पन्न करनेवाली क्रिया व्यंजना है। इस तरह प्राचीनों के ग्रंथों में भी किसी प्रकार की असंगति नहीं रहती। वे लोग यह भी कहते हैं।

अब केवल एक शंका और रह जाती है। वह यह कि प्राकरणिक अर्थ का बोध हो जाने के अनंतर, तात्पर्य-ज्ञान के रूप में जो पद का ज्ञान होता है, उसकी तो निवृत्ति हो जायगी। अब तात्पर्यार्थ के अतिरिक्त अन्य अर्थ के ज्ञान को, व्यंजना द्वारा उत्पन्न माननेवाले भी, सिद्ध किस तरह कर सकेंगे; क्योंकि जब पद का ज्ञान ही नहीं रहा तो अर्थ-ज्ञान होगा कहाँ से? वह तो पद-ज्ञान के अधीन न है? पर यह शंका उचित नहीं; क्योंकि इसका समाधान तीन तरह से हो सकता है—

१—कुछ लोगों का कहना है कि पहले अर्थ का ज्ञान ही दूसरे अर्थ के ज्ञान में क्रिया का काम देता है—उस पद से दूसरे अर्थ के ज्ञान को उद्‌बुद्ध करने में पहले अर्थ का ज्ञान साधनरूप हो जाता है; इस कारण कुछ दोष नहीं।

२—दूसरे विद्वानों का कथन है कि जब किसी भी शब्द के अर्थ का ज्ञान होता है तब जिस तरह उस अर्थ के शक्यतावच्छेदक (जैसे मुख के साथ मुखत्व) की प्रतीति होती है, उसी तरह विशेषणरूप से पद की भी प्रतीति होती है; अतएव महावैयाकरण भर्त्तृहरि लिखते हैं कि—

न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके यः शब्दानुगमादृते।
अनुविद्धमिव ज्ञानं सर्वं शब्देन भासते॥

अर्थात् संसार में ऐसी कोई प्रतीति नहीं है कि, जिसका शब्द अनुगामी न हो। संसार भर का सब ज्ञान शब्द से

अनुविद्ध सा प्रतीत होता है—प्रत्येक ज्ञान के साथ उसका प्रतिपादक शब्द गौणरूप से सटा ही रहता है। अतः प्रथमतः अभिधा द्वारा जो ज्ञान होता है, वही पद-ज्ञान भी हुआ; क्योंकि पद-ज्ञान से रहित तो कोई अर्थ-ज्ञान होता नहीं। इस कारण आपकी शंका निर्मूल है।

३—किसी का यह भी मत है कि एक बार यदि पद-ज्ञान निवृत्त हो गया तो हो जाने दो, फिर से बोलो और फिर पद-ज्ञान हो जायगा, वह कौन दुर्लभ वस्तु है।

इस तरह अनेकार्थक स्थल में जो अनुरणनीय* अभिव्यक्ति होती है, वह शब्दशक्ति (अभिधा) के कारण होती है; अतः उसे 'शब्दशक्ति-मूलक ध्वनि' कहा जाता है। कारण, ऐसी अभिव्यक्ति में शब्द नहीं बदले जा सकते। यह है 'ध्वनि-कार' के अनुयायियों का कथन।

(३)

पर अन्य विद्वान् इनके विरुद्ध खड़े होते हैं। वे कहते हैं—ये दोनों ही मत ठीक नहीं। पहले प्रथम मत को लीजिए।

---

* 'संलक्ष्यक्रम व्यंग्यों' को 'अनुरणनीय व्यंग्य' भी कहा जाता है। इसका कारण यह है कि जिस तरह घंटे पर चोट लगाने से पहले एक बड़ा शब्द होता है; पर उसके बाद बिना किसी दूसरी चोट के भी बहुत देर तक धीरे-धीरे शब्द होते रहते हैं, जिन्हें 'अनुरणन' कहते हैं, उस तरह शब्द के मुख्य अर्थ के समाप्त हो जाने पर भी ये व्यंग्य प्रतीत होते रहते हैं।

उसमें कहा गया है कि "अनेकार्थ शब्द के अन्वय-ज्ञान में केवल एक अर्थ की उपस्थिति अपेक्षित है; अन्वय के समय उस शब्द के अन्य अर्थ उपस्थित नहीं रहने चाहिएँ"। अतः इसमें कुछ सार नहीं।

कारण यह है कि अनेकार्थ शब्द से दो अर्थों के उपस्थित होने पर भी, जिस अर्थ को वक्ता कहना चाहता है उसका शाब्दबोध, प्रकरणादि-ज्ञान के वशवर्त्ती तात्पर्य-ज्ञान के प्रभाव से ही, बन जाता है। अतः केवल एक अर्थ की उपस्थिति के अपेक्षित होने में कोई प्रमाण नहीं। और जब कि अन्य अर्थ को उपस्थित करनेवाली सामग्री (पद-ज्ञान) विद्यमान है, तो अन्य अर्थ का उपस्थित होना उचित भी है; सामग्री के विद्यमान रहते उपस्थिति क्यों नहीं होगी? यदि आप यह कहना चाहें कि प्रकरणादि का ज्ञान अथवा उसका वशवर्त्ती तात्पर्य-ज्ञान अन्य अर्थ की उपस्थिति को रोक देते हैं, तो यह भी नहीं कह सकते; कारण, संस्कार और उसके उद्बोधक —दोनों—के विद्यमान रहते स्मृति का रुक जाना कहीं नहीं देखा जाता—यह बात अनुभव-विरुद्ध है।

यदि आप कहें कि यह रुकने-रुकाने की कल्पना केवल इसी (अनेकार्थ शब्द के अप्राकरणिक अर्थ की) स्मृति में की जाती है, अन्य स्मृतियों में नहीं; अतः अन्यत्र वैसा होने पर भी यहाँ ऐसा मानने में कोई बाधा नहीं। तो

यह बात भी समझ में नहीं आती। क्योंकि एक तो आपकी यह कल्पना व्यर्थ है (जिसका कारण ऊपर लिखा जा चुका है कि अन्य अर्थ की स्मृति के रहते भी तात्पर्य-ज्ञान के कारण अभीष्ट अर्थ का शाब्दबोध हो सकता है) और दूसरे अनुभव से विरुद्ध भी है। देखिए, ऐरे-गैरे की बात तो हम करते नहीं; पर जिन लोगों को अनेक अर्थों की शक्ति का दृढ़ संस्कार है अर्थात् जिनके हृदय में अनेकार्थ शब्द के सभी अर्थ अच्छी तरह जम रहे हैं, उन्हें प्रकरण का ज्ञान रहते भी "पयो रमणीयम् (दूध सुंदर है + जल सुंदर है)" इत्यादि वाक्यों से प्रथमतः दोनों अर्थों की उपस्थिति अनुभव-सिद्ध है। अतएव प्रकरणादि जानने-वाले लोग "पयो रमणीयम्" इत्यादि वाक्य को एकदम सुनने पर भी प्रकरणादि के न जाननेवाले मूर्खों को समझा देते हैं कि भाई साहब, यहाँ 'पय' शब्द का तात्पर्य दूध में है, जल में नहीं। यदि (आपके हिसाब से) प्रकरणादि का ज्ञान अनेकार्थ शब्द से उत्पन्न होनेवाली अप्राकरणिक अर्थ की उपस्थिति को रोक दिया करे, तो उस समय प्रकरणादि जानने-वालों को 'पय' शब्द का अर्थ 'जल' याद नहीं आवेगा; क्योंकि वह अप्राकरणिक है; और उसके बिना याद आए ये लोग कैसे जल के तात्पर्य का निषेध कर सकेंगे? इस कारण, आप जो यह प्रकरणादि के ज्ञान द्वारा अप्राकरणिक अर्थ की रुकावट मानते हैं, वह समझ से बाहर की ही बात है।

यह तो हुई प्रथम मत की बात। अब दूसरे मत को लीजिए। इस मतवालों का कहना है कि "प्रकरणादि के ज्ञान से जब यह निर्णीत हो जाता है कि प्राकरणिक अर्थ ही वक्ता के तात्पर्य का विषय है—वक्ता ने उस शब्द का प्रयोग उसी अर्थ के तात्पर्य से किया है, तब उस अभिप्रेत अर्थ के शाब्दबोध के अनन्तर जो तात्पर्यार्थ के अतिरिक्त अर्थ का बोध उत्पन्न होता है, वह व्यंजना द्वारा होता है; क्योंकि यहाँ शक्ति (अभिधा) काम नहीं दे सकती।"

उनसे हम यह पूछना चाहते हैं कि आपने जो यह व्यंजना का आविर्भाव माना है, वह अनेकार्थवाले स्थलों में सर्वत्र होता है अथवा कहीं कहीं? आपका इस विषय में क्या मंतव्य है?

यदि आप पहला पक्ष मानते हैं कि अनेकार्थवाले स्थलों में सर्वत्र व्यंजना का प्राकट्य होता है, तो ऐसा नहीं हो सकता; क्योंकि ऐसा मानने से आपको सब जगह प्राकरणिक और अप्राकरणिक—दोनों—अर्थों का शाब्दबोध स्वीकार करना पड़ेगा; और तब आपकी यह कल्पना कि अनेकार्थवाले शब्दों के शाब्दबोध का कारण तात्पर्य-ज्ञान है, निरर्थक हो जायगी।

यदि आप कहें कि अभिधा द्वारा जो शाब्दबोध होता है उसमें तात्पर्य-ज्ञान को कारण माना जाता है। व्यंजना द्वारा होनेवाला बोध तो तात्पर्य-ज्ञान के बिना भी हो सकता

है। अतः जहाँ व्यंजना द्वारा बोध होता है, वहाँ कोई अभिधा द्वारा बोध न समझने लगे; इसलिये अभिधा से होने-वाले बोध में तात्पर्यज्ञान को कारण मानने की कल्पना की गई है। यह भी ठीक नहीं। कारण, जब आप तात्पर्यार्थ के अतिरिक्त अन्य अर्थ को भी सब जगह मान रहे हैं, तब उसे शक्ति (अभिधा) द्वारा उत्पन्न मानने में कोई बाधा नहीं—जब वह बोध सर्वत्र होता ही है तब फिर उसे अभिधा से उत्पन्न क्यों न माना जाय ?

यदि आप कहें कि 'प्रथमतः अनेकार्थक शब्द से दोनों अर्थों की उपस्थिति होती है। फिर प्रकरणादि के कारण एक अर्थ में तात्पर्य का निर्णय होता है और तब जिस अर्थ में तात्पर्य निर्णय हो चुका है; उसी अर्थ का शाब्दबोध पहले होता है, (अप्राकरणिक) का नहीं। अर्थात् तात्पर्य-ज्ञानवाले अर्थ का शाब्दबोध पहले होता है और अन्य का बाद में।' इस नियम की रक्षा के लिये हम अभिधा द्वारा होनेवाले प्राकरणिक अर्थ के शाब्दबोध में उस अर्थ के तात्पर्य-ज्ञान को हेतु मानना चाहते हैं। अन्यथा जिस अर्थ के विषय में वक्ता का तात्पर्य निर्णीत हो चुका है उसकी तरह, जिस अर्थ के विषय में तात्पर्य का निर्णय नहीं हो पाया है उस—अन्य—अर्थ का भी शाब्दबोध पहले होने लगेगा। सारांश यह कि हमें तात्पर्यार्थ से भिन्न अर्थ का भी शाब्दबोध अभीष्ट है; पर तात्पर्यार्थ के बोध के

अनंतर; इस कारण हम तात्पर्यार्थ के बोध को अभिधा से उत्पन्न मानते हैं—जिससे कि उसकी प्राथमिक उप-स्थिति हो सके।

पर ऐसा न कहिए। कारण, जिस तरह "सोऽव्या-दिष्ट*भुजङ्गहारवलयस्त्वां सर्वदो माधवः' इत्यादिक श्लेष-काव्यों में (शिव और विष्णु दोनों के विषय में) जो दो अर्थ होते हैं, उनका बोध एक साथ माना जाता है—उनमें से किस अर्थ को पहले और किसको पीछे करना चाहिए यह झगड़ा नहीं करना पड़ता; उसी तरह यहाँ भी प्राकर-णिक और अप्राकरणिक दोनों अर्थों का बोध एक साथ स्वीकार कर लेने में कोई बाधा नहीं।

आप कहेंगे—दृष्टान्त ('सोऽव्यादिष्ट...' आदि) में जो दो अर्थ (शिव और विष्णु के पक्ष में) किए गए हैं, उन दोनों में प्रकरण की समानता है; वे दोनों प्राकरणिक अर्थ हैं—उनमें से एक प्राकरणिक और एक अप्राकरणिक नहीं। अतः दोनों अर्थों में तात्पर्य-ज्ञान होने के कारण दोनों का बोध एक साथ हो सकता है। पर दार्ष्टान्तिक ("सुरभिमांसं भक्षयति" आदि) में तो प्रकरणादि के ज्ञान से एक ही अर्थ

---

* इसके दो अर्थ यों हैं—'जिन्हें साँपों के हार और कंकण पसंद हैं, वे शिव सर्वदा तुम्हारी रक्षा करें'; और 'जिसके बल को भुजंगों का हरण (संहार) पसंद है उस (गरुड़) द्वारा चलनेवाले और सब कुछ देनेवाले लक्ष्मीपति तुम्हारी रक्षा करें'।

में तात्पर्य-ज्ञान होता है, अतः वहाँ एक साथ दोनों अर्थों का बोध नहीं बन सकता। इसलिये आप यह कह नहीं सकते। क्योंकि तात्पर्यज्ञान शाब्दबोध का कारण है—यही सिद्ध नहीं है; अतः एक साथ दोनों अर्थों का बोध न होने की युक्ति संतोषकारक नहीं। यदि आप तात्पर्यज्ञान को शाब्द-बोध का कारण सिद्ध कर दें तो ऐसा कहा भी जा सकता है—पर व्यर्थ बात करना निस्सार है।

आप पूछेंगे—फिर तात्पर्यज्ञान का किस जगह उपयोग होगा—यदि उसका शाब्दबोध में उपयोग नहीं होता तो आपके हिसाब से वह किस मर्ज की दवा है? इसका उत्तर यह है कि तात्पर्यज्ञान का उपयोग, 'यह शब्द इस अर्थ में प्रमाण है (अन्य अर्थ में नहीं)' और 'इस शब्द से यह अर्थ ज्ञात होता है (अन्य अर्थ नहीं)' इत्यादि के निर्णय में होता है; जो कि प्रवृत्ति आदि में उपयोगी है। इसका अभिप्राय यह है कि तात्पर्यज्ञान अनेकार्थ शब्द से होनेवाले प्राकरणिक अर्थ के शाब्दबोध के पहले-पीछे होने में उपयोगी नहीं है—उसका शाब्दबोध पहले हो अथवा पीछे, तात्पर्यज्ञान के साथ इसका कुछ संबंध नहीं। किंतु तात्पर्य-ज्ञान इस बात का निर्णय कर देता है कि अमुक शब्द से तुम्हें यहाँ (अनेक अर्थों में से) अमुक अर्थ लेना चाहिए। और इसका उपयोग होता है उस अर्थ के अनुसार प्रवृत्त होने में। अर्थात् पहले-पीछे, किसी भी तरह, श्रोता को उस वाक्य के सब

अर्थ समझ पड़ने पर भी, वक्ता का तात्पर्य समझ लेने से, प्रवृत्त उसी काम में होगा, जो वक्ता को अभीष्ट होगा। जैसे "सुरभिमांसं भक्षयति" के दोनों अर्थ समझने पर भी तात्पर्य जाननेवाला श्रोता न राजा के लिए गाय का मांस ला सकता है न उसे उसका खानेवाला कह सकता है। यदि वह दोनों अर्थ समझता, पर उसे तात्पर्य का ज्ञान न होता तो प्रवृत्ति के समय वह अवश्य चक्कर में पड़ जाता। यह है तात्पर्यज्ञान का उपयोग।

इस प्रणाली से अनेकार्थक स्थल में भी तात्पर्यज्ञान को शाब्दबोध का कारण मानना शिथिल हो जाता है, फिर एकार्थक स्थल की तो बात ही क्या है? ऐसी दशा में तात्पर्यार्थ से भिन्न अर्थ का शाब्दबोध सिद्ध करने के लिये व्यंजना का स्वीकार करना अनुचित ही है। क्योंकि शक्ति (अभिधा) से ही दोनों बोध्य हो सकते हैं।

अच्छा, अब आप यदि दूसरा पक्ष मानें—अर्थात् यह कहें कि यह व्यंजना का आविर्भाव अनेकार्थ स्थलों में सर्वत्र नहीं होता, किंतु किसी-किसी स्थल पर होता है—तो यह भी ठीक नहीं; क्योंकि ऐसा होने में कोई कारण नहीं। आप कहेंगे—है क्यों नहीं, व्यंग्य अर्थ के विषय में कवि (वक्ता) के तात्पर्य का ज्ञान उसका कारण है तो सही—अर्थात् जहाँ-जहाँ हमें कवि का व्यंग्य अर्थ के विषय में तात्पर्य जान पड़ता है, हम समझते हैं कि यहाँ कवि कुछ दूसरा

अर्थ भी कहना चाहता है, वहाँ व्यंजना का आविर्भाव होता है, अन्यत्र अनेकार्थक शब्द रहते भी वह नहीं होता। अतएव अनेकार्थक स्थलों में कहीं व्यंजना का आविर्भाव होता है, कहीं नहीं।

यह भी नहीं बन सकता। इसके दो कारण हैं। एक तो यह कि व्यंजना द्वारा होनेवाले बोध में तात्पर्यज्ञान का कारण होना आप स्वीकार नहीं करते, जैसा कि पहले लिखा जा चुका है। दूसरे, जहाँ अश्लील दोष होता है, वहाँ भी अप्राकरणिक अर्थ सब मनुष्यों के अनुभव से सिद्ध है। पर ऐसी जगह कवि का तात्पर्य उस अर्थ में हो नहीं सकता—कवि अपनी कविता में वैसा दोष क्यों लाने लगा! ऐसे स्थलों में कवि के तात्पर्य का ज्ञान उस तरह के अर्थात् अप्राकरणिक अश्लील अर्थ के बोध का कारण हो नहीं सकता; अतः कवि के तात्पर्यज्ञान को व्यंजना के आविर्भाव का कारण मानना व्यभिचार से दूषित भी है—अर्थात् यह भी देखा जाता है कि बिना कवि के तात्पर्य के भी व्यंजना का आविर्भाव होता है।

यदि आप कहें कि व्यंजना के आविर्भाव का कारण कवि के तात्पर्य का ज्ञान नहीं, किंतु एक प्रकार का श्रोता की बुद्धि का सामर्थ्य है। और वह, प्रयोजनवशात्, जो चमत्कारी अर्थ होता है उसी में व्यंजना का आविर्भाव करता है, अन्यत्र नहीं। अतः व्यंजना के आविर्भाव का कहीं कहीं होना

सिद्ध हो जाता है। यह भी उचित नहीं। कारण, यदि ऐसा ही है तो उस श्रोता की बुद्धि के सामर्थ्य को प्रकरणादि द्वारा नियंत्रित शक्ति का ही आविर्भावक क्यों नहीं मान लिया जाता—अर्थात् यों ही मान लीजिए कि प्रकरणादि (द्वितीय) अभिधा का नियंत्रण करते हैं और श्रोता की बुद्धि का सामर्थ्य उसे फिर से उद्बुद्ध कर देता है—वह व्यंजना को ही उल्लसित करे इसमें क्या प्रमाण है? अतः अनेकार्थ स्थलों में अप्राकरणिक अर्थ की अभिव्यक्ति के लिये व्यंजना की कल्पना करने की कोई आवश्यकता नहीं।

यह तो हुई एक बात। अब दूसरी सुनिए। वह यह है कि "उल्लास्य* कालकरवालमहाम्बुवाहम्........."

---

* यह श्लोक यों है—

उल्लास्य कालकरवालमहाम्बुवाहं देवेन येन जरठोर्जितगर्जितेन।
निर्वापितः सकल एव रणे रिपूणां धाराजलैस्त्रिजगति ज्वलितः प्रतापः।

इसका वाच्य अर्थ यह है कि कठोर और बलवान् सिंहनादवाले जिस राजा ने (वैरियों के) काल-रूप खड्ग की धार के महान् पानी के फैलाव को, पैनी करने द्वारा, और भी बढ़ाकर, संग्राम में धार के पानी द्वारा, त्रिलोकी में अत्यंत प्रसिद्ध, शत्रुओं का, सब का सब प्रभाव शान्त कर दिया। और व्यंग्य अर्थ यह है कि—जिस देव (इन्द्र) ने कठोर और बलवती गर्जना से युक्त और काली किरणोंवाले नवीन महामेघ को प्रकट करके, धाराओं के रूप में बरसते हुए जलों से, 'सूँ सूँ' करते हुए, (जल के) शत्रुओं (अग्नियों) का त्रिलोकी में प्रदीप्त महान् ताप, सब का सब शान्त कर दिया।

इत्यादि अनेक अर्थों के व्यञ्जक स्थल में, जिस मनुष्य को दूसरे अर्थ की शक्ति का ज्ञान नहीं है—अर्थात् जिसे उन शब्दों के एक ही अर्थ का ज्ञान है उसे, अथवा प्रथमतः ज्ञात होने पर भी जो मनुष्य दूसरे अर्थों की शक्ति भूल गया है—एक ही अर्थ उसे याद रह गया है—उसे, व्यंजना द्वारा द्वितीय अर्थ के बोध का सर्वथा उदय नहीं होता—यह देखा जाता है। पर, आपके विचार से तो ऐसी जगह भी व्यंजना द्वारा उस अर्थ का बोध अनिवार्य हो जायगा। कारण, आप वहाँ शक्ति की तो कुछ आवश्यकता मानते नहीं—यदि मानते ही तो व्यंजना मानने की आवश्यकता ही क्या थी; उसी से काम चल जाता। यदि आप कहें कि जिस शब्द से जिस अर्थ की अभिव्यक्ति होती है, उस शब्द की उस अर्थ में शक्ति का ज्ञान ही उस (अन्य) अर्थ की व्यंजना के आविर्भाव का कारण है—अर्थात् शक्तिज्ञान होने पर ही व्यंजना का उल्लास होता है, अन्यथा नहीं। तो यह भी नहीं बन सकता। कारण, "निश्शेषच्युतचंदनम् (पहले भाग के पृष्ठ ३२) इत्यादिक में 'रमण' अर्थ की अभिव्यक्ति न हो सकेगी, क्योंकि 'अधम' पद की 'रमण' अर्थ में शक्ति का ज्ञान किसी को भी नहीं है—दुनिया में कोई भी ऐसा न निकलेगा जो 'अधम' पद का 'रमण' अर्थ करे। इतने पर भी यदि आप कहें कि और चाहे कोई समझे या न समझे, पर नायक अवश्य 'अधम' पद का वैसा अर्थ समझता है—

उससे अधम कहते ही वह समझ जायगा कि इसका संकेत 'रमण' की तरफ है; तो शक्ति से ही काम चल जाने पर आपकी व्यंजना की कल्पना व्यर्थ हो जायगी। आप कहेंगे—शक्ति ज्ञान को व्यंजना के आविर्भाव का कारण वहीं माना जाता है, जहाँ अनेकार्थक शब्द व्यंजक होते हैं, अन्यत्र नहीं। कारण, ऐसी जगह शक्ति के नियन्त्रित हो जाने से उसके ज्ञान से कुछ काम नहीं चल सकता; अतः व्यंजना की कल्पना उचित है। तो यह भी ठीक नहीं। कारण, इस तरह के नवीन कार्य-कारण-भाव की कल्पना में गौरव-दोष होगा—एक व्यर्थ का नियम बढ़ जायगा। आप कहेंगे—ऐसा किए बिना काम नहीं चल सकता। सो तो है नहीं। कारण, जिसके लिए आप इस नवीन कार्य-कारण-भाव की कल्पना कर रहे हैं, उस शक्ति के नियंत्रण को हम पहले ही दूषित कर आए हैं, अतः "तद्धेतोरेव तदस्तु किं तत्कल्पनया अर्थात् जब कारण के कारण से ही काम चल जाय तो उसी को कारण मान लिया जाना चाहिए, बीच में एक और कारण की कल्पना क्यों की जाय?" यह न्याय उतर पड़ेगा—कहेगा कि जब (इस नवीन) व्यंजना के कारण-रूप शक्ति के ज्ञान से ही अन्य अर्थ प्रतीत हो सकता है तो फिर इस व्यंजना की कल्पना किस मर्ज की दवा है? अतः ऐसी जगह व्यंजना की कल्पना निरर्थक है।

अब यदि आप कहें कि—भवतु, शक्ति द्वारा ज्ञात ही अप्राकरणिक अर्थ अन्वयज्ञान में आता है—अर्थात् अप्राकरणिक अर्थ का शाब्दबोध भी शक्ति से ही होता है, आपकी इस बात को हम मान लेते हैं; पर ऐसी जगह जहाँ अन्य अर्थ के मानने में किसी प्रकार की बाधा न हो। किंतु जहाँ बाधा होगी वहाँ तो जैसे—

"जैमिनीयमलं* धत्ते रसनायामयं द्विजः।"

इत्यादिक में जो घृणित (दूसरा) अर्थ है वह, "आग से सींचता है" इस वाक्य में के 'सींचने' की तरह (क्योंकि 'सींचना' तरल चीजों से होता है आग आदि से नहीं), समझ में नहीं आ सकेगा—क्या कोई ऐसा भी मूर्ख होगा जो ब्राह्मण की जीभ पर विष्ठा धरने को कहे। क्योंकि यह बात सभी की मानी हुई है कि बाधा का निश्चय ऐसे निश्चयवाली वस्तु के ज्ञान का रोकनेवाला होता है। पर देखते यह हैं कि इस तरह का घृणित अर्थ भी लोगों की समझ में आता है अवश्य; अतः ऐसे स्थलों पर अवश्यमेव व्यंजना माननी पड़ेगी। आप कहेंगे—व्यंजना भी बाधित अर्थ का बोध कैसे करवा सकेगी? सो है नहीं। कारण,

---

* इसका एक अर्थ तो यह होता है कि 'यह ब्राह्मण मीमांसाशास्त्र को यथेष्टरीत्या जीभ पर धारण करता है—इसे मीमांसा-शास्त्र कंठस्थ हो रहा है' और दूसरा अर्थ यह होता है—'यह ब्राह्मण जीभ पर जैमिनि की विष्ठा धारण करता है'।

बाधित अर्थ का भी व्यंजना से बोध हो सकता है। इसी लिये तो वह मानी जाती है, अन्यथा व्यर्थ हो जाय। सो ऐसे स्थलों में, अप्राकरणिक अर्थ का शक्ति द्वारा ज्ञान माननेवालों का काम नहीं चल सकता और व्यंजनावादियों को कुछ दोष नहीं; अत: व्यंजना मानना आवश्यक है। यह भी नहीं है। कारण,

"गामवतीर्णा सत्यं सरस्वतीयं पतञ्जलिव्याजात्।

अर्थात् यह, पतंजलि के मिष से, सचमुच सरस्वती पृथ्वी पर उतर आई है।" और

"सौधानां नगरस्यास्य मिलन्त्यर्केण मौलयः।

अर्थात् इस नगर के महलों की चोटियाँ सूरज से जा मिलती हैं।"

इत्यादिक स्थलों में 'सरस्वती का पृथ्वी पर उतर आना' और 'महलों की चोटियों का सूरज से जा मिलना' बाधित हैं; क्योंकि ऐसा हो नहीं सकता। अत: ऐसे स्थलों में वाच्य अर्थों का बोध सिद्ध करने के लिये जिस* यत्न का

---

* यह यत्न, आगे, लक्षणा के प्रसंग में रूपक पर विचार करते हुए मूल में ही लिख दिया जायगा। जिसका सारांश यह है कि— 'बाधा का ज्ञान और अयोग्यता का निश्चय शाब्दबोध में रुकावट नहीं डालता'। इसी तरह 'योग्यता का ज्ञान भी शाब्दबोध का कारण नहीं है' यह मानना चाहिए; अथवा "ऐसी जगह 'आहार्य' (बाधित समझते हुए भी कल्पित) बोध" माना जाना चाहिए।

अनुसरण करना पड़ता है, उसी से अनेकार्थक स्थलों में भी बाधित अर्थ का बोध सिद्ध हो सकेगा। अन्यथा—अर्थात् उस यत्न के न मानने पर—प्राय: सभी अलंकारों में वाच्य अर्थों का ज्ञान सिद्ध करने के लिये व्यंजना स्वीकार करनी पड़ेगी।

अत: अनेकार्थक स्थलों में होनेवाले अप्राकरणिक अर्थ का ज्ञान व्यंजना द्वारा होता है—यह प्राचीनों का सिद्धांत शिथिल ही है। हाँ, प्राकरणिक और अप्राकरणिक अर्थों की उपमा का ज्ञान तो कदाचित् व्यंजना द्वारा हो भी सकता है—अर्थात् यदि आप उपमा के व्यंग्य होने की बात कहते तो अलबत्ता किसी को कोई आपत्ति नहीं होती।

व्यंजना मानने की आवश्यकता

इस तरह यह सब बात बिगड़ी जाती है। ऐसी दशा में हमें (पंडितराज को) यह सूझ पड़ता है कि ऐसा होने पर—अर्थात् अनेकार्थ शब्द के अप्राकरणिक अर्थ की प्रतीति में व्यंजना का प्रयोजन न रहने पर—भी, यह बात सब सिद्धांतों की मानी हुई है कि 'योगरूढ़ि'* के स्थल में 'रूढ़ि' के ज्ञान से योग का अपहरण हो जाता है—अर्थात् योगरूढ़ शब्दों में यौगिक अर्थ की प्रतीति नहीं होती,

---

* योग, रूढ़ि, योगरूढ़ि और यौगिकरूढ़ि ये चार अभिधा के भेद हैं। आगे अभिधा के प्रकरण में देखिए।

किंतु रूढ़ अर्थ की ही होती है। पर, ऐसी दशा में भी 'योगरूढि' के स्थलों में जिसमें रूढ़ि नहीं रहती ऐसे और अवयव शक्ति से संबद्ध (अर्थात् केवल यौगिक) अन्य अर्थ की जो प्रतीति हो जाया करती है, वह विना व्यंजना के उपपन्न नहीं हो सकती है—उसके लिये तो आपको व्यंजना अवश्य ही माननी पड़ेगी। जैसे—

अबलानां श्रियं हृत्वा वारिवाहैः सहानिशम् ।
तिष्ठन्ति चपला यत्र स कालः समुपस्थितः ॥

इस पद्य का प्राकरणिक अर्थ, जो 'योगरूढि' द्वारा होता है, यह है—जिस समय बिजलियाँ कामिनियों की कांति का हरण करके, रात-दिन, मेघों के साथ रहा करती हैं, वह समय (वर्षा-ऋतु) उपस्थित हो गया।

पर यहाँ एक दूसरा अर्थ और प्रतीत हो जाता है। वह यह है कि—जिस समय कुलटाएँ निर्बल पुरुषों का द्रव्य हरण करके जल ढोनेवाले पुरुषों के साथ रहती हैं, वह समय आ गया है।

यह द्वितीय अर्थ 'अबला', 'वारिवाह' और 'चपला' शब्दों से योगरूढ़ि-शक्ति द्वारा नहीं बन सकता; कारण, इस अर्थ में 'कामिनी', 'मेघ', 'बिजली' आदि (योगरूढ़िवाले) अर्थों की प्रतीति नहीं होती। यदि दूसरे अर्थ में भी 'मेघ', 'बिजली' आदि अर्थों की प्रतीति मान लें तो कुछ चमत्कार नहीं

रहेगा—बात ही बिगड़ जायगी। यदि कहो कि केवल 'योग'-शक्ति से उस अर्थ का बोध मान लेंगे तो यह हो नहीं सकता। कारण, योग-शक्ति रूढ़ि-शक्ति के साथ रहने पर, रूढ़ि के अर्थ से अमिश्रित (केवल यौगिक) अर्थ का बोध करवावे यह असंगत है—ऐसा किसी का सिद्धांत नहीं। और पुंश्चली आदि अर्थ अवयव शक्ति से सिद्ध भी नहीं हो सकता।

इसी तरह 'यौगिकरूढ़ि' के स्थल में भी समझिए—वहाँ भी, बिना व्यंजना के, अन्य अर्थ कभी न हो सकेगा।

वैसा ही एक उदाहरण और लीजिए; जैसे—

चांचल्ययोगि नयनं तव जलजानां श्रियं हरतु।
विपिनेऽतिचंचलानामपि च मृगाणां कथं हरति॥

योगरूढ़ि-शक्ति द्वारा इस पद्य का अर्थ यह है—कमलों में चंचलता-रूपी गुण नहीं है; अतः जिसमें उनकी अपेक्षा चंचलता गुण अधिक है वह तेरा नेत्र यदि उनकी शोभा का तिरस्कार कर दे तो कोई आश्चर्य की बात नहीं। पर आश्चर्य तो इस बात का है कि तेरा नेत्र अत्यंत चंचल (अर्थात् उस गुण से युक्त) हरिणों की शोभा का भी तिरस्कार कर देता है।

इस वाच्यार्थ के समाप्त हो जाने पर भी 'रूढ़ि'-रहित केवल योग-शक्ति की मर्यादा से 'जलज', 'नयन' और 'मृग'

शब्दों द्वारा जो यह अर्थ प्रतीत होता है कि मूर्खों के पुत्रों और अतएव प्रमादियों के धन का हरण, हरनेवालों—अर्थात् चौर आदि—द्वारा हो सकता है; पर जो गवेषणा करनेवाले—अर्थात् जहाँ जाय वहाँ से खोज निकालनेवाले—हैं और अतएव सावधान कहे जा सकते हैं, उनके धन का हरण कैसे हो सकता है ?

यह द्वितीय अर्थ बिना व्यंजना वृत्ति के कैसे सिद्ध किया जा सकता है ?

ऐसे अर्थ अभिधा वृत्ति द्वारा नहीं समझाए जा सकते; अतएव तो नैयायिक लोग यह मानते हैं कि—'पंकज' आदि योगरूढ़ पदों से (यौगिक अर्थ) 'कीचड़ से जन्म लेनेवाले होने' के कारण 'कुमुद' आदि अर्थों की उपस्थिति लक्षणा द्वारा ही होती है।

अतएव उत्तर-मीमांसा(ब्रह्मसूत्र)कार भगवान् वेदव्यास ने "ईशानो भूतभव्यस्य स एवाद्य स उश्वः" इस उपनिषद् के वाक्य में यह संदेह होने पर कि—'इस जगह सर्व-सामर्थ्य से युक्त जीव का वर्णन है अथवा ईश्वर का ?'; और यह पूर्वपक्ष होने पर कि 'यहाँ जीव का वर्णन है'; "शब्दादेव प्रमितः (१।३।२४)" यह सूत्र बनाया है। जिससे यह सिद्ध किया गया है कि—'ईशान' शब्द योगरूढ़ि शक्ति द्वारा ईश्वर का ही प्रतिपादन करता है, जीव का नहीं; अतः यहाँ ईश्वर का ही वर्णन है।

अतः यह सिद्ध होता है कि पूर्वोक्त (योगरूढ़िवाले) स्थलों में (उपर्युक्त पद्यों में) जो दूसरा अर्थ प्रतीत होता है, वह अभिधावृत्ति द्वारा नहीं, किंतु व्यंजना द्वारा ही ज्ञात होता है।

आप कहेंगे—अभिधा से नहीं होता तो न सही; (नैयायिकों की तरह) आप भी इस अर्थ की प्रतीति लक्षणा द्वारा क्यों नहीं मान लेते ? पर यह बन नहीं सकता। कारण, लक्षणा वहाँ हुआ करती है जहाँ यथाश्रुत (वाच्य) अर्थ में कोई बाधा उपस्थित हो। सो तो यहाँ है नहीं—एक अर्थ पूरा का पूरा बिना किसी बाधा के समाप्त हो जाता है; अतः इस अर्थ को लक्ष्य (लक्षणा से प्रतिपादित) नहीं कहा जा सकता।

रही तात्पर्यार्थ की बात। सो तात्पर्यार्थ का बोध तब हो सकता है, जब कि पहले पद का, योगरूढ़ अर्थ से भिन्न, केवल यौगिक अर्थ हो ले। पर वही कैसे हो सकता है ? उसी के लिये तो यह उपाय—व्यंजना—सोचा जा रहा है।

लक्षणा मानने के लिये आप एक शंका और कर सकते हैं। आप कहेंगे—वक्ता का तात्पर्य सिद्ध न होने के कारण (क्योंकि उसे अन्य अर्थ भी अभीष्ट है) ऐसे स्थलों में, "कौओं से दही की रक्षा करो" आदि की तरह, लक्षणा मानना उचित है। पर ऐसा मान लेने पर भी कि—वक्ता का तात्पर्य (द्वितीय पद्य के) 'चोरलीला' और 'मूर्ख के पुत्रों का

धन हरण कर लेना' आदि—द्वितीय अर्थ—में है—वह उस अर्थ को कहना चाहता है; तथापि श्रोता को जो उस अर्थ का बोध होता है उसमें, सहृदयों के हृदय में सूझ पड़ी इस व्यंजना-रूपी क्रिया के अतिरिक्त, अन्य कोई उपाय नहीं। कहने का तात्पर्य यह है कि—"कौओं से दही की रक्षा करो" इत्यादि श्रोता पहले से, किसी तरह यह समझे रहता है कि वक्ता सभी दही नष्ट करनेवालों से दही बचाना चाहता है। वह यह जानता रहता है कि वक्ता इतना बेवकूफ नहीं है कि—कौओं से दही बचाने को कहे और बिलैया को खिला देने को। अत: 'कौआ' शब्द से, ऐसी जगह, लक्षणा द्वारा 'सब दही के नष्ट करनेवाले' ले लिए जाते हैं। पर पूर्वोक्त पद्यों में, 'वक्ता को अन्य अर्थ भी अभीष्ट है', श्रोता के, यह समझने के लिये अन्य कोई प्रकार नहीं। वहाँ अन्य अर्थ निकाले बिना दही तो लुटता नहीं कि श्रोता उससे अन्य कोई अर्थ भी निकाल ले। बस, ऐसे समय, व्यंजना ही एक ऐसी चीज़ है, जो बिना किसी इशारे के उन्हीं शब्दों से अन्य अर्थ भी समझा सके। अत: ऐसे स्थलों में बिना व्यंजना माने कोई गुजारा नहीं। इसी तरह अन्य उदाहरणों में भी सोच लीजिए।

यह तो कहा नहीं जा सकता कि—ऐसे उदाहरणों में अन्य अर्थ की प्रतीति ही नहीं होती। क्योंकि जिन लोगों के अंत:करण शब्दार्थों की गहरी व्युत्पत्ति से चिकने बन

गए हैं—जिन पर इस बात का गहरा रंग चढ़ रहा है, वे तो ऐसा कह नहीं सकते—हाँ, अनभिज्ञों की बात दूसरी है।

सो इस तरह इस सबका संग्रह यों होता है कि—

योगरूढस्य शब्दस्य योगे रूढ्या नियन्त्रिते।
धियं योगस्पृशोऽर्थस्य या सूते व्यञ्जनैव सा ॥

अर्थात् योगरूढ़ शब्द की योग-शक्ति को जब रूढ़ि-शक्ति रोक देती है, तब जो क्रिया यौगिक अर्थ का ज्ञान उत्पन्न करती है, वह व्यंजना ही है।

ऐसी दशा में—अर्थात् जब योगरूढ़ि के स्थलों में व्यंजना माने बिना बिलकुल निर्वाह नहीं तब—अनेकार्थक स्थलों में भी प्राकरणिक और अप्राकरणिक अर्थों में जो परस्पर उपमा रहती है उसकी प्रतीति के लिये अवश्यमेव स्वीकृत की जाने-वाली व्यंजना द्वारा ही अप्राकरणिक अर्थ का भी बोध हो जाय तो (शक्ति द्वारा अप्राकरणिक अर्थ का बोध मानकर) क्लिष्ट कल्पना करने (अर्थात् नियंत्रित शक्ति का फिर से उत्थान आदि मानने) की क्या आवश्यकता है? इस अभिप्राय से प्राचीनों ने जो अनेकार्थ शब्दों को व्यंजक (अप्रा-करणिक अर्थ को व्यंजना द्वारा प्रतिपादन करनेवाले) माना है, सो भी दूषित नहीं। जब व्यंजना मानना ही है तब क्यों उसी के द्वारा अन्य अर्थ की उपस्थिति न मानकर शक्ति के पुनरुत्थान आदि की कल्पना की जाय?

संयोगादिक

अप्राकरणिक अर्थ की व्यंजना के स्थलों में, अनेक अर्थों की शक्ति रोकने के लिये—अर्थात् शक्ति को केवल प्राकरणिक अर्थ का ही प्रतिपादन करनेवाली बनाने के लिये—प्राचीन विद्वानों ने 'संयोग' आदि (१४-१५ प्रतिबंधकों) का निरूपण किया है। उनका सविस्तर वर्णन सुनिए—

संयोगो विप्रयोगश्च साहचर्यं विरोधिता।
अर्थः प्रकरणं लिंगं शब्दस्यान्यस्य सन्निधिः॥
सामर्थ्यमौचिती देशः कालो व्यक्तिः स्वरादयः।
शब्दार्थस्याऽनवच्छेदे विशेषस्मृतिहेतवः॥

अनेकार्थ शब्दों के जो अनेक अर्थ होते हैं उनमें तात्पर्य के संदेह होने पर—अर्थात् इस शब्द के अनेक अर्थों में से वक्ता को यहाँ कौन अर्थ अभीष्ट है—इस बात के न समझ पड़ने पर—संयोग, विप्रयोग, साहचर्य, विरोधिता, अर्थ, प्रकरण, लिंग, अन्य शब्द की सन्निधि, सामर्थ्य, औचिती, देश, काल, व्यक्ति और स्वर आदि किसी विशेष अर्थ के तात्पर्य का निर्णय कर देते हैं—इनके द्वारा हम समझ सकते हैं कि यहाँ वक्ता को यही अर्थ अभीष्ट है।

१—संयोग

जिस संबंध का अनेकार्थक शब्द के अन्य अर्थों में रहना प्रसिद्ध न हो और एक ही अर्थ

में रहना प्रसिद्ध हो उस संबंध को 'संयोग' कहते हैं।

जैसे—"शंख-चक्र के साथ* हरि" इस स्थान पर यद्यपि 'हरि' शब्द के विष्णु, इंद्र आदि अनेक अर्थ हो सकते हैं; तथापि 'शंख-चक्र' का संयोग (संबंध) केवल विष्णु में ही प्रसिद्ध है, अतः वह संयोग 'हरि' शब्द की शक्ति को नियमित करके विष्णु में ही अवस्थित कर देता है—अर्थात् यहाँ 'हरि' शब्द का 'विष्णु' के अतिरिक्त अन्य कोई अर्थ नहीं हो सकता। यदि ऐसी जगह सामान्यतः 'आयुध सहित हरि' अथवा 'पाश-अंकुश आदि (किसी विशेष आयुध) सहित हरि' कह दें तो 'हरि' शब्द की शक्ति नियत नहीं हो सकती—तब 'हरि' शब्द द्वारा अन्य अर्थ की भी प्रतीति हो सकती है। कारण, पहली उक्ति ('आयुध सहित') में आयुध के संयोग का 'हरि शब्द के अन्य अर्थों में रहना प्रसिद्ध न हो' यह बात नहीं है; क्योंकि इंद्रादिक भी कोई न कोई आयुध धारण करते ही हैं। इसी तरह दूसरी उक्ति (पाश-अंकुश आदि से युक्त) में पाश-अंकुश आदि के संयोग का विष्णु में रहना प्रसिद्ध नहीं है, अतः उसके द्वारा भी शक्ति का नियमन नहीं हो सकता।

---

* यहाँ 'शंख-चक्र सहित हरि' लिखना अच्छा था; पर आगे 'साहचर्य' के शास्त्रार्थ में यहाँ संबंधवाची शब्द मानकर शास्त्रार्थ किया गया है, अतः 'के साथ' लिखना पड़ा।

पर यहाँ यह न मान लेना कि 'संयोग' 'लिंग' (जिसका वर्णन आगे है) के अंतर्गत है। कारण, इस प्रसंग में 'अनेकार्थ शब्द के एक अर्थ को छोड़कर अन्य किसी अर्थ में सर्वथा न रहना' ही 'लिंग' माना गया है, और 'शंख-चक्र' ऐसी चीज है नहीं कि उन्हें कोई अन्य धारण कर ही न सके, संभव है, किसी समय इंद्रादिक भी उन्हें धारण कर लें। हाँ, उनके धारण की प्रसिद्धि विष्णु के अतिरिक्त अन्य किसी में नहीं।

सो यह सिद्ध हुआ कि अनेकार्थक शब्द के अन्य अर्थों में सर्वथा न रहने का नाम 'लिंग' है, और 'अनेकार्थ शब्द के अन्य अर्थों में प्रसिद्ध न होते हुए किसी एक अर्थ में प्रसिद्ध होनेवाले संबंध' का नाम 'संयोग' है। यह है इन दोनों का भेद।

२—विप्रयोग

जुदा होना 'विप्रयोग' कहलाता है।

जैसे "शंख-चक्र से रहित हरि" इस स्थान पर 'शंख-चक्र' का हरि से 'जुदा होना' 'हरि' शब्द की शक्ति को नियमित करता है—वह 'विष्णु' के अतिरिक्त अन्य कोई अर्थ नहीं होने देता। यहाँ इतना समझ लेना चाहिए कि 'जुदा होने' के पहले जो संयोग रहता है (क्योंकि जुदा वही चीज हो सकती है जो पहले संयुक्त हो) उसमें पूर्वोक्त दोनों

बातें—अर्थात् 'अनेकार्थक शब्द के अन्य अर्थों में रहने का अप्रसिद्ध होना' और 'उस अर्थ में रहने का प्रसिद्ध होना' अपेक्षित हैं। इस कारण सामान्यत: 'आयुध से रहित होना' अथवा 'पाश अंकुश आदि से रहित होना' शक्ति का नियमन नहीं कर सकते।

यद्यपि इस जगह भी गौण रूप से वर्त्तमान पूर्वोक्त प्रकार वाला 'संयोग' ही अभिधा का नियमन कर सकता है, तथापि गौण और प्रधान दोनों के एक साथ आने पर प्रधान का अनुरोध न्यायप्राप्त है, इस अभिप्राय से 'विप्रयोग' को भी नियामक कहा गया है।

अथवा संयोग ही दो तरह से नियामक होता है—एक केवल संयोग रूप में और दूसरा 'विप्रयोग' का अंग बनकर। इन दोनों प्रकारों को पृथक् पृथक् दिखाने के लिये ही 'संयोग' और 'विप्रयोग' को अलग अलग नियामक माना गया है। वस्तुत: विप्रयोग भिन्नरूपेण नियामक नहीं है।

३—साहचर्य

एक कार्य में परस्पर की अपेक्षा रखना 'साहचर्य' कहलाता है।

जैसे "राम और लक्ष्मण" इस जगह 'राम' शब्द के—रघुनाथ, परशुराम, बलदेव और एक प्रकार का मृग आदि—अनेक अर्थ हो सकते हैं, उनमें से लक्ष्मण का साहचर्य होने

के कारण 'राम' शब्द का अर्थ 'रघुनाथ' ही ग्रहण किया जाता है।

आप कहेंगे—लक्षण में जो 'परस्पर की अपेक्षा रखना' लिखा है, वह जिस किसी कार्य में होना चाहिए अथवा सब कार्यों में—उन दोनों का चाहे किसी भी एक कार्य में अपेक्षा रखना पर्याप्त है अथवा उन दोनों का कोई भी काम ऐसा न होना चाहिए जिसमें वे दोनों सम्मिलित न हों? यदि आप पहला पक्ष स्वीकार करें—अर्थात् 'जिस किसी कार्य में परस्पर की अपेक्षा रखना साहचर्य है' तो घट आदि भी इस लक्षण द्वारा नहीं हटाए जा सकते—अर्थात् घट आदि का और राम का भी साहचर्य हो सकता है; क्योंकि किसी न किसी काम में तो इन दोनों को भी परस्पर की अपेक्षा रह ही सकती है। अतः यदि घट शब्द राम शब्द के साथ आ जाय तब भी राम शब्द की शक्ति का नियमन होने लगेगा। सो होता नहीं—'राम और घड़ा' कहने पर किसी को यह निर्णय नहीं हो सकता कि यहाँ राम शब्द किस अर्थ में आया है। अब यदि दूसरा पक्ष लो—यह मानो कि 'सब कामों में परस्पर की अपेक्षा होनी चाहिए'—तो यह भी नहीं बन सकता। कारण, ऐसी स्थिति में लक्ष्मण का और राम का भी साहचर्य न हो सकेगा; क्योंकि कुछ काम ऐसे भी हैं, जिनमें राम लक्ष्मण की अपेक्षा नहीं रखते और लक्ष्मण राम की। और पूर्वोक्त दोनों ही पक्षों

में से किसी भी पक्ष से 'राम और अयोध्या' 'रघु और राम' इत्यादि में शक्ति का नियमन न हो सकेगा; क्योंकि राम और अयोध्या आदि को न किसी काम में परस्पर की अपेक्षा है, न सब कामों में। पर ऐसी जगह शक्ति का नियमन सर्वानुभव-सिद्ध है; 'राम और अयोध्या' कहने पर किसी को राम शब्द का अन्य अर्थ समझ में नहीं आता। अतः यह लक्षण गड़बड़ ही है।

अब यदि आप कहें कि जाने दो उस लक्षण को; हम 'साहचर्य' का यह लक्षण बनाते हैं—

अनेकार्थक पद के समीप में उच्चारण किए हुए अन्य पद के अर्थ का अनेकार्थक पद के किसी विशेष अर्थ के साथ जो प्रसिद्ध संबंध होता है उसका नाम 'साहचर्य' है।

और वह संबंध—एक से उत्पन्न होना, स्त्री-पुरुष होना, पिता-पुत्र होना, स्वामी-सेवक होना तथा माल-मालिक होना आदि अनेक प्रकार का होता है; अतः राम और लक्ष्मण, सीता और राम, राम और दशरथ, राम और हनुमान् तथा राम और अयोध्या इत्यादि सब स्थानों में 'साहचर्य' नियामक हो सकता है।

तो यह लक्षण भी ठीक नहीं। कारण, जिस (अनेकार्थक पद और उसके समीपवर्त्ती पद दोनों के अर्थों के प्रसिद्ध) संबंध को आप 'साहचर्य' कह रहे हैं, उसके हिसाब से लक्ष्मण आदि का जो राम के साथ संबंध है उसकी अपेक्षा

शंख-चक्र का जो हरि के साथ संबंध है उसमें, कोई विशेषता नहीं। अतः (पूर्वोक्त 'संयोग' के उदाहरण) "शंख-चक्र के साथ हरि" यहाँ भी 'साहचर्य' ही नियामक होने लगेगा—'संयोग' के लिये कोई जगह ही नहीं रहेगी।

यदि आप कहें कि "शंख-चक्र के साथ हरि" इत्यादि स्थलों में जहाँ उन वस्तुओं में संयोग-संबंध हो वहाँ 'संयोग' नियामक होता है, और जहाँ कोई अन्य संबंध हो वहाँ साहचर्य नियामक होता है, इस कारण कोई बाधा नहीं— तो यह भी ठीक नहीं। क्योंकि संयोग को साहचर्य से पृथक् नियामक मानने में कोई कारण नहीं दिखाई देता— पहले आप यह तो समझा दीजिए कि जब संबंध मात्र में साहचर्य नियामक होता है, तब केवल संयोग-संबंध में ही 'संयोग' को क्यों नियामक माना जाय ?

यदि आप कहें कि जहाँ संयोग-संबंध शब्द द्वारा प्रतिपादित हो, वहाँ वही नियामक होता है; पर जहाँ केवल संबंधी ही शब्द द्वारा प्रतिपादित हो, संबंध नहीं, वहाँ 'साहचर्य' नियामक होता है; अतएव 'शंख-चक्र के साथ हरि' यह संयोग का उदाहरण होता है और 'राम और लक्ष्मण' साहचार्य का। क्योंकि पहले वाक्य में 'साथ' शब्द से संयोग का प्रतिपादन किया गया है और दूसरे वाक्य में संयोग संबंधवाले संबंधियों का ही वर्णन है, संबंध का नहीं। पर, यह भी ठीक नहीं। कारण, यदि ऐसा मानोगे तो 'लक्ष्मण

सहित राम' श्रौर 'लक्ष्मण रहित राम' इन वाक्यों में भी संयोग श्रौर विप्रयोग गौण हो गए हैं; क्योंकि 'सहित' श्रौर 'रहित' शब्द संबंधी के प्रतिपादक हैं, संबंध के नहीं। संबंध तो गौण होकर श्राया है। ऐसी दशा में ऐसे वाक्यों का साहचर्य का उदाहरण लेना प्राप्त हो जाता है, तब 'शंख-चक्र सहित हरि' इत्यादि को भी साहचर्य का उदाहरण मानना ही उचित होगा। सो यह सब मामला गड़बड़ हुश्रा जाता है।

इस विषय में हम कहते हैं कि संयोग के प्रकरण में जो 'संयोग' शब्द श्राया है वह यावन्मात्र संबंधों के श्रभिप्राय से लिखा गया है, केवल संयोग संबंध के ही श्रभिप्राय से नहीं। श्रतः—

"जहाँ किसी प्रकार के भी प्रसिद्ध संबंध का शब्द द्वारा प्रतिपादन किया गया हो श्रौर वह शक्ति का नियामक होता हो वहाँ 'संयोग' का उदाहरण समझना चाहिए। श्रौर जहाँ द्वंद्व श्रादि समासों के अंतर्गत केवल संबंधी ही शक्ति का नियामक होता हो वहाँ 'साहचर्य' का उदाहरण समझना चाहिए।"

यह है प्राचीनों का श्राशय। सो इस तरह यह सिद्ध हुश्रा कि—'गांडीव सहित श्रर्जुन*' यह 'संयोग' की नियामक-

* 'अर्जुन' शब्द के युधिष्ठिर का भ्राता, सहस्रबाहु, श्वेत श्रौर एक प्रकार का पेड़ श्रादि श्रनेक अर्थ हैं।

मकता का उदाहरण हुआ और 'गांडीव और अर्जुन' 'साहचर्य' की नियामकता का।

४—विरोधिता

प्रसिद्ध वैर और एक साथ न रहने को 'विरोधिता' कहते हैं।

उनमें से 'प्रसिद्ध वैर' का उदाहरण प्राचीनों ने "राम और अर्जुन" लिखा है। परंतु अप्पय दीक्षित ने 'वृत्तिवार्त्तिक' में इस उदाहरण का खंडन करते हुए यह लिखा है—

"प्राचीनों ने जो—'राम' और 'अर्जुन' पदों में परस्पर 'मारनेवाला और मरनेवाला होना' इस विरोध के कारण 'परशुराम' और 'सहस्रबाहु' इन अर्थों में शक्ति का नियमन होता है"—यह लिखा है सो ठीक नहीं। कारण, जब 'राम' पद की अभिधा का नियमन हो चुके तब उसके विरोध का अनुसंधान करने पर 'अर्जुन' पद की शक्ति का 'सहस्रबाहु' अर्थ में नियमन हो सकता है और 'अर्जुन' पद की शक्ति का नियमन होने पर 'राम' पद की शक्ति का परशुराम अर्थ में नियमन हो सकता है—अर्थात् जब पहले 'राम' पद का अर्थ 'परशुराम' ही है यह समझ लिया जाय तब 'अर्जुन' पद का अर्थ 'सहस्रबाहु' ही है यह समझा जा सकता है और जब 'अर्जुन' पद का अर्थ 'सहस्रबाहु' है यह समझ लिया जाय तब 'राम' शब्द का 'परशुराम' अर्थ समझा जा

सकता है। इस कारण इस उदाहरण में अन्योन्याश्रय दोष आ जाता है। अतः 'विरोधिता' के उदाहरण के दो पदों में से एक पद ऐसा होना चाहिए, जिसका अर्थ निर्णीत हो। तभी उसके विरोध का स्मरण होगा और उस विरोध के अनुसंधान से अनेकार्थक पद की अभिधा का नियमन होगा। सो विरोधिता का उदाहरण 'राम और रावण' होना चाहिए।"

इस कथन में 'विरोधिता' के नियामक होने का 'राम और रावण' यह उदाहरण, जिसके दो पदों में से एक का अर्थ निर्णीत है, ठीक नहीं। कारण, यहाँ भी 'राम और लक्ष्मण' इत्यादि की तरह 'साहचर्य' ही नियामक है। आप कहेंगे—राम का लक्ष्मण के साथ रहना प्रसिद्ध है, रावण के साथ नहीं; अतः यह बात नहीं बन सकती। तो आप भूल करते हैं। हम पहले ही समझा आए हैं कि 'उन दोनों के किसी प्रसिद्ध संबंध से युक्त होने का नाम ही उन दोनों का साहचर्य है'; और जिस तरह पिता, भ्राता, स्त्री, पुत्र, सेवक और नगरी का संबंध संसार में प्रसिद्ध है उसी तरह शत्रु का संबंध भी प्रसिद्ध होता है। ऐसी स्थिति में भी यदि 'विरोधिता' को पृथक् गिना जाय तो 'मित्रता' आदि को भी पृथक् गिनना पड़ेगा। इस कारण प्राचीनों के उदाहरण की तरह तुम्हारा उदाहरण भी अशुद्ध ही है।

दूसरे, तुमने जो यह लिखा है कि—"दो पदों में से एक पद का अर्थ निर्णीत होना चाहिए" सो यह भी असंगत

ही है। कारण 'हरिनागस्य'* इत्यादि में दोनों अर्थों के अनिर्णीत होने पर भी 'एकवद्भाव' (एकवचन होने) के द्वारा अभिव्यक्त हुए और जिसके विशेषण रूप में कोई खास संबंधी नहीं आया है ऐसे (क्योंकि ऐसी जगह किसका किससे विरोध है इस बात को विशेषरूपेण न जानने पर भी केवल एकवचन से ही विरोध प्रतीत हो जाता है) विरोध के कारण एक साथ दोनों विरोधियों में अभिधा का नियमन हो जाता है—अर्थात् 'हरि' का अर्थ केवल 'सिंह' तथा 'नाग' का अर्थ केवल 'हाथी' समझ में आ जाता है।

तीसरे, अप्पय दीक्षित ने जो यह लिखा है कि— **'रामार्जुनगतिस्तयोः** (उन दोनों की गति राम और अर्जुन की सी है) यह 'अन्य शब्द की सन्निधि' का उदाहरण है।" वह भी ठीक नहीं। कारण, तुमने जो 'निषधं पश्य भूभृतम् (निषध राजा को देख)' और 'नागो दानेन राजते (हाथी मद से शोभित होता है)' ये 'शब्दांतर-सन्निधि' के उदाहरण लिखे हैं उनमें, अभिधा का विषय जब तक नियत न हो जाय तब तक, अन्वय नहीं हो सकता। क्योंकि 'भूभृत्' शब्द का अन्वय 'निषध' शब्द के साथ तभी हो सकता है जब कि

---

* संस्कृत व्याकरण के अनुसार जिनमें सार्वदिक विरोध होता है उनका द्वंद्व-समास करने पर "येषां च विरोधः शाश्वतिकः (२।४।९)" सूत्र द्वारा एकवचन हो जाता है।

उसका अर्थ 'राजा' माना जाय, 'पर्वत' मानने पर नहीं; और इसी प्रकार 'नाग' और 'दान' शब्द का अन्वय भी तभी हो सकता है जब कि उनका क्रमशः 'हाथी' और 'मद' अर्थ माना जाय, 'सर्प' और 'त्याग' मानने पर नहीं। सो उन्हें 'शब्दांतर-सन्निधि' का उदाहरण मानना उचित है; क्योंकि वहाँ अन्य शब्द के साथ अन्वय न हो सकने के कारण ही अभिधा का नियमन होता है। पर "रामार्जुन गतिस्तयोः" इस जगह तो 'वे दोनों रघुनाथ और अर्जुन की तरह पराक्रम-शाली हैं' इत्यादि अन्य अर्थ के विषय में इन पदों का प्रयोग करने पर भी अन्वय हो सकता है—अन्वय में कुछ गड़बड़ नहीं होगा। अतः बड़ी भारी विलक्षणता होने के कारण यह 'शब्दांतर-सन्निधि' का उदाहरण नहीं हो सकता।

अब यदि आप कहें कि यह सब होने पर भी 'काव्य-प्रकाश' में जो "**रामार्जुनगतिस्तयोः**—उन दोनों की राम और अर्जुन की सी गति है" यह 'विरोधिता' का उदा-हरण लिखा है उसकी असंगति तो रह ही गई—उसमें जो अन्योन्याश्रय दोष दिखाया गया था उसे तो आपने हटाया नहीं। सो यह भी नहीं। उस वाक्य का अर्थ यों कीजिए कि—**तयोः**=जिनका विरोध प्रसिद्ध है उन किन्हीं दोनों का, **रामार्जुनगतिः**=परशुराम और सहस्रबाहु के समान आचरण है। ऐसी दशा में प्रकरणवशात् विरोध की प्रतीति हो जायगी—'उन दोनों का नाम लेते ही विरोध याद आ

जायगा। और तब उस विरोध के कारण एक साथ परशु-राम और सहस्रबाहु अर्थों में 'राम' और 'अर्जुन' शब्दों की अभिधा का नियमन बन सकता है।

आप कहेंगे—इस उदाहरण में 'प्रकरण की अपेक्षा कोई विशेषता न हुई—जब प्रकरण-प्राप्त विरोध को नियामक माना जाता है तो सीधा यों ही क्यों नहीं कह देते कि इस उदा-हरण में 'प्रकरण' ही नियामक है। सो भी नहीं। क्योंकि विरोध यद्यपि प्रकरणागत है, तथापि जिनमें शक्ति का नियमन किया जा रहा है, वे 'परशुराम' और 'सहस्रबाहु' तो प्रकरणागत हैं नहीं—अत: 'राम और अर्जुन' शब्दों की शक्ति का नियमन प्रकरण नहीं कर सकता, विरोध ही कर सकता है। सो 'काव्यप्रकाश का उदाहरण ठीक ही है।

यह तो हुई 'प्रसिद्ध वैर' रूपी विरोधिता की बात। अब दूसरी विरोधिता 'एक साथ न रहने' की बात सुनिए। वह "छाया और धूप" इत्यादि में समझनी चाहिए। यहाँ यद्यपि 'छाया' शब्द के सूर्य की स्त्री, कांति, प्रतिबिंब और धूप न होना आदि अनेक अर्थ हैं, तथापि 'धूप' शब्द के साथ आने से उसका अर्थ 'धूप न होना' ही समझा जाता है, अन्य नहीं।

५—अर्थ

प्रयोजन को 'अर्थ' कहते हैं, जो कि चतुर्थी (विभक्ति) आदि का वाच्य होता है। जैसे "**स्थाणुं भज**

भवच्छिदे—अर्थात् संसार के छेदन करने के लिये 'स्थाणु' का भजन कर" यहाँ पर 'स्थाणु' शब्द के शिव और ठूँठ (सूखा पेड़) आदि अनेक अर्थ हो सकते हैं। तथापि 'संसार का छेदन करना' आदि प्रयोजन 'स्थाणु' शब्द की शक्ति का 'शिव' अर्थ में ही नियमन कर देता है; क्योंकि यह प्रयोजन ठूँठ से सिद्ध नहीं हो सकता।

आप कहेंगे—बताइए, इस उदाहरण में 'अर्थ' का 'लिंग' से क्या भेद हुआ ? हम कहते हैं—'लिंग' शिव के उस धर्म का नाम हो सकता है जो शिव के अतिरिक्त अन्य किसी में न रहता हो; और अर्थ तो शिव के भजन आदि का कार्य है, न कि शिव में रहनेवाला धर्म। अर्थात् 'संसार का छेदन' शिव में रहनेवाला धर्म नहीं किंतु शिव के भजन का कार्य (फल) है। अतः स्पष्ट ही भेद दिखाई देता है।

आप कहेंगे—यह ठीक नहीं। कारण, 'संसार का छेदन' यद्यपि शिव का धर्म नहीं है, तथापि 'संसार के छेदन को उत्पन्न करनेवाली भजन-क्रिया का 'कर्म' होना' तो ('स्थाणु' पद के अन्य अर्थ) ठूँठ में न रहनेवाला शिव का धर्म है ही—कोई संसार का छेदन करने के लिये ठूँठ का भजन करने तो जायगा नहीं। इसका उत्तर यह है कि—आपका कहा हुआ विशिष्ट धर्म—'संसार के छेदन को उत्पन्न करनेवाली भजन-क्रिया का कर्म होना'—शाब्द बोध के अनंतर होनेवाले मानस बोध का विषय है (अर्थात् 'संसार

के छेदन के लिये 'स्थाणु' का भजन कर' इन उदाहरणों के शब्दों द्वारा यह धर्म नहीं ज्ञात होता, किंतु अर्थ समझ लेने के अनंतर मन में सोचने पर ज्ञात होता है); कारण, मतविशेष के अनुसार शाब्द बोध में सदा क्रिया अथवा कर्त्ता ही मुख्य विशेष्य (परम प्रधान) हुआ करता है—वहीं जाकर बोध की समाप्ति होती है। सो "···भजन क्रिया का···कर्म होना" प्रस्तुत शाब्द बोध का विषय नहीं है; अतः 'लिंग' से 'अर्थ' का भेद सिद्ध हो जाता है। तात्पर्य यह कि 'अर्थ' के स्थल में, मानस बोध में लिंग के नियामक होने पर भी, शाब्द बोध में नियामक न होने के कारण उसका दखल यहाँ नहीं हो पाता।

कुछ (प्राचीन) विद्वान् इसका यह भी उत्तर देते हैं कि किसी एक पद के ऐसे अर्थ का नाम 'लिंग' है, जो कि किसी अन्य अर्थ से अन्वित न होते हुए ही प्रस्तुत वाच्य अर्थ का धर्म हो और उस शब्द के अन्य वाच्य अर्थों से संबंध न रखता हो; जैसे "कुपितो मकरध्वजः" इत्यादि में 'कोप' आदि। पूर्वोक्त धर्म (संसार के छेदन करनेवाली भजन-क्रिया का कर्म होना) तो वैसा—अर्थात् एक पद का अर्थ—है नहीं; अतः वह लिंग नहीं है।

६—प्रकरण

वक्ता और श्रोता की बुद्धि में रहनेवाला होना 'प्रकरण' कहलाता है।

जैसे—राजा को संबोधन करके कोई सेवक "**सर्वं जानाति देवः** (आप सब जानते हैं)" यह कहे तो इस वाक्य में 'देव' पद के 'देवता' और 'आप' आदि अनेक अर्थ होने पर भी 'आप' अर्थ में ही शक्ति का नियमन हो जाता है। कारण, वहाँ कहनेवाले और सुननेवाले दोनों की बुद्धि में 'आप' अर्थ ही रहता है—उनका अन्य किसी अर्थ की तरफ ध्यान ही नहीं जाता।

७—लिंग

'लिंग' उस धर्म का नाम है, जो अनेकार्थक पदों के अन्य अर्थों में न रहते हुए केवल उसी अर्थ में रहता हो और जिसका साक्षात् शब्द द्वारा ज्ञान होता हो (न कि पूर्वोक्त 'भजनक्रिया के कर्म होने' की तरह मन आदि द्वारा)।

जैसे—"**कुपितो मकरध्वजः** (कामदेव कुपित हो गया)" यहाँ 'मकरध्वज' पद के कामदेव और समुद्र आदि अनेक अर्थ हो सकते हैं। उनमें से यहाँ कामदेव अर्थ ही लिया जाता है। कारण, 'कोप' कामदेव में ही रह सकता है, समुद्र में नहीं; क्योंकि समुद्र जलरूप जड़ है।

८—अन्य शब्द की सन्निधि

अनेकार्थक पद के केवल एक अर्थ से संबंध रखनेवाले अर्थ के अतिरिक्त अन्य अर्थ के भी

वाचक पद का समीपवर्त्ती होना—अर्थात् ऐसे दो अनेकार्थक पदों का पास पास होना जिनका कोई एक अर्थ ही परस्पर संबंध रखता हो—'अन्य शब्द की संनिधि' कहलाता है।*

जैसे—"**करेण राजते नागः** (हाथी सूँड़ से शोभित होता है)" इस जगह 'कर' पद के भी हाथ, सूँड़ आदि अनेक अर्थ हो सकते हैं और 'नाग' पद के भी हाथी, साँप आदि अनेक अर्थ हो सकते हैं; पर 'नाग' पद को लेकर 'कर' पद की शक्ति का 'सूँड़' अर्थ में और 'कर' पद को लेकर 'नाग' पद की शक्ति का 'हाथी' अर्थ में नियमन हो जाता है।

आप कहेंगे— यहाँ अन्योन्याश्रय दोष क्यों नहीं होता? क्योंकि दोनों शब्द एक-दूसरे की अपेक्षा रखते हैं। तो यह ठीक नहीं। कारण, यहाँ एक शब्द की शक्ति का नियमन दूसरे शब्द की शक्ति के नियमन की अपेक्षा नहीं रखता, किंतु 'कर' शब्द और 'नाग' शब्द दोनों में से एक का भी यदि 'हाथ' अथवा 'साँप' आदि कोई दूसरा अर्थ ग्रहण करें तो अन्वय नहीं बन सकता; अतः दोनों की शक्ति का नियमन साथ ही साथ हो जाता है। अर्थात् ऐसी जगह अन्वय का न बन सकना उन दोनों शब्दों की शक्ति को

---

* अन्य सन्निधि में दोनों पदों का नानार्थक होना सिद्धांत नहीं है, जैसा कि प्राचीनों के समर्थन ग्रंथ से स्पष्ट है।

नियमित करता है, न कि वे शब्द। अतः अन्योन्याश्रय नहीं होता।

प्राचीनों के उदाहरण पर विचार

प्राचीन आचार्यों ने 'अन्य शब्द की सन्निधि' का उदाहरण "देवस्य पुरारातेः" लिखा है। यहाँ 'देव' शब्द से 'देवता' और 'राजा' अर्थों की और 'पुराराति' शब्द से 'नगर के शत्रु' और 'किसी असुर (त्रिपुरासुर) के शत्रु' अर्थों की उपस्थिति होती है; सो ये दोनों शब्द अनेकार्थक हैं। और जैसे 'किसी असुर का शत्रु कोई देवता' यह अर्थ अन्वित हो सकता है, वैसे ही 'किसी नगर का शत्रु कोई राजा' यह अर्थ भी अन्वित हो सकता है; फिर शक्ति का नियमन कैसे होगा? अर्थात् जब दोनों अर्थों में उनका संबंध ठीक बैठ जाता है तब क्या बाधा है कि वे शब्द एक अर्थ के वाचक होंगे और अन्य के नहीं?

आप कहेंगे—नहीं, यहाँ 'पुराराति' शब्द योगरूढ़ है और रूढ़ि-शक्ति योग-शक्ति को हटा दिया करती है, इस कारण 'पुराराति' शब्द का अर्थ शिव ही होता है—अन्य कुछ नहीं, और वह 'देव' शब्द की शक्ति का नियामक है—अर्थात् 'पुराराति' पद की सन्निधि से 'देव' शब्द का अर्थ 'देवता' ही किया जा सकता है, 'राजा' नहीं। तो यह भी नहीं हो सकता। क्योंकि 'पुराराति' शब्द के रूढ़ होने में

कोई प्रमाण नहीं। यदि कहो कि—यहाँ 'पुराराते:' पाठ नहीं है, किंतु 'त्रिपुराराते:' पाठ है और 'त्रिपुराराति' पद योगरूढ़ है। तथापि 'त्रिपुराराति' पद द्वारा उपस्थित करवाया गया 'त्रिपुरासुर का वैरी होना' रूपी धर्म 'देव' पद के अर्थ 'शिव' का अनन्यसाधारण धर्म है—वह शिव को छोड़कर अन्य किसी में नहीं रहता। इस कारण इस उदाहरण में शक्ति का नियामक 'लिंग' हुआ। सो 'देवस्य त्रिपुराराते:' 'लिंग' का उदाहरण हो सकता है, 'अन्य शब्द की सन्निधि' का नहीं।

पर यदि प्राचीनों का 'लिंग' के विषय में यह आशय माना जाय कि "जो एक पद का अर्थ—जैसे 'कोप' आदि—अन्य किसी पद के अर्थ से अन्वित न होते हुए ही प्रस्तुत वाच्यार्थ का धर्म हो और उस शब्द के अन्य वाच्यार्थों से पृथक् रहनेवाला हो—उनमें न रहता हो, वह यहाँ 'लिंग' पद से वर्णन किया जाता है—उसे लिंग माना जाता है (जैसा कि 'अर्थ' के प्रकरण में लिख आए हैं)"; तब तो "देवस्य त्रिपुराराते:" को 'अन्य शब्द की सन्निधि' का उदाहरण मानने में कोई दोष नहीं। कारण, 'अराति' पद का अर्थ जो 'शत्रुत्व' है वह 'त्रिपुर' से अन्वित होकर ही 'देव' शब्द के अन्य वाच्यार्थों से पृथक् और केवल 'शिव' रूप वाच्य अर्थ में रहनेवाला हो सकता है। अत: उसके हिसाब से इसे 'लिंग' का उदाहरण नहीं, किंतु 'अन्य शब्द की सन्निधि' का ही उदाहरण माना जा सकता है।

प्राचीनों के लक्षणार्थ पर विचार

'काव्यप्रकाश' के टीकाकारों ने लिखा है—" अन्य शब्द की सन्निधि' का अर्थ 'अनेकार्थक' शब्द का ऐसे शब्द के साथ में होना है कि जो उस अर्थ से अन्वित होनेवाले अर्थ के अतिरिक्त अन्य किसी अर्थ का बोध न करवाता हो।" पर यह टीकाकारों का लक्षण पूर्वोक्त "करेण राजते नागः" इत्यादि में नहीं घट सकता; क्योंकि वहाँ तो दोनों पद अन्यान्य अर्थों का भी बोध करवाते हैं। यदि उस उदाहरण के लिए (गिनाए हुए नियामकों के अतिरिक्त) कोई अन्य नियामक ढूँढ़ा जाय तो गौरव होता है—व्यर्थ ही उनकी संख्या अधिक हो जाती है। एवं 'काव्यप्रकाश' के मूल में लिखे हुए "कुपितो मकरध्वजः" आदि लिंग के उदाहरण में अतिव्याप्ति भी हो जाती है; अतः उस अर्थ की उपेक्षा ही उचित है* और हमारा ही लक्षण ठीक है।

९—सामर्थ्य

कारण होने का नाम 'सामर्थ्य' है।

---

* अतएव (प्राचीनों के हिसाब से) 'अन्य पदार्थों से अनन्वित केवल एक पद के अर्थ' को ही 'लिंग' मानना अनुचित है; क्योंकि ऐसा करने से "देवस्य त्रिपुराराते:" न 'लिंग' का उदाहरण हो सकता है, न 'अन्य शब्द की सन्निधि' का; कारण, न वहाँ अन्य पद से अनन्वित एक पद का अर्थ है और न अनेकार्थक दो पदों का साथ साथ प्रयोग।

जैसे—"**मधुना मत्तः कोकिलः** (कोयल 'मधु' के कारण मत्त हो रही है)" यहाँ 'मधु' शब्द के 'वसंत' और 'मदिरा' आदि अनेक अर्थ हो सकते हैं; पर 'कोयल के मद का उत्पादक (कारण) होना' 'मधु' शब्द की शक्ति को 'वसंत' अर्थ में ही नियत कर देता है।

यहाँ यह कहा जाता है कि—यह 'लिंग' का उदाहरण नहीं हो सकता। कारण, मत्त कर देने की शक्ति तो मदिरा में भी है; पर कोयल के मत्त करने की शक्ति वसंत में ही है, मदिरा में नहीं। ऐसा कहनेवालों से हम पूछते हैं कि—"सामर्थ्य 'लिंग' के अंतर्गत क्यों नहीं हो जाता—इसे उससे पृथक् क्यों माना जाता है?" इस शंका का यह उत्तर कैसे बन सकता है?

आप कहेंगे—कि मत्त कर देने का सामर्थ्य मदिरा में भी है, केवल वसंत में ही नहीं; अतः वह सामर्थ्य 'लिंग' नहीं हो सकता; क्योंकि 'लिंग' उस धर्म का नाम है जो असाधारण हो—अर्थात् केवल उसी वस्तु में रहता हो। पर यह ठीक नहीं। कारण, मत्त कर देने का सामर्थ्य यद्यपि मदिरा में है तथापि कोकिल के मत्त करने का सामर्थ्य तो वसंत में ही रहता है—वह तो उसका असाधारण धर्म है, अतः उसे 'लिंग' मानने में क्या बाधा है? उसे तो आपको 'लिंग' मानना ही पड़ेगा। आप कहेंगे—जो मदिरा प्राणिमात्र को मत्त करने का सामर्थ्य रखती है—उसमें

कोयल के मत्त करने का भी सामर्थ्य है ही। तो आपने जो 'सामर्थ्य' को वाचकता का नियामक माना सो व्यर्थ हुआ; क्योंकि अब तो 'मधु' शब्द के दोनों अर्थ हो सकते हैं—कोई बाधा तो है नहीं। जब कोयल के मत्त करने का सामर्थ्य वसंत में भी है और मदिरा में भी, तब फिर 'मधु' शब्द की शक्ति को एक अर्थ में कैसे रोका जा सकता है? और पहले जो आप कह आए हैं कि 'कोयल को मत्त करने का सामर्थ्य वसंत में ही है, मदिरा में नहीं' सो भी विरुद्ध पड़ता है। यदि कहो कि साधारणतया मत्त करने का सामर्थ्य दोनों में होने पर भी कोयल को मत्त करने का सामर्थ्य वसंत ही में प्रसिद्ध है, तो फिर से, असाधारण धर्म होने के कारण, 'लिंग' होने में कोई गड़बड़ रही नहीं; क्योंकि मदिरा में साधारण सामर्थ्य है और वसंत में असाधारण।

पर इसका अर्थ यह नहीं है कि—'लिंग' से 'सामर्थ्य' का भेद हो ही नहीं सकता। दो तरह से हो सकता है—या तो (हमारे हिसाब से) यों मानिए कि 'लिंग' उसको कहते हैं जो शब्द से प्रतीत हो, जैसे 'कुपितो मकर-ध्वजः' इस उदाहरण में कोप। और शब्द के द्वारा जिसका बोध न हो अर्थात् जो मन आदि से समझा जाय उसको सामर्थ्य कहते हैं—जैसे 'मधुना मत्त कोकिलः' इस उदाहरण में 'मधु से मत्त कोकिल' शब्द से समझा जाता है। 'कोकिल

मादन कारणता' समझी जाती है। अथवा (प्राचीनों के हिसाब से) यों मानिए—कि 'लिंग' में (अनन्वित) एक पद का अर्थ ही असाधारण धर्मरूप होता है और 'सामर्थ्य' में तृतीया विभक्ति 'मत्त' और 'कोकिल' आदि अनेक पदों का अर्थ (अन्वित होकर) कारणता समझाता है। अतः 'लिंग' और 'सामर्थ्य' में भेद हो जाता है।

१०—औचिती

योग्यता का नाम 'औचिती' है।

जैसे—"पातु वो दयितामुखम् (प्रियतमा का 'मुख' आपकी रक्षा करे)" यहाँ 'मुख' शब्द के 'मुँह' और 'सम्मुख होना' आदि अनेक अर्थ हो सकते हैं। पर यहाँ प्रियतमा का मुख जिस 'रक्षा' क्रिया का कर्ता है, उस रक्षा के कर्म रूप में कामार्त्त पुरुषों का आक्षेप होता है—'आप' महाशय कामार्त्त हैं, यह स्पष्ट सूचित होता है। अतः जिन 'आप' महाशयों को संबोधित किया गया है, उनकी रक्षा प्रियतमा के सम्मुख होने से ही हो सकती है, 'मुँह' मात्र से नहीं। क्योंकि प्यारी का मुख विमुख रहकर उनकी रक्षा नहीं कर सकता। अतः 'मुँह' और 'सम्मुख होना' दोनों अर्थों का बोध करानेवाले 'मुख' शब्द की शक्ति का 'रक्षा करने की योग्यता' ने (क्योंकि वह केवल मुख में नहीं है) 'सम्मुख होने' अर्थ में ही नियमन कर दिया।

११—देश

नगर आदि का नाम 'देश' है।

जैसे "**भात्यत्र परमेश्वरः** (परमेश्वर यहाँ सुशोभित हो रहा है)" इत्यादिक में 'परमेश्वर' आदि शब्दों की शक्ति का, 'परमात्मा' और 'राजा' आदि अनेक अर्थ होने पर भी, एक ही अर्थ 'राजा' आदि में नियमन हो जाता है। क्योंकि राजा का कभी नगरादि से संबंध रहता है और कभी नहीं—कभी वह वहाँ रहता है कभी अन्यत्र; सो 'न रहने' की निवृत्ति के लिये अधिकरणवाची 'यहाँ' आदि शब्द सार्थक हो सकता है; और परमात्मा तो सर्वव्यापी है अतः उसके न रहने का स्थान कहीं भी न होने के कारण अधिकरण का निरूपण व्यर्थ हो जायगा।

इसी तरह "**वैकुंठे हरिर्वसति**—(वैकुंठ में हरि रहते हैं)" यहाँ भी वैकुंठ रूप अधिकरण के कारण 'हरि' शब्द की शक्ति का (विष्णु अर्थ में) नियमन समझिए।

पहले उदाहरण में अन्य अर्थ (परमात्मा) के ग्रहण करने पर अधिकरण का कथन व्यर्थ हो जाता है और दूसरे उदाहरण में वैसा (अन्य अर्थ) करने पर अन्य किसी का उस अधिकरण (वैकुंठ) में रहना अप्रसिद्ध है। यह दोनों उदाहरणों की विशेषता है।

१२—काल

दिन आदि को 'काल' कहा जाता है।

जैसे "**चित्रभानुर्दिने भाति** (दिन में 'चित्रभानु' शोभित होता है)" इत्यादि में 'चित्रभानु' आदि पदों की शक्ति का 'सूर्य' आदि अर्थों में ही नियमन हो जाता है— उनके 'अग्नि' आदि अर्थ नहीं हो सकते।

इसी तरह **चातुर्मास्ये हरिः शेते** (चौमासे में हरि सोते हैं)" इत्यादि में भी काल शब्द-शक्ति का नियामक होता है—वहाँ 'हरि' शब्द का अर्थ विष्णु ही हो सकता है, अन्य नहीं।

१३—व्यक्ति

पुंल्लिंग, स्त्रीलिंग और नपुंसक लिंगों को 'व्यक्ति' कहा जाता है।

जैसे—"**मित्रो भाति**" और "**मित्रं भाति**" इन दोनों स्थानों पर एक ही 'मित्र' शब्द की शक्ति, एक जगह पुंल्लिंग के कारण 'सूर्य' अर्थ में और दूसरी जगह नपुंसक लिंग के कारण 'सुहृत्' अर्थ में नियत हो जाती है।

इसी तरह "**नभो भाति**" में 'नभ' शब्द की शक्ति आकाश अर्थ में और "**नभा भाति**" में श्रावण (मास) अर्थ में नियत हो जाती है।

१४—स्वर

उदात्त आदि 'स्वर' कहलाते हैं।

जैसे "**इन्द्रशत्रुः**" इस वैदिक शब्द को समास के कारण अंतोदात्त पढ़ा जाय तो तत्पुरुष समास होने के कारण 'इंद्र का शत्रु (मारनेवाला)' अर्थ होता है और यदि पूर्व पद की प्रकृति (इंद्र शब्द) के स्वर के अनुसार आद्युदात्त पढ़ा जाय तो बहुव्रीहि समास होने के कारण 'इंद्र जिसका शत्रु (मारनेवाला) है' यह अर्थ होता है।

१५—अभिनयादिक

"संयोगो विप्रयोगश्च......" इन कारिकाओं में जो इन सब नियामकों की गणना के अनंतर 'आदि' शब्द है, उससे अभिनयादिक लिए जाते हैं। जैसे "**एद्दहमेत्तत्थणिआ** (इतने बड़े स्तनोंवाली)" इत्यादि में 'इतने बड़े' शब्द के अर्थ 'सुपारी से लेकर घड़े तक के सब आकार हो सकते हैं—उस शब्द का कोई एक अर्थ नहीं। उनमें से वक्ता के हाथ का अभिनय जैसा होगा—जैसी मुद्रा उसने दिखाई होगी—उसी के अनुसार उस परिमाण के अर्थ में शब्द की शक्ति का नियमन हो जाता है।

उपसंहार

यह सब तो प्राचीनों की बात हुई—उनके इस विषय में जो विचार थे सो प्रकट किए गए। पर पंडितराज का कहना है कि इन पूर्वोक्त नियामकों में से अर्थ, सामर्थ्य और औचिती के उदाहरणों में यथाक्रम चतुर्थी आदि द्वारा,

तृतीया आदि द्वारा और अर्थ की योग्यता द्वारा समझाया हुआ कार्य-कारण भाव ही नियामक है—उसके अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं। अतः उन्हें यद्यपि भिन्न भिन्न नहीं मानना चाहिए, तथापि उस कार्य-कारण भाव के बोधकों (चतुर्थी आदि) के विलक्षण होने के कारण प्राचीनों ने उन्हें विलक्षण रूप से निरूपण किया है।

वस्तुतः तो 'संयोगादिकों' (इन सभी) को अनेकार्थक शब्द के सब अर्थों में साधारण मानने पर तो अनेकार्थक शब्द की शक्ति का किसी एक अर्थ में संकोच नहीं हो सकता—अर्थात् वह शक्ति उस शब्द द्वारा किसी एक ही अर्थ का प्रतिपादन करवा सके, अन्य का नहीं—यह असंभव है। कारण, ऐसी दशा में जो उस शक्ति को नियत करनेवाले हैं 'संयोगादिक', वे स्वयं असंकुचित हैं—अर्थात् किसी एक अर्थ से ही संबंध नहीं रखते, किंतु साधारण हैं। और यदि 'प्रसिद्धता'—अर्थात् वे उसी अर्थ में प्रसिद्ध हैं अन्य में नहीं—इत्यादि के कारण उन्हें असाधारण रूप में समझा जाय—यह माना जाय कि वे उस एक अर्थ के असाधारण धर्म हैं—तो ये सभी (संयोगादिक) 'लिंग' के भेद हो जाते हैं, उससे सर्वथा स्वतंत्र नहीं रह सकते। यह समझ लेने की बात है।

शब्द-शक्ति-मूलक ध्वनियों के उदाहरण

शब्द-शक्ति-मूलक अलंकार ध्वनि

उपमा अथवा रूपक की ध्वनि; जैसे—

करतलनिर्गलदविरलदानजलोल्लासितावनीवलयः ।
धनदाग्रमहितमूर्त्तिर्जयतितरां सार्वभौमोऽयम् ॥

कोई कवि किसी राजा की स्तुति करता है—जिसने (अपनी) हथेली से गिरते हुए सतत 'दान' (संकल्प) के जल से भूमंडल को आनंदित कर दिया है और जिसका स्वरूप धन देनेवालों में सर्वप्रथम प्रशस्त है ऐसा यह सार्वभौम (सब पृथ्वी का पति) सबसे उत्कृष्ट है ।

यहाँ राजा का प्रकरण है, इस कारण 'कर', 'दान', 'धनद' और 'सार्वभौम' शब्दों की शक्ति संकुचित कर देने पर भी—अर्थात् उन्हें केवल हाथ, दान, द्रव्यदाता और चक्रवर्ती अर्थों के प्रतिपादक मान लेने पर भी—उस (शक्ति) को मूल मानकर प्रकट हुई—अर्थात् अभिधामूलक—व्यंजना द्वारा जो यह द्वितीय अर्थ प्रतीत होता है कि—'जिसके सूँड़ से गिरते हुए मद के अनल्प जल से भूमंडल प्रमुदित हो रहा है और जिसका स्वरूप कुबेर के आगे प्रशंसित है ऐसा यह 'सार्वभौम' (उत्तर दिशा का दिग्गज) अत्यंत उत्कृष्ट है ।'

वह असंबद्ध रूप में अभिहित न हो—उसका भी प्रकरण-प्राप्त अर्थ के साथ कुछ संबंध हो जाय, नहीं तो वह लटकता ही रह जायगा—इसलिये प्रधान वाक्यार्थ (दोनों अर्थों को मिलाकर होनेवाले सम्मिलित वाक्यार्थ) के रूप में प्रस्तुत (प्रकरण-प्राप्त) अर्थ के उपमेय और अप्रस्तुत अर्थ के उपमान होने की कल्पना की जाती है। अतः इसे 'उपमा-अलंकार' की ध्वनि कहा जाता है—अर्थात् यहाँ पूर्वोक्त रीत्या प्रस्तुत अर्थ के साथ अप्रस्तुत अर्थ की उपमा अभिव्यक्त होती है।

उपमा की अभिव्यक्ति पर विचार

यहाँ एक बात विचारने की है। वह यों है कि—इस काव्य (उपर्युक्त पद्य) को 'ध्वनि' (उत्तमोत्तम) कहना अनुचित है, किंतु जिस प्रकार अनेकार्थक विशेषणोंवाली समासोक्ति; जैसे—

"अयमैन्द्रीमुखं पश्य रक्तश्चुम्बति चन्द्रमाः।"

(यहाँ प्रस्तुत अर्थ है—देख, अरुणवर्ण चंद्रमा पूर्वदिशा के प्रारंभ का स्पर्श कर रहा है—उदय हो रहा है। पर, 'रक्त', 'मुख' और 'चुंबति' पदों के श्लिष्ट होने तथा 'ऐंद्री' के स्त्रीलिंग और 'चंद्रमाः' के पुल्लिंग होने से एक ऐसा व्यवहार प्रतीत हो जाता है कि—पुरुष-चंद्रमा आसक्त होकर पूर्वदिशा-रूपी स्त्री का मुख चूम रहा है।) इत्यादि; में अप्र-

स्तुत व्यवहार (चूमना आदि) व्यंग्य होने पर भी प्रस्तुत धर्मी (चंद्रमा) के ऊपर आरोपित किया जाने के कारण प्रस्तुत विषय का उपस्कारक (सुशोभित करनेवाला—सुंदर बनानेवाला) होने से गुणीभूत माना जाता है, उसी तरह यहाँ भी होना उचित है—अर्थात् इस पद्य को 'ध्वनि' नहीं, किंतु 'गुणीभूत व्यंग्य' माना जाना चाहिए। और आप यह तो कह नहीं सकते कि व्यंग्य उपमा प्रस्तुत अर्थ को उपस्कृत करनेवाली नहीं होती—प्रधान ही होती है; क्योंकि "उल्लास्य कालकरवालमहाम्बुवाहम् (देखिए पृ० ११)" और "भद्रात्मनो* दुराधिरोहतनोः..........." इत्यादि प्राचीनों के पद्यों में तथा "करतलनिर्गल-दविरल....." इत्यादि उपर्युक्त आपके पद्य में व्यंग्य उपमा से राजा का

---

* भद्रात्मनो दुराधिरोहतनोर्विशालवंशोन्नतेः कृतशिलीमुखसंग्रहस्य।
यस्यानुपप्लुतगतेः परवारणस्य दानाम्बुसेकसुभगः सततं करोऽभूत्॥

यहाँ प्रस्तुत अर्थ है—जिसके शरीर पर कष्ट से आक्रमण किया जा सकता था, जिसने बड़े कुल में उन्नति प्राप्त की थी, जिसने बाणों का पक्का अभ्यास किया था, जिसका ज्ञान अबाधित था, जो शत्रुओं का निवारण करनेवाला था और जिस कल्याण-रूप राजा का हाथ निरंतर दान के जलों की सिंचाई से सुंदर रहता था।

अप्रस्तुत अर्थ है—जिसके शरीर पर कष्ट से चढ़ा जा सकता था, जिसके मेरु-दंड (पीठ) ने बड़ी उन्नति की थी, जिसने भौंरों को इकट्ठा कर रक्खा था और जिस 'भद्र' जाति के उत्कृष्ट हाथी की सूँड़ निरंतर मद के जल की सिंचाई से सुंदर रहती थी।

उत्कर्ष सर्वानुभवसिद्ध है। और यदि अनुभव का अपलाप किया जाय—इतने पर भी कहा जाय कि नहीं, उपमा ही प्रधान है—तो हम भी बिना कष्ट के कह सकते हैं कि समासोक्ति में भी अप्रस्तुत व्यवहार प्रस्तुत का उपस्कारक नहीं होता।

आप कहेंगे—समासोक्ति में और इस स्थल में भिन्नता है, अतः आपका यह दृष्टांत ठीक नहीं बैठता। क्योंकि समासोक्ति में अप्रस्तुत व्यवहार के अनेकार्थ शब्दों द्वारा उपस्थित करवाए जाने पर भी, जिसमें वह व्यवहार रहता है वह व्यक्ति अथवा वस्तु अनेकार्थ शब्द द्वारा उपस्थित नहीं करवाई जाती—अर्थात् जैसे प्रस्तुत उदाहरण में 'सार्वभौम' शब्द अनेकार्थक है, वैसे समासोक्ति में 'चंद्रमा' अनेकार्थक नहीं है। तो इससे क्या हो गया? व्यवहारवान् पदार्थ के अनेकार्थक शब्द द्वारा उपस्थापित हो जाने मात्र से अप्रस्तुतधर्मी (गज) द्वारा निरूपण की गई उपमा का प्रस्तुत धर्मी (राजा) का उपस्कृत करना निवृत्त नहीं हो सकता। दृष्टांत और दार्ष्टांतिक के किसी अंश में भेद होने पर भी दोष का उद्धार कैसे हो गया? फिर भी उपमा तो उपस्कारक ही रही, प्रधान तो हो नहीं गई।

आप कहेंगे—उपमादिक अलंकार वस्तु की अपेक्षा स्वभावतः सुंदर हुआ करते हैं और ऐसे काव्यों की प्रवृत्ति के उद्देश्य भी व्यंग्य अलंकार ही हैं—ऐसे काव्य बनाए हो

इसलिये जाते हैं कि उनमें से अलंकारों की अभिव्यक्ति हो। अतः वस्तु की अपेक्षा अलंकारों की गौणता नहीं हो सकती; जैसे कि केवल वस्तु से अभिव्यक्त अलंकारों की वस्तु की अपेक्षा गौणता नहीं होती। दोनों ही का बराबर हिसाब है—जब वहाँ वैसा माना जाता है तो यहाँ ऐसा क्यों माना जाय? रही समासोक्ति की बात। सो वहाँ तो जो अप्रस्तुत व्यवहार समासोक्ति का अंगरूप होता है, वह अलंकार न होने के कारण वस्तु का उपस्कारक हो सकता है।

पर आपका यह कहना ठीक नहीं। कारण, यह माना जाता है कि—"बाधे दृढेऽन्यसाम्यात् किं दृढेऽन्यदपि बाध्यताम्=अर्थात् (उपस्थित की गई) बाधा यदि शिथिल है तो दूसरे की समानता से—केवल दृष्टांत से—क्या हो सकता है? आप दृष्टांत क्यों दे रहे हैं, बाधा का ही खंडन क्यों नहीं कर देते? और यदि बाधा दृढ़ है—आप उसका खंडन नहीं कर सकते—तो जिसकी समानता बता रहे हैं उसे भी वह बाधित कर देगी—आपका प्रस्तुत उदाहरण और दृष्टांत दोनों ही खंडित हो जायँगे।" कहने का तात्पर्य यह कि आप जो यह कह रहे हैं कि 'जिस तरह वस्तुमात्र से अभिव्यक्त अलंकार वस्तु की अपेक्षा गौण नहीं हो सकते; उसी तरह यहाँ भी अलंकार-रूप उपमा राजा के वर्णन की अपेक्षा गुणीभूत नहीं हो सकती' सो ठीक नहीं। कारण,

हमने जो बाधा उपस्थित की है उसका आपने कोई प्रत्युत्तर नहीं दिया—आप यह नहीं समझने पाए कि उपस्कारक होने पर भी अलंकारों को अन्य का अंग क्यों न माना जाय ? अतः यह सिद्ध होता है कि हमारी उपस्थित की हुई बाधा दृढ़ है। यदि ऐसा है तो दृष्टांत और दार्ष्टांतिक दोनों उससे बाधित हो जायँगे—अर्थात् जिस सिद्धांत को आप दृष्टांत रूप में दे रहे थे वह भी खंडित हो जायगा। सो आपकी युक्ति के शिथिल होने के कारण उपमा की 'अपरांगता'—अतएव गौणता—दूर नहीं की जा सकती।

अब यदि कहा जाय कि जिस उपमालंकार को आप 'अपरांग'—अन्य वस्तु का अंग—कह रहे हैं, उसके शरीर को सिद्ध करनेवाली वस्तुएँ तीन हैं—उपमान, उपमेय और साधारण धर्म। इसके अतिरिक्त अन्य कोई वस्तु ऐसी नहीं; क्योंकि इन तीनों के बिना उपमा—जिसे सादृश्य कहना चाहिए—सिद्ध नहीं होती। अब सोचिए कि यहाँ ("करतलनिर्गल······" पद्य में) सादृश्य-रूपी अंश से उपमेय के उपस्कृत होने पर भी उपमा 'अपरांग'—अन्य का अंग—न हुई। कारण हम बता ही चुके हैं कि उपमेय भी उपमा के शरीर को सिद्ध करनेवाला है अतः अन्य नहीं है। सो उसे उपस्कृत करने से उपमा अपरांग कैसे हो सकती है ? जैसे कि समासोक्ति में अप्रस्तुत व्यवहार से प्रस्तुत अर्थ के उपस्कृत होने पर भी समासोक्ति को अपरांग

नहीं कहा जा सकता; क्योंकि समासोक्ति बनती ही है प्रकृत और अप्रकृत दो पदार्थों द्वारा। इसी तरह यहाँ भी होना चाहिए। अर्थात् यहाँ उपमेय प्रकृत है और उपमान अप्रकृत; उनके द्वारा सिद्ध हुई उपमा समासोक्ति की तरह स्वतंत्र अलंकार रूप ही रहेगी; अपने एक अंश रूप उपमेय को उपस्कृत करने के कारण गौण नहीं हो सकती।

तथापि हम कहेंगे कि—या तो समासोक्ति की तरह इस भेद को भी 'गुणीभूत व्यंग्य'* मानना पड़ेगा, या इस भेद की

* "गुणीभूत व्यंग्य मानना पड़ेगा" इस कथन का अभिप्राय यह है कि—उपमा का शरीर उपमान, उपमेय और साधारण धर्म—इन तीनों द्वारा, निर्मित होने पर भी उपमेय (प्रकृत अर्थ) तो व्यंग्य है नहीं। क्योंकि उसका तो अभिधा द्वारा वर्णन है। और शरीर-रूप होने में तीनों की समानता है। उनमें से एक अधिक है और एक न्यून यह तो कहा नहीं जा सकता। अतः व्यंग्य अंश के, वाच्य अंश की अपेक्षा, उत्कृष्ट न होने के कारण यहाँ 'ध्वनि' कहना अनुचित है, 'गुणीभूत व्यंग्य' कहना ही उचित है।

इसका उत्तर अन्य विद्वान् यों देते हैं कि अलंकारों का रसादिक में उपयोग उद्दीपन के ढंग से होता है—अर्थात् वे रसादिक को जोश देनेवाले होते हैं, उसे और भी उत्कृष्ट बना देते हैं। और आलंबन की अपेक्षा उद्दीपन का अधिक चमत्कारी होना सर्वानुभव-सिद्ध है। अतः "करतल......" आदि पद्यों का वाच्य अर्थ की जो (व्यंग्य उपमा का उपमेय है और राजविषयक ेम का) आलंबन विभाव है, अपेक्षा उपमा (जो उद्दीपक है) की उत्कृष्टता होने के कारण यहाँ

'ध्वनि' माननै में कोई बाधा नहीं। हाँ, रसादिक की अपेक्षा गुणीभूत कहो तो ऐसा होना हमें मंजूर है। (पर ऐसा होना इन भेदों का प्रयोजक नहीं; क्योंकि रसादिक की अपेक्षा गौण व्यंग्यों को सभी आचार्यों ने 'ध्वनि' रूप माना है। अतः 'ध्वनि' होने के लिये वाच्य से उत्कृष्ट होना ही पर्याप्त है।) सो इस प्रभेद को 'ध्वनि' मानना ठीक ही है।

रही समासोक्ति; जैसे—

"आगत्य संप्रति वियोगविसंष्ठुलाङ्गीमम्भोजिनीं क्वचिदपि क्षपितत्रियामः।
एतां प्रसादयति पश्य शनैः प्रभाते तन्वङ्गि ! पादपतनेन सहस्ररश्मिः॥

हे कृशाङ्गि ! देख, न जाने कहीं रात बिताकर अब आया हुआ सहस्ररश्मि (सूर्य) इस समय, विरह के कारण अंग सिकोड़े हुई कमलिनी को 'पादपतन' (पैरों पड़ने; वस्तुतः—किरण डालने) द्वारा प्रातःकाल में खुश कर रहा है।"

इत्यादि की बात। सो वहाँ तो यह वचन, मुग्धता के कारण बिना खुशामद ही मान छोड़ देनेवाली, नायिका से सखी का है। वह कहना चाहती है कि—"देख, हजार रश्मि (जो मानो उसकी स्त्रियाँ हैं) वाला भी सूर्य जब सबेरे आकर कमलिनी की खुशामद करता है—पैरों पड़ता है—तब वह प्रसन्न होती है और तू वैसे ही खुश हो गई। थोड़ा तो मान रखती।" यहाँ अप्रस्तुत नायक का व्यवहार (जो व्यंग्य है) जब तक प्रस्तुत सूर्य पर आरोपित नहीं किया जाय, तब तक वाच्य अर्थ नहीं बन सकता। अतः व्यंग्य को गुणीभूत मानना उचित ही है। हाँ, जहाँ पूर्वोक्त रीत्या समासोक्ति में भी वाच्य की अपेक्षा व्यंग्य की उत्कृष्टता हो वहाँ भले हो 'ध्वनि' मान लीजिए; हमें कोई अड़चन नहीं।

गड़बड़ है कि दोनों के समान होने पर भी एक को 'ध्वनि' कहा जाय और एक को 'गुणीभूत व्यंग्य'।

ऐसे उदाहरणों में उपमा व्यंग्य है या रूपक ?

अच्छा, अब एक और बात सुनिए। जहाँ श्लेष होता है वहाँ, दो श्लिष्ट अर्थों का, श्लेष के सहारे अभेद माना जाता है, जिसे कि सब आलंकारिकों ने लिखा है और अनुभव-सिद्ध है। उस अभेद का कारण ढूँढ़ने पर 'दोनों अर्थों के एक पद द्वारा गृहीत (ज्ञान) होने' के अतिरिक्त अन्य कोई कारण कहा नहीं जा सकता। बात भी ठीक है—एक पद द्वारा वर्णित अनेक अर्थ भी अभिन्न ही दिखाई देते हैं।

ऐसी दशा में "उल्लास्य कालकरवालमहाम्बुवाहम्···" (अथवा "करतलनिर्गलदविरल···" आदि उदाहृत पद्य) इत्यादिक में भी दोनों अर्थों के एक पद द्वारा गृहीत होने

आप कहेंगे—ऐसा मान लेने पर भी यहाँ उपमालंकार तो इस पद्य को 'ध्वनि' बनाने की योग्यता रखता नहीं; क्योंकि उसके तीन अंशों में से एक अंश वाच्य है। हाँ, उस अलंकार द्वारा अभिव्यक्त राजविषयक प्रेम का उत्कर्ष अवश्य इसे 'ध्वनि' बना सकता है। क्योंकि वह उद्दीपक होने के कारण वाच्य की अपेक्षा उत्कृष्ट है। फिर इसे अलंकार ध्वनि कैसे कहा जा सकता है ? तो इसका उत्तर यह है कि—अलंकार द्वारा किए गए उत्कर्ष की ध्वनि में ही 'अलंकार-ध्वनि' होने का व्यवहार है। अतः कोई दोष नहीं।

के कारण दोनों अर्थों का अभेद मानना युक्ति-सिद्ध है। अतः ऐसी जगह अभेद—अर्थात् रूपक—का ही व्यंग्य होना उचित है, उपमा का नहीं।

यदि आप कहें कि श्लेष में ता दोनों अर्थ वाच्य होते हैं और दोनों (की अभिव्यक्ति) का समय भी एक ही होता है—अर्थात् दोनों एक साथ ही प्रतीत होते हैं; परंतु यहाँ (पूर्वोक्त पद्य में) ता एक अर्थ वाच्य है और दूसरा व्यंग्य एवं दोनों का समय भी भिन्न भिन्न है—अर्थात् वाच्य अर्थ पहले प्रतीत होता है और व्यंग्य उसके अनंतर। तो यह ठीक नहीं। इतना सा भेद होने के कारण दो अर्थों का अभेद मानना छोड़ा नहीं जा सकता। कारण, व्यंग्य होना और आगे-पीछे प्रतीत होना अभेद-ज्ञान का बाधक नहीं है—ऐसा होने से अभेद-ज्ञान में कोई बाधा नहीं आती।

इस कारण, काव्यप्रकाश के टीकाकारों का जो यह कथन है कि "रूपक का ज्ञान उपमा के ज्ञान के अधीन है—अर्थात् जब पहले उपमा (सादृश्य) का ज्ञान हो ले तब ·पक (सादृश्य-मूलक अभेद) का ज्ञान होता है; अतः प्रथम उपस्थित होने के कारण (ऐसे पद्यों में) उपमा की ही (प्रकृत और अप्रकृत अर्थ के) संबंध रूप में कल्पना करनी चाहिए।" सो अधिक श्रद्धा का पात्र नहीं है। अर्थात् उस उक्ति पर विश्वास रखकर ऐसे स्थलों पर उपमा को व्यंग्य मानना और रूपक को नहीं—यह अनुचित है।

अन्य अलंकार भी शब्दशक्ति-मूलक ध्वनि में आते हैं।

अच्छा, अब फिर प्रस्तुत विषय की तरफ चलिए। इसी तरह अन्य अलंकार भी शब्दशक्ति-मूलक अनुरणन (व्यंजना) में आते हैं। जैसे 'यमुना-वर्णन' में—

"रविकुलप्रीतिमावहंती नर-वि-कुलप्रीतिमावहति। अवारितप्रवाहा सुवारितप्रवाहा।"

(जो यमुना सूर्य के कुल को प्रीति-दान करती हुई मनुष्यों और पक्षियों के समूहों को प्रीति-दान करती है। जिसका प्रवाह अनवरुद्ध है और जिस प्रवाह में सुंदर जल उत्पन्न हो गया है।)

इस स्थान पर 'नर-वि-कुलप्रीतिमावहति' इस वाक्य के 'मनुष्यों के और पक्षियों के समूहों को प्रीति-दान करती है' इस प्रकरण-प्राप्त अर्थ के सिद्ध हो जाने पर 'जो सूर्यवंश को प्रीति-दान नहीं करती है' यह अप्रस्तुत अर्थ और विरोधालंकार प्रतीत होते हैं, वे शब्द-शक्ति-मूलक ध्वनि के विषय हैं। इसी तरह 'सुवारितप्रवाहा' में भी 'जिसके प्रवाह में सुंदर जल उत्पन्न हो गया है' इस प्रस्तुत अर्थ के सिद्ध हो जाने पर 'जिसका प्रवाह अत्यंत अवरुद्ध है' यह अप्रस्तुत अर्थ और विरोधालंकार अभिव्यक्त होता है।

पर पूर्वोक्त गद्य में यदि "रविकुलप्रीतिमावहन्त्यपि नर-वि-कुलप्रीतिमावहति। अवारितप्रवाहाऽपि सुवारित-

प्रवाहा।" यों 'अपि (भी)' शब्द और अंदर डाल दिया जाय तो विरोधांश 'अपि' शब्द का वाच्य हो जाने, और द्वितीय अर्थ के उसके द्वारा आक्षिप्त हो जाने के कारण इसे 'ध्वनि' नहीं कहा जा सकता। जो लोग निपातों (अपि आदि) को वाचक नहीं किंतु द्योतक, मानते हैं उनके सिद्धांत में भी स्पष्ट रूप से द्योतित (प्रकाशित) और उसके द्वारा आक्षिप्त—दोनों—अर्थों में वाच्य की अपेक्षा कुछ ही न्यूनता रहने—अर्थात् वाच्य-जैसे ही हो जाने—के कारण व्यंग्य होना नहीं बन सकता।

काव्यप्रकाश के उदाहरण पर विचार

आप कहेंगे—यदि 'अपि' आदि शब्द देने पर ही विरोध वाच्य होता है, अन्यथा व्यंग्य रहता है; तो काव्यप्रकाश के—

"अभिनवनलिनीकिसलयमृणालवलयादिदवदहनराशिः ।
सुभग! कुरङ्गदृशोऽस्या विधिवशतस्त्वद्वियोगपविपाते ॥

दूती नायक से कहती है—हे सुभग! दैववशात् तुम्हारे वियोग-रूपी वज्र के गिरने पर, इस मृगनयनी के लिये कमलिनी के नवीन पल्लव और मृणाल के वलय (कंकण) आदि दावानल के समूह हो रहे हैं।"

इस उदाहरण में 'विरोधाभास' को वाच्य अलंकार कैसे माना जा सकता है? क्योंकि यहाँ विरोध किसी शब्द का वाच्य नहीं है, अतः उसका व्यंग्य होना ही स्वीकार करने

योग्य है—आपके हिसाब से ऐसी जगह वाच्य अलंकार कहना बिलकुल असंगत है।

यदि आप कहें कि—'मृणालवलयादिक दावानल का समूह हो रहे हैं' यहाँ मृणालवलयादिक का और दावानल के समूह का जो अभेद* संबंध है, वह केवल अभेद के रूप में नहीं, किंतु विरोध से युक्त होकर इन दोनों शब्दों के अर्थों का संबंध बनता है। और संबंध वाच्य अर्थों के बोध का विषय है—अर्थात् पदों की तरह पदों के परस्पर संबंध का भी वाच्य अर्थ के रूप में ही बोध होता है, अन्यथा असंबद्ध अर्थों का अन्वय कैसे होगा? अतः विरोध को वाच्य माना गया है। तो यह भी ठीक नहीं। कारण, विरोध और अभेद दोनों परस्पर विरोधी पदार्थ हैं, अतः एक ही समय दोनों का (मिश्रित होकर) एक संबंध रूप होना—अर्थात् विरोध-युक्त अभेद का संबंध रूप होना—नहीं बन सकता। तात्पर्य यह कि—जिन वस्तुओं में विरोध होता है उनमें अभेद नहीं हो सकता, और जिनमें अभेद होता है उनमें विरोध नहीं हो सकता; अतः विरोध और अभेद दोनों—कभी साथ न रहनेवाली वस्तुओं—को मिलाकर एक संबंध मानना अनुचित

---

* याद रखिए—क्रियावाचक (तिङन्त) शब्दों को छोड़कर अन्य सब शब्दों (जिन्हें संस्कृत में 'प्रातिपदिक' कहा जाता है) का, समान विभक्ति में आने पर, सदा अभेद संबंध से ही अन्वय होता है। (विशेष विवरण उपमा के 'शाब्द बोध' में देखिए।)

है। दूसरे, प्रातिपदिकार्थों का संबंध अभेद ही होने—अर्थात् उससे अतिरिक्त अन्य कोई संबंध न होने—के कारण, उनमें विरोध भी संबंध हो, इसमें कोई प्रमाण भी नहीं है। और अंततोगत्वा 'दावानल का समूह' शब्द लक्षणा द्वारा 'दावानल के समूह के समान' अर्थ का प्रतिपादन करता है, अतः (उन दोनों का सादृश्य, संबंध होने के कारण) विरोधांश निवृत्त भी हो जाता है। अर्थात् यद्यपि 'मृणाल-वलय आदि' के 'दावानल-समूहरूप' होने में विरोध है, तथापि विरहिणी के लिये दुःखदायी होने के कारण उन्हें उसके समान मानने में तो कोई विरोध है नहीं। अतः यदि आपकी बात मानें तो काव्यप्रकाश का उदाहरण गड़बड़ हो जाता है।

इसका उत्तर यह है कि काव्यप्रकाशकार का तात्पर्य 'उक्त पद्य विरोध का उदाहरण है' इतने मात्र में है—विरोध व्यंग्य है अथवा वाच्य इससे उनका कोई सरोकार नहीं। क्योंकि व्यंग्य होने पर भी विरोध के अलंकार होने में कोई बाधा नहीं। सो काव्यप्रकाश के उदाहरण में तो कोई गड़बड़ है नहीं; हाँ, यदि इस पद्य को वाच्य-विरोध का उदाहरण बनाना हो तो 'अपि' अंदर घुसेड़ दीजिए। पर काव्यप्रकाशकार के लिये ऐसा करना आवश्यक नहीं है।

यह तो है मुख्य बात। पर कुछ लोगों का कथन यह भी है कि—"पूर्वोक्त उदाहरण में विरोधांश के व्यंग्य होने

पर भी दोनों विरोधी (मृणालवलय और दावानल) तो वाच्य हैं, बस, इतने मात्र से 'विरोधाभास' को वाच्य अलंकार कहना सिद्ध हो जाता है; क्योंकि विरोधालंकार के शरीर में विरोधी और विरोध सब प्रविष्ट हैं, उनमें से किसी भी अंश के वाच्य होने पर उसे वाच्य माना जा सकता है। इसी प्रकार अन्य (अप्रस्तुत) अंश के व्यंग्य होने पर भी एक अंश (प्रस्तुत) को लेकर—अर्थात् उस अंश के वाच्य होने के कारण—'समासोक्ति' आदि को भी वाच्य अलंकार कहा जाता है *।"

अन्य उदाहरण

अथवा जैसे—

कृष्णपक्षाधिकरुचिः सदा संपूर्णमण्डलः।
भूपोऽयं निष्कलङ्कात्मा मोदते वसुधातले ॥

जिसकी भगवान् के पक्ष में अधिक रुचि है, जिसका राष्ट्र सदा भरा-पूरा है और जिसका अंतःकरण निर्मल है ऐसा यह राजा, पृथ्वीतल पर, मौज कर रहा है।

यहाँ राजा प्रकरण-प्राप्त है और उसके उपयुक्त होने के कारण उपर्युक्त अर्थ भी प्रकरण-प्राप्त है। अब इस प्रकरण-प्राप्त अर्थ के, अभिधा वृत्ति द्वारा, प्रतीत हो चुकने के अनंतर—

---

* इस पक्ष में अरुचि यही है कि—'समासोक्ति' आदि में तो अगत्या वैसा मानना पड़ता है; पर यहाँ जब पूर्वोक्तरीत्या वाच्य और व्यंग्य का स्पष्ट भेद हो सकता है, तब यह क्लिष्ट कल्पना निरर्थक है।

'जिसकी कृष्णपक्ष में अधिक कांति है, जिसका बिंब सदा पूरा रहता है—कभी खंडित नहीं होता और जिसका स्वरूप कलंक-रहित है।' इस तरह चंद्रमा से विरुद्ध धर्मों के रूप में द्वितीय अप्रस्तुत अर्थ और उसके द्वारा सिद्ध किया गया 'व्यतिरेकालंकार' ध्वनित होता है।

आप कहेंगे—यहाँ 'व्यतिरेकालंकार' कवि का जो राजा के विषय में प्रेम है उसे उपस्कृत करता है, इस कारण गुणीभूत हो गया है—प्रधान नहीं है, सो इस व्यंग्य के कारण इस काव्य को 'ध्वनि' नहीं कहा जा सकता; क्योंकि प्रधान व्यंग्य के कारण ही काव्य को 'ध्वनि (उत्तमोत्तम) कहा जाता है। हम कहते हैं—इस पद्य का वक्ता उदासीन है—उसे राजा की स्तुति अथवा निंदा से कोई प्रयोजन नहीं (अर्थात् यह कवि की उक्ति नहीं किंतु किसी तटस्थ की उक्ति है। सो इस पद्य का तात्पर्य यथार्थ बात कहने में है—स्तुति-निंदा करने में नहीं।) अतः यह पद्य वक्ता की रति का व्यंजक नहीं है।

दूसरे, "जो अर्थ गौण होता है, वह भी यदि वाच्य अर्थ की अपेक्षा प्रधान हो तो उसके कारण काव्य को 'ध्वनि' कहा जा सकता है" इस बात को प्राचीनों ने स्वीकार किया है। अन्यथा

"निरुपादानसंभारमभित्तावेव तन्वते।
जगच्चित्रं नमस्तस्मै कलाश्लाघ्याय शूलिने॥

अर्थात् जो विना सामग्री-समूह के और विना भीत—केवल शून्य में—ही 'जगच्चित्र' (जगत् रूपी चित्र-विचित्र जगत्) को तैयार कर देते हैं उन 'कलाश्लाघ्य' (चंद्रकला से प्रशंसनीय—चित्रकला में प्रशंसनीय) शिव के लिये नमस्कार हो।"

यहाँ जो काव्यप्रकाशकार ने व्यतिरेकालंकार की ध्वनि बताई है वह असंगत हो जायगी। क्योंकि यहाँ 'व्यतिरेकालंकार' का, शिव के विषय में जो रतिभाव है उसका, अंगभूत होना अनुभव-सिद्ध है।

शब्दशक्ति-मूलक वस्तु-ध्वनि

शब्दशक्ति के कारण वस्तु की ध्वनि; जैसे—

राज्ञो मत्प्रतिकूलान्मे महद्भयमुपस्थितम्।
बाले! वारय पान्थस्य वासदानविधानतः॥

पथिक किसी नवयौवना से कह रहा है—हे बाले! 'राजा' (चंद्रमा) मुझसे प्रतिकूल हो गया है। मुझ पथिक को उससे जो बड़ा भारी भय उपस्थित हो रहा है उसे, तू, निवास का दान करके—रहने के लिये जगह देकर (दूसरे पक्ष में, निवास और (वांछित का) दान करके), निवृत्त कर।

यहाँ 'उपभोग का दान कर' यह वस्तु (बात) (चंद्रवाची) राज पद जिसका मूल है उस अनुरणन (व्यंजना) में आती है—अर्थात् अभिव्यक्त होती है। कारण, 'राज'-

पद से 'चंद्र' अर्थ की उपस्थिति होने पर ही, चंद्रमा से उत्पन्न भय (कामपीड़ा) की निवृत्ति के कारणरूप में, उपभोग की अभिव्यक्ति होती है—यदि 'राज' पद का अर्थ 'चंद्रमा' न हो तो इस पद्य से यह बात न निकल सके। सो 'राज'-पद की अभिधा ही इस व्यंजना का मूल है।

यदि आप कहें कि—यहाँ (पूर्वोदाहृत "करतल......" आदि पद्यों की तरह) 'राजा और चंद्रमा दोनों में से एक का उपमान और उपमेय होने (अर्थात् उपमा)' अथवा 'दोनों का अभेद रूपी रूपक' व्यंग्य होने दीजिए। तात्पर्य यह कि यहाँ 'वस्तु ध्वनि' न मानकर 'अलंकार ध्वनि' ही क्यों नहीं मान ली जाती? तो यह ठीक नहीं। कारण, यहाँ 'राज' शब्द का 'राजा' अर्थ, केवल 'चंद्र'रूपी अर्थ को छिपाने के लिये ही ग्रहण किया गया है। अर्थात् वक्ता ने दूसरों से अपना अभिप्राय छिपाने के लिये ही श्लिष्ट शब्द का प्रयोग किया है—उसका अन्य कोई प्रयोजन नहीं। अतः 'चंद्र' रूप अर्थ की प्रतीति हो जाने पर 'राजा' रूप अर्थ की प्रतीति रहेगी ही नहीं। और उपमा तथा रूपक तब हुआ करते हैं, जब उपमान और उपमेय दोनों की एक साथ प्रतीति हो अन्यथा सादृश्य और अभेद होगा किन दो का? बात यह है कि—जब तक 'राज' पद का 'राजा' अर्थ प्रतीत होगा, तब तक 'चंद्र' अर्थ न समझ पड़ेगा और जब 'चंद्र' अर्थ समझ पड़ेगा तब 'राजा' अर्थ नहीं।

अतः उपमा और रूपक यहाँ वक्ता के तात्पर्य का विषय नहीं है—वक्ता को यहाँ अलंकारों का व्यंग्य होना सर्वथा अभीष्ट नहीं।

आप कहेंगे—इस तरह दो असंबद्ध—जिनमें सादृश्यादिक कुछ भी संबंध नहीं ऐसे—अर्थों का बोध होगा तो वाक्यभेद-दोष हो जायगा। पर यह भी ठीक नहीं। कारण, जब समान कक्षा के दो असंबद्ध अर्थों का प्रतिपादन अभीष्ट हो, तभी वह दोष माना जाता है। पर यहाँ तो जब (अभीष्ट अर्थ के) छिपानेवाले ('राजा' अर्थ) की प्रतीति होती है तब छिपाए जानेवाले ('चंद्र' अर्थ) की प्रतीति नहीं होती; और जब छिपाए जानेवाले अर्थ (चंद्र) की प्रतीति होती है तब छिपानेवाला अर्थ ('राजा') तिरोहित हो जाता है, अतः दोनों अर्थ समान कक्षा के नहीं हैं।

काव्यप्रकाश के उदाहरण पर विचार

काव्यप्रकाश में तो शब्दशक्ति-मूलक वस्तु-ध्वनि का—

"शनिरशनिश्च तमुच्चैर्निहन्ति कुप्यसि नरेन्द्र ! यस्मै त्वम्।
यत्र प्रसीदसि पुनः स भात्युदारोऽनुदारश्च।

कवि कहता है—हे नरेंद्र, जिस पर आप कुपित होते हैं उसको शनि और 'अशनि' (शनि का विरोधी; वस्तुतः वज्र) दोनों मारते हैं। और जिस पर आप प्रसन्न होते हैं वह उदार (उद्भट अथवा दानशील) और 'अनुदार' (उदार

से भिन्न; वस्तुतः स्त्री सहित) सुशोभित होता है (उसे कभी वियोग की वेदना नहीं सहनी पड़ती) ।"

यह उदाहरण देकर यों कहा गया है कि—"इस पद्य में 'विरोधी भी **दोनों** तुम्हारी अनुवृत्ति के लिये एक कार्य करते हैं' यह बात अभिव्यक्त होती है"। और व्याख्या-कारों ने इसकी यह व्याख्या की है कि—"**दोनों** शनि और अशनि तथा उदार और अनुदार। एक कार्य=मारना और सुशोभित होना।"

अब यह सोचिए कि यहाँ यद्यपि 'शनि' और 'अशनि' इन दोनों विरोधी पदार्थों का मारना क्रिया के कर्तृत्व में अन्वय संभव है, अतः उन दोनों का 'मारना' रूपी 'एक कार्य' हो सकता है; तथापि दूसरी क्रिया 'सुशोभित होना' का कर्त्ता 'वह' है, उदार और अनुदार नहीं; उदार और अनुदार तो 'वह' पद के अर्थ के अथवा उसके अर्थ के विशेषण हैं। सो उनका 'सुशोभित होना' रूपी क्रिया के साथ साक्षात् अन्वय न हो सकने के कारण 'एक कार्य करने-वाला होना' कैसे बन सकता है ? अर्थात् जब कि 'उदार' और 'अनुदार' 'सुशोभित होना' क्रिया के कर्त्ता ही नहीं हैं, किंतु कर्त्ता के विशेषण अथवा उसके विशेषण के विशेषण हैं, तब 'सुशोभित होना' उनका कार्य कैसे हो सकता है ?

अतः काव्यप्रकाशकार का पूर्वोक्त कथन केवल प्रथम अर्ध (शनि-अशनिवाले भाग) के विषय में ही है—

अर्थात् वह बात केवल पूर्वार्ध के ही विषय में है, उत्तरार्ध (अर्थात् उदार-अनुदारवाले भाग) में तो विरोधाभास अलंकार ही है, काव्यप्रकाशकार की बताई हुई वस्तु अभिव्यक्त नहीं होती।

पर यदि कहो कि—'सुशोभित होना' रूपी क्रिया के कर्त्ता 'वह' के साथ 'उदार' और 'अनुदार' शब्दों के अर्थों का अभेद संबंध से अन्वय है; क्योंकि "एक प्रातिपदिकार्थ का अन्य प्रातिपदिकार्थ के साथ अभेद के अतिरिक्त कोई संबंध नहीं हो सकता" यह नियम है। बस, इतने मात्र से 'उदार' और 'अनुदार' का भी 'एक कार्य करना' बन सकता है; क्योंकि कर्त्ता और 'वह' पद का अर्थ शाब्द बोध में अभिन्न प्रतीत होता है। तो भले ही उत्तरार्ध में भी "विरोधी भी दोनों ......" इत्यादि पूर्वोक्त वस्तु व्यंग्य रहे; हमें इसमें कोई अड़चन नहीं। परंतु दोनों ही अर्थों में वह वस्तु 'विरोधाभास' अलंकार से मिश्रित ही है—इसमें कोई संदेह नहीं। कारण, जो जिस व्यक्ति के शत्रु का विरोधी होता है वह उस व्यक्ति का विरोधी नहीं हो सकता, अतः राजा का कोपभाजन व्यक्ति, 'शनि' और 'अशनि (शनि का विरोधी)' जिसके कर्त्ता हैं उस, 'मारना' क्रिया का कर्म नहीं हो सकता। अर्थात् जिसे 'शनि' मारे उसे 'अशनि' नहीं मार सकता और जिसे 'अशनि' मारे उसे 'शनि' नहीं मार सकता; क्योंकि अपने विरोधी का विरोधी एक प्रकार से

अपना मित्र हो जाता है। अतः पूर्वार्ध में, शनि की 'मारना' क्रिया का 'कर्म होना' और अशनि की 'मारना' क्रिया का 'कर्म होना', दोनों में, स्पष्ट विरोध है। और उस विरोध का परिहार है राजा की आज्ञा के अप्रतिहत होने द्वारा अथवा क्रोध की अधिकता द्वारा—अर्थात् उन्हें न चाहते हुए भी भय के मारे ऐसा करना पड़ता है।

इसी तरह उत्तरार्ध में भी जिस आधार (व्यक्ति अथवा वस्तु) में 'उदारता' रहती है उसमें 'अनुदारता' नहीं रह सकती और जिसमें 'अनुदारता' रहती है उसमें 'उदारता' नहीं रह सकती; अतः 'दोनों का एक आधार में रहना' इसमें विरोध स्पष्ट है। और उसका भी परिहार पूर्व-वत् ही है।

कहने का तात्पर्य यह कि—टीकाकारों ने जो पूर्वार्ध और उत्तरार्ध दोनों में पूर्वोक्त वस्तु की व्यंग्यता लिखी है, वह बन सकती है; पर उन्हें उस वस्तु का 'विरोधाभास' अलंकार से मिश्रित होना भी लिखना चाहिए था। अर्थात् 'काव्य-प्रकाश' का उदाहरण शुद्ध 'वस्तुध्वनि' का नहीं, किंतु अलं-कार-मिश्रित वस्तु की ध्वनि का उदाहरण है।

अर्थ-शक्ति-मूलक ध्वनियों के उदाहरण

स्वतःसंभवी व्यंजक

स्वतः-संभवि-वस्तु-मूलक वस्तु-ध्वनि; जैसे—

गुञ्जन्ति मञ्जु परितो गत्वा धावन्ति सम्मुखम् ।
आवर्त्तन्ते निवर्त्तन्ते सरसीषु मधुव्रताः ।

नायक नायिका से कहता है—भौंरे चारों तरफ मनोहर गुंजन कर रहे हैं; जाकर फिर उसी तरफ दौड़ रहे है; तलैयों में आ रहे हैं और लौट जा रहे हैं।

यहाँ 'भौंरों के मनोहर गुंजन' आदि जिन वस्तुओं का वर्णन किया गया है, वे कवि-कल्पित नहीं हैं, किंतु स्वतःसंभवी (लोकसिद्ध) हैं। उन वस्तुओं से 'अब कमलों की उत्पत्ति समीपवर्त्तिनी है' यह ध्वनित करने द्वारा 'शरद् ऋतु के आगमन की निकटता'-रूपी वस्तु अभिव्यक्त होती है।

काव्यप्रकाश के उदाहरण पर विचार

काव्यप्रकाश में स्वतःसंभवी वस्तु से वस्तुध्वनि का उदाहरण यों है—

अलससिरोमणि धुत्ताणमग्गिमो पुत्ति धणसमिद्धिमओ ।
इअ भणिएण णअंगी पप्फुल्लविलोअणा जाआ ॥

एक कन्या का स्वयंवर है। कन्या वर की तरफ देख रही है। कन्या की धाय (उपमाता, नर्स, जो ऐसे प्रसंगों में कन्या के साथ रहा करती थी) कन्या से कहती है—'हे पुत्रि! यह वर आलसियों का शिरोमणि, धूर्त्तों का प्रधान और धन-समृद्धि से पूर्ण है'। बस, धाय का यह कहना था कि उस नतांगी के नयन खिल उठे।

इस उदाहरण पर काव्यप्रकाशकार कहते हैं—"इस पद्य में '(यह वर) मेरा ही उपभोग्य है' यह वस्तु अभिव्यक्त होती है।" यहाँ पूछना यह है कि यह वस्तु किस वस्तु से अभिव्यक्त होती है? 'आलसियों के शिरोमणि' इत्यादि पति के विशेषणों से तो यह वस्तु अभिव्यक्त होती नहीं। कारण, उन्हें किसी धाय आदि वृद्ध स्त्री ने कहा है; अतः यदि उनसे अभिव्यक्त हो तो व्यंग का 'तेरा ही उपभोग्य है' इस रूप में कथन होना चाहिए; क्योंकि जब वे विशेषण कामिनी द्वारा वर्णित होते तब तो 'मेरा ही उपभोग्य है' यह व्यंग्य का आकार होता। सो है नहीं।

आप कहेंगे—'नयनों के खिल उठने' से यह बात ध्वनित होती है। तो यह भी उचित नहीं। कारण, 'नयन-कमलों का खिल उठना' हर्ष भाव का अनुभाव है, उससे हर्ष भाव का ध्वनित होना सिद्ध होता है, पूर्वोक्त वस्तु का नहीं। क्योंकि अनुभाव का भाव को अभिव्यक्त करना ही उचित है। और जिसे आप व्यंग्य कह रहे हैं वह 'मेरा उपभोग्य है' यह वस्तु तो हर्ष भाव का विभाव है, अतः वह स्वयं भी हर्ष भाव को अभिव्यक्त करता है। क्योंकि विभाव और अनुभाव द्वारा ही भाव अभिव्यक्त होते हैं। यदि कहें कि अनुभावों से भाव अभिव्यक्त होता है, इस कारण भाव के विभाव की भी अभिव्यक्ति उसके द्वारा मान ली जानी चाहिए। सो कह नहीं सकते। कारण, केवल नयनों के

खिल उठने में 'मेरा ही उपभोग्य है' इस व्यंग्य को ध्वनित करने का सामर्थ्य नहीं। क्योंकि 'नेत्रों का खिल उठना' तो पुत्र-जन्म और धन-प्राप्ति जिसके विभाव (कारण) हैं उस हर्ष भाव में भी देखा जाता है, अतः व्यभिचरित है—अर्थात् वह इसी बात को ध्वनित करे ऐसा निश्चित नहीं है। अतः काव्यप्रकाशकार का इस वस्तु को व्यंग्य कहना उचित नहीं। यह है पूर्वपक्ष।

इसके उत्तर में हम कहते हैं—यह सच है। पर आपकी शंका का समाधान यह है कि—'मेरा उपभोग्य है' इस वस्तु के केवल 'नेत्र खिल उठने' द्वारा ध्वनित न होने पर भी पद्य में वर्णित "धाय का यह कहना था कि" इस अर्थ के कारण कन्या का 'आलसियों का शिरोमणि' आदि पति के विशेषणों का सुनना पाया जाता है, उस (सुनने) से युक्त 'नेत्रों के खिल उठने' से, पहले 'मेरा उपभोग्य है' यह विभाव अभिव्यक्त होता है और बाद में उस विभाव के द्वारा हर्ष भाव अभिव्यक्त होता है। उनमें से हर्ष-भाव के द्वाररूप विभाव की अभिव्यक्ति को लेकर काव्यप्रकाश के ग्रंथ की संगति हो जाती है। अर्थात् काव्यप्रकाशकार का अभिप्राय यह है कि—धाय के कहे हुए पूर्वोक्त पति के विशेषणों के सुनने के साथ नयन-कमलों के खिल उठने से, प्रथमतः, कन्या का यह अभिप्राय अभिव्यक्त होता है कि 'यह मेरा उपभोग्य है' और उसके अनंतर हर्ष भाव।

आप कहेंगे—ऐसा मानने से भाव-ध्वनि संलक्ष्यक्रम हो जायगी; क्योंकि उसके द्वार—विभाव—का क्रम (पूर्वापरीभाव) स्पष्ट दिखाई पड़ता है—हम देखते हैं कि पहले विभाव अलग अभिव्यक्त होता है और बाद में हर्ष भाव। तो हमें यह मंजूर है। आप कहेंगे—यह बात सिद्धांत से विरुद्ध है। हम कहते हैं—नहीं। इस दोष का पहले ही (प्रथमानन के अंत में) उद्धार किया जा चुका है।

स्वतः-संभवि-वस्तु-मूलक अलंकारध्वनि; जैसे

मृद्वीका रसिता, सिता समशिता, स्फीतं निपीतं पयः,
स्वर्यातेन सुधाऽप्यधायि, कतिधा रम्भाधरः खण्डितः।
सत्यं ब्रूहि मदीय जीव! भवता भूयो भवे भ्राम्यता
कृष्णेत्यक्षरयोरयं मधुरिमोद्गारः क्वचिल्लक्षितः?

एक भक्त अपने जीव से पूछता है—तैंने (इस लोक में) दाखों का मजा लिया है, मिश्री अच्छी तरह खाई है और दूध तो खूब ही पिया है। स्वर्ग में जाने पर अमृत भी पिया है और (न-जाने) कितने प्रकार से रंभा (अप्सरा) का अधर खंडित किया है। हे मेरे जीव! तू सच सच कह, तैंने, संसार में बार बार घूमते हुए 'कृष्ण' इन दो अक्षरों में जो मधुरता का उद्गार है उसे भी कहीं देखा है?—मैं तो समझता हूँ यह तुझे कहीं प्राप्त न हुआ।

अब इसका विवेचन करिए। यहाँ वक्ता ने अपने को दो भागों में विभक्त कर लिया है। उनमें से एक भाग है—देह, इंद्रिय आदि बाह्य पदार्थों से अतिरिक्त शुद्धस्वरूप जीवात्मा, और दूसरा भाग है—देह, इंद्रिय आदि जड़ और चेतन का समूह रूप, जिसे वेदांत के हिसाब से 'संघात' कहा जाता है और जो 'मैं' पद द्वारा ज्ञात होता है। उपर्युक्त प्रश्न शुद्धस्वरूप जीवात्मा से 'संघात'-रूप 'मैं' का है और उसमें अनेक जन्मों की अनुभूत वस्तुओं में "'कृष्ण' शब्द की मधुरता के उद्गार का देखना" पूछा गया है। पर उन सब वस्तुओं के प्रत्यक्ष का कारण है एक प्रकार की योग-सिद्धि, बिना उसके पूर्वजन्म की बातों को कोई जान नहीं सकता। उस योगसिद्धि के बिना भी भगवन्नाम के उच्चारण करनेवाले से जो यह प्रश्न किया गया है, उससे पूर्वोक्त योगसिद्धि-रूपी उपमान का भगवन्नाम के साथ तादूप्य (अभेद) समझना ध्वनित होता है। अर्थात् भगवन्नाम को वक्ता ऐसी योगसिद्धि से अभिन्न मानता है, जिसके द्वारा अनेक जन्मों के वृत्तांत प्रत्यक्ष हो जाते हैं। 'ऐसे तादूप्य समझने' को साहित्य की परिभाषा में अतिशयोक्ति अलंकार कहते हैं। अतः यह सिद्ध हुआ कि 'अनेक जन्मों की अनुभूत वस्तुओं में मधुरता के उद्गार का देखना' जो एक स्वतःसंभवी वस्तु है (क्योंकि जीव के अनेक जन्म शास्त्रसिद्ध हैं, कवि-कल्पित नहीं), उसके द्वारा 'भगवन्नाम के साथ

पूर्वोक्त योगसिद्धि का ताद्रूप्य समझना' रूपी 'अतिशयोक्ति* (अलंकार)' ध्वनित होती है।

क्या यहाँ अतिशयोक्ति गुणीभूत व्यंग्य है ?

यदि आप कहें कि यहाँ प्रश्न का विषय है अनेक जन्मों का वृत्तांत—अर्थात् पूर्वोक्त पद्य में जीव से अनेक जन्मों का वृत्तांत पूछा गया है। ऐसा प्रश्न अनेक जन्मों का वृत्तांत जाननेवाले के प्रति ही उचित है। सो (योगसिद्धि से रहित, अतएव) अनभिज्ञ अपने जीव से यह प्रश्न योग्य न होने के कारण प्रश्न बनता नहीं। अतः आपको पूर्वोक्त अतिशयोक्ति का आक्षेप करना पड़ेगा—अर्थात् यह मानना पड़ेगा कि वक्ता ने भगवन्नाम के साथ वैसी योगसिद्धि का ताद्रूप्य समझकर ही यह प्रश्न किया है—अन्यथा प्रश्न व्यर्थ हो जायगा। ऐसी दशा में यह

---

* अतिशयोक्ति का लक्षण है "**विषयिणा विषयस्य निगरणमतिशयः। तस्योक्तिः**।—अर्थात् विषयी द्वारा विषय के निगरण (विषयिवाचक पद से ही विषय का काम निकालने) को अतिशय कहते हैं। उसकी उक्ति अतिशयोक्ति कहलाती है।" तदनुसार यहाँ अतिशयोक्ति का व्यंग्य कहना कहाँ तक उचित है, यह जरा सोचने की बात है। कारण, यहाँ विषयी द्वारा विषय का निगरण नहीं, किंतु विषय द्वारा विषयी का निगरण है। भगवन्नाम विषय है और योगसिद्धि विषयी; क्योंकि भगवन्नाम प्रकृत है और योगसिद्धि आरोप्यमाण। —अनुवादक।

अतिशयोक्ति अर्थापत्ति द्वारा प्रतीत होने के कारण व्यंग्य नहीं मानी जा सकती। यदि आप कहें कि—हमारे हिसाब से अर्थापत्ति कोई जुदा प्रमाण नहीं—उसके द्वारा प्रतीत अर्थों को भी हम व्यंग्य ही मानते हैं। तथापि बिना वैसी अतिशयोक्ति के पूर्वोक्त प्रश्न की सिद्धि नहीं होती—वह बन नहीं सकता; अतः अतिशयोक्ति को वाच्य-सिद्धि का अंग मानना पड़ेगा, सो वह 'गुणीभूतव्यंग्यरूप' हो जायगी—उसकी प्रधानता न रहेगी। ऐसी स्थिति में यह अतिशयोक्ति व्यंग्य होने पर भी, इस काव्य को ध्वनि (उत्तमोत्तम काव्य) कहने का कारण नहीं मानी जा सकती। अर्थात् ऐसी अतिशयोक्ति के कारण यह पद्य प्रथम श्रेणी का नहीं, द्वितीय श्रेणी का हो सकता है; अतः इसे ध्वनि के उदाहरणों में लिखना ठीक नहीं।

इसी तरह काव्यप्रकाश के उदाहरण

"तदप्राप्तिमहादुःखविलीनाशेषपातका।
तच्चिन्ताविपुलाह्लादक्षीणपुण्यचया तथा॥
चिन्तयन्ती जगत्सूतिं परब्रह्मस्वरूपिणम्।
निरुच्छ्वासतया मुक्तिं गताऽन्या गोपकन्यका* ।"

---

* ये पद्य विष्णुपुराण के (५म अंश, १३वाँ अध्याय, श्लोक २१-२२) हैं। इनका प्रकरणसंगतिपूर्वक अर्थ यह है—भगवान् श्रीकृष्ण के रास में सब गोपकन्याएँ सम्मिलित हुईं। पर एक (भाग-

में भी अतिशयोक्ति को अर्थापत्ति से प्राप्त अथवा गुणी-भूत व्यंग्य मानना उचित है। कारण, जब तक 'भगवान् के न मिलने के कारण उत्पन्न महादुःख' और 'उनके स्मरण से उत्पन्न अत्यंत आनंद' के साथ अनेक जन्मों में भोगे जाने-वाले दुःखों और सुखों का तादूप्य न समझा जाय, तब तक उनका संपूर्ण पापों और पुण्यों के समूह का नाशक होना नहीं बन सकता। क्योंकि शास्त्रों में जो दुःख जिन पापों के फल हैं और जो सुख जिन पुण्यों के फल हैं उन्हें ही उन उन पापों और उन उन पुण्यों का नाशक माना जाता है, और ये—अर्थात् कृष्ण के वियोग का दुःख और स्मरण का सुख तो उन उन पाप-पुण्यों के फल हैं नहीं (क्योंकि भगवत्प्राप्ति लौकिक कर्मों का फल नहीं होती; अन्यथा सभी दान-धर्म करनेवाले भगवान् को पा सकें)। अतः 'उन पाप-पुण्यों के फल-रूप सुख-दुःखों के साथ इन वियोग-दुःख और स्मरण-सुख का तादूप्य' जो 'अतिशयोक्ति'-रूप है,

---

वत में ऐसी कई लिखी हैं) गोपकन्या को पति आदि ने बलात् वहाँ जाने से रोक दिया। उस गोप-कन्या को श्रीकृष्ण के न मिलने से महादुःख हुआ। उस दुःख के कारण उसके सब पातक विलीन हो गए और कृष्ण की चिंता के कारण जो परम आनंद हुआ उसके कारण उसके सब पुण्य-समूहों का क्षय हो गया। वह जगत् के कर्त्ता परब्रह्म-स्वरूप श्रीकृष्ण का चिंतन करती हुई प्राण-रहित हुई और इस कारण उस गोपकन्या ने मुक्ति पाई।

मानना पड़ेगा। और तभी वे सुख-दुःख उन पुण्य-पापों के नाशक हो सकेंगे। सो जो गड़बड़ आपके उदाहरण में है वही इस उदाहरण में भी है।

यदि आप कहें कि—केवल वस्तु से अभिव्यक्त होनेवाले अलंकार गुणीभूत व्यंग्य नहीं हो सकते; कारण, यह सिद्धांत है कि—

"व्यज्यन्ते वस्तुमात्रेण यदाऽलंकृतयस्तदा ।
ध्रुवं ध्वन्यङ्गता तासां काव्यवृत्तेस्तदाश्रयात् ॥

अर्थात् जब केवल वस्तु द्वारा अलंकार अभिव्यक्त होते हैं तब वे काव्य को निश्चित रूप से ध्वनि (उत्तमोत्तम) बनाते हैं; क्योंकि ऐसे पद्यों में काव्य शब्द का व्यवहार उन्हीं के सहारे होता है—उनमें ऐसे अलंकार ही चमत्कारोत्पादक होते हैं।" तात्पर्य यह कि जिनके सहारे उन पद्यों को काव्य कहा जाता है, उनका उन पद्यों में अवश्य ही प्राधान्य होना चाहिए। यह ठीक नहीं। कारण, जब हम एक दृढ़ बाधक उपस्थित कर चुके हैं—अतिशयोक्ति को वाच्य-सिद्धि का अंग बता चुके हैं, तब बिना उसका निराकरण किए, केवल सिद्धांत के बल पर आप इस पद्य का ध्वनि होना सिद्ध नहीं कर सकते। सारांश यह कि इन पद्यों को 'ध्वनि' का उदाहरण बताकर आपने और काव्यप्रकाशकार ने—दोनों ने ही—भूल की है।

उत्तर पक्ष

यह आपका कहना सच है। पर, महाराज, पहले आप यह तो समझ लीजिए कि व्यंग्य किस जगह वाच्य-सिद्धि का अंग हुआ करता है। व्यंग्य वाच्य-सिद्धि का अंग वहीं होता है, जहाँ वैसे व्यंग्य को स्वीकार किए बिना वाच्य सर्वथा सिद्ध न हो सके। किंतु जहाँ वाच्य किसी दूसरी तरह से भी सिद्ध किया जा सके, वहाँ 'व्यंग्य' वाच्य-सिद्धि का अंग नहीं होता। अन्यथा प्रथमानन में उदाहृत "निश्शेषच्युतचंदनं स्तनतटम्......" इस 'ध्वनि' के उदाहरण में भी 'दूती का रमण' (व्यंग्य) 'नायक की अधमता' (वाच्य) को सिद्ध करता है, इस कारण वहाँ भी व्यंग्य वाच्य-सिद्धि का अंग होकर गुणीभूत हो जायगा, जो किसी को सम्मत नहीं।

अब प्रस्तुत में देखिए। यहाँ भगवन्नाम में 'योग-सिद्धि का ताद्रूप्य समझना' रूपी जो 'अतिशयोक्ति' है, उसके बिना भी, भगवन्नाम के उच्चारण के माहात्म्य द्वारा प्राप्त सर्वज्ञता के ज्ञान से भी, प्रश्न बन सकता है— अर्थात् वक्ता, अपने जीव को भगवन्नाम के उच्चारण के प्रभाव द्वारा सर्वज्ञ समझकर भी ऐसा प्रश्न कर सकता है, यह आवश्यक नहीं कि भगवन्नाम को योग-सिद्धि रूप समझे तभी प्रश्न करे। अतः ऐसे व्यंग्य को वाच्य-सिद्धि का अंग समझकर गुणीभूत कहना आपकी ही भूल है।

अब यदि यह कहा जाय कि—भगवन्नाम के उच्चारण के माहात्म्य द्वारा प्राप्त सर्वज्ञता समझने पर भी, असंबंध में संबंधरूप (क्योंकि भगवन्नाम में यह शक्ति मिथ्या आरोपित की गई है) अतिशयोक्ति तो रहेगी ही; क्योंकि बिना उसके यह प्रश्न नहीं बन सकता। अतः फिर भी पूर्वोक्त दोष ज्यों का त्यों ही बना रहता है। सो भी नहीं। क्योंकि यह दोष भी हमारे उपर्युक्त कथन से निवृत्त हो जाता है। कारण, जहाँ वैसी बात न हो और उसका संबंध मान लिया जाय (जैसे महलों के शिखरों का चंद्रमा से स्पर्श) वहीं पूर्वोक्त अतिशयोक्ति होती है। पर यह तो पुराणों में प्रसिद्ध है कि—भगवन्नाम का माहात्म्य अचिंतनीय है—कोई ऐसा फल नहीं जो उससे प्राप्त न हो सके, अतः उससे सर्वज्ञता भी प्राप्त हो सकती है। सो अतिशयोक्ति को गुणीभूत व्यंग्य मानना उचित नहीं।

अन्य उदाहरण

बात तो असली यह है। पर यदि थोड़ी देर के लिये आपका ही कहना मान लें तो वस्तु से अलंकार की अभिव्यक्ति का, न सही पूर्वोक्त उदाहरण; यह तो होगा—

न मनागपि राहुरोषशङ्का न कलङ्कानुगमो न पाण्डुभावः।
उपचीयत एव कापि शोभा परितो भामिनि! ते मुखस्य नित्यम्॥

सखी नायिका से कहती है—न इस पर राहु के आक्रमण की जरा भी शंका है, न कलंक का संबंध है और न सफेदी है। तेरे मुख की अनिर्वचनीय शोभा सब तरफ से निरंतर बढ़ती ही जा रही है।

यहाँ 'राहु के आक्रमण की शंका न होना' आदि निरपेक्ष वस्तुएँ हैं—अर्थात् जिन्हें सिद्ध करने के लिये व्यक्तिरेक की कुछ भी अपेक्षा नहीं; उनके द्वारा व्यतिरेकालंकार (मुख की चंद्रमा से अधिकता) ध्वनित होता है।

स्वतःसंभवि-अलंकार-मूलक वस्तुध्वनि; जैसे—

नदन्ति मददन्तिनः, परिलसन्ति वाजिव्रजाः,
पठन्ति विरुदावलीमहितमन्दिरे वन्दिनः।
इदं तदवधि प्रभो! यदवधि प्रवृद्धा न ते
युगान्तदहनोपमा नयनकोणशोणद्युतिः॥

कवि राजा से कहता है—हे प्रभो! आपके शत्रुओं के घर में मत्त हाथी चिंघाड़ते हैं, घोड़ों की कतारें शोभित होती हैं और बंदीजन विरुदावली पढ़ते हैं। पर, यह तब तक है, जब तक, प्रलय-काल की अग्नि के समान, आपके नेत्र-कोण की अरुण कांति नहीं बढ़ी है।

यहाँ 'प्रलय-काल के अग्नि' की उपमा (जो कि अलंकार है) से यह वस्तु अभिव्यक्त होती है कि 'ज्योंही आपके कोप का उदय होगा त्योंही शत्रुओं की संपदाएँ

बिलकुल भस्म हो जायँगी।' यद्यपि यह वस्तु राजा के विषय में कवि के रति-भाव का अंग हो गई है, अतः प्रधान नहीं रही; तथापि वाच्य की अपेक्षा सुंदर होने के कारण इस काव्य को 'ध्वनि' कहे जाने का हेतु हो गई है—अर्थात् इस व्यंग्य के कारण इस पद्य को प्रथम श्रेणी में गिना जा सकता है।

आप कहेंगे—आपने जिस 'भस्म करने की समर्थता' को उपमा का व्यंग्य बताया है, वह यहाँ, उपमान और उपमेय का साधारण धर्म भी होने के कारण उपमा को सिद्ध करती है। अतः वाच्य (उपमा) की सिद्धि का अंग—अर्थात् गुणीभूत हो गया है। तो यह ठीक नहीं। कारण, (अग्नि की) उपमा तो श्लोक में वर्णित 'अरुणता'-रूपी साधारण धर्म द्वारा भी सिद्ध हो सकती है; क्योंकि वह धर्म 'प्रलयानल' और 'कुपित नेत्र की कांति' दोनों में रहता है। अतः व्यंग्य वाच्य-सिद्धि का अंग नहीं हो सकता।

यदि आप कहें कि—'अरुणता' को ही समान धर्म मानना और 'भस्म करने की निपुणता' को समान धर्म न मानना, इसमें कोई प्रमाण तो है नहीं; फिर क्यों हम 'अरुणता' को ही समान धर्म मानें? तो इसका वास्तविक समाधान यह है कि यहाँ यद्यपि उपमेय—'नेत्र की अरुण कांति'—में रहनेवाला 'भस्म करने की समर्थता'-रूपी—

समान धर्म उपमा को सिद्ध कर सकता है, तथापि उपमेय से व्यंग्य—कोप—में रहनेवाली 'भस्म करने की निपुणता' तो उपमा को सिद्ध करनेवाली हो नहीं सकती; क्योंकि यहाँ कोप की और प्रलयानल की उपमा का वर्णन थोड़े ही है, है तो 'कांति' की और प्रलयानल की उपमा का वर्णन; और व्यंग्य है कोप के अंदर रहनेवाली 'भस्म करने की समर्थता'। अतः वैसी 'भस्म करने की समर्थता' उपमान और उपमेय का समान धर्म न होने के कारण वाच्य-सिद्धि का अंग नहीं हो सकती।

अथवा जैसे—

निर्भिद्य क्ष्मारुहाणामतिघनमुदरं येषु गोत्रां गतेषु
द्राघिष्ठस्वर्णदण्डभ्रमभृतमनसो हन्त ! धित्सन्ति पादान्।
यैः संभिन्ने दलाग्रप्रचलहिमकणे दाडिमीबीजबुद्ध्या
चञ्चूचाञ्चल्यमञ्चन्ति च शुकशिशवस्तेंशवः पान्तु भानोः॥

सूर्य की किरणों की स्तुति है—वृक्षों के अत्यंत घने मध्य भाग को भेदन करके जिनके पृथ्वी पर पहुँचने पर, तोतों के बच्चे बड़े लंबे सुवर्ण के दंडों के भ्रम से मन के परिपूर्ण हो जाने के कारण— अर्थात् मन में इस भ्रम के दृढ़ हो जाने के कारण कि ये सोने के डंडे ही हैं—पैर रखने लगते हैं; और (वे ही) जिन किरणों से मिश्रित पत्तों की नोकों पर स्थित चंचल ओस की बूँदों

को अनार के दाने समझकर चोंचें चंचल करने लगते हैं—उन्हें खाने की इच्छा प्रकट करते हैं—वे सूर्य की किरणें (हमारी) रक्षा करें।

यहाँ 'भ्रांतिमान्' अलंकार से यह वस्तु अभिव्यक्त होती है कि "सूर्य भगवान् पशु-पक्षियों के भी इस तरह का आनंद उत्पन्न करनेवाले हैं; अतः (न केवल मनुष्यों के ही किंतु) सब जगत् के आनंदोत्पादक हैं।" ऐसी भ्रांति लोक में भी हो सकती है—केवल कवि-कल्पित नहीं है; अतः इस भ्रांति को स्वतःसंभवी कहा गया है।

स्वतःसंभवि-अलंकार-मूलक अलंकारध्वनि; जैसे—

उदितं मण्डलमिन्दो रुदितं सद्यो वियोगिवर्गेण।
मुदितं च सकलललनाचूडामणिशासनेन मदनेन॥

चंद्रोदय का वर्णन है—इधर चंद्र-मंडल का उदय हुआ कि उधर वियोगि-वर्ग तत्काल रो उठा और जिसकी आज्ञा समग्र सुंदरियों को शिरोधार्य है वह कामदेव प्रसन्न हो उठा।

यहाँ तीनों क्रियाओं (उदय, रोदन और प्रसन्नता) का एक साथ होना, जो 'समुच्चयालंकार' है, उसके द्वारा कारण (चंद्रोदय) के प्रथम होने और कार्य (वियोगियों के रोदन और कामदेव की प्रसन्नता) के पीछे होने का विपर्यय हो जाने—अर्थात् कार्य-कारण दोनों के एक साथ हो जाने के रूप में अतिशयोक्ति अलंकार अभिव्यक्त होता है।

इन सब उदाहरणों में व्यंजक स्वतःसंभवी है।

कवि-प्रौढ़ोक्ति-सिद्ध व्यंजक

कवि-प्रौढ़ोक्ति-सिद्ध-वस्तु-मूलक वस्तुध्वनि; जैसे—

तदवधि कुशली पुराणशास्त्रस्मृतिशतचारुविचारजो विवेकः।
यदवधि न पदं दधाति चित्ते हरिणकिशोरदृशो दृशोर्विलासः॥

कवि कहता है—सैकड़ों पुराणों, शास्त्रों और स्मृतियों के सुंदर विचारों से उत्पन्न विवेक तभी तक आनंद में रह सकता है, जब तक कि मृगशावक-नयनी के नयनों का विलास चित्त में पैर नहीं रखता।

इस पद्य में इस वस्तु का वर्णन है कि 'कामिनी के नयन-विलास के हृदय में पैर रखते ही विवेक का कुशल नहीं—उसका वहाँ टिकना कठिन है।' यहाँ जो 'नयन-विलास का पैर रखना' कहा गया है, वह लोक-सिद्ध नहीं है—संसार में आज-दिन तक नेत्र-विलास को पैर रखते कभी किसी ने नहीं देखा। वह कवि-प्रौढ़ोक्ति-सिद्ध—अर्थात् कवि-कल्पित—है। उस 'पैर रखने'-रूप वस्तु से यह वस्तु अभिव्यक्त होती है कि '(जब पैर रखते ही यह दशा है तो) पैर के अच्छी तरह जम जाने पर तो बेचारे विवेक के कुशल की चर्चा ही क्या है ?'

यहाँ इतना और समझ लीजिए—

कस्मै हन्त फलाय सज्जन ! गुणग्रामार्जने सज्जसि
स्वात्मोपस्करणाय चेन्मम वचः पथ्यं समाकर्णय ।
ये भावा हृदयं हरन्ति नितरां शोभाभरैः संभृता-
स्तैरेवास्य कलेः कलेवरपुषो दैनन्दिनं वर्त्तनम् ॥

कवि कहता है—हे सज्जन, (हम तुमसे पूछते हैं—) तुम किस फल की प्राप्ति के लिये गुण-गण के उपार्जन में प्रयत्न-शील हो रहे हो—हम देखते हैं कि तुम्हें सिवाय इस काम के और कुछ सूझता ही नहीं। तुम कहोगे—'अपने अंत:-करण को विभूषित करने के लिये—उसे उत्कृष्ट और सुशो-भित बनाने के लिये। यदि ऐसा ही हो तो मैं आपसे एक 'राह की बात' कहता हूँ, सुनिए। वह यह है कि; जो पदार्थ अत्यंत शोभा-समूह से परिपूर्ण होने के कारण हृदय को लुभा लेनेवाले होते हैं—जिन वस्तुओं को देखकर मनुष्य मुग्ध हो जाया करते हैं; उन्हीं से शरीर-पोषक—इस पेट भरे—कलियुग का प्रतिदिन का आहार होता है—उन्हें खा खाकर ही तो यह दुष्ट कलि जीता है।

इस पद्य में यद्यपि 'सुंदर पदार्थ कलियुग के प्रतिदिन के खाद्य हैं' इस कवि-प्रौढ़ोक्ति-सिद्ध वस्तु से यह वस्तु अभि-व्यक्त होती है कि 'यदि मरना चाहते हो तो गुण प्राप्त करने का यत्न करो'; तथापि यह व्यंग्य 'पर्यायोक्त' अलं-कार के रूप में आया है और अतएव वाच्य की अपेक्षा सुंदर न होने के कारण गुणीभूत—अप्रधान—ही है।

कारण, अलंकारों में वाच्य अर्थ की सुंदरता प्रधान होती है, अतः अलंकार अपने अंत में प्रतीत होनेवाले व्यंग्य को अपना पिछलगुआ बना देते हैं। सो जहाँ अलंकारों का चमत्कार हो वहाँ वस्तु से वस्तु की ध्वनि समझना भ्रम है।

कवि-प्रौढ़ोक्ति-सिद्ध-अलंकारमूलक वस्तुध्वनि; जैसे—

देवाः के पूर्वदेवाः समिति मम नरः सन्ति के वा पुरस्ता-
देवं जल्पन्ति तावत्प्रतिभटपृतनावर्त्तिनः क्षत्रवीराः।
यावन्नायाति राजन् ! नयनविषयतामन्तकत्रासिमूर्त्ते !
मुग्धारिप्राणदुग्धाशनमसृणरुचिस्त्वत्कृपाणो भुजङ्गः।

कवि कहता है—हे राजन् ! आपके शत्रु की सेना में रहनेवाले क्षत्रिय-वीर 'युद्ध में मेरे सामने देवता और दैत्य कौन होते हैं और बेचारे मनुष्य तो हैं ही क्या ?' यों तब तक कहा करते हैं, जब तक कि, हे काल को भी भयभीत कर देनेवाली आकृति वाले ! आपका, भोले शत्रुओं के प्राण-रूपी दुग्ध के पान करने में चिकनी चमकरूप अधिक इच्छा-वाला, खड्गरूपी भुजंग उनकी आँखों के सामने नहीं आता।

यहाँ कवि-प्रौढ़ोक्ति-सिद्ध रूपकालंकार से 'जब आप तल-वार उठा लें तब शत्रुओं के जीने की क्या आशा है ?' यह वस्तु अभिव्यक्त होती है।

कवि-प्रौढ़ोक्ति-सिद्ध-वस्तुमूलक अलंकारध्वनि; जैसे—

साहङ्कारसुरासुरावलिकराकृष्टभ्रमन्मन्दर-
क्षुभ्यत्क्षीरधिवल्गुवीचिवलयश्रीगर्वसर्वङ्कषाः ।
तृष्णाताम्यदमन्दतापसकुलैः सानन्दमालोकिता
भूमीभूषण ! भूषयन्ति भुवनाभोगं भवत्कीर्त्तयः ।

कवि कहता है—हे भूमिभूषण ! अहंकार-युक्त देवताओं और दैत्यों की पंक्ति के हाथों खींचे हुए अतएव घूमते हुए मंदराचल से क्षुब्ध किए जा रहे क्षीर-समुद्र के सुंदर लहरी-समूह की शोभा के गर्व को सर्वांश में नष्ट कर देनेवाली—अर्थात् उससे भी सुंदर; और तृषा से घबराए हुए अनेक तपस्वि-समूहों द्वारा (तृषा-निवृत्ति का साधन समझकर) हर्ष-सहित अवलोकन की हुई आपकी कीर्त्तियाँ सारे जगत् को सुशोभित कर रही हैं।

इस पद्य में 'कीर्त्ति के हर्ष-सहित अवलोकन करने'-रूपी कवि-कल्पित वस्तु से तपस्वियों में रहनेवाली 'दुग्ध[१] की भ्रांति' (जो कि अलंकार है) अभिव्यक्त होती है।

आप कहेंगे—जिस 'हर्ष-सहित अवलोकन करने' द्वारा आप 'भ्रांति' को व्यंग्य बता रहे हैं, वह 'हर्ष-सहित अव-

---

१—यद्यपि 'तृषित के हर्ष-सहित देखने' से दूध की नहीं, किंतु 'जल की भ्रांति' अभिव्यक्त होनी चाहिए; क्योंकि तृषा की निवृत्ति का साधन जल है, दूध नहीं; तथापि क्षीर-समुद्र में जल के स्थान पर दूध ही होने से दूध की भ्रांति मानी गई है। —अनुवादक।

लोकन करना' ही तो नेत्रजन्य भ्रांति है। सो 'हर्ष-सहित अवलोकन' और 'भ्रांति' दोनों के एक होने के कारण व्यंग्य और व्यंजक दोनों का पृथक् होना और 'भ्रांति' का व्यंग्य होना (क्योंकि अवलोकन पद्य में वर्णित है, अतः वाच्य है) दोनों बातें नहीं बन सकतीं। इसका उत्तर यह है कि—यद्यपि 'हर्ष-सहित अवलोकन' और 'नेत्रों का भ्रम' एक ही वस्तु है; तथापि वह भ्रम 'हर्ष-सहित अवलोकन' के रूप में व्यंजक है और 'कीर्त्ति को दूध समझने' के रूप में व्यंग्य है। अतः व्यंजक और व्यंग्य पृथक् हो सकते हैं और 'हर्ष-सहित अवलोकन' के रूप में भ्रांति के वाच्य होने पर भी 'कीर्त्ति को दूध समझने' के रूप में वाच्य न होने के कारण वह व्यंग्य भी हो सकती है। अर्थात् यद्यपि 'कीर्त्ति को (तृषा-निवृत्ति का साधन समझकर) सहर्ष देखना' और 'कीर्त्ति को दूध समझना' दोनों एक ही वस्तु है, अतः भ्रांति वाच्य हो जानी चाहिए। तथापि श्लोक में भ्रांति का 'दूध समझने' के रूप में वर्णन नहीं है, किंतु रूपांतर से है अतः 'दूध समझना'-रूपी भ्रम व्यंग्य हो सकता है—उसे वाच्य नहीं कहा जा सकता। अतएव तो काव्यप्रकाशकार कहते हैं कि—

"यदेवोच्यते तदेव व्यङ्ग्यम्, यथा तु व्यग्यं न तथोच्यते।

अर्थात् जिस बात को कह रहे हैं—जो वाच्य है—वही व्यंग्य है—वस्तुतः दोनों एक हैं, तथापि जिस रूप में

वह व्यंग्य है उस रूप में वाच्य नहीं है।" तात्पर्य यह कि कहने का तरीका बदल जाने पर वही बात दूसरी हो जाती है; अतः इस भ्रांति को व्यंग्य कहने में कोई बाधा नहीं।

कवि-प्रौढ़ोक्ति-सिद्ध-अलंकार-मूलक अलंकार-ध्वनि; जैसे—

दयिते रदनत्विषां मिषादयि ! तेऽमी विलसन्ति केसराः।
अपि चालकवेषधारिणो मकरन्दस्पृहयालवोऽलयः॥

नायक नायिका से कहता है—हे प्रिये ! तुम्हारी दंत-कांति के मिष से ये केसर सुशोभित हो रहे हैं और अलकों का वेष धारण किए हुए ये मकरंद के लोभी भौंरे हैं।

यहाँ पूर्वार्ध और उत्तरार्ध में जो दो अपह्नुतियाँ (अलंकार) हैं, उनसे 'तू स्त्री नहीं है, किंतु कमलिनी है' यह तीसरी अपह्नुति अभिव्यक्त होती है।

इन सब उदाहरणों में व्यंजक कवि-प्रौढ़ोक्ति-सिद्ध हैं—उन्हें कवि ने तैयार किया है, लोक-सिद्ध नहीं हैं।

उभय-शक्ति-मूलक ध्वनि

यद्यपि शब्द-शक्ति-मूलकता और अर्थ-शक्ति-मूलकता ये दोनों ही सब व्यंग्यों में साधारण रूप से रहती हैं; क्योंकि शब्द और अर्थ दोनों के अनुसंधान बिना किसी व्यंग्य का उल्लास नहीं होता—अर्थात् सभी व्यंग्यों में शब्द और अर्थ दोनों का अनुसंधान अत्यावश्यक है, किसी एकमात्र का

नहीं, तथापि जहाँ ऐसे शब्दों की अधिकता हो जिन्हें बदला न जा सके, वहाँ प्रधानता के प्रयोजक शब्द होते हैं—वहाँ उन्हीं की प्रधानता रहती है; और अर्थशक्ति यद्यपि रहती है तथापि उसके अप्रधान होने के कारण ऐसे व्यंग्य को शब्द-शक्ति-मूलक ही कहा जाता है। पर जहाँ ऐसे शब्द अधिक मात्रा में हों कि जिन्हें बदला जा सके, वहाँ अर्थशक्ति की ही प्रधानता रहती है; ऐसी जगह यद्यपि शब्द-शक्ति रहती है, तथापि वह प्रधान (अर्थशक्ति) की अनुकूलता के लिये होती है—वह उसी को मदद पहुँचाती है; अत: ऐसी जगह प्रधान के अनुसार उस व्यंग्य को अर्थ-शक्ति-मूलक ही कहा जाता है। जैसे कि किसी गाँव में यदि मल्ल (पहलवान) अधिक रहते हों तो उसे मल्लों का गाँव कहा जाता है; पर इसका अर्थ यह नहीं कि वहाँ अन्य कोई रहता ही नहीं। केवल मल्लों की प्रधानता होने के कारण उस गाँव को मल्लग्राम कहा जाता है। बस, वही बात यहाँ भी समझ लीजिए। तात्पर्य यह कि—न बदले जा सकनेवाले शब्द अधिक हों तो शब्द-शक्ति-मूलक व्यंग्य कहलाता है और बदले जा सकनेवाले अधिक हों तो अर्थ-शक्ति-मूलक व्यंग्य।

परंतु जिस काव्य में बदले जा सकनेवाले और न बदले जा सकनेवाले दोनों प्रकार के शब्दों में से किसी एक जाति के शब्दों की प्रचुरता न हो, किंतु दोनों जाति के शब्दों की

समानता ही हो, तो ऐसे व्यंग्य का मूल, शब्द और अर्थ दोनों की शक्तियाँ होती हैं, अतः ऐसे व्यंग्य को उभय-शक्ति-मूलक माना जाता है। ऐसे व्यंग्य को केवल शब्द-शक्ति-मूलक अथवा केवल अर्थ-शक्ति-मूलक नहीं कहा जा सकता; क्योंकि ऐसा कहने में कोई प्रमाण नहीं।

आप कहेंगे—जाने दीजिए, यदि दोनों में से किसी एक के नाम से इसे नहीं कहा जा सकता तो न सही; इसे शब्द-शक्ति-मूलक और अर्थ-शक्ति-मूलक व्यंग्यों का संकर (मिश्रण) कह दीजिए। सो भी उचित नहीं। कारण जहाँ दोनों शक्तियों से जुदे जुदे व्यंग्य अभिव्यक्त होते हों, वही संकर माना जाता है; यहाँ तो एक ही व्यंग्य है, अतः उनके संकर की अभिव्यक्ति नहीं कही जा सकती।

उदाहरण लीजिए—

रम्यहासा रसोल्लासा रसिकालिनिषेविता।
सर्वाङ्गशोभासंभारा पद्मिनी कस्य न प्रिया॥

जिसका 'हास' (हँसी; अन्यत्र—विकास) रमणीय है, जिसमें 'रस' (शृंगार; अन्यत्र—मकरंद) उमड़ रहा है, जो 'रसिकालि' (रसिकों की पंक्ति; अन्यत्र—रसिक भौंरों) से सेवन की गई है और जिसके सब अंग शोभा से भरे पड़े हैं, वह 'पद्मिनी' (नायिका; अन्यत्र—कमलिनी) किसे प्रिय नहीं—कौन उसे प्यार नहीं करता?

इस पद्य में हास, रस, अलि और पद्मिनी शब्द नहीं बदले जा सकते, शेष बदले जा सकते हैं। पर बदले जाने-वाले और न बदले जानेवाले दोनों प्रकार के शब्द व्यंजक हैं। अतः यह उभय-शक्ति-मूलक ध्वनि है।

उभय-शक्ति-मूलक ध्वनि केवल वाक्य में होती है। और वाक्य है पद-समूह का नाम; अतः यदि यह ध्वनि अनेकार्थक और एकार्थक दोनों प्रकार के पदों से बने हुए समास में रहे, तो भी कोई विरोध नहीं। पर यह ध्वनि केवल एक पद में नहीं होती; कारण, एक पद अनेकार्थक और एका-र्थक—दोनों प्रकार का—नहीं हो सकता।

मत-भेद

उभय-शक्ति-मूलक व्यंग्य के विषय में यह भी कहा जाता है कि—किसी भी व्यंग्य को अर्थ-शक्ति-मूलक कहने के लिये इस बात की अपेक्षा है कि वह अनेक अर्थों को प्रकाशित करनेवाली किसी प्रकार की भी शब्द-शक्ति द्वारा आविर्भूत न होना चाहिए—अर्थात् किसी व्यंग्य के आवि-र्भाव में यदि एक भी अनेकार्थक शब्द की उपस्थिति हो तो उस व्यंग्य को अर्थ-शक्ति-मूलक नहीं कहा जा सकता; क्योंकि अर्थ-शक्ति-मूलक व्यंग्य के लिये बहुत अवकाश है—एकार्थक शब्द ही तो संसार में अधिक हैं। पर शब्द-शक्ति-मूलक कहने के लिये तो किसी भी प्रकार की अर्थशक्ति

द्वारा आविर्भूत न होना अपेक्षित नहीं। कारण, ऐसे स्थल दुर्लभ हैं—केवल अनेकार्थक शब्दों से ही बने हुए पद्य अधिक मात्रा में नहीं होते। इस कारण इस (उभय-शक्ति-मूलक) ध्वनि को भी शब्द-शक्ति-मूलक ही कहा जा सकता* है।

उपसंहार

इस तरह अभिधा-मूलक, तीनों प्रकार के व्यंग्यों (शब्द-शक्ति-मूलक, अर्थ-शक्ति-मूलक और उभय-शक्ति-मूलक) का संक्षेप से निरूपण किया गया है और आगे भी यथासमय निरूपण किया जायगा।

लक्षणामूलक ध्वनियाँ

भेद

अच्छा, अब लक्षणामूलक ध्वनि का निरूपण सुनिए। लक्षणा, जिसका लक्षण आगे कहा जायगा, दो प्रकार की है—एक निरूढ़ा, दूसरी प्रयोजनवती। सो निरूढ़लक्षणा में

---

* इस मत के मानने में अरुचि यही है कि जब अलग अलग भेद हो सकते हैं तो उनको एक ही क्यों मान लिया जाय? यदि किसी भेद में थोड़े पद्य मिलते हैं तो उसे पृथक् न मानना युक्ति-संगत नहीं।

तो कोई व्यंग्य होता नहीं; क्योंकि लक्षणा में प्रयोजन ही व्यंग्य होता है और वह उसमें रहता नहीं। रही प्रयोजनवती; सो उसके छः भेद हैं। उनमें से गौणी सारोपा, गौणी साध्यवसाना, शुद्धा सारोपा और शुद्धा साध्यवसाना ये चार भेद तो अलंकार-रूप में परिणत हो जाते हैं। अर्थात् प्रथम भेद रूपक के रूप में, द्वितीय भेद अतिशयोक्ति के रूप में और तृतीय-चतुर्थ भेद हेतु-अलंकार के रूप में परिणत हो जाते हैं। अब केवल दो* भेद रह जाते हैं—जहत्स्वार्था और अजहत्स्वार्था; जो कि ध्वनि के आश्रय हैं—अर्थात् जिनके सहारे व्यंग्य का आविर्भाव होता है। उन्हीं दो भेदों के कारण लक्षणामूलक ध्वनि के दो भेद होते हैं—एक जहत्स्वार्था-मूलक और दूसरा अजहत्स्वार्था-मूलक उनमें से—

जहत्स्वार्था-मूलक ध्वनि; जैसे—

कृतं त्वयोन्नतं कृत्यमर्जितं चाऽमलं यशः।
यावज्जीवं सखे तुभ्यं दास्यामो विपुलाशिषः॥

हे मित्र! तैने बड़े ऊँचे दरजे का काम किया है और निर्मल यश कमाया है। हम लोग जब तक जीवित रहेंगे तब तक खूब आशीर्वाद देंगे।

---

* इन दो भेदों को 'काव्यप्रकाश' आदि में लक्षणलक्षणा और उपादानलक्षणा के नाम से भी लिखा है।

यह अपकार करनेवाले के प्रति किसी पुरुष की उक्ति है। इसका व्यंग्य यह है कि तेरे द्वारा अत्यंत खेद-जनक अपकार किए जाने पर भी जो मधुर भाषण कर रहा है—कठोर नहीं बोलना चाहता; ऐसे मेरे ऊपर पापाचरण करने-वाले तेरी पापिष्ठता कैसे कही जा सकती है—उसे वर्णन करने के लिये कोई शब्द नहीं। अर्थात् संसार में तुझसे नीच कदाचित् ही कोई हो।

अजहत्स्वार्था-मूलक ध्वनि; जैसे—

बधान द्रागेव द्रढिमरमणीयं परिकरं
किरीटे बालेन्दुं नियमय पुनः पन्नग-गणैः।
न कुर्यास्त्वं हेलामितरजनसाधारणधिया
जगन्नाथस्याऽयं सुरधुनि! समुद्धारसमयः॥

पंडितराज जगन्नाथ गंगा की स्तुति कर रहे हैं। कहते हैं—आप दृढ़ता के कारण सुंदर—अर्थात् अत्यंत दृढ़—परिकर शीघ्र बाँध लीजिए—कमर कस लीजिए; और किरीट पर जो बालचंद्रमा है उसे सर्प-समूहों से और भी स्थिर बना लीजिए—ऐसा न हो कि कहीं ढीला-ढाला रह जाय और छटक पड़े। आप दूसरे मनुष्यों के समान समझकर खेल न करिए; हे देवनदी*! यह जगन्नाथ के उद्धार का समय है।

---

* इस संबोधन से यह सूचित होता है कि—अब तक आपका देवताओं से ही संबंध रहा है, मेरे जैसे किसी परम पापी से नहीं।

यहाँ 'जगन्नाथ' इस पद के द्वारा 'जगन्नाथ' शब्द का वाच्य अर्थ ही 'अनेक पापों से युक्त होने' के रूप में लक्षित होता है—अर्थात् इस पद का वाच्य अर्थ है (केवल) 'जगन्नाथ (मनुष्य)' और लक्ष्य अर्थ है 'अनेक पापों से युक्त जगन्नाथ (मनुष्य)'। 'पापों का अन्य किसी पद से वर्णन न किया जा सकना—अर्थात् जगन्नाथ के ऐसे पाप हैं कि जिनके वर्णन करने के लिये शब्द नहीं मिलते' यह व्यंग्य है।

अजहत्स्वार्था के प्रसिद्ध उदाहरण '**कुंताः प्रविशन्ति**—भाले घुस रहे हैं' में और इस उदाहरण में यह भेद है कि—वहाँ वाच्य अर्थ (भाले आदि) में रहनेवाला धर्म तीक्ष्णता आदिक, लक्ष्य (भाला धारण करनेवालों) में, व्यंग्य रूप से प्रतीत होता है; पर यहाँ व्यंग्य (पापों की अनिर्वचनीयता) वाच्य अर्थ में रहनेवाला धर्म नहीं है।

पदध्वनि और वाक्यध्वनि की पहचान

सो इस तरह ये पूर्वोक्त सभी व्यंग्य यदि किसी एक वाच्य में एक ही पद के अंदर हों तो 'पदध्वनि' कहलाते हैं और अनेक पदों के अंदर हों तो 'वाक्यध्वनि'। पर इतना याद रखिए कि उभय-शक्ति-मूलक व्यंग्य 'पदध्वनि' रूप में नहीं आता; क्योंकि वह व्यंग्य केवल वाक्य में ही होता है।

अभिधा अथवा शक्ति

शब्द-शक्ति-मूलक व्यंग्य पहले निरूपण किए जा चुके हैं। 'शक्ति' और 'अभिधा' पर्यायवाची शब्द हैं—दोनों का अर्थ एक है। पर प्रश्न यह होता है कि—जिसे मूल मानकर आपने सबसे पहले ध्वनियों का यह प्रपंच निरूपण किया है, वह 'शक्ति' अथवा 'अभिधा' है क्या चीज ? सुनिए—

लक्षण

अर्थ का शब्द के साथ अथवा शब्द का अर्थ के साथ (किसी तरह कह दीजिए) जो एक प्रकार का संबंध रहता है, और जिसे 'शक्ति' नाम से पुकारा जाता है, वही 'अभिधा' है। अर्थात् शब्द और अर्थ के पारस्परिक संबंध को, जिसके कारण शब्द अर्थ का प्रतिपादन करता है, 'शक्ति' अथवा 'अभिधा' कहा जाता है।

अभिधा क्या है ?

वैयाकरण, मीमांसक आदि कहते हैं कि—"अभिधा एक स्वतंत्र पदार्थ है, उसका अन्य किसी पदार्थ में समावेश नहीं हो सकता।"

नैयायिक कहते हैं—"इस शब्द से यह अर्थ समझना चाहिए" इस रूप में जो ईश्वर की इच्छा है, उसी का नाम अभिधा है। अर्थात् अभिधा का इच्छा-नामक गुण में

समावेश हो जाता है।" पर नैयायिकों के मत में एक दोष आता है। ईश्वरेच्छा विषयता-संबंध से सर्वत्र रहती है—अर्थात् संसार का कोई पदार्थ ऐसा नहीं जो ईश्वरेच्छा का विषय न हो, और इच्छा है एक पदार्थ; अतः जो इच्छा घट के विषय में होगी, वही पट के विषय में भी होगी। सो पट (वस्त्र) आदि पदार्थ भी घट आदि पदों के वाच्य हो जायँगे। इस दोष के मिटाने के लिये उनके हिसाब से यह मानना चाहिए कि—"विशेष विशेष व्यक्तियों को उपाधि-रूप मानकर ही घट आदि पदों की 'अभिधा' होती है—अर्थात् घट पदार्थ से उपहित ईश्वर की इच्छा घट पद की शक्ति है और पट पदार्थ से उपहित पट पद की—इत्यादि।

पर, अन्य विद्वानों का कथन है कि—ऐसा मानने पर भी जिस तरह ईश्वर की इच्छा को अभिधा माना जाता है, उसी तरह ईश्वर के ज्ञान और यत्न को भी अभिधा कहा जा सकता है; क्योंकि जो जो पदार्थ ईश्वर की इच्छा के विषय हैं, वे ईश्वर के ज्ञान और यत्न के भी विषय हैं। फिर इसमें क्या प्रमाण है कि—इच्छा को अभिधा माना जाय किन्तु ज्ञान और यत्न को नहीं; अतः पहला मत—अर्थात् अभिधा को पृथक् पदार्थ मानना—ही श्रेष्ठ है।

अप्पयदीक्षित के मत का खंडन

अप्पयदीक्षित ने 'वृत्तिवार्त्तिक' में लिखा है—"**शक्त्या प्रतिपादकत्वमभिधा**—अर्थात् शक्ति के कारण (शब्द

में) जो प्रतिपादकता रहती है उसका नाम 'अभिधा' है।" सो कुछ नहीं है; क्योंकि इसका उपपादन नहीं हो सकता। देखिए—

इस विषय में सबसे पहले आप यह समझिए कि अभिधा चीज क्या है। यहाँ अभिधा उस वस्तु का नाम है, जो शब्द में रहनेवाला व्यापार * है और जिसका ज्ञान शब्द से उत्पन्न होनेवाले बोध का कारण-रूप है—अर्थात् शब्द के उस व्यापार का नाम 'अभिधा' है जिसका ज्ञान होने पर ही किसी शब्द द्वारा किसी पदार्थ का ज्ञान होता है। और वही यहाँ लक्षण बनाने के लिये प्रस्तुत है—अर्थात् उसी का हमें लक्षण बनाना है।

अब सोचिए कि—अप्पयदीक्षित के लक्षण के अनुसार 'प्रतिपादकता' अभिधा हुई? 'प्रतिपादकता' के दो अर्थ हो सकते हैं—एक प्रतिपादक (शब्द) में रहनेवाला विशेष धर्म (प्रतिपादकत्व = प्रतिपादक होना) और दूसरा 'प्रतिपादन करना' जो एक प्रकार की क्रिया है। यदि आप पहला पक्ष मानें तो प्रतिपादक का अर्थ होता है प्रतिपत्ति अर्थात् (शब्दार्थ-बोध) का कारण; और उसमें जो प्रतिपत्ति की कारणता रूपी विशेष धर्म रहता है, वह हुई प्रति-

---

* किसी वस्तु से उत्पन्न होनेवाली वह वस्तु 'व्यापार' कहलाती है, जो उस वस्तु से उत्पन्न होनेवाली वस्तु को उत्पन्न करे। विशेष विवरण के लिये 'पारिभाषिक शब्दों के अर्थ' (परिशिष्ट) में देखिए।

पादकता। अर्थात् इस पक्ष में 'प्रतिपादकता' शब्दार्थ-बोध का कारण नहीं होती, किंतु शब्द में रहनेवाला 'कारणता' रूपी धर्म होता है। सो ऐसी प्रतिपादकता का ज्ञान तो प्रतिपत्ति (शब्दार्थ-बोध) का कारण है नहीं, क्योंकि 'शब्द शब्दार्थ बोध कारण है' इतना मात्र समझ लेने से शब्दार्थ का ज्ञान नहीं हो सकता। फिर आप प्रतिपादकता को अभिधा कैसे कहते हैं ?

यदि आप दूसरा पक्ष—अर्थात् 'प्रतिपादकता' 'शब्द का शब्दार्थ-बोध के अनुकूल क्रिया'-रूप अर्थ—मानें, तो उसका शब्दार्थ-बोध में उपयोग स्वयं ज्ञात होने पर ही हो सकता है—अर्थात् उसका ज्ञान शब्दार्थ-ज्ञान का कारण होता है; अतः बात बन सकती है। पर ऐसा मानने पर भी, लक्षण में, आप "शक्ति के कारण" इन शब्दों द्वारा जिस एक प्रकार की शक्ति को शब्दार्थबोध का हेतु कहना चाहते हैं वही तो अभिधा हुई। अतः आपके लक्षण का अर्थ यह होता है कि 'अभिधा के कारण प्रतिपादन करने का नाम अभिधा है'। सो इस लक्षण में साफ-साफ दो दोष आ जाते हैं—एक असंगति, दूसरा आत्माश्रय। उनमें से आत्माश्रय तो दीख ही रहा है; क्योंकि जब पहले अभिधा-शब्द का अर्थ समझ में आवे तब तो आपका 'अभिधा' का लक्षण समझा जा सके। रही असंगति, सो वह भी स्पष्ट है। कारण, यहाँ 'शक्ति' शब्द का अर्थ अन्य कोई हो नहीं सकता; क्योंकि

सिवा उसके अन्य किसी शक्ति का ऐसा होना प्रमाण-सिद्ध नहीं कि जो शब्द से उत्पन्न होनेवाले ज्ञान का निमित्त हो। अतः यह लक्षण बराबर* नहीं है।

अभिधा के भेद

यह अभिधा तीन प्रकार की है—केवल समुदाय की शक्ति, केवल अवयवों की शक्ति और समुदाय तथा अवयवों की शक्ति का मिश्रण।

उनमें से पहली—अर्थात् केवल समुदाय की शक्ति—के उदाहरण 'डित्थ' आदि हैं; क्योंकि उनमें प्रकृति-प्रत्यय आदि अवयव ही नहीं होते, अतः अवयवों की शक्ति का अभाव होता है।

दूसरी—अर्थात् केवल अवयवों की शक्ति—के उदाहरण हैं 'पाचक', 'पाठक' आदि शब्द। क्योंकि उनमें धातु ('पच्' आदि) और प्रत्यय (ण्वुल् = अक आदि) की शक्ति द्वारा ज्ञात होनेवाले दो अर्थों (धातु के अर्थ 'पाक' और प्रत्यय के

---

* नागेश कहते हैं—'धान्येन धनवान्' की तरह यहाँ तृतीया का अर्थ अभेद मानने से काम चल सकता है, अतः यह खंडन कुछ नहीं। पर यह बात हमें नहीं जँचती। कारण, धान्य विशेष पदार्थ है और धन सामान्य। अतः सामान्य विशेष का अभिन्न होने पर भी पृथक् निरूपण बन सकता है; पर 'शक्ति' और 'अभिधा' दोनों पर्याय हैं, अतः उनका पृथक् निरूपण असंगत ही है।—अनुवादक।

'शक्तिस्वरूप शब्दनिष्ठ बोधहेतु व्यापार अभिधा है' नागेश का यह कथन ठीक ही है। घट नील घट है यह व्यवहार नवीनसम्मत है।

—संपादक।

अर्थ 'करनेवाला') के अन्वय से प्रकाशित होनेवाले—'पाक करनेवाला'—इस अर्थ के अतिरिक्त किसी अन्य अर्थ की प्रतीति नहीं होती; अत: यहाँ समुदाय की शक्ति का अभाव है। अर्थात् प्रकृति और प्रत्यय मिलकर जिस अर्थ को बोधित करते हैं उसके अतिरिक्त किसी अन्य अर्थ की इस वर्ण-समुदाय द्वारा प्रतीति नहीं होती।

तीसरी—अर्थात् समुदाय तथा अवयवों की शक्ति के मिश्रण—का उदाहरण है 'पंकज' आदि शब्द। 'पंकज' शब्द के तीन अवयव हैं—उपपद ('पंक'), धातु ('जन्') और प्रत्यय ('ड')। उनमें से उपपद का अर्थ 'कीचड़', धातु का अर्थ 'उत्पन्न होना' और प्रत्यय का अर्थ 'वाला' है। इन सबका आकांक्षादिवशात् जब अन्वय करते हैं तब 'कीचड़ से उत्पन्न होनेवाला' यह अर्थ प्रकाशित होता है। पर, 'पंकज' शब्द से केवल इतना ही अर्थ प्रकाशित नहीं होता (यदि ऐसा हो तो सभी कीचड़ से पैदा होनेवाली वस्तुएँ पंकज कहलाने लगें), किंतु 'कमलत्व' जाति से युक्त पदार्थ (अर्थात् कमल) का भी बोध होता है। अत: ऐसे शब्दों के विषय में यह कल्पना करनी पड़ती है कि इन शब्दों में ('कीचड़ से उत्पन्न होनेवाला' आदि अर्थों को समझाने-वाली) अवयवों की शक्ति के अतिरिक्त ('कमल' आदि अर्थों को समझानेवाली) समुदाय की शक्ति भी रहती है; अन्यथा या तो 'कीचड़ से उत्पन्न होनेवाला' अर्थ ही प्रतीत

होगा या 'कमल' ही। सो ऐसे शब्दों में पूर्वोक्त दोनों शक्तियों का मिश्रण सिद्ध है।

इन्हीं उपर्युक्त तीनों प्रकारों को क्रमशः **रूढ़ि**, **योग** और **योगरूढ़ि** नामों से पुकारा जाता है। अर्थात् **केवल समुदाय की शक्ति को 'रूढ़ि', केवल अवयवों की शक्ति को 'योग' और दोनों के मिश्रण को 'योग-रूढ़ि' कहा जाता है।**

अप्पयदीक्षित का खंडन

'वृत्तिवार्त्तिक' में अप्पयदीक्षित ने कहा है—''केवल अखंड (अर्थात् अवयव-विभाग-रहित समुदाय की) शक्ति से एक अर्थ की प्रतिपादकता का नाम 'रूढ़ि' है; केवल अवयव-शक्ति की अपेक्षा रखनेवाली—पद की प्रतिपादकता का नाम 'योग' है और दोनों प्रकार की (अवयवों की और समुदाय की) शक्ति की अपेक्षा रखनेवाली प्रतिपादकता का नाम 'योगरूढ़ि' है।'' सो नहीं बन सकता। क्योंकि अभिधा के लक्षण में बताए हुए दूषणों—अर्थात् असंभव, असंगति और आत्माश्रय—का यहाँ भी हटाना कठिन है।

अभिधा का चौथा भेद

अच्छा, अब आप यह विचार करिए कि—अश्वगंधा*, अश्वकर्ण, मंडप, निशांत और कुवलय आदि शब्दों में इन

* समुदाय-शक्ति के अनुसार **अश्वगंधा** का अर्थ एक प्रकार का औषध—असगंध—होता है और अवयव-शक्ति के अनुसार 'घोड़ों के

तीनों भेदों में से कौन सी शक्ति मानी जानी चाहिए; क्योंकि इन सभी शब्दों के दो दो अर्थ हैं, जिनमें से एक समुदाय-शक्ति (रूढ़ि) द्वारा और दूसरा अवयव-शक्ति (योग) द्वारा प्रतीत होता है।

इसका उत्तर कुछ लोग यह देते हैं कि—जहाँ 'अश्वगंधा-रसं पिबेत् (असगंध का रस पीवे)' इस तरह विशेष विषय (अर्थात् 'अश्वगंधा' शब्द का ओषधि के अर्थ में) प्रयोग हो, वहाँ केवल समुदाय-शक्ति (रूढ़ि) माननी चाहिए। और जहाँ 'अश्वगंधा वाजिशाला' (घोड़ों की बू वाली घुड़साल) इत्यादि (अर्थात् 'अश्वगंधा' शब्द का 'घोड़ों की बू वाली' अर्थ में) प्रयोग हो, वहाँ केवल अवयव-शक्ति (योग) माननी चाहिए।

आप कहेंगे—"अश्वगंधारसं पिबेत्" और "अश्वगंधा वाजिशाला" इन दोनों वाक्यों में 'अश्वगंधा' शब्द तो एक ही है—शब्द में तो कोई फेर है नहीं। जब उसी एक शब्द में, एक वाक्य में 'समुदाय-शक्ति' और दूसरे वाक्य में 'अव-यव-शक्ति'—यों, दोनों शक्तियाँ रहने लगेंगी तो, अभिधा के पूर्वोक्त प्रथम (रूढ़ि) और द्वितीय (योग) भेदों का प्रसंग

गंध वाली' होता है। इसी तरह **अश्वकर्ण** के क्रमशः एक औषध और घोड़े का कान; **मंडप** के मँड़वा और भात का माँड़ पीनेवाला; **निशांत** के घर और रात्रि का अंत (प्रभात); एवं **कुवलय** के रात्रि-विकासी कमल और भूमंडल अर्थ होते हैं।

ही कैसे प्राप्त हो सकता है—आप कह ही कैसे सकते हैं कि इस एक ही शब्द में एकत्र योग-शक्ति है और अन्यत्र रूढ़ि शक्ति; क्योंकि उनके लक्षणों में 'केवल' विशेषण लगाया गया है। पर देखते यह हैं कि 'अश्वगंधा' आदि शब्दों में न केवल समुदाय-शक्ति है, न केवल अवयव-शक्ति, किंतु जुदी जुदी जगह उसी शब्द में दोनों ही शक्तियाँ हैं। इसका उत्तर वे यह देते हैं कि—यद्यपि दोनों अर्थ ('औषध' और 'घोड़ों की बूवाली') एक शब्द (अश्वगंधा) से प्रतीत होते हैं, तथापि समुदाय-शक्ति से विदित होनेवाले (औषध) और अवयव-शक्ति से विदित होनेवाले ('घोड़ों की बूवाली') अर्थों का परस्पर अन्वय नहीं होता, जैसा कि 'पंकज' आदि योगरूढ़ शब्दों में होता है। अत: उन शक्तियों की केवलता में कोई बाधा नहीं आती। अर्थात् वे दोनों शक्तियाँ मिलकर कोई अर्थ नहीं समझातीं, किंतु पृथक् पृथक् स्थलों में पृथक् पृथक् अर्थ समझाती हैं—अत: वे अपने-अपने स्थल में केवल ही हैं। हम यहाँ 'केवलता' से यह कहना चाहते हैं कि—समुदाय-शक्ति और अवयव-शक्ति ऐसे भिन्न भिन्न दो अर्थों की बोधक होनी चाहिए कि जिन अर्थों में परस्पर अन्वय की योग्यता न हो। अर्थात् जैसे 'पंकज' शब्द के, योग-शक्ति और रूढ़ि-शक्ति दोनों द्वारा बोधित, अर्थों में परस्पर अन्वय की योग्यता है; क्योंकि 'कीचड़ में उत्पन्न होनेवाला' 'कमल' हो सकता है और 'कमल' 'कीचड़ में उत्पन्न होनेवाला'; वैसे न होकर ऐसे

दो अर्थों का बोध हो जो एक दूसरे के साथ अन्वित न हो सकें। सो बात यहाँ है ही।

आप कहेंगे—तब दोनों शक्तियों के मिश्रण-रूप—अभिधा के तृतीय भेद (योगरूढ़ि) से इसमें क्या भिन्नता रही ? तो इसका उत्तर यह है कि—मिश्रण तो उन्हीं दो शक्तियों का हो सकता है, जो ऐसे दो अर्थों की बोधक हों कि जिनमें परस्पर अन्वय की योग्यता हो। इसलिए 'अश्वगंधा' आदि शब्दों में उस (योगरूढ़ि) का प्रसंग नहीं है।

दूसरे लोगों का कहना है कि—'अश्वकर्ण (अश्वगंधा)' आदि शब्दों में अभिधा के प्रथम और द्वितीय भेदों का प्रसंग ही नहीं है; क्योंकि वहाँ एक ही शब्द में दोनों शक्तियाँ रहती हैं, अत: उनकी केवलता नहीं हो सकती। किंतु उन शक्तियों का मिश्रण-रूपी जो तृतीय भेद है उसके पुन: दो भेद हैं—एक योगरूढ़ि और दूसरी यौगिकरूढ़ि। उनमें से पहले भेद का उदाहरण है 'पंकज' आदि शब्द और दूसरे के हैं 'अश्वकर्ण (अश्वगंधा)' आदि शब्द।

तीसरे लोगों का यह भी कहना है कि—यह (यौगिक रूढ़ि) अभिधा का चौथा ही भेद है; इसका पूर्वोक्त तीनों भेदों से कुछ लेना-देना नहीं।

अभिधा के भेद हैं ही नहीं

इसके अतिरिक्त यह भी सिद्धांत है कि—सभी शब्द अखंड ही हैं, उनमें अवयव होते ही नहीं। इतने पर भी

जो उनमें, समासों में पदों का विभाग और कृदंत, तद्धितांत तथा तिङंतों में प्रकृति और प्रत्ययों का विभाग है वह काल्पनिक ही है; अतः योग-शक्ति है ही कहाँ ? क्योंकि विशिष्ट (जुड़े-जुड़ाए) पद की विशिष्ट (जुड़े-जुड़ाए) अर्थ में ही शक्ति स्वीकृत है और वह है रूढ़ि ।

एक शंका और उसका उत्तर

आप शंका करेंगे कि आपके हिसाब से—

"गीष्पतिरप्याङ्गिरसो गदितुं ते गुणगणान् सगर्वो न ।
इन्द्रः सहस्रनयनोऽप्यद्भुतरूपं परिच्छेत्तुम् ॥

राजा की स्तुति है—(हे राजन् !) 'गीष्पति' (वाणी के पति) भी आंगिरस (बृहस्पतिजी) आपके गुण-गणों के वर्णन करने का घमंड नहीं कर सकते; और न 'सहस्रनयन' (हजार नेत्रवाला) भी इंद्र आपके अद्भुत रूप का परिच्छेद करने के लिये—यह बताने के लिये कि इसमें इतनी ही अद्भुतता है—घमंड कर सकता है ।"

इत्यादिक में रूढ्यर्थ को लेकर पुनरुक्ति होने लगेगी । अभिप्राय यह कि 'गीष्पति' और 'सहस्रनयन' शब्द योगरूढ़ हैं, अतः उनका, योग और रूढ़ि दोनों शक्तियों के मिश्रण से 'वाणी का पति आंगिरस' और 'हजार नेत्रवाला इंद्र' यह अर्थ हो जाता है, ऐसी दशा में पुनः 'आंगिरस' और 'इंद्र' शब्दों का प्रयोग पुनरुक्तिदोष-ग्रस्त है ।

यदि हम कहें कि—इस तरह जिस स्थल पर दोनों प्रकार के पदों की समीपवर्त्तिता हो वहाँ योगरूढ़ पद ('गीष्पति' आदि) केवल अवयवार्थ (योग) के बोधक ही रह जाते हैं। क्योंकि ऐसी जगह केवल उतना ही भाग, प्रस्तुत विषय के उपयोगी विशेष प्रकार के अतिशय का लानेवाला होता है—अर्थात् वहाँ केवल यौगिक अर्थ ही वह विशेषता रखता है जो प्रस्तुत अर्थ में कुछ अधिकता कर सके, रूढ़िवाला अर्थ निष्प्रयोजन है; क्योंकि उसका वाचक पद वहाँ पृथक् लिखा हुआ है। तो आप कहेंगे कि यह कहना ठीक है। पर, एक तो, ऐसा होने पर भी योगरूढ़ पद की रूढ़ि-शक्ति का नियंत्रण तो हुआ नहीं—ऐसे स्थान पर योगरूढ़ पद रूढ्यर्थ को न कहे इसके लिये आपके पास कोई उपाय नहीं है; इस कारण 'योगरूढ़ शब्द केवल योगार्थ का ही प्रतिपादन करें, रूढ्यर्थ का नहीं' इस बात के सिद्ध न हो सकने के कारण पूर्वोक्त पुनरुक्ति दोष लगा ही रहा—उसे आप न मिटा सके। दूसरे, जब कि एक ही योगरूढ़ पद से योगार्थ और रूढ्यर्थ दोनों आवश्यक अर्थों की उपस्थिति हो सकती है, तब फिर दूसरे पद ('आंगिरस' आदि) की व्यर्थता होगी। अतः पूर्वोक्त शंका ज्यों की त्यों रह जाती है।

आपकी इस शंका का समाधान यह है कि—यद्यपि अन्वय में अंतरंग की आकांक्षा होती है—अर्थात् पहले अंतरंग अर्थ का अन्वय होता है और तब बहिरंग का। अतः

एक पद ('गाष्पति' आदि) से गृहीत होने के कारण पहले योगार्थ ('वाणी का पति' आदि) और रूढ्यर्थ ('आंगिरस' आदि) का अन्वय हो चुकने पर, क्योंकि वे अंतरंग हैं, बाद में प्रकट हुए संयुक्त अर्थ ('वाणी का पति आंगिरस' आदि) का ही अन्यपद ('आंगिरस' आदि) के अर्थ के साथ अन्वय होता है—अर्थात् अन्य किसी पद के अर्थ के साथ योगरूढ़ पद के सम्मिलित अर्थ का ही अन्वय होना उचित है, न कि पृथक् पृथक् स्थित केवल योगार्थ ('वाणी का पति' आदि) अथवा केवल रूढ्यर्थ ('आंगिरस' आदि) का। यह बात न्यायसिद्ध है। अत: यहाँ 'गीष्पति' शब्द के केवल 'वाणी के पति' अर्थ का 'आंगिरस' पद के अर्थ के साथ अन्वय नहीं हो सकता। तथापि ऐसा वहीं होता है जहाँ शक्ति (अभिधा) द्वारा अर्थ का प्रतिपादन हो, अन्य वृत्ति से प्रतिपादित अर्थ में नहीं। अत: ऐसी जगह यदि लक्षणा मानी जाय तो योगरूढ़ पद से केवल योगार्थ के प्रतिपादन में कुछ भी बाधक नहीं—अर्थात् लक्षणा द्वारा 'गीष्पति' आदि शब्दों के अर्थ केवल 'वाणी के पति' आदि मान लिए जायँ तो कोई बाधा नहीं। तात्पर्य यह कि ऐसे स्थलों में केवल योगार्थ के प्रतिपादन के लिये लक्षणा मानी जाती है।

रही द्वितीय पद ('आंगिरस' आदि) का प्रयोग निरर्थक होने की बात। सो भी है नहीं। कारण, यदि निरर्थक समझकर द्वितीय पद का प्रयोग छोड़ दिया जाय तो

रूढ्यर्थ का बोध करवा देने से योगरूढ़ शब्द गतार्थ हो जायगा। और तब उसके द्वारा प्रतिपादित किए जानेवाले योगार्थ ('वाणी का पति' आदि) में, जिस तरह 'पंकजाक्षी' शब्द में, 'पंकज' शब्द से वक्ता का तात्पर्य केवल रूढ़ अर्थ—कमल—में ही होता है; योगार्थ-संवलित रूढ़ अर्थ ('कीचड़ से उत्पन्न होनेवाला कमल') में नहीं होता, क्योंकि वहाँ वक्ता को 'पंकजाक्षी' शब्द का केवल 'कमल-नयना' अर्थ अभीष्ट है—'कीचड़ से उत्पन्न होने'-रूपी योगार्थ में उसका किंचित् भी तात्पर्य नहीं रहता; किंतु 'कीचड़ से उत्पन्न होनेवाला' यह योगार्थ अनिवार्य होने के कारण प्रतीत मात्र होता है, पर तात्पर्य का विषय न होने के कारण उसका वहाँ कोई उपयोग नहीं होता उसी तरह, अनिवार्य होने के कारण वक्ता के प्रधान तात्पर्य का विषय न होने की शंका से योगार्थ ('वाणी के पति' आदि) की कुर्वद्रूपता (कारगर होना) नष्ट हो जायगी—वह बेकार हो जायगा। और ऐसी दशा में प्रस्तुत विषय के उपयोगी विशेष प्रकार के अति-शय की अभिव्यक्ति, जिसके लिये आप केवल यौगिक अर्थ की प्रतीति मानते थे, पाक्षिक हो जायगी। अर्थात् बिना द्वितीय पद के प्रयोग के शब्द में वह करामात नहीं रह पाती कि लोगों को, यौगिक अर्थ भी नियमित रूप से वक्ता के तात्पर्य का विषय है—यह बात स्वीकार करनी ही पड़े।

यह तो हुई वहाँ की बात, जहाँ योगरूढ़ और रूढ़ दोनों प्रकार के पदों का एक साथ ग्रहण हो। पर जहाँ "**पुष्पधन्वा विजयते जगत् त्वत्करुणावशात्**—पुष्पधन्वा (कामदेव) तेरी दया के अधीन होकर जगत् का विजय करता है" इत्यादिक में एक ही ('पुष्पधन्वा') पद से रूढ्यर्थ ('कामदेव') की उपस्थिति और योगार्थ ('पुष्पों के धनुषवाला') द्वारा धनुष की निस्सारता का बोध हो जाता है, वहाँ यह समझना चाहिए कि—'कवि ने कामदेववाची अन्यान्य रूढ़ पदों को छोड़कर क्यों 'पुष्पधन्वा' पद का ही ग्रहण किया' इस बात का अनुसंधान करने से 'पुष्पधन्वा' आदि पदों के योगार्थ में कुर्वद्रूपता उत्पन्न हो जाती है।

सो इस तरह यह सिद्ध हुआ कि—ऐसे स्थलों पर योगरूढ़ पद के अतिरिक्त द्वितीय (रूढ़) पद के ग्रहण करने पर अथवा न ग्रहण करने पर—दोनों ही तरह—कोई हानि नहीं।

इसी तरह जब किसी योगरूढ़ शब्द के समीप में उसके रूढ्यर्थ की जाति से भिन्न जातिवाले अर्थ का वाचक पद वर्त्तमान हो तब भी योगरूढ़ पद, लक्षणा द्वारा, केवल यौगिक अर्थ का बोधक होता है। जैसे—"**दिशि दिशि जलजानि सन्ति कुमुदानि**—अर्थात् सभी दिशाओं में 'जलज' कुमुद विद्यमान हैं।" इत्यादि में यद्यपि 'जलज' आदि शब्द 'कमल' आदि अर्थों में रूढ़ हैं, तथापि जब 'कुमुद' आदि भिन्न-जातीय शब्दों के साथ अन्वित होकर आवें तब 'जलज'

आदि शब्द, लक्षणा द्वारा, केवल यौगिक अर्थ ('जल से उत्पन्न होनेवाले') के ही बोधक होते हैं।

आप कहेंगे—ऐसे स्थलों में लक्षणा क्यों की जाती है ? योगरूढ़ पदों में योग-शक्ति भी तो रहती है उसी से केवल यौगिक अर्थ का बोध हो जायगा। पर यह ठीक नहीं। कारण, योगरूढ़ पदों में योग-शक्ति द्वारा जो यौगिक अर्थ अभिव्यक्त होता है वह रूढ्यर्थ से मिश्रित ही अभिव्यक्त होता है, अतः उसका स्वतंत्रतया कुमुदादिक में अन्वय नहीं हो सकता।

इस तरह अभिधा का निरूपण किया गया है।

वाचक और वाच्य

अभिधा द्वारा जो शब्द जिस अर्थ को बोधित करता है वह शब्द उस अर्थ का **वाचक** होता है और जिस शब्द की यह शक्ति जिस अर्थ में होती है वह अर्थ उस शब्द का **अभिधेय** अथवा **वाच्य** होता है।

वाच्य अर्थ

वाच्य अर्थ चार प्रकार के हैं—जाति, गुण, क्रिया और यादृच्छिक। उनमें से—

जाति

'गोत्व'* (सब गौओं = गाय-बैलों में रहनेवाला सामान्य धर्म, जिसके कारण उन्हें 'गौ' कहा जाता है) आदि धर्म

---

* इसी तरह 'मनुष्यत्व' आदि अन्य सब जातियाँ समझो।

जाति कहलाता है। वह जाति अंगों की विशेष प्रकार की रचना द्वारा अभिव्यक्त होती है (क्योंकि जैसी बैल के अंगों की रचना होती है, वैसी अन्य जंतुओं की नहीं होती; सभी प्राणियों की अंग-रचना भिन्न भिन्न प्रकार की होती है) और प्रत्यक्ष-सिद्ध है। वही जाति 'गौ' आदि पदों का वाच्य-अर्थ है।

कहीं कहीं जाति अनुमान-सिद्ध भी होती है; जैसे घ्राण (नासिका-इंद्रियवाची) रसन (जिह्वा-इंद्रियवाची) पदों का वाच्य-अर्थ 'घ्राणत्व' 'रसनत्व' आदि। इन जातियों को अनुमान-सिद्ध मानने का कारण है इंद्रियों* का इंद्रियों द्वारा प्रत्यक्ष न होना।

आप कहेंगे—'गोत्व आदि जातियाँ गो आदि पदों का वाच्य-अर्थ हैं' यह टेढ़ा रास्ता क्यों लिया जाता है? सीधा योंही क्यों नहीं मान लिया जाता कि वे वे व्यक्ति ही उन उन पदों के वाच्य-अर्थ हैं; क्योंकि लाते-ले जाते व्यक्तियों को ही देखा जाता है, जाति को नहीं। पर यह आपकी कल्पना ठीक नहीं। कारण, ऐसा मानने में दो दोष हैं—एक आनन्त्य, दूसरा व्यभिचार। यदि सब व्यक्तियों में अलग अलग संकेत मानें तो अनंत व्यक्तियों में अनंत संकेत

---

* इंद्रियों के विषय में इतना और समझ लीजिए कि—प्रत्यक्ष दिखाई देनेवाले खड्डे वगैरह का नाम इंद्रिय नहीं है, किंतु इनके अंदर काम करनेवाली वस्तु इंद्रिय है, जो अप्रत्यक्ष है। यह न्यायादिसम्मत सिद्धांत है।

मानने पड़ेंगे; क्योंकि गाय-बैल आदि प्रत्येक प्राणी अनंत संख्या में दिखाई देते हैं। और यदि एक व्यक्ति में संकेत मानें और अन्य में नहीं तो व्यभिचार (अन्यगामिता) होगा। अर्थात् 'गौ' पद का एक गौ में संकेत होने पर भी यदि उस पद से अन्य गौओं का बोध हो जाय तो क्या कारण है कि उससे घड़े आदि अन्य पदार्थों का बोध न हो। इस विषय में आप क्या प्रमाण रखते हैं कि 'गौ' पद से इसी वस्तु का बोध हो और अन्य का नहीं।

आप कहेंगे—नैयायिक लोग ऐसे स्थलों पर बोध होने के लिये 'सामान्य प्रत्यासत्ति' नामक एक अलौकिक सन्निकर्ष मानते हैं। उनका कहना है कि—हमें एक व्यक्ति का बोध होने पर उसी जाति की दूसरे व्यक्ति का बिना किसी के समझाए-बुझाए भी जो बोध हो जाता है। इसका कारण यह है कि—हमारा जाना हुआ गोत्व आदि धर्म अथवा गोत्व आदि का ज्ञान, जिसे सामान्य-प्रत्यासत्ति कहते हैं वही वहाँ सन्निकर्ष (इंद्रिय का और वस्तु का वह संबंध जिससे प्रत्यक्ष ज्ञान होता है) का काम देता है। सो इस 'सामान्य-प्रत्यासत्ति' रूपी अलौकिक सन्निकर्ष द्वारा उस जाति के यावन्मात्र व्यक्तियों का बोध हो सकता है; अतः व्यक्ति में संकेत मानने में भी कोई दोष नहीं। अर्थात् आपका बताया दूसरा दोष—व्यभिचार—यहाँ लागू नहीं पड़ सकता। क्योंकि सामान्य प्रत्यासत्ति एक जातिवालों

का ही बोध करवाती है, अन्य जातिवालों का नहीं; अतः 'गो' पद से घड़े आदि का बोध नहीं हो सकता। सो ठीक नहीं। कारण, सामान्य प्रत्यासत्ति को हम नहीं मानते। और यदि थोड़ी देर के लिये उसे मान भी लिया जाय तो उससे केवल अंतिम दोष (व्यभिचार) का उद्धार हो सकता है, गौरवरूपी प्रथम दोष तो फिर भी ज्यों का त्यों रह जाता है। अर्थात् सामान्य प्रत्यासत्ति द्वारा आपको 'गो' पद से घट आदि का बोध न होने पर भी संकेत तो आपको अनंत व्यक्तियों में अनंत ही मानने पड़ेंगे।

इसी गौरवदोष के कारण, यदि आप व्यभिचार दोष का इस तरह निराकरण करें कि—सामान्य लक्षणा प्रत्यासत्ति न मानने पर भी शक्ति का ज्ञान, पदार्थ की उपस्थिति और शाब्दबोध इनका कार्य-कारण-रूप होना तभी बन सकता है, जब उनमें प्रकार (विशेषण रूप से प्रतीत होनेवाला धर्म) एक हो; क्योंकि भिन्न भिन्न प्रकारवालों का कार्य-कारण होना असंभव है। वह प्रकार-रूपी धर्म होगा 'गोत्व' आदि; अतः उसके द्वारा जिनमें शक्तिज्ञान न हो पाया है वे व्यक्ति भी अन्वय-ज्ञान में आ सकेंगे; तब भी निस्तार नहीं। अर्थात् ऐसी स्थिति में भी संकेत तो अनंत व्यक्तियों में जुदे जुदे ही मानने पड़ेंगे।

अतः शब्द की जाति में ही शक्ति माननी चाहिए, व्यक्तियों में नहीं। रहा व्यक्तियों का बोध, सो वह या तो

आक्षेप (अर्थापत्ति प्रमाण) से हो जायगा; क्योंकि जाति बिना व्यक्तियों के रहती नहीं और जो अर्थापत्ति-प्रमाण को शाब्दबोध का कारण नहीं मानते उनके हिसाब से लक्षणा द्वारा हो जायगा। रही यह बात कि अर्थापत्ति और लक्षणा में से यहाँ क्या मानना चाहिए, सो यह झगड़ा दूसरा है—इसे हम यहाँ अधिक उठाना नहीं चाहते।

जाति का माहात्म्य

यह जातिरूपी शब्दार्थ 'प्राणद' कहलाता है, क्योंकि यह (शब्द को) 'प्राण'—अर्थात् व्यवहार की योग्यता—का दान करनेवाला है—संसार का व्यवहार इसी के द्वारा चलता है। यदि यह पदार्थ न हो तो सब व्यवहार रुक जायँ।

काव्यप्रकाशकार (वाक्यपदीय का वाक्य उद्धृत करके) यही बात कह रहे हैं कि "गौः स्वरूपेण न गौर्नाप्यगौः, गोत्वाभिसंबंधात्तु गौः।" इसका अर्थ यह है कि—'**गौ**' अर्थात् गले में चमड़ी लटकनेवाला प्राणी, '**स्वरूपेण**' अर्थात् जिसकी 'गोत्व'-जाति नहीं जानी जा सकी है ऐसे धर्मी के स्वरूप मात्र से; तात्पर्य यह कि यदि पूर्वोक्त प्राणी के विषय में इतना मात्र जान लिया जाय कि वह कोई वस्तु है तो इतने से, वह '**न गौः**' अर्थात् 'गौ' नामक पूर्वोक्त प्राणी के व्यवहार का निर्वाहक नहीं हो सकता, और '**नाप्यगौः**'

अर्थात् न इसी व्यवहार का निर्वाहक हो सकता है कि वह 'गौ' नामक प्राणी से भिन्न पदार्थ है। सारांश यह कि जब तक जाति का परिचय न हो तब तक किसी भी व्यक्ति अथवा वस्तु को हम व्यवहार में नहीं ला सकते—उसके विषय में कुछ भी नहीं कह सकते कि वह कौन है। कारण, यदि बिना 'गोत्व'-रूपी जाति के ग्रहण किए भी 'गौ'-रूपी पदार्थ का ज्ञान होता हो तो जब दूर से देखने पर उस प्राणी के अंगों की रचना अभिव्यक्त न हो और इस कारण 'गोत्व' जाति का ज्ञान न हो, उस दशा में भी 'गौ' पदार्थ में गौ है अथवा गौ से भिन्न पदार्थ है यह व्यवहार होने लगे। इसका अभिप्राय यह है कि—यदि अंगों की रचना से अभिव्यक्त होनेवाली जाति को—अमुक पदार्थ अमुक शब्द का वाच्य है—इस व्यवहार की योग्यता का संपादक न मानो और स्वरूप मात्र से ही व्यवहार मानने लगो तो किसी न किसी प्रकार का स्वरूप तो सब पदार्थों में रहता है; उसमें किसी प्रकार की विशेषता न होने से—अर्थात् अमुक स्वरूप अमुक जाति का सूचक है यह न होने से—घड़े में 'गौ' पद का व्यवहार और 'गौ' में 'गौ से भिन्न पदार्थ होने' का व्यवहार होने लगेगा। अर्थात् लोग 'घड़े' का नाम 'गौ' और 'गौ' का नाम और कुछ कर लेंगे और तब एक मनुष्य दूसरे मनुष्य की बात बिलकुल न समझ सकेगा। इस कारण भिन्न भिन्न अंगोंवाले पदार्थों में भिन्न

भिन्न प्रकार की जातियाँ माननी पड़ती हैं, जिनसे संसार का व्यवहार चलता है, अन्यथा अव्यवस्थ हो जाय। सो ही लिखा है कि—'**गोत्वाभिसंबंधात्**' अर्थात् 'गोत्व' जाति से युक्त होने का ज्ञान होने से (वह पदार्थ) '**गौः**' अर्थात् गो-शब्द से व्यवहार करने के योग्य है। अर्थात् 'गोत्व' जाति से युक्त होने का ज्ञान ही इस व्यवहार को चलाता है कि गले में चमड़ा लटकनेवाला प्राणी ही 'गो' शब्द से पुकारा जा सकता है, अन्य कोई नहीं। अतः जाति को 'प्रायाद' मानना सयुक्तिक है।

गुण और क्रिया

गुण—शुक्ल (श्वेतता) आदि गुण कहलाता है, जो कि 'शुक्ल' आदि शब्दों का वाच्य है।

क्रिया—'चलने' आदि को क्रिया कहते हैं, जो 'चल' आदि शब्दों का वाच्य है।

आप कहेंगे—'शुक्ल' आदि गुणों का और 'चलना' आदि क्रियाओं का प्रत्येक व्यक्ति में भेद दिखाई देता है। अर्थात् जो सफेदी बगुले में है वह कपड़े में नहीं हो सकती और जो 'चलना' बैल में है वह मनुष्य में नहीं हो सकता। अतः (जाति में न मानकर) व्यक्ति में शक्ति मानने में जो आनन्त्य और व्यभिचार दोष थे, उन दोषों के कारण वही अव्यवस्था यहाँ भी होगी। इसका उत्तर यह है कि—एक

तो अनेक व्यक्तियों में अनेक गुण और अनेक क्रियाएँ मानने की अपेक्षा एक गुण और एक क्रिया मानने में लाघव है। दूसरे, यह भी कारण है कि—बगुले और कपड़े—दोनों की सफेदी को, तथा बैल और मनुष्य की चाल को, देखकर देखनेवाला दोनों गुण अथवा दोनों क्रियाओं को 'सफेदी' और 'चाल' के रूप में ही पहचानता है, किसी भिन्न रूप में नहीं। अतः उन्हें एक ही स्वीकार किया जाता है।

यही बात काव्य-प्रकाशकार कहते हैं—"**गुणक्रिया-यदृच्छानां वस्तुत एकरूपाणामप्याश्रयभेदाद् भेद इव लक्ष्यते**—अर्थात् गुण, क्रिया और यदृच्छा वस्तुतः एक-रूप हैं, तथापि उनमें आश्रय (जिसमें वे रहते हैं उस) के भेद से भेद सा दिखाई देता है।" इसका अभिप्राय यह है कि—गुणों और क्रियाओं में जो भेद समझ पड़ता है वह भ्रम ही है; वस्तुतः वे एकरूप ही होते हैं। यह भेद-ज्ञान उपलक्षण है—अर्थात् इसी तरह एकता की बाधक अन्यान्य बातों को भी भ्रम ही समझो। जिससे यह सिद्ध हुआ कि गुणों और क्रियाओं में उत्पत्ति और विनाश की प्रतीति भी भ्रम ही है। आप कहेंगे—यह तो आपने बिलकुल नई बात बताई। पर ऐसा नहीं है। जो लोग (वैया-करणादिक) वर्णों को नित्य मानते हैं वे गकारादिक की उत्पत्ति और विनाश को भ्रमरूप स्वीकार करते हैं। वही बात यहाँ है।

याहच्छिक

वक्ता द्वारा अपने इच्छानुसार 'डित्थ' आदि शब्दों के प्रवृत्ति-निमित्त रूप में मान लिया गया धर्म 'याहच्छिक' कहलाता है। अर्थात् जो नाम स्वेच्छा-कल्पित हैं, उनमें वक्ता जिसे उस शब्द की प्रवृत्ति का निमित्त मानता है वह धर्म 'याहच्छिक' पद से व्यवहृत होता है।

आप कहेंगे—यह तो ठीक। पर वह धर्म है क्या चीज, सो तो कहिए। तो सुनिए—

उस धर्म को कुछ लोग 'स्फोट' नाम से पुकारते हैं, जो एक अखंड वस्तु है और परम्परा से व्यक्ति में रहता है तथा नाम के अंतिम वर्ण से अभिव्यक्त होता है।

दूसरे विद्वान् कहते हैं—'स्फोट' नामक पृथक् वस्तु मानने की कोई आवश्यकता नहीं; क्रम से एक-दूसरे के पीछे लगे हुए वर्णों का समुदाय ही वह धर्म है।

जो लोग वर्णों को उत्पत्ति-विनाश-शील मानते हैं, उनके हिसाब से, एक वर्ण दूसरे वर्ण की उत्पत्ति के समय तक रह नहीं सकता; अतः वर्णों का समुदाय होता ही नहीं। वे लोग कहते हैं कि—केवल व्यक्ति ही यहच्छा शब्द का अर्थ है। अर्थात् ऐसे स्थानों में व्यक्ति ही शब्द का वाच्य होती है, व्यक्ति से अतिरिक्त धर्म-वर्म कुछ नहीं है।

इन तीन मतों में से पहले के दो मतों में तो प्रथमतः विशेषण (स्फोटादिक) का ज्ञान होने से विशिष्ट (व्यक्ति)

का बोध होता है; अतः यादृच्छिक से ज्ञान सविकल्पक होता है। और तीसरे मत में निर्विकल्पक ज्ञान होता है, क्योंकि वहाँ सिवाय व्यक्ति के अन्य कोई विशेषण-रूप धर्म नहीं।

यह है शब्दों की चार प्रकार की प्रवृत्ति माननेवालों के सिद्धांत की व्यवस्था।

सब शब्द जातिवाची हैं

इस सिद्धांत के अतिरिक्त एक यह भी सिद्धांत है कि—सब शब्दों का वाच्य अर्थ जाति ही है। उनका कहना है कि—जिस तरह आप अन्यान्य शब्दों में जाति को शब्द का वाच्य मानते हैं उसी तरह गुण-शब्द, क्रिया-शब्द और यदृच्छा-शब्दों में भी वही वाच्य है। गुण-शब्दों और क्रिया-शब्दों में भिन्न भिन्न व्यक्तियों में रहनेवाले गुणों और क्रियाओं में रहनेवाली जाति उन उन शब्दों का वाच्य होती है। और यादृच्छिक शब्दों में बालक, वृद्ध और तोते आदि द्वारा उच्चारित उन उन भिन्न भिन्न शब्दों में रहनेवाली जाति, अथवा भिन्न भिन्न समय में प्रतिपादित होनेवाला अर्थ भिन्न हो जाया करता है सो उन अर्थों में रहनेवाली, जाति वाच्य है। अतः चार प्रवृत्ति-निमित्त मानने की आवश्यकता नहीं। सब शब्दों का प्रवृत्ति-निमित्त एक जाति ही है और वही सब शब्दों का वाच्य है। यह है जाति-शक्ति-वादियों का मत।

लक्षणा

लक्षण

यह तो हुई अभिधा। अब आप कहेंगे—यह लक्षणा क्या चीज है? जिसे मूल मानकर आपने अंतिम (अभिधा-मूलकों की बादवाली) ध्वनि का निरूपण किया है। अच्छा, यह भी कहे देते हैं। सुनिए—

शब्द से अभिधा द्वारा प्रतिपादित अर्थ का (अन्य किसी पदार्थ के साथ) संबंध 'लक्षणा' कहा जाता है।

लक्षणा के कारण

यह तो एक मानी हुई बात है कि—जब, वक्ता का तात्पर्य जिस तरह के अन्वय में हो वह अन्वय, मुख्य (वाच्य) अर्थ द्वारा न बन सके, तब लक्षणा होती है, जिससे यह सिद्ध होता है कि—जो अन्वय वक्ता के तात्पर्य का विषय हो उसका मुख्यार्थ में अभाव होना—अर्थात् जिस तरह का अन्वय वक्ता को अभीष्ट हो उसका न हो सकना—लक्षणा का कारण है। सारांश यह कि—जब तक मुख्य अर्थ द्वारा वक्ता के अभीष्ट अन्वय में कोई बाधा नहीं होती, तब तक लक्षणा नहीं होती; किंतु जब ऐसा अन्वय न हो सकता हो तब लक्षणा होती है। अतः वक्ता के अभीष्ट अन्वय का अभाव लक्षणा का कारण है, इसमें तो कोई संदेह नहीं।

पर अब आप इस अभाव के विषय में जरा सूक्ष्म विचार करिए। लक्षणा जो अर्थ की उपस्थिति करवाती है उसका, मुख्यार्थतावच्छेदक—अर्थात् मुख्य अर्थ के सर्वांश में रहनेवाले और अन्य किसी में न रहनेवाले धर्म (जैसे गंगा में गंगात्व)—में, वक्ता का तात्पर्य जिस तरह अन्वित होने में है उस तरह अन्वित होने का, सर्वथा अभाव कारण नहीं है। अर्थात् यह नियम नहीं है कि—मुख्यार्थतावच्छेदक वक्ता के अभीष्ट अर्थ में किसी भी तरह अन्वित न हो सके तभी लक्षणा किसी मुख्य अर्थ से भिन्न अर्थ को उपस्थित करे। कारण, शक्यतावच्छेदक (मुख्यार्थतावच्छेदक गंगात्व आदि) के रूप से लक्ष्य अर्थ ('तट' आदि) की प्रतीति स्वीकार की जाती है—अर्थात् लाक्षणिक अर्थों की प्रतीति मुख्यार्थतावच्छेदक के रूप से ही होती है।

(इस बात को दृष्टांत द्वारा स्पष्ट कर लीजिए कि मुख्यार्थतावच्छेदक के रूप में लाक्षणिक अर्थ की प्रतीति क्यों मानी जाती है। कल्पना करिए कि कोई किसी से कह रहा है—"साहब, आपके गाँव का क्या कहना है, वह तो गंगाजी में है।" ऐसी दशा में 'गंगाजी' का मुख्य अर्थ है 'प्रवाह', उसमें तो गाँव का बसना असंभव है। अतः वक्ता का तात्पर्य यह तो हो नहीं सकता कि 'आपका गाँव बीच पानी में है।' तब, गंगा और गाँव का अन्वय न होता देखकर, आप, गंगा और गंगा के तट में परस्पर जो समीपता-रूपी

संबंध है (जो लक्षणा के नाम से पुकारा जाता है) उसके द्वारा, यह समझ लेंगे कि 'गाँव गंगा में नहीं, गंगा-तट पर है।' कारण, ऐसी दशा में गंगा शब्द के असली अर्थ पानी के प्रवाह को ही गंगा-शब्द का अर्थ माना जाय तो योग्यता के अभाव से गाँव और पानी के प्रवाह का अन्वय नहीं हो सकता; क्योंकि प्रवाह में वह योग्यता नहीं कि उसमें गाँव बस सके। अब आप यह भी सोचिए कि—जो मनुष्य गाँव को गंगा-तट पर न बताकर गंगाजी में बता रहा है वह पागल तो है नहीं; अत: उसका उस तरह बोलने में कोई प्रयोजन अवश्य होना चाहिए; वह प्रयोजन है—गाँव का शीतल और पवित्र होना। अर्थात् वह इस तरह कहकर यह सिद्ध करना चाहता है कि—आपका गाँव अत्यंत शीतल और पवित्र है। सो यह प्रयोजन की प्रतीति तभी हो सकती है, जब कि 'गंगात्व (शक्यतावच्छेदक)' के रूप से तट (लक्ष्य अर्थ) की प्रतीति स्वीकार की जाय—अर्थात् तट को गंगा-रूप समझा जाय। यदि लक्ष्य अर्थ—तट—में शक्य-तावच्छेदक—गंगात्व—की प्रतीति न हो तो तट में शीतलता और पवित्रता सिद्ध नहीं होती। अत: मानना पड़ता है कि कि लाक्षणिक अर्थों की प्रतीति शक्यतावच्छेदक के रूप में होती है।)

इससे यह सिद्ध हुआ कि—मुख्यार्थतावच्छेदक के अन्वय का सर्वांश में अभाव लक्षणा का कारण नहीं है; किंतु वक्ता

के अभीष्ट अन्वय में मुख्यार्थ का मुख्यार्थतावच्छेदक (गंगात्व आदि) के रूप से प्रतियोगी न होना—अर्थात् शब्द (गंगा आदि) के मुख्यार्थ (प्रवाह आदि) का असली रूप से (अर्थात् असली अर्थ में कुछ भी न्यूनाधिकता न करनी पड़े ऐसे रूप से) वक्ता के अभीष्ट अन्वय में न आ सकना लक्षणा का कारण है। सारांश यह कि या तो असली अर्थ का ही अन्वय न हो सकना या उसमें कुछ कमी-बेशी की आवश्यकता होना, लक्षणा द्वारा अर्थ उपस्थित करवाने का प्रथम कारण है। और दूसरा कारण है रूढ़ि अथवा प्रयोजन दोनों में से एक।

इस सबका सारांश यह है कि—**शब्द के मुख्य अर्थ का, वक्ता के अभीष्ट अन्वय में, या तो आ ही न सकना या उसमें किसी प्रकार की न्यूनाधिकता की आवश्यकता होना, और ऐसे शब्द के प्रयोग के लिये रूढ़ि अथवा प्रयोजन इन दोनों में से किसी एक का होना, ये दो बातें हों तभी शब्द लक्षणा द्वारा अर्थज्ञान करवा सकता है, अन्यथा नहीं।** अतः ये दोनों बातें लक्षणा द्वारा अर्थ की उपस्थिति का कारण हैं।

आप कहेंगे—लक्षणा के प्रथम कारण के विषय में इतनी बारीकी क्यों की जा रही है, सीधा क्यों नहीं कह दिया जाता कि मुख्य अर्थ का अन्वय न बन सकना ही लक्षणा

द्वारा अर्थज्ञान करवाने का कारण है। बात को व्यर्थ ही क्यों चक्कर में डाला जा रहा है ? तो इसका उत्तर यह है कि—केवल यों मान लेने से "कौओं से दही की रक्षा करिए" इस वाक्य में लक्षणा नहीं उठ सकेगी। कारण, यहाँ 'कौओं' शब्द का लक्ष्य अर्थ होता है "कौए और उनके अतिरिक्त अन्य दही खा जानेवाले"; सो आपके हिसाब से नहीं हो सकता; क्योंकि 'कौआ' शब्द के मुख्य अर्थ के अन्वय होने में यहाँ कोई बाधा नहीं; कारण, कौओं से भी दही की रक्षा अपेक्षित है। पर हमारे हिसाब से यहाँ लक्षणा हो सकती है; क्योंकि वक्ता के अभीष्ट अन्वय में 'कौआ' शब्द के मुख्य अर्थ (एक प्रकार के पक्षी) के अतिरिक्त अन्य दही खा जानेवालों को भी उस शब्द के अर्थ में सम्मिलित करना आवश्यक है। वक्ता कुछ पागल तो है नहीं कि कौओं से दही बचाने के लिये कहे और बिलैया वगैरह को खिला देने के लिये। अतः 'मुख्य अर्थ का अन्वय न बन सकना' इतना हेतु पर्याप्त नहीं, इसलिए ऐसा मानना पड़ता है।

लक्षणा के कुछ उदाहरण

आप जान चुके हैं कि मुख्य अर्थ के किसी दूसरे (लक्ष्य) अर्थ के साथ संबंध का नाम लक्षणा है। संबंध अनेक प्रकार के हैं; अतः 'गंगा में गाँव है' यहाँ **समीपता**, 'मुख चाँद है' यहाँ **समानता**, शत्रु से यह कहना कि 'आपने बड़ा उप-

कार किया' इत्यादि विपरीत लक्षणा में **विरोध** और 'घी जीवन है' में **कारणता**, इत्यादि संबंध, यथासंभव लक्षणा के शरीर होते हैं।

सारांश यह कि लाक्षणिक अर्थ का शब्द के मुख्य अर्थ के साथ जो संबंध हो उसका नाम ही लक्षणा है; क्योंकि वह संबंध ही मुख्यार्थ के वाचक पद द्वारा लक्ष्य अर्थ के प्रतिपादन किये जाने का हेतु होता है।

लक्षणा के भेद

लक्षणा प्रथमतः दो प्रकार की है—निरूढ़ और प्रयोजनवती। उनमें से भी प्रयोजनवती (प्रथमतः) दो प्रकार की है गौणी और शुद्धा। इन दो भेदों में से गौणी दो प्रकार की है—सारोपा और साध्यवसाना; और शुद्धा चार प्रकार की है—जहत्स्वार्था, अजहत्स्वार्था, सारोपा और साध्यवसाना। सो इस तरह प्रयोजनवती लक्षणा के छः भेद होते हैं (दो गौणी के और चार शुद्धा के)।

निरूढ़ लक्षणा

अच्छा, अब आप पहले निरूढ़ लक्षणा को लीजिए। निरूढ़ लक्षणा के उदाहरण हैं—अनुकूल, प्रतिकूल, अनुलोम, प्रतिलोम और लावण्य आदि।

उनमें से, दृष्टांत के तौर पर, पहले, 'अनुकूल' शब्द को लीजिए। 'अनुकूल' शब्द का मुख्य अर्थ है 'किनारे का अनुगामी होना' आदि। पर जब हम कहें कि 'यह हमारे अनुकूल है' तब उस शब्द का मुख्य अर्थ तो बन नहीं सकता; कारण, हम कोई नदी तो हैं नहीं कि वह पदार्थ हमारे किनारे का अनुगामी हो। सो मुख्य अर्थ का बोध होने के कारण, और अनादि काल से इस तरह का प्रयोग चला आ रहा है—इस रूढ़ि के अधीन होकर यह मानना पड़ता है कि—'अनुकूल' शब्द के मुख्य अर्थ और अनुगुण अर्थ में, 'एक वस्तु की तरफ झुकना' रूपी जो सादृश्य संबंध है उससे, 'अनुकूल' शब्द द्वारा 'अनुगुण' अर्थ लक्षित होता है—अर्थात् पूर्वोक्त वाक्य में 'अनुकूल' शब्द का सादृश्य-रूप लक्षणा-द्वारा यह अर्थ स्वीकार करना पड़ता है कि—वह पदार्थ हमारे गुणों का अनुगामी है। यही बात अन्य उदाहरणों में भी समझो।

यह तो हुई सादृश्य संबंध से एक अर्थ के अन्य अर्थ में लक्षित होने की बात। अब अन्य संबंध से लक्षणा की बात लीजिए। 'नील' आदि पदों को गुण (रंग) और द्रव्य (घड़ा वगैरह) दोनों का वाचक मानने की अपेक्षा केवल गुण-वाचक मानने में लाघव है, सो 'नील' शब्द का शक्यतावच्छेदक होती है गुण में रहने-वाली जाति, न कि द्रव्य में रहनेवाली। इस कारण 'नीला

घड़ा' इस वाक्य में 'नीला' और 'घड़ा' का समानाधिकरणता से (अर्थात् विशेषण-विशेष्य के रूप में) अन्वय नहीं बन सकता; क्योंकि 'नीला' है गुण और 'घड़ा' है द्रव्य; ये दोनों विशेषण-विशेष्य के रूप में अभिन्न कैसे हो सकते हैं? सो गुणरूपी मुख्य अर्थ (रंग) का जो गुणी (घड़े) के साथ समवाय* संबंध है, उसके द्वारा 'नीला' आदि (गुणवाचक) शब्दों से गुणवान् (नीले रंगवाला आदि) पदार्थ लक्षित होते हैं।

निरूढ़ लक्षणा के भेद

सो इस तरह 'पहले समूह' ('अनुकूल' आदि) में सादृश्य-संबंध के रूप में और 'दूसरे समूह' ('नीला' आदि) में सादृश्य से भिन्न (समवाय आदि) संबंध के रूप में लक्षणा की प्रवृत्ति होने के कारण विद्वान् लोग निरूढ़ लक्षणा में भी 'गौणी' और 'शुद्धा' इस तरह दो भेद कहते हैं। तात्पर्य यह कि निरूढ़ लक्षणा के दो भेद हैं—गौणी निरूढ़ लक्षणा और शुद्धा निरूढ़ लक्षणा। जहाँ सादृश्य-संबंध हो वहाँ पहली और जहाँ अन्य कोई संबंध हो वहाँ दूसरी होती है।

प्रयोजनवती लक्षणा

(प्रयोजनवती लक्षणा के छः भेद पहले बताए जा चुके हैं। उनमें से 'शुद्धा प्रयोजनवती' के दो भेदों—जहत्स्वार्था

---

* ऐसे पदार्थ, जो हैं तो दो, पर मिले ही दिखाई देते हैं—कभी जुदे जुदे नहीं देखे जाते; जैसे गुण और गुणी, क्रिया और क्रियावान्; उनमें 'समवाय' नाम का संबंध माना जाता है।

और अजहत्स्वार्था—के उदाहरण तो ध्वनि-प्रकरण में दे आए हैं। रहे चार भेद; गौणी सारोपा, गौणी साध्यवसाना और शुद्धा सारोपा, शुद्धा साध्यवसाना। इनके विषय में इतनी बात तो उपर्युक्त रीत्या समझ में आ ही जाती है कि—लक्षणा जब सादृश्य-संबंध के रूप में प्रवृत्त होती है तब गौणी कहलाती है और जब अन्य किसी संबंध के रूप में प्रवृत्त होती है तब शुद्धा। अतः अब केवल सारोपा और साध्यवसाना के विषय में ही विचार अवशिष्ट रह जाता है।)

आरोप और अध्यवसान

विषय (जिस पर आरोप किया जाता है वह; जैसे 'मुख' आदि) और विषयी (जिसका आरोप किया जाता है वह; जैसे चंद्र आदि) दोनों का अलग अलग निर्देश करके किया जानेवाला अभेद '**आरोप**' कहलाता है। और

विषय* को अलग न दिखलाकर उसके साथ किया जानेवाला विषयी का अभेद '**अध्यवसान**' कहलाता है।

---

* अध्यवसान का यह लक्षण ठीक नहीं प्रतीत होता। कारण, यदि केवल विषय के पृथक् निर्देश के अभाव में ही साध्यवसाना लक्षणा मानी जाय तो पूर्वोक्त "मृद्वीका रसिता···" आदि में अतिशयोक्ति का व्यंग्य कहना विरुद्ध पड़ता है; क्योंकि वहाँ विषयी के पृथक् निर्देश का अभाव है, विषय के पृथक् निर्देश का नहीं। भगवन्नाम विषय और योग-सिद्धि विषयी। अतः हमारी समझ से अध्यवसान का लक्षण यह होना चाहिए कि—"विषय और विषयी दोनों में से एक

सारोपा और साध्यवसाना

आरोपवाली लक्षणा—अर्थात् जहाँ विषय और विषयी जुदे जुदे वर्णित हों वह—**सारोपा** कहलाती है और अध्यवसानवाली—अर्थात् जहाँ विषयी द्वारा ही विषय का भी काम चला लिया गया हो वह—**लक्षणा साध्यवसाना** कहलाती है। इस तरह "**मुखं चंद्रः** (मुख चंद्र)" आदि गौणी सारोपा लक्षणा के और "**पुरेऽस्मिन् सौधशिखरे चंद्राजी विराजते** (इहिँ पुर-सौधन के शिखर राजत हिमकर-पाँति)" इत्यादि गौणी साध्यवसाना लक्षणा के उदाहरण होते हैं; क्योंकि इन दोनों स्थानों पर लक्षणा सादृश्य-संबंध के रूप में आई है।

("घी जीवन है" यह शुद्धा सारोपा लक्षणा का और (घी के स्थान पर केवल) "जीवन है" शुद्धा साध्यवसाना का उदाहरण है; क्योंकि घी और जीवन में सादृश्य-संबंध नहीं, किंतु कार्य-कारण-भाव संबंध है। इसी तरह शुद्धा के भेदों में अन्य संबंधों के उदाहरण भी तर्कित किए जा सकते हैं।)

के निर्दिष्ट होने पर अन्य का उसके साथ अभेद **अध्यवसान** कहलाता है।" (यही बात काव्य-प्रकाश के लक्षण और उदाहरण में भी है।)

—अनुवादक।

गौणी सारोपा लक्षणा का शाब्दबोध

गौणी सारोपा लक्षणा में—अर्थात् 'मुख-चंद्र' आदि (रूपक) में—विषयिवाचक चंद्र आदि शब्दों से, लक्षणा द्वारा, 'चंद्र आदि के सदृश' इस आकार में अर्थों की उपस्थिति होती है। फिर उन अर्थों का, अभेद संबंध द्वारा, 'मुख' आदि (विषयवाचक) शब्दों द्वारा उपस्थित करवाए हुए 'मुखत्व' (मुख्य अर्थ के अवच्छेदक जातिरूप धर्म) आदि से युक्त मुख आदि अर्थों के साथ (अभेद संबंध द्वारा) अन्वय होता है। तात्पर्य यह कि—'मुख-चंद्र' इसका पूरा अर्थ है 'चंद्र के सदृश (जो पदार्थ है उस) से अभिन्न मुख'; जिसे साधारण शब्दों में 'चंद्र के सदृश मुख' कहा जा सकता है।

आप कहेंगे—यहाँ 'चंद्र' शब्द का अर्थ 'चंद्र के सदृश' क्यों किया जाता है, 'चंद्र की समानता' क्यों नहीं किया जाता—अर्थात् 'चंद्र' शब्द का सीधा अर्थ 'चंद्र की समानता'-रूप धर्म न करके 'चंद्र के समान' (जिसका अर्थ है चंद्र की समानता से युक्त) अर्थ करने की क्या आवश्यकता है? क्योंकि धर्ममात्र में लक्षणा करने से काम चल जाय तो धर्मी तक दौड़ने में गौरव है। तो इसका उत्तर यह है कि—'समानता (सादृश्य)' आदि धर्मों के साथ 'मुख' आदि धर्मियों का अन्वय नहीं हो सकता। आप कहेंगे—क्यों नहीं हो सकता? जिस तरह 'चंद्र के सदृश मुख' यह अर्थ मानने पर 'चंद्र' शब्द के अर्थ 'चंद्र के सदृश' के

साथ 'मुख' का अभेद संबंध द्वारा अन्वय होता है, उसी तरह 'समानता' के साथ 'वैशिष्ट्य (युक्त होना)' संबंध द्वारा अन्वय हो जायगा। अर्थात् जैसे आप वहाँ 'चंद्र के सदृश से अभिन्न मुख' यह अर्थ करते हैं, वैसे 'चंद्र की समानता से युक्त मुख' यह अर्थ हो सकता है, इसमें बाधा क्या हुई? तो इसका उत्तर यह है कि—दो प्रातिपदिकार्थों का विशेष्य विशेषण होना अभेद के अतिरिक्त अन्य किसी संबंध द्वारा नहीं बन पाता—अर्थात् विशेष्य विशेषण होने के लिये प्रातिपदिकार्थों में अभेद संबंध ही होना चाहिए, ऐसा नियम है और बिना विशेषण विशेष्य माने दोनों पदों (मुख और चंद्र) में समान विभक्ति हो नहीं सकती। अतः यह सिद्ध हुआ कि 'मुख चंद्र' (इस रूपक) का अर्थ 'चंद्र के समान से अभिन्न मुख' (और यदि साधारण शब्दों में कहो तो 'चंद्र के समान मुख') यह होता है।

उपमा और रूपक में क्या भेद है।

पूर्वपक्ष

आप कहेंगे—यदि 'मुख चंद्र' इस रूपक में भी 'चंद्र के समान मुख' यह अर्थ होता है और 'चंद्र-समान मुख' इस उपमा में भी वही अर्थ, तब इन दोनों में कुछ विलक्षणता तो हुई नहीं; फिर 'चंद्र-समान मुख' इस उपमा से 'मुख-चंद्र' इस रूपक में भेद कैसे है? अर्थात् उपमा और रूपक को क्यों भिन्न भिन्न दो अलंकार मानते हैं—एक ही क्यों

नहीं मान लेते ? हम कहेंगे—बोध में विलक्षणता हो सकती है। कारण, जब 'मुख चंद्र' यों बोलते हैं तब 'चंद्र' शब्द का जो 'चंद्र के समान' अर्थ होता है वह एक पद ('चंद्र') का अर्थ है, अतः वहाँ 'चंद्र' और 'समान' इन दो पदार्थों का संबंध संसर्ग (दो पदों के अर्थों को परस्पर जोड़नेवाले संबंध) रूप से भासित नहीं होता; क्योंकि उस रूप में भिन्न भिन्न दो पदों के अर्थों के संबंध का ही भान हो सकता है। और जब 'चंद्र-समान मुख' इस तरह 'समान' शब्द का पृथक् प्रयोग करते हैं तो 'चंद्र' और 'समान' इन अर्थों के भिन्न भिन्न दो पदों द्वारा प्रतिपादित होने के कारण उनका संबंध संसर्गरूप से भासित होता है। तात्पर्य यह कि—रूपक में 'चंद्र' आदि का 'समान' के साथ संबंध संसर्गरूप में भासित नहीं होता और उपमा में वह संसर्गरूप से भासित होता है, अतः उपमा और रूपक के बोध में विलक्षणता हो जाती है। तो आप कहेंगे—यह ठीक नहीं। कारण, बोध में विलक्षणता हो जाने मात्र से उपमा और रूपक का भिन्न भिन्न अलंकार होना सिद्ध नहीं हो सकता। अन्यथा **'मुखं-चंद्र इव**—चाँद सा मुख' इस जगह भी **'चंद्रसदृशं मुखम्**—चंद्र-समान मुख' इस उपमालंकार से भिन्न कोई अन्य अलंकार मानना पड़ेगा। क्योंकि बोध की वैसी विलक्षणता तो यहाँ भी है। अतः बोध के विलक्षण हो जाने मात्र से पृथक् अलंकार मानना उपपत्ति-रहित है।

उत्तरपक्ष

प्राचीनों के मत

प्रथम मत

इस विषय में कुछ लोगों का कथन है कि—यद्यपि रूपक (मुख-चंद्र) की उपमा (चंद्र सा मुख) से स्वरूपज्ञान-रूप अंश—'चंद्र के समान मुख' इत्यादि—में विलक्षणता नहीं है, तथापि लक्षणा का प्रयोजन-रूप जो ताद्रूप्य (अभेद) का बोधरूपी अंश है, उसे लेकर विलक्षणता में कोई बाधा नहीं। तात्पर्य यह कि अंततोगत्वा यद्यपि उपमा और रूपक दोनों का स्वरूप-ज्ञान एक सा ही होता है तथापि उपमा में वाचक-पद ('इव' आदि) द्वारा सादृश्य का निरूपण होता है और रूपक में लाक्षणिक पद ('चंद्र' आदि) द्वारा। और रूढ़ि के अतिरिक्त लक्षणा बिना प्रयोजन के होती नहीं—यह नियम है, तदनुसार रूपक में लक्षणा का प्रयोजन होता है 'अभेद-ज्ञान'। और उपमा में वह हो नहीं सकता; क्योंकि जब लक्षणा ही नहीं है तो प्रयोजन किसका हो। अत: यह सिद्ध हुआ कि—उपमा में केवल सादृश्य का ही बोध होता है और रूपक में अंततोगत्वा, लक्षणा के प्रयोजन रूप में व्यंजना द्वारा अभेद का बोध होता है। यह है उपमा और रूपक के भिन्न भिन्न अलंकार होने का बीज।

आप कहेंगे—लक्षणा द्वारा होनेवाले भी तत्सदृश (चंद्र आदि के सदृश) के बोध से ताद्रूप्य (चंद्र आदि के अभेद)

की प्रतीति होगी कैसे ? ऐसी प्रतीति के लिये कोई उपाय तो है नहीं। दूसरे (सादृश्य के स्थल में) दोनों पदार्थों (मुख और चंद्र) के भेद का ज्ञान होने के कारण अभेद-ज्ञान में रुकावट भी आ जाती है। अन्यथा 'चंद्र-समान मुख' इस स्थान पर भी ताद्रूप्य की प्रतीति होने लगेगी। इसका उत्तर यह है कि—जिस प्रकार श्लेष के स्थल में (अनेक अर्थों के लिये) एक शब्द का ग्रहण होने के कारण उठी हुई व्यंजना (उन दो अर्थों के सादृश्य-ज्ञान अथवा अभेद-ज्ञान का) उपाय मानी जाती है; उसी प्रकार यहाँ भी (चंद्र और चंद्र-सदृश दो अर्थों के लिये) एक (चंद्र) पद के ग्रहण द्वारा उत्थित व्यंजना को उन दोनों के अभेद-ज्ञान का उपाय मान लिया जा सकता है। रही रुकावट की बात; सो व्यंजना द्वारा होनेवाले बोध में बाध का ज्ञान रुकावट नहीं डाल सकता। अतः आपकी शंका व्यर्थ है।

आप कहेंगे—यह सब ठीक। पर यहाँ एक पद (चंद्र) द्वारा गृहीत होते हैं 'चंद्र' और 'चंद्र-सदृश' ये दो अर्थ; अतः पूर्वोक्त रीत्या 'चंद्र-सदृश' में चंद्र का अभेद भले ही प्रतीत हो जाय; पर (मुख्य शब्द के वाच्य) 'मुखत्व से युक्त मुख' में चंद्र का अभेद कैसे प्रतीत हो सकता है ? क्योंकि मुख-पदार्थ तो चंद्र-शब्द द्वारा गृहीत होता नहीं। और अनुभव-सिद्ध तो है "**वक्त्रे चंद्रमसि स्थिते यदपरः शीतांशुरुज्जृम्भते**—अर्थात् मुख-चंद्र के विद्यमान रहते जो यह

दूसरा चंद्रमा उदय हो रहा है" इत्यादि में विषय में विषयो के ताद्रूप्य की प्रतीति। सो व्यंजना द्वारा चंद्र और चंद्र-सदृश का अभेद मान लेने पर भी विषय और विषयी के अभेद की प्रतीति तो सिद्ध हो सकी नहीं। हम कहते हैं—यह सच है; पर आप यह सोचिए कि—व्यंजना द्वारा चंद्र-सदृश में जब चंद्र का ताद्रूप्य सिद्ध हो जायगा, तब (शाब्दबोध के नियमानुसार) चंद्र-सदृश और मुख के अभिन्न होने के कारण चंद्र-सदृश से अभिन्न मुख के साथ भी चंद्र का अभेद सहज ही समझा जा सकता है; क्योंकि "जो जिसके अभिन्न से अभिन्न होता है वह उससे भी अभिन्न होता है" यह बात न्याय-सिद्ध है; अतः विषय में भी विषयो के ताद्रूप्य की सिद्धि हो जाती है। अतः कोई गड़बड़ नहीं।

इस मत का सारांश यह है कि—उपमा और रूपक के स्वरूपज्ञान में यद्यपि भेद नहीं है, तथापि लक्षणा के प्रयोजन रूप में जो विषय और विषयो का अभेद-ज्ञान होता है, उसे लेकर इन दोनों में परस्पर भेद है। क्योंकि रूपक में अभेद-ज्ञान होता है और उपमा में नहीं।

द्वितीय मत

पर दूसरे विद्वान् कहते हैं कि—उपमा और रूपक में केवल लक्षणा के प्रयोजनरूप अभेदज्ञान को लेकर ही भेद नहीं है, किन्तु स्वरूप-ज्ञान को लेकर भी है। सुनिए—

'चंद्र' आदि (विषयवाचक) पदों से, लक्षणा द्वारा, मुखादिक पदार्थों की उपस्थिति यद्यपि 'चंद्र-सदृशत्व' रूप से ही होती है—अर्थात् हमें लक्षणा द्वारा 'चंद्र' शब्द का अर्थ 'चंद्र सदृश' ही प्रतीत होता है, मुख नहीं; तथापि 'मुख' आदि (विषयवाचक) पदों से उपस्थित करवाए हुए 'मुखत्व से युक्त मुख' आदि पदार्थों के साथ जो, अभेद संबंध द्वारा, अन्वय-ज्ञान होता है वह 'चंद्रत्व' रूप से ही होता है, 'चंद्र-सदृशत्व' रूप से नहीं। सारांश यह कि—'मुख-चंद्र' इस वाक्य के अर्थ की उपस्थिति 'चंद्र-सदृश और मुख' इस रूप में होने पर भी अन्वय-ज्ञान 'चंद्र से अभिन्न मुख' इसी रूप में होता है। अर्थात् ऐसी जगह अर्थ की उपस्थिति अन्य-रूप से होती है और अन्वय-ज्ञान अन्य रूप से।

आप कहेंगे—ऐसा मानने पर तो, प्राचीनों के मत से, जो पहले 'मुख-चंद्र' का "चंद्र-सदृश से अभिन्न मुख" यह शाब्द-बोध लिखा है, वह बिगड़ जायगा और यह नियम भी बिगड़ जायगा कि—"पदार्थ की उपस्थिति और शाब्द-बोध दोनों का प्रकार (विशेषण) एक ही होता है।"

आपकी इस शङ्का के समाधान के लिये दो बातों की कल्पना की जाती है। एक तो यह कि "उन उन पदों ('चंद्र' आदि) की लक्षणा का ज्ञान, लक्ष्य पदार्थों ('चंद्र-सदृश आदि) के, ऐसे अन्वय-ज्ञान का कारण होता है, जिसमें उन उन पदों के शक्यतावच्छेदक ('चंद्रत्व' आदि)

विशेषण-रूप से रहते हैं।" अर्थात् यह नियम है कि 'चंद्र' आदि लाक्षणिक पदों के अर्थों ('चंद्र-सदृश' आदि) के अन्वय-बोध में 'चंद्र' आदि का शक्यतावच्छेदक 'चंद्रत्व' आदि धर्म प्रविष्ट रहता है। और दूसरी यह कि—"पदार्थ की उपस्थिति और शाब्दबोध दोनों का आकार समान होना चाहिए, इस नियम को लाक्षणिक ज्ञान से अतिरिक्त ज्ञानों के विषय में मानना चाहिए; क्योंकि लाक्षणिक ज्ञान की अन्य ज्ञानों से विलक्षणता अनुभव-सिद्ध है।" इन दोनों नियमों के मानने से ही "गंगा में गाँव है" इस पूर्वोक्त उदाहरण में 'गंगा' पद के लक्ष्यार्थ—तटत्व रूप से भी उपस्थित तट—का 'गंगात्व' रूप से अन्वय-बोध, एवं उस 'गंगात्व' को निमित्त मानकर होनेवाला शीतलता, पवित्रता आदि का बोध संगत हो सकता है। अन्यथा यदि लाक्षणिक गंगा पद के अर्थ का शाब्दबोध केवल तटरूप से ही हो तो उसके द्वारा शीतलता, पवित्रता आदि कैसे सिद्ध हो सकेंगी; क्योंकि तट में तो वे बातें हैं नहीं। अतः आपको उपर्युक्त दोनों नियम अवश्य मानने पड़ेंगे।

प्रकृत उदाहरण 'मुख-चंद्र' में, इसका फल है, विषय (मुख) में, विषयी—चंद्रादिक—में रहनेवाले असाधारण गुणों (कान्ति आदि) से युक्त होने की प्रतीति। अर्थात् इस तरह मानने से लक्षणा के प्रयोजन-रूप में चंद्रादिक के असाधारण गुणों की मुखादिक में प्रतीति हो सकती है। यदि

ऐसा न मानो तो, बिना 'चंद्रत्व' की प्रतीति के आप मुख में उन गुणों से युक्त होने का ज्ञान सिद्ध नहीं कर सकते, जो कि चंद्रत्व में नियत हैं—चंद्रत्व के बिना कहीं नहीं मिलते। आप कहेंगे—ऐसा मानने पर, प्राचीनों ने जो ताद्रूप्य-ज्ञान को लक्षणा का प्रयोजन माना है वह कैसे संगत हो सकता है? क्योंकि आप तो 'उपमान के असाधारण गुणों से युक्त होने' को लक्षणा का फल मान रहे हैं। तो इसका उत्तर यह है कि—प्राचीनों ने 'ताद्रूप्य' पद से 'उपमान के असाधारण गुणों से युक्त होने' को ही कहा है—उनको उस पद का यही अर्थ अभिप्रेत है।

इस मत का सारांश यह है कि—रूपक में 'मुख-चंद्र' की पदार्थोपस्थिति 'चंद्र-सदृश मुख' यह होने पर भी शाब्द-बोध का स्वरूप 'चंद्ररूप मुख' यह होता है और उपमा में पदार्थोपस्थिति और शाब्द-बोध दोनों 'चंद्र-सदृश मुख' इसी रूप में होते हैं। और प्रयोजन=ज्ञान द्वारा होनेवाला भेद तो पहले मत में लिख ही दिया गया है। सो इस तरह उपमा से रूपक का स्वरूप ज्ञान कृत और प्रयोजन रूप ज्ञानकृत दोनों प्रकार का भेद स्पष्ट ही है।

तृतीय मत

तीसरे विद्वान् कहते हैं कि ये दोनों ही बातें गड़बड़ हैं। बात असली यह है कि—उपमा का जीवनदाता है

भेद-मिश्रित सादृश्य और गौणी सारोपा लक्षणा—अर्थात् रूपक—का जीवनदाता है भेद-रहित सादृश्य। अर्थात् उपमा में बोध होता है 'चंद्र से भिन्न और चंद्र के सदृश' यह, और रूपक में होता है केवल 'चंद्र के सदृश' यही। सो इस तरह स्पष्ट भेद दिखाई देते हुए प्रयोजन द्वारा होनेवाली विलक्षणता तक दौड़ने की कोई आवश्यकता नहीं। और इस पक्ष में, "जिसके अंदर भेद रहता है उस सादृश्य की प्रतीति का प्रयोजन ताद्रूप्य (अभेद) की प्रतीति कैसे हो सकती है (क्योंकि भेद और अभेद परस्पर विरोधी हैं)" इस गड़बड़ के हटाने के लिये परिश्रम भी नहीं पड़ता; अतः यह भी हमारे लिये अनुकूल है।

कहने का सारांश यह कि—सादृश्य दो प्रकार का है; एक जिसमें भेद रहता है वह और दूसरा जिसमें भेद तिरोहित हो जाता है वह। उनमें से भेदवाला सादृश्य उपमा का मूल है और अभेदवाला रूपक का। अतः दोनों जगह सादृश्य रहने पर भी उन सादृश्यों के भिन्न भिन्न होने के कारण अलंकारों का भेद हो जाता है।

सो इस तरह प्राचीनों का अभिप्राय मतभेदानुसार वर्णन कर दिया गया है।

नवीनों का मत

नवीन विद्वानों का तो कहना है कि—'मुख-चंद्र है' 'ग्रामीण (पुरुष) बैल है' इत्यादिक प्रयोगों में, 'चंद्र' आदि

पदार्थों का 'मुख' आदि के साथ, बिना लक्षणा के ही, अभेद संबंध द्वारा, अन्वय हो सकता है—वहाँ बाधा क्या है कि जिसके लिये लक्षणा की जाय; अतः यहाँ न लक्षणा की आवश्यकता है न उससे प्रतिपादित सादृश्य की।

आप कहेंगे—भला, मुख का चंद्र होना और ग्रामीण (पुरुष) का बैल होना सर्वथा बाधित है—सरासर विरुद्ध है, फिर वहाँ अभेद संबंध द्वारा अन्वय-ज्ञान होगा कैसे? इसका उत्तर यह कि—बाधा का निश्चय होने से जो जो ज्ञान रुक जाया करते हैं, उनके अवच्छेदक धर्म की कोटि में; जिस तरह 'आहार्य (बाधित समझते हुए कल्पित) ज्ञान से भिन्न' इतनी बात प्रविष्ट की जाती है; क्योंकि आहार्य-ज्ञान की, बाधा के निश्चय से, रुकावट नहीं होती। उसी तरह उस धर्म में 'शाब्द-बोध से भिन्न' यह बात भी प्रविष्ट कर दी जानी चाहिए। अर्थात् यह माना जाना चाहिए कि आहार्य-ज्ञान की तरह शाब्द-बोध में भी बाधा का निश्चय रुकावट नहीं डाल सकता। अतएव "**अत्यन्तासत्यपि ह्यर्थे ज्ञानं शब्दः करोति हि**—अर्थात् शब्द अत्यन्त असत्—बिलकुल झूठे—पदार्थ का भी बोध करवा देता है" यह प्राचीनों का कथन संगत हो सकता है।

आप कहेंगे—यदि ऐसा माना जाय तो "आग से सींचता है" इस वाक्य से भी शाब्दबोध होने लगेगा। तो

इसका उत्तर यह है कि—इस जगह योग्यता के ज्ञान का अभाव है—सींचे जाने की योग्यता का आग में होना हमारी समझ में नहीं आता, क्योंकि 'सींचना' किसी तरल पदार्थ का हो सकता है, आग आदि पदार्थों का नहीं। अतः ऐसी जगह शाब्द-बोध नहीं होता। परन्तु 'मुख चंद्र' और 'ग्रामीण बैल' इत्यादि को तो हम अभीष्ट चमत्कार के सिद्ध करनेवाले समझते हैं—हमें बोध है कि ऐसे प्रयोगों में एक विशेष प्रकार का चमत्कार है। अतः ऐसे स्थलों पर, इस समझ के वशीभूत इच्छा के विद्यमान होने से, योग्यता के आहार्य (बाधित होते हुए भी कल्पित) ज्ञान का साम्राज्य हो जाता है—अर्थात् अपने अभीष्ट-चमत्कार की सिद्धि के लिये हम योग्यता के आहार्य-ज्ञान के अधिकार में आकर वास्तविक ज्ञान की परवा नहीं करते। सो बाधा कुछ रुकावट नहीं डालती। अतएव प्राचीन विद्वानों का योग्यता-ज्ञान को शाब्द-बोध में कारण बतलाना संगत हो जाता है, क्योंकि यहाँ योग्यता का आहार्य ज्ञान है।

अथवा आहार्य—योग्यता-ज्ञान मानने की अपेक्षा भी सीधा रास्ता यह है कि—'मुख-चंद्र' आदि स्थलों में अभेद द्वारा अन्वय-ज्ञान को ही आहार्य मान लिया जाना चाहिए अर्थात् ऐसी जगह बाधित होने पर भी इच्छया अन्वय-ज्ञान कर लिया जाता है। ऐसा करने से जिन ज्ञानों में बाधा का निश्चय रुकावट डालता है, न तो उनकी श्रेणी में 'शाब्द-बोध से भिन्न

होना' अपेक्षित रहता है और न योग्यता-ज्ञान को शाब्द-बोध का कारण मानना। भले ये दोनों बातें न मानी जायँ। एवं 'आहार्य-बोध केवल प्रत्यक्ष ही होता है' इस नियम की भी कोई आवश्यकता नहीं; क्योंकि उसे शब्दजन्य मानने में भी कोई बाधा नहीं है। सो 'मुख-चंद्र' आदि में बिना लक्षणा के ही 'चंद्र से अभिन्न मुख' यह अर्थ हो सकता है; अत: लक्षणा मानना अनावश्यक है।

विचारने से यह बात उचित भी प्रतीत होती है। देखिए, आपके अभीष्ट 'मुख-चंद्र' आदि—सारोप लक्षणा के उदाहरण—में, आपको, अवश्यमेव दो वाच्यार्थों (मुख और चंद्र) का ही अभेदान्वय स्वीकार करना पड़ेगा, न कि वाच्य (मुख) और लक्ष्य (चंद्र-सदृश) का। क्योंकि आप यदि वाच्य और लक्ष्य का अभेदान्वय मानने लगें तो प्राचीनों ने—

"राजनारायणं लक्ष्मीस्त्वामालिङ्गति निर्भरम्—अर्थात् राजनारायण आपको लक्ष्मी दृढ़ आलिंगन कर रही है—वह आपको कभी नहीं छोड़ती।"

इस जगह 'राजनारायण' शब्द में रूपक सिद्ध करने के लिये जो यह अनुपपत्ति बताई है कि—"यदि यहाँ रूपक न मानो तो राजा के साथ लक्ष्मी का आलिंगन नहीं बन सकता; क्योंकि लक्ष्मी के आलिंगन के लिये (राजा को) नारायण से अभिन्न होने की आवश्यकता है, न कि नारायण के सदृश होने की।" और इसी तरह—

"पादाम्बुजं भवतु वो विजयाय मञ्जुमञ्जीर-शिञ्जितमनोहरमम्बिकाया:—अर्थात् जो, नूपुरों के सुंदर शब्द से चित्त चुरा लेनेवाला है वह अम्बिका का चरण-कमल आप लोगों के विजय के लिये हो—आपको विजय प्रदान करे।"

इस जगह यह अनुपपत्ति बताई है कि यहाँ यदि 'चरण-कमल' का अर्थ 'कमल के समान चरण' न लिया जाय—अर्थात् उपमा न मानकर रूपक मान लिया जाय—तो 'नूपुरों के सुंदर शब्द से चित्त चुरा लेनेवाला' यह 'चरण-कमल' का विशेषण नहीं बन सकता; क्योंकि नूपुर पैर में पहने जाते हैं, कमल में नहीं।

कहने का तात्पर्य यह कि—ऐसे ऐसे स्थलों में उपमा और रूपक के निर्णय के लिये जो अनुपपत्ति लिखी गई है, वह सर्वथा विरुद्ध हो जायगी। कारण, लक्ष्य अर्थ तो उपमा और रूपक दोनों में वही 'तत्सदृश' (चंद्र-सदृश आदि) होता है। ऐसी स्थिति में पहले पद्य में उपमा की तरह रूपक के स्वीकार करने पर भी बाधक (लक्ष्मी द्वारा आलिंगन न किया जा सकना) समान है, अत: बाधक को रूपक का निर्णायक बताना असंगत हो जाता है। इसी तरह दूसरे पद्य में रूपक स्वीकार कर लेने पर भी (आपके हिसाब से 'पादाम्बुज' का अर्थ 'कमल के सदृश चरण' है अत:) कोई बाधक न रहने के कारण 'नूपुरों के सुंदर शब्द' को रूपक

का निवर्त्तक बताना नहीं बन सकता। सो आपको विवश होकर यही मानना पड़ेगा कि प्राचीनों की रीति से भी वाच्य अर्थों (चंद्र और मुख) का ही अभेदान्वय होता है वाच्य (मुख) और लक्ष्य (चंद्र-सदृश) का नहीं, अन्यथा उपर्युक्त अनुपपत्तियाँ शिथिल हो जायँगी।

आप कहेंगे—(राज-नारायण आदि दृष्टान्तों द्वारा) 'मुख-चंद्र' आदि समास के स्थल में, कहीं, पूर्वोक्त रीति से भले ही बिना लक्षणा के बोध की सिद्धि मान ली जाय; पर जहाँ दोनों शब्दों का अलग अलग प्रयोग होगा, समास नहीं होगा, वहाँ तो लक्षणा मानने में कोई बाधक है नहीं। क्योंकि पूर्वोक्त अनुपपत्तियाँ समास-स्थल में ही दिखाई गई हैं। तो इसका उत्तर यह है कि "**कृपया सुधया सिञ्च हरे मां तापमूर्च्छितम्**—हे हरे! (सांसारिक-) ताप से मूर्च्छित मुझे कृपा (-रूपी) सुधा से सींचिए।" इत्यादिक प्रयोगों में, बिना समास के भी, वही अड़चन उपस्थित हो जाती है। क्योंकि सींचा जा सकता है 'सुधा' से, न कि कृपा से; कृपा कुछ पानी की तरह तरल तो है नहीं। सो बिना समास के भी आपको वाच्य-अर्थों का ही अभेदान्वय मानना पड़ेगा, वाच्य और लक्ष्य का नहीं; क्योंकि जब तक कृपा आदि को सुधा आदि से अभिन्न न माना जाय तब तक उसका सींचने के साथ अन्वय नहीं हो सकता।

यदि आप कहें कि—ऐसी जगह 'सींचने' में भी लक्षणा द्वारा अतिशयोक्ति मानिए और तब 'सींचने' को उपमानरूप समझकर उसके द्वारा उपमेय ('करने') को निगीर्ण समझिए—अर्थात् जैसे अतिशयोक्ति में 'चंद्र' शब्द से 'चंद्र और मुख' ये दोनों अर्थ गृहीत होते हैं, वैसे यहाँ भी 'सींचने' शब्द से 'सींचने' और 'करने' दोनों अर्थों का ग्रहण है यह मान लीजिए। इस तरह मानने से पूर्वोक्त पद्य का अर्थ होगा कि—'हे हर! आप ताप से मूर्छित मेरे ऊपर सुधा के सींचने के समान कृपा करिए'। अतः लक्षणा मानने पर भी बिना समास के स्थलों में कोई अड़चन नहीं। तो इसका उत्तर यह है कि—उत्प्रेक्षादि एकाध अलंकार के अतिरिक्त अतिशयोक्ति, अपह्नुति आदि अन्य सब अलंकारों में जिस तरह आहार्य-ज्ञान से ही काम बन जाता है, उसी तरह यहाँ भी आहार्य-ज्ञान से ही काम बन जाने पर 'सींचने' में लक्षणा मानने के लिये कोई कारण नहीं और लक्षणा मानना अनुभव से विरुद्ध भी है।

यदि आपको हमारे इस अनुभव के मानने में कोई आपत्ति हो तो हम आपसे एक दूसरी बात पूछते हैं। सुनिए। प्राचीनों का सिद्धांत है कि—रूपक में उपमान-वाचक चंद्र आदि पद की 'उपमान के सदृश' अर्थ में लक्षणा होती है—अर्थात् 'चंद्र' का 'चंद्र सदृश' अर्थ होता है। तो ऐसी दशा में लक्ष्य अर्थ ('चंद्रसदृश' आदि) का अव-

च्छेदक धर्म हुआ 'सादृश्य'। वह सादृश्य समान धर्मरूप होता है। अब यह कहिए कि—वह समानधर्म लक्ष्य अर्थ के भाग में 'सुंदरता' आदि विशेषरूप से प्रतीत होता है अथवा सामान्य रूप से—अर्थात् केवल सादृश्य के रूप में ?

यदि आप कहें कि—विशेष रूप से प्रतीत होता है। तब तो 'सुंदर मुखचंद्र' इत्यादि में पुनरुक्ति हो जायगी। क्योंकि जब आप 'सुंदरता' को ही लक्ष्य अर्थ का अवच्छेदक मानते हैं तब 'चंद्र के समान सुंदर मुख' इतना अर्थ तो 'मुख-चंद्र' का ही हो गया, फिर यह मुख का विशेषण 'सुंदर' शब्द निरर्थक है। आप कहेंगे—ऐसी जगह—जहाँ 'सुंदरता' आदि समान धर्म का स्पष्ट शब्दों में ग्रहण हो वहाँ, उस धर्म से भिन्न धर्म को ही लक्ष्य अर्थ के अवच्छेदक सादृश्य के रूप में मानेंगे—अर्थात् जिस धर्म (सुंदरता आदि) का स्पष्ट शब्दों में ग्रहण होगा उसे छोड़कर अन्य धर्म—'गौरता' आदि—को लक्ष्यतावच्छेदक मानेंगे; यानी 'सुंदर मुखचंद्र' का अर्थ 'चाँद सा सुंदर सुंदर मुख' न मानकर 'चाँद सा गोरा सुंदर मुख' इत्यादि मानेंगे; तो हम कहते हैं—यह अनुभव से विरुद्ध है।

इस अनुभव के विषय में भी आप कुछ आनाकानी करें तो आपको इस बात में तो कोई आपत्ति हो नहीं सकती कि—

"अङ्कितान्यक्षसंघातैः सरोगाणि सदैव हि।
शरीरिणां शरीराणि कमलानि न संशयः ॥

इसमें कोई संदेह नहीं कि देहधारियों के देह कमल हैं; क्योंकि ये भी 'अक्षों' (एकत्र—इंद्रियों; अन्यत्र—कमलगट्टों) के समूहों से चिह्नित हैं और वे भी; और ये भी 'सराग' (एकत्र—रागों से युक्त; अन्यत्र—सरोवर में रहनेवाले) हैं और वे भी।" इत्यादिक उदाहरणों में श्लेष के सहारे 'अक्ष' और 'सराग' शब्दों के भिन्न भिन्न दो अर्थों का अभेद मानकर एकरूप समझे हुए 'अक्ष-समूहों से चिह्नित होने' और 'सराग होने' के अतिरिक्त (शरीरों और कमलों में) अन्य किसी समान धर्म की बिलकुल ही स्फूर्ति नहीं होती। अर्थात् 'सुंदर मुखचंद्र' में तो आप गौरता आदि किसी अन्य विशेष धर्म को ही सादृश्य रूप मान लेंगे, पर ऐसे स्थलों में तो शरीर आदि उपमेय और कमल आदि उपमान में एक समान धर्म के अतिरिक्त अन्य कोई समान धर्म प्रतीत ही नहीं होता। यदि आप उसे लक्ष्यतावच्छेदक धर्म न मानें तो दूसरा समान धर्म लावेंगे कहाँ से, और यदि लक्ष्यतावच्छेदक मानें तो पुनरुक्ति हुए बिना न रहेगी। अतः लक्ष्यतावच्छेदक सादृश्य की प्रतीति विशेष धर्म के रूप में मानना अनुचित है।

अब यदि आप कहें कि—हम सादृश्य की विशेष रूप से प्रतीति नहीं मानते, किंतु सामान्य रूप से—अर्थात् केवल सादृश्य के रूप में—मानते हैं; तो यह भी नहीं बन सकता। यह नियम है कि—जिस तरह लाक्षणिक पद से लक्ष्य अर्थ प्रतीत होता है उसी तरह लक्ष्यतावच्छेदक धर्म भी

प्रतीत होता है। सो लक्ष्यतावच्छेदक—सादृश्य—के शब्द द्वारा गृहीत होने के कारण रूपक के स्थल में उपमा होने लगेगी। यदि आप कहें कि—जहाँ सादृश्य वाच्य होता है, वहीं उपमा होती है, अन्यत्र—अर्थात् लक्ष्य होने पर—नहीं; तो यह भी उचित नहीं। क्योंकि यदि ऐसा मानोगे तो "**नलिनप्रतिपक्षमाननम्** (कमल का शत्रु मुख)" इत्यादिक में भी उपमा न हो सकेगी। कारण वहाँ भी सादृश्य 'शत्रु' शब्द का वाच्य नहीं, किंतु लक्ष्य है। और ऐसी जगह मानते हैं सभी विद्वान् उपमा। अतः आप रूपक में सादृश्य का प्रतीत होना सामान्य अथवा विशेष किसी भी रूप से सिद्ध नहीं कर सकते।

अच्छा, अब एक बात और सुनिए—

"विद्वन्मानसहंस, वैरिकमलासंकोचदीप्तद्युते,
दुर्गामार्गणनीललोहित, समित्स्वीकारवैश्वानर।
सत्यप्रीतिविधानदक्ष, विजयप्राग्भावभीम, प्रभो,
साम्राज्यं वरवीर, वत्सरशतं वैरिञ्चमुच्चैः क्रियाः॥

हे विद्वानों के हृदयरूपी मानसरोवर के हंसरूप—अर्थात् उसमें सर्वदा विहार करनेवाले, हे वैरियों की लक्ष्मी की न्यूनतारूपी कमलों के विकास के लिये सूर्यरूप, हे (युद्ध के लिये) किला न ढूँढ़ने रूपी पार्वती के ढूँढ़ने में शिवरूप, हे युद्धरूपी समिधा के स्वीकार करने में अग्निरूप, हे सत्य

में प्रेमरूपी सती (महादेवजी की प्रथम पत्नी) की अप्रीति करने के लिये दक्षरूप, हे शत्रुओं के पराजयरूपी अर्जुन से पहले उत्पन्न होने में भीम (भीमसेन + भयंकर) रूप, वीर श्रेष्ठ राजन्! आप ब्रह्माजी के सौ वर्षों तक उन्नतरूपेण साम्राज्य करते रहिए।"

ऐसी जगह 'विद्वन्मानसहंस' इत्यादिक पदों में आए हुए श्लिष्ट परंपरित रूपक में श्लेषमूलक अभेद मान लेने से—अर्थात् 'हृदय' आदि और 'मानसरोवर' आदि को एक शब्द ('मानस' आदि) द्वारा गृहीत होने के कारण एक मान लेने से—'राजा' और 'हंस' दोनों की 'मानसवासी होना'-रूपी समानता सिद्ध होने पर, राजा में, सदृश-लक्षणा-(गौणी)-मूलक हंस के रूपक की सिद्धि होती है। अर्थात् जब 'मानस' शब्द के दोनों अर्थों को अभिन्न माना जाय तभी राजा को 'हंस'रूप कहा जा सकता है। और जब राजा में हंसरूपता सिद्ध हो जाय तब (एक शब्द द्वारा) 'सरोवर' और 'मन' रूपी दो अर्थों का कथन जिसका परिचायक है वह 'श्लेष' सिद्ध होता है। तात्पर्य यह कि—जब 'मानस' शब्द के दो अर्थ किए जायँ तब राजा को हंसरूप कहा जा सकता है और जब राजा को हंसरूप माना जाय तब 'मानस' शब्द के दो अर्थ किए जा सकते हैं, अन्यथा नहीं। सो यहाँ अन्योन्याश्रय दोष आ जाता है। बात यह है कि—जब तक रूपक (राजा की हंसरूपता) की स्फूर्त्ति नहीं

होगी तब तक 'मानस' शब्द के 'सरोवर' रूपी अर्थ में भी वक्ता का तात्पर्य है—इस बात को समझाने के लिये कोई प्रमाण सामने नहीं आता। पर जब रूपक की स्फूर्त्ति हो जाती है तब उसके सिद्ध करनेवाले सादृश्य की अन्य किसी प्रकार सिद्धि न हो सकने के कारण, अन्यथानुपपत्ति-रूपी प्रमाण से, जिसका फल है दोनों अर्थों का अभेद-ज्ञान और जिसका रूप है दोनों अर्थों का प्रतिपादन, वह, श्लेष सिद्ध हो जाता है। अर्थात् ऐसे स्थानों में श्लेष तभी सिद्ध हो सकता है जब कि पहले रूपक सिद्ध हो चुके। अतः यह सिद्ध हुआ कि रूपक के स्थल में वाच्य-अर्थों के अभेदान्वय की पद्धति ही सुंदर है, सदृश-लक्षणा मानना नहीं।

और जो यह कहा जाता है कि—रूपक में सदृश-लक्षणा का फल ताद्रूप्य का बोध है सो भी हृदयंगम नहीं। कारण; यदि ऐसा ही हो तो 'तत्सदृश (उसके सदृश)' इस शब्द से सादृश्य का बोध होने पर भी ताद्रूप्य का बोध होने लगेगा।

सो अंततोगत्वा यही सिद्ध होता है कि रूपक में वाच्यार्थों का अभेद मानना ही उचित है। सदृश-लक्षणा मानने की कोई आवश्यकता नहीं।

नवीनों के मत का खंडन

नवीनों के मत के विषय में निम्न-लिखित विचार किया जाता है—

सबसे पहले तो, जो नवीनों की तरफ से यह कहा जाता है कि—"दे प्रातिपदिकार्थों (मुख आदि और चंद्र आदि) के अभेदान्वय के ज्ञान से ही काम चल जाता है, अत: रूपक में लक्षणा नहीं है" इस विषय में हमारा यह कहना है कि—किसी चमत्कारयुक्त साधारण (आह्लादकता आदि) धर्म की उपस्थिति न होने की दशा में जिस तरह उपमालंकार या तो सिद्ध ही नहीं होता और यदि किसी तरह सिद्ध हो गया तो उसमें चमत्कार नहीं होता, ठीक वही हाल रूपकालंकार का भी है—उसकी सिद्धि के लिये भी किसी चमत्कारी साधारण धर्म की आवश्यकता रहती है, यह बात सभी सहृदयों की मानी हुई है। यदि ऐसा न हो तो "**भारतं नाकमंडलम्**—अर्थात् भारत स्वर्गप्रदेश है" और "**नगरं विधुमंडलम्**—अर्थात् नगर चंद्रमा का बिंब है" इत्यादि वाक्यों के सुनने के अनंतर लोगों को रूपक का बोध जागृत नहीं होता—वे कह देते हैं कि 'भाई, यह तो तुम्हारा रूपक बना नहीं'। पर इन्हीं पूर्वोक्त वाक्यों के साथ जब हम, यथाक्रम, "**सुपर्वालंकृत** (स्वर्ग के पक्ष में—देवताओं; भारत (महाभारत) के पक्ष में सुन्दर पर्व आदि, सभा, वन, विराट आदि से सुशोभित)" और '**सकलकल** (चंद्रमा के पक्ष में—सब कलाओं; नगर के पक्ष में सब हुनरों अथवा कोलाहल से युक्त)" ये शब्द जोड़ दें तो सबको रूपक का बोध जागृत हो जाता है—वे कह उठते हैं कि 'हाँ अब रूपक बन गया।'

यह बात क्यों होती है ? अतः यह सिद्ध होता है कि साधारण धर्म की उपस्थिति होने पर ही रूपक सिद्ध होता है अथवा रूपक में चमत्कार आता है, अन्यथा नहीं।

यही बात 'मुखचंद्र' आदि प्रसिद्ध उदाहरण में भी है—वहाँ भी साधारण धर्म (आह्लादकता आदि) की उपस्थिति होने पर ही रूपक का बोध जागृत होता है। हाँ, इतनी विशेषता अवश्य है कि प्रसिद्ध उदाहरण में साधारण धर्म प्रसिद्ध होने के कारण अपने बोधक शब्द के श्रवण की अपेक्षा नहीं रखता—अर्थात् 'मुखचंद्र' आदि में साधारण धर्म का बोधक शब्द रहे या न रहे, प्रसिद्ध होने के कारण साधारण धर्म का बोध अपने-आप हो जाता है; पर अप्रसिद्ध उदाहरणों में वह धर्म अप्रसिद्ध होने के कारण अपने बोधक शब्द के श्रवण की अपेक्षा रखता है—अर्थात् वहाँ साधारण धर्म का बोधक शब्द अवश्य आना चाहिए।

ऐसी अवस्था में हम आपसे पूछते हैं कि—'साधारण धर्म से युक्त होना'-रूपी सादृश्य यदि रूपक के मध्य में प्रवेश न करे, तब किसी विशेष प्रकार के धर्म की उपस्थिति न होने की दशा में रूपक क्यों नहीं पूरा होता अथवा चमत्कार नहीं उत्पन्न कर सकता ? ऐसी जगह उपमान और उपमेय में, किसी दूसरे (सादृश्य आदि) की अपेक्षा किए बिना ही पूर्ण हो जानेवाले, आहार्य अभेद-ज्ञान का तो साम्राज्य रहता है—उसमें तो कोई बाधा है नहीं। फिर अपूर्णता क्यों ?

यदि आप यह कहना चाहें कि—दो पदार्थों के आहार्य अभेदज्ञान में, अथवा उसके चमत्कार में किसी साधारण धर्म का ज्ञान प्रयोजक रहता है—अर्थात् साधारणधर्म के होने पर ही अभेद-ज्ञान होता है; तो यह कह नहीं सकते; क्योंकि—

"यद्यनुष्णो भवेद्वह्निर्यद्यशीतं भवेज्जलम् ।
मन्ये दृढव्रतो रामस्तदा स्याद्प्यसत्यवाक् ।।

अर्थात् यदि आग उष्णता-रहित हो जाय और यदि जल शीतलता-रहित हो जाय तो, संभावना करता हूँ कि, सत्य-प्रतिज्ञ राम मिथ्याभाषी हो भी जायँ ।"
इत्यादिक स्थलों में साधारण धर्म का बोध न होने पर भी आग में 'उष्णता-रहित होने' आदि के अभेद की प्रतीति हो जाती है।

आप कहेंगे—उपमान और उपमेय के स्थल में ही यह नवीन विशेषता है कि वहाँ आहार्य अभेद-ज्ञान में भी किसी साधारण धर्म की प्रयोजकता अपेक्षित है; तो इसका उत्तर यह है कि इस तरह की विशेषता की कल्पना में कोई प्रमाण नहीं—क्या कारण कि ऐसी विशेषता मानी जाय ? यदि आप कहें कि—मुख और चंद्र में अभेद-ज्ञान बिना साधारण-धर्म को प्रयोजक माने हो नहीं सकता, अतः ऐसा मानना पड़ता है; तो यह भी उचित नहीं। क्योंकि 'मुख यदि चंद्रमा होता तो पृथ्वी पर नहीं रह सकता' इत्यादिक स्थलों

में साधारण धर्म (आह्लादकता आदि) की अनुपस्थिति की दशा में भी आहार्य अभेद-ज्ञान स्वीकार किया जाता है, अन्यथा मुख और चंद्र का अन्वय ही न हो सकेगा; क्योंकि दो प्रातिपदिकार्थों में अभेद से अतिरिक्त अन्य किसी संबंध द्वारा अन्वय नहीं होता, यह नियम है। अतः यह सिद्ध हुआ कि—'मुखचंद्र' आदि में भी, साधारण धर्म की उपस्थिति के बिना भी, अभेद-ज्ञान हो सकता है; पर सादृश्य-ज्ञान के अभाव में केवल अभेदज्ञान से रूपक सिद्ध न होने के कारण रूपक की सिद्धि में अपेक्षित सादृश्य के बोध के लिये लक्षणा का मानना आवश्यक है।

आप कहेंगे—यदि रूपक की प्रतीति में उपमान का अभेद न आता हो—अर्थात् बिना उपमान और उपमेय के अभेद-ज्ञान के ही रूपक बन जाता हो तो "**सिंहेन सदृशो नायं किंतु सिंहो नराधिपः**—अर्थात् यह राजा सिंह के सदृश नहीं, किंतु सिंह है" इत्यादि में निषेध किए जानेवाले (सिंह के सादृश्य) और विधान किए जानेवाले (सिंहत्व) दोनों की असंगति होगी—अर्थात् सिंह के समान होने का निषेध और सिंह होने का विधान दोनों न बन सकेंगे; क्योंकि लक्षणा करने पर तो 'सिंह' का अर्थ भी 'सिंह के समान' ही होगा। तो इसका उत्तर यह है कि—अभी थोड़ा पहले ही प्राचीनों के भी (अंतिम) दो मतों में रूपक में तादूप्य (अभेद) के ज्ञान का स्वीकार प्रतिपादित किया जा चुका है।

यदि आप कहें कि—प्राचीनों के मत के अनुसार तो, पूर्वोक्त पद्य में, सिंह शब्द के लाक्षणिक होने के कारण, विधेय-कोटि—अर्थात् 'किंतु सिंह है' इस भाग—में सादृश्य भी प्रविष्ट है, अर्थात् इस 'सिंह' शब्द का अर्थ भी 'सिंह के सदृश' ही होता है, अतः फिर भी निषेध—'सिंह के सदृश नहीं है'—की अनुपपत्ति ज्यों की त्यों रह जाती है। तात्पर्य यह कि—'सिंह' शब्द में लक्षणा मानने से, पूर्वोक्त पद्य का अर्थ 'सिंह के सदृश नहीं है किंतु सिंह के सदृश है' होगा, जो कि सर्वथा अनुपपन्न है। तो इसका उत्तर यह है कि—यहाँ, जिसका स्वरूप 'भेद-मिश्रित सादृश्य' है उस उपमा का ही निषेध है और भेद-रहित सादृश्य के रूप में लक्षित होनेवाले रूपक का विधान है। सारांश यह कि—ऐसे स्थलों में भेदमिश्रित सादृश्य का निषेध और भेदरहित सादृश्य का विधान होने के कारण किसी प्रकार की अनुपपत्ति नहीं।

यह तो हुई सादृश्य के बिना काम न चलने की बात। अब आप अपनी दूसरी बात लीजिए। आपने प्रथमतः यह दोष दिया है कि—रूपक में लक्षणा स्वीकार करने पर प्राचीनों का "राजनारायणम्" इस जगह 'लक्ष्मी द्वारा किए जानेवाले आलिंगन' को उपमा का बाधक और रूपक का निर्णायक मानना, एवं "पादाम्बुजम्" इस जगह 'सुंदर नूपुरों से निनादित होने' को रूपक का बाधक और उपमा का निर्णायक मानना, विरुद्ध हो जायगा। सो यह भी नहीं।

कारण, पहले (प्राचीनों के द्वितीय मत में) यह सिद्ध किया जा चुका है कि—रूपक में 'चंद्रसदृश' आदि की प्रतीति 'चंद्रत्व' आदि के रूप से होती है। अतः 'राज-नारायणम्' इत्यादि में, विशेषण* समास के अधीन, रूपक के स्वीकार करने पर उत्तर पदार्थ (नारायण) के प्रधान होने के कारण नारायण सदृश की भी नारायणत्व के रूप से ही प्रतीति होती है। इस कारण 'राजनारायणम्' को 'लक्ष्मी द्वारा किए जानेवाले आलिंगन' का कर्म मानने में किसी प्रकार की अनुपपत्ति नहीं रहती। और यदि 'राजनारा-यणम्' में, उपमित†-समास के अधीन, उपमा का स्वीकार किया जाय तो पूर्व पदार्थ 'राजा' के प्रधान होने के कारण उसकी राजत्व के रूप से ही प्रतीति होगी; अतः वह 'लक्ष्मी द्वारा किए जानेवाले आलिंगन' का कर्म नहीं बन सकता। इसी तरह "पादाम्बुजम्" इत्यादि में भी जो रूपक का स्वीकार किया जाय तो उत्तर पदार्थ प्रधान हो जायगा, अतः 'अंबुज-सदृश' की भी 'अंबुजत्व' रूप से ही प्रतीति होगी, और तब वहाँ 'सुंदर नूपुरों के निनादों से मनोहर होना' नहीं बन सकेगा। पर उपमित-समास के अधीन उपमा मानने पर

---

* "मयूरव्यंसकादयश्च" (२।१।७१) इस पाणिनीय सूत्र द्वारा किया जानेवाला समास 'विशेषण-समास' कहलाता है।

† 'उपमितं व्याघ्रादिभिः सामान्याप्रयोगे' (२।१।५६) इस पाणि-नीय सूत्र द्वारा होनेवाला समास 'उपमित-समास' कहलाता है।

तो प्रधान 'चरण' की चरणत्व के रूप में ही प्रतीति होगी, 'अतः सुंदर नूपुरों के निनादों से मनोहर होने' के सिद्ध होने में कोई बाधा नहीं।

सारांश यह कि—रूपक विशेषण-समास के अधीन होता है और उसमें अंतिम पद के अर्थ की प्रधानता रहती है। सो इस तरह 'राजनारायण' शब्द में नारायण शब्द का अर्थ प्रधान हो जाता है और ऐसा होने पर ही 'लक्ष्मी द्वारा आलिंगन' बन सकता है, 'राजा' पद के अर्थ के प्रधान होने पर नहीं। अतः पूर्वोक्त आलिंगन के कर्म होने को उपमा का बाधक और रूपक का निर्णायक मानना उचित ही है। इसी प्रकार उपमा उपमित-समास के अधीन होती है और उसमें पूर्वपद के अर्थ की प्रधानता रहती है। इस तरह 'पादांबुज' शब्द में 'पाद' शब्द का अर्थ प्रधान हो जाता है और ऐसा होने पर ही उसका 'सुंदर नूपुरों के निनादों से मनोहर होना' बन सकता है, 'अंबुज' पद के अर्थ के प्रधान होने पर नहीं। अतः 'निनादों से मनोहर होने' को रूपक का बाधक मानना और उपमा का निर्णायक मानना भी उचित है। सो प्राचीनों के मत में कोई दोष नहीं।

आप कहेंगे—'उपमित समास में पूर्वपद के अर्थ 'चरण' आदि की चरणत्व आदि के रूप में ही प्रतीति होती है' यह कथन उचित नहीं। क्योंकि जिस तरह "वक्त्रे चंद्रमसि स्थिते यदपरः शीतांशुरुज्जृम्भते" इस पूर्वोक्त रूपक में, 'चंद्र-

सदृश' 'चंद्र' का तादूप्य मान लेने पर, 'चंद्रसदृश' के साथ मुख का अभेदान्वय होने के कारण, मुख में भी चंद्र का तादूप्य आप स्वीकार कर चुके हैं; उसी प्रकार यहाँ भी 'अंबुजसदृश' में 'चरण' का अभेदान्वय होने के कारण 'चरण' में भी 'अंबुज-तादूप्य' हो जाना चाहिए। और ऐसी दशा में वह अनुपपत्ति फिर ज्यों की त्यों रह जाती है। तो यह शंका उचित नहीं। क्योंकि आगे इस बात का प्रतिपादन किया जानेवाला है कि—उपमित समास में भेद-मिश्रित सादृश्य लक्ष्य पदार्थ की कोटि में प्रविष्ट रहता है; पर विशेषण समास में सादृश्य भेद-रहित होता है। अतः दोनों समासों में लक्षणा के समान रूप में होने पर भी उपमा और रूपक में विलक्षणता हो जाती है।

अच्छा, अब तीसरी बात लीजिए। आपका तीसरा दोष यह है कि—लक्ष्यतावच्छेदक सादृश्य विशेष रूप (सुंदरता आदि) से तो प्रतीत नहीं हो सकता; क्योंकि ऐसा मानने से 'सुंदर-मुखचंद्र' इत्यादि में पुनरुक्ति हो जायगी। अतः सादृश्य की प्रतीति सामान्य रूप से माननी पड़ेगी। और ऐसा मानने पर सादृश्य के शब्द द्वारा गृहीत होने के कारण ऐसे स्थलों में उपमा होने लगेगी, रूपक नहीं हो सकेगा। सो यह भी उचित नहीं। कारण, रूपक में लक्ष्य अर्थ भेद से अमिश्रित सादृश्य से युक्त होता है, अतः ऐसी जगह उपमा का निर्देश नहीं हो सकता। क्योंकि

"**सादृश्यमुपमा भेदे**—अर्थात् भेद रहते हुए जो सादृश्य होता है उसे उपमा कहा जाता है" यह प्राचीनों का सिद्धांत है।

आप कहेंगे—जब भेद से मिश्रित और अमिश्रित दोनों प्रकार का सादृश्य लक्षणा द्वारा प्रतिपादित किया जा सकता है, तब भेद से मिश्रित अथवा अमिश्रित सादृश्य से युक्त अर्थों में से किसी के भी विषय में प्रयोग करना तो केवल वक्ता की इच्छा के अधीन रहा। ऐसी दशा में जहाँ वक्ता 'मुखचंद्र' इस वाक्य में 'चंद्र' शब्द का 'भेद-मिश्रित सादृश्य से युक्त' अर्थ में प्रयोग करे—अर्थात् वक्ता जब यह कहे कि हमने तो यहाँ भेद-घटित सादृश्य के विषय में प्रयोग किया है—तब 'मुखचंद्र' में उपमालंकार माने बिना गुजारा नहीं। सो यह आपत्ति ज्यों की त्यों रही। तो इसका उत्तर यह है कि—भेद-घटित सादृश्य के प्रतिपादन की इच्छा होने के समय, शब्द का, 'भेद-घटित सादृश्य से युक्त अर्थ' के विषय में लक्षणा द्वारा प्रयोग विरुद्ध है—अर्थात् भेद-घटित सादृश्य के लिये लाक्षणिक शब्द का प्रयोग नहीं किया जा सकता। क्योंकि लक्षणा ताद्रूप्य के प्रतिपादन की इच्छा के अधीन है—अर्थात् जब ताद्रूप्य का प्रतिपादन करना हो तभी लक्षणा की जा सकती है, अन्यथा नहीं। कारण, किसी प्रयोजन के उद्देश बिना, शिष्ट पुरुष, निरूढा के अतिरिक्त लक्षणा द्वारा अर्थ का प्रतिपादन नहीं करते। अर्थात् निरूढ़ा के सिवाय अन्य सब लक्षणाओं में प्रयोजन अत्यावश्यक है और यहाँ

ताद्रूप्य के अतिरिक्त अन्य कोई प्रयोजन है नहीं। अतः लाक्षणिक प्रयोग भेद-मिश्रित सादृश्य के विषय में हो ही नहीं सकता। यदि आप कहें कि—यहाँ हम भेद और ताद्रूप्य (अभेद) दोनों मानेंगे तो यह बन नहीं सकता। क्योंकि भेद और ताद्रूप्य दोनों परस्पर विरोधी पदार्थ हैं, वे एक साथ ज्ञाता की बुद्धि में आरूढ नहीं हो सकते। अतः ऐसा मानना असंगत है।

आप कहेंगे—'पुरुषव्याघ्र' इत्यादि उपमित समास में उत्तरपद (व्याघ्र आदि) की अपने अर्थ के सदृश (अर्थात् व्याघ्र सदृश आदि) अर्थ में लक्षणा ही माननी पड़ेगी। अन्यथा समास में कोई सादृश्य-बोधक शब्द न होने के कारण सादृश्य का बोध न हो सकेगा। यदि कहो कि—'पुरुषव्याघ्र' का विग्रह* 'व्याघ्र इव पुरुषः—'व्याघ्र सा पुरुष' होता है, अतः विग्रह में आया हुआ 'इव' शब्द सादृश्य का बोधक हो जायगा तो यह बन नहीं सकता। क्योंकि समास ('पुरुषव्याघ्र') में 'इव' शब्द का संबंध नहीं है; वहाँ तो 'पुरुष' और 'व्याघ्र' दो ही शब्द हैं, 'इव' शब्द का कहीं पता नहीं। इतने पर भी यदि 'इव' का संबंध मानो तो उसके हटाने का कोई उपाय नहीं; कारण, उसका हटानेवाला कोई शास्त्र (सूत्र आदि) है नहीं। यदि कहो कि—

---

* समास आदि का अर्थ समझानेवाले वाक्य को विग्रह कहते हैं।

समास में 'इव' शब्द नहीं है तो न सही। विग्रहवाक्य 'व्याघ्र इव पुरुषः' में तो 'इव' शब्द है। तो यह कुछ नहीं। क्योंकि विग्रहवाक्य का 'इव' शब्द विग्रहवाक्य को उपमा का प्रतिपादक बना सकता है, दूसरे वाक्य (अर्थात् समास) को नहीं। अब कहो कि—यदि ऐसा ही है तो 'पुरुष-व्याघ्र' आदि समास में भले ही सादृश्य का बोध न रहे; तो यह भी कह नहीं सकते। कारण, ऐसी दशा में 'व्याघ्र इव पुरुषः' यह विग्रह, समास का विवरण (अर्थावबोधक), न हो सकेगा; क्योंकि जिस वाक्य (पुरुषव्याघ्र) का विवरण किया जा रहा है उसके शब्दों से जिस अर्थ का प्रतिपादन नहीं होता, उसका विवरण में होना उचित नहीं—जो बात मूल में नहीं उसे व्याख्या में लावेंगे कहाँ से? अतः इस विग्रहवाक्य के अनुसार 'पुरुषव्याघ्र' आदि उपमित समासवाले शब्दों में लक्षणा ही माननी पड़ेगी। और जब लक्षणा मानी जायगी तो पूर्वोक्तरीत्या लक्षणा का प्रयोजनरूप ताद्रूप्य (अभेद) स्वीकार करना पड़ेगा। फिर प्राचीनों ने 'पुरुषव्याघ्र' आदि में रूपक न मानकर द्विलुप्ता (धर्मवाचकलुप्ता) उपमा कैसे कह डाली? यदि बिना ताद्रूप्यरूपी प्रयोजन के लक्षणा होती ही नहीं तो यह क्या गड़बड़ है?

इसका उत्तर यह है कि—उपमित समास की 'भेद-मिश्रित उपमान के सादृश्य से युक्त उपमेय' में शक्ति स्वीकार

कर ली जायगी—अर्थात् 'पुरुषव्याघ्र' इस पूरे शब्द का वाच्य अर्थ 'व्याघ्र से भिन्न और व्याघ्र के सदृश पुरुष' यह होता है—उसमें लक्षणा है ही नहीं। अथवा, यह स्वीकार कर लिया जायगा कि—उपमित समास के उपमानवाचक शब्द की—'भेदमिश्रित सादृश्य से युक्त' में निरूढ़ लक्षणा है—अर्थात् उपमित समास के उत्तर पद में आए हुए 'व्याघ्र' आदि शब्दों का अर्थ, निरूढ़ लक्षणा द्वारा, 'व्याघ्र से भिन्न और व्याघ्र के सदृश' होता है। तात्पर्य यह कि—यदि है तो केवल उपमित समास में ही निरूढ़ लक्षणा है, अन्यत्र कहीं नहीं; अतः अन्यत्र ताद्रूप्यरूपी प्रयोजन के स्वीकार किए बिना गुजारा नहीं।

जो लोग 'इव' आदि निपातों को (सादृश्य के) द्योतक मानते हैं (वाचक नहीं), उनके मत से, यही बात 'मुखं चंद्र इव' इत्यादि वाक्यों में और वाचकलुप्ता उपमा में मानी जानी चाहिए। अर्थात् उन लोगों के हिसाब से या तो 'चंद्र इव' आदि समुदाय की 'चंद्रभिन्न चंद्रसदृश' आदि अर्थों में शक्ति है अथवा 'चंद्र' आदि शब्दों की पूर्वोक्त अर्थ में निरूढ़ा लक्षणा है।

आप कहेंगे—ऐसी दशा में उपमानवाचक शब्द ही सादृश्य का भी वाचक (शक्ति या लक्षणा से प्रतिपादक) हो गया; फिर 'पुरुषव्याघ्र' आदि में वाचक का लोप कैसे माना जा सकता है ? इसका उत्तर यह है कि—ऐसे

प्रयोगों में उपमानादिक से भिन्न केवल 'सादृश्य' अथवा 'सादृश्य से युक्त' का प्रतिपादक कोई शब्द नहीं है, अतः वाचक का लोप माना जाता है। अर्थात् उपमानवाचक शब्द से सादृश्य की प्रतीति होने पर सादृश्यवाचक की सत्ता नहीं समझी जाती, उसके लिये केवल सादृश्य या सादृश्य से युक्त के वाचक (अर्थात् 'इव' आदि अथवा 'सदृश' आदि) शब्द का पृथक् प्रयोग अपेक्षित है। सो यहाँ उपमान से भिन्न कोई ऐसा शब्द न होने के कारण वाचक का लोप मानने में कोई बाधा नहीं।

रही आपकी चौथी बात कि—'विद्वन्मानसहंस' इत्यादिक प्रयोगों में अन्योन्याश्रय दोष होगा। सो उस दोष का परिहार हम रूपकालंकार के प्रकरण में करेंगे।

अब केवल आपका पाँचवाँ दोष बच रहता है। जो यह है कि—रूपक में ताद्रूप्यज्ञान को सदृश-लक्षणा का प्रयोजन मानना उचित नहीं; क्योंकि यदि ऐसा करोगे तो 'तत्सदृश' इस शब्द से उत्पन्न बोध के अनंतर भी ताद्रूप्यज्ञान होने लगेगा। सो यह कुछ है नहीं। कारण, 'तत्सदृश' शब्द में लक्षणा नहीं है; अतः वहाँ ताद्रूप्यज्ञान होने लगने की बात ही नहीं। "ताद्रूप्यज्ञान लक्षणा का प्रयोजन है" यह प्राचीनों का सिद्धांत है, न कि 'सादृश्यज्ञान का प्रयोजन है' यह। अतः आपके ये सब दूषण व्यर्थ हैं।

'महाभाष्य' आदि ग्रंथ भी प्राचीनों के सिद्धांत के ही अनुकूल हैं। यदि नवीनों का सिद्धांत माना जाय तो उन सब ग्रंथों में बड़ी गड़बड़ हो जायगी। अतः प्राचीनों का सिद्धांत ही उत्तम है। यह है इस सब का संक्षेप।

गौणी साध्यवसाना लक्षणा का विचार

साध्यवसाना के विषय में विद्वानों के विचार तीन प्रकार के हैं—

१—कितने ही विद्वानों का कथन है कि—**"पुरेऽस्मिन् सौधशिखरे चंद्राजी विराजते"**=अर्थात् इस पुर के महलों की छत पर चंद्रमाओं की पंक्ति विराजमान हो रही है" इत्यादिक (गौणी) साध्यवसाना के उदाहरणों में 'चंद्र' आदि शब्दों से, लक्षणा द्वारा, यद्यपि 'मुख' आदि (लक्ष्य अर्थ) की उपस्थिति 'मुखत्व' आदि द्वारा—अर्थात् लक्ष्य अर्थ के वास्तविक स्वरूप में—होती है (तात्पर्य यह कि अर्थ की उपस्थिति में चंद्रत्व का कुछ भी संबंध नहीं रहता); तथापि शाब्दबोध 'चंद्रत्व' आदि मुख्यार्थतावच्छेदक धर्म से ही होता है। सारांश यह कि—ऐसे स्थलों में 'चंद्र' आदि शब्दों का लक्ष्य अर्थ, वस्तुतः, मुखत्वादिक धर्म से युक्त मुख आदि के रूप में ही होता है, उसमें 'चंद्रत्व' आदि धर्म का भान नहीं रहता, किंतु शब्द-द्वारा जो बोध होता है वह चंद्रत्व से युक्त मुख का होता है। कारण, हम पहले लिख

चुके हैं कि यद्यपि शब्द का बोध और अर्थ की उपस्थिति दोनों एक ही तरह के होने चाहिए—यह नियम है, तथापि लाक्षणिक ज्ञान के विषय में यह नियम प्रवृत्त नहीं होता। और इसका कारण है लक्षणा के ज्ञान का ही प्रभाव—अर्थात् लक्षणा के ज्ञान में कुछ ऐसा प्रभाव है कि वह शाब्दजन्य बोध और अर्थ की उपस्थिति दोनों को भिन्न-भिन्न बना देता है।

इस मत का सारांश यह है कि—गौणी साध्यवसाना लक्षणा में 'चंद्र' आदि शब्दों के अर्थ की उपस्थिति वास्तव में 'मुखत्व से युक्त मुख' आदि के रूप में होने पर भी शाब्द-बोध होता है 'चंद्रत्व से युक्त मुख' आदि।

२—पर जो विद्वान् इस नियम को मानते हैं कि 'अर्थ की उपस्थिति और शाब्दबोध एक प्रकार के होने चाहिए' उनका कथन है कि—जब लक्षणा द्वारा 'मुखत्व से युक्त मुख' आदि का शाब्दबोध हो चुकता है तब, एक (केवल 'चंद्र') शब्द से (दो अर्थों—'मुख' और 'चंद्र'—के) ग्रहण करने के कारण उत्पन्न हुई व्यंजना द्वारा मुखादिक का 'चंद्रत्व' आदि के रूप से बोध होता है। जिसका सारांश यह कि—साध्यवसाना के स्थल में लक्षणा तो 'चंद्र' आदि शब्दों का केवल 'मुख' आदि अर्थ बताकर दूर हो जाती है। फिर उस एक (चंद्र) शब्द में 'चंद्र' और 'मुख' दो अर्थों का ग्रहण होने के कारण (क्योंकि अभिधा द्वारा चंद्र शब्द का

अर्थ 'चंद्र' होता है और लक्षणा द्वारा मुख) व्यंजना का आविर्भाव होता है और वह 'चंद्रत्व' के रूप में मुख का बोध करवाती है—अर्थात् प्रथमतः 'चंद्र' शब्द का बोध 'मुख' के रूप में होने पर भी व्यंजना द्वारा 'चंद्रत्व से युक्त मुख' यह बोध होता है।

इन दोनों मतों में 'मुख' आदि में 'चंद्रत्व' के बोध की सामग्री मुख आदि के अपने धर्म 'मुखत्व' आदि की प्रतीति का निवारण नहीं करती—अर्थात् 'चंद्र' शब्द के लाक्षणिक अर्थ 'मुख' आदि में 'चंद्रत्व' और 'मुखत्व' दोनों धर्मों का बोध होता है—वे एक दूसरे का उपमर्द नहीं करते। सो इस तरह यह सिद्ध हुआ कि—एक ही धर्मी में 'चंद्रत्व' आदि (मुख्यार्थतावच्छेदक) और 'मुखत्व' आदि (लक्ष्यार्थतावच्छेदक) दोनों धर्मों का साक्षात् प्रतीत होना ही सारोपा से साध्यवसाना को भिन्न बनाता है। जिसका तात्पर्य यह है कि—यद्यपि सारोपा में भी चंद्रत्व और मुखत्व दोनों धर्मों का भान होता है तथापि वहाँ 'चंद्रत्व' का पहले 'चंद्र-सदृश' में भान होता है (क्योंकि वहाँ 'चंद्र' शब्द का लक्ष्य अर्थ चंद्रसदृश होता है 'मुख' नहीं); और तब उसके द्वारा मुख में चंद्रत्व का भान होता है (क्योंकि सारोपा में 'चंद्र-सदृश में अभिन्न मुख' यह शाब्दबोध होता है)। पर साध्यवसाना में बीच में किसी सदृश-वदृश का बखेड़ा न रहकर सीधा 'मुख' से हो चंद्रत्व का भान हो जाता है।

३—इन दोनों के अतिरिक्त अन्य विद्वानों का कहना है कि—विरुद्ध धर्म ('चंद्रत्व' आदि के भान की सामग्री से अपने धर्म ('मुखत्व' आदि) का भान निवृत्त हो ही जाता है। कारण, हमारा अनुभव है कि—शुक्ति (सीप) में रजतत्व (चाँदीपन) के भान की सामग्री होने पर शुक्तित्व का बोध नहीं होता; यदि विरुद्धधर्म का भान होने पर भी स्वधर्म का बोध होता रहता तो फिर हमें सीप में शुक्तित्व और रजतत्व दोनों धर्म क्यों नहीं दिखाई देते। अतः पूर्वोक्त दोनों मतों में यह मानना अप्रामाणिक है कि—साध्यवसाना में एक ही धर्मी में परस्पर विरोधी दो धर्मों (चंद्रत्व और मुखत्व) का भान होता है।

इस मत का सारांश यह है कि—'चंद्राजी विराजते' इत्यादि पूर्वोक्त उदाहरण में केवल 'चंद्रत्व' धर्म से अवच्छिन्न मुख की प्रतीति होती है, मुख में मुखत्व की प्रतीति नहीं होती।

इस मत में सारोपा से साध्यवसाना का यह भेद है कि—सारोपा में मुखादिक लक्ष्यतावच्छेदक (आह्लादकता आदि साधारण धर्म) की प्रतीति होती है और साध्यवसाना में वह नहीं होती—मुख में सीधा 'चंद्रत्व' प्रतीत हो जाता है।

पूर्वोक्त दो मत ठीक हैं या यह मत ?

पर असली बात तो यह है कि—साध्यवसाना में लक्ष्यतावच्छेदक (आह्लादकता आदि) धर्म के भान में यदि सह-

दयों का हृदय प्रमाण है—अर्थात् सहृदयों को यदि साध्यवसाना में भी 'आह्लादकता' आदि की प्रतीति होती है तब तो उसके निवारण के लिये कारण की कल्पना अनुचित हो है; क्योंकि अनुभवसिद्ध बात को कोई भी हटा नहीं सकता। रही सीप में चाँदी की प्रतीति के स्थल की बात। सो वहाँ सामने की वस्तु जब शुक्तित्व के रूप में दिखाई देगी तो उसमें रजतत्व का भान सर्वथा ही विरुद्ध है—जो शुक्तित्व का बोध हो जाय तो रजतत्व का बोध रह ही नहीं सकता; अतः रजतत्व की प्रतीति के समय शुक्तित्व के भान का निवृत्त हो जाना आवश्यक है। पर यहाँ वैसी बात नहीं है; क्योंकि यहाँ दोनों धर्मों की प्रतीति हो सकती है—इस बात को सभी मानेंगे कि रूपकातिशयोक्ति में भी मुख आदि में आह्लादकता आदि (लक्ष्यतावच्छेदक) धर्मों की प्रतीति होती है। हाँ, यदि यह बात प्रामाणिक न हो—यदि आपका साथी ही कोई आ मिले और कह दे कि हमें तो आह्लादकता आदि की प्रतीति नहीं होती तो वैसी कल्पना उचित ही है। ऐसी दशा में हम क्या कहें, आप वैसे मानिए। हमारा हृदय तो आपका यह तीसरा मत मानने को तयार है नहीं।

अलंकार प्रकरण

उपक्रम

अच्छा, अब, जिसका लक्षण पहले लिखा जा चुका है और जो काव्य का आत्मा है (रस) उस, व्यंग्य को रमणीय बनानेवाले अलंकारों का निरूपण किया जाता है।

उपमालंकार

उनमें से भी सबसे पहले उपमा का विचार किया जा रहा है; क्योंकि वह बहुत से अलंकारों के अंदर वर्त्तमान है—अर्थात् अधिकांश अलंकार ऐसे हैं कि जिनमें उपमा किसी-न-किसी रूप में प्रविष्ट रहती है।

लक्षण

वाक्यार्थ के सुशोभित करनेवाले सुंदर सादृश्य का नाम 'उपमालंकार' है।

लक्षण की व्याख्या

लक्षण में 'सुंदरता' का अर्थ है 'चमत्कार उत्पन्न करनेवाला होना'। और चमत्कार' का अर्थ है वह विशेष प्रकार का आनंद, जिसे सहृदयों का हृदय प्रमाणित करता है। सो इस लक्षण का तात्पर्य यह हुआ कि "जिस सादृश्य से सहृदयों का हृदय आनंदित हो उठे ऐसा सादृश्य यदि किसी वाक्यार्थ को सुशोभित करनेवाला हो तो उसे उपमालंकार कहा जाता है।"

लक्षण का विवेचन

"गगनं गगनाकारम्—अर्थात् आकाश आकाश के से आकारवाला है" इत्यादिक अनन्वयालंकार में जो सादृश्य आता है उसका, दूसरी सदृश वस्तु के हटाने मात्र के लिये—अर्थात् केवल इसलिये कि इस वस्तु के समान और कोई वस्तु नहीं है, ग्रहण होता है; अतः उस सादृश्य की स्वयं कोई स्थिति न होने से वह चमत्कारी नहीं होता। अतएव—अर्थात् अन्य सदृश पदार्थ की निवृत्ति के लिये ही सादृश्य का ग्रहण होने के कारण, सादृश्य का अन्वय न होने से—अर्थात् उस पदार्थ से उसी पदार्थ की तुलना न बन सकने से, उस अलंकार को अनन्वय कहा जाता है। अतः अनन्वयालंकार में इस लक्षण की अतिव्याप्ति नहीं होती।

"तवाननस्य तुलनां दधातु जलजं कथम्—अर्थात् कमल तुम्हारे मुख की तुलना को कैसे धारण करे?" इत्यादि व्यतिरेकालंकार में (सादृश्य का) निषेध चमत्कारी होता है; अतः उस निषेध के प्रतियोगी (अर्थात् जिसका निषेध किया जा रहा है उस) सादृश्य का निरूपण चमत्कार-रहित ही होता है। सो व्यतिरेकालंकार में भी इस लक्षण की अतिव्याप्ति नहीं होती।

इसी तरह जिनमें अभेद प्रधान है उन रूपक, अपह्नुति, परिणाम, भ्रांतिमान् और उल्लेख आदि अलंकारों में, और जिनमें भेद प्रधान है उन दृष्टांत, प्रतिवस्तूपमा, दीपक और

तुल्ययोगिता आदि चमत्कारी अलंकारों में, यद्यपि अभेद, अपह्नव आदि को सिद्ध करने के लिये सादृश्य रहता है, तथापि सादृश्य के चमत्कारी न होने के कारण उन्हें उपमालंकार नहीं कहा जा सकता।

रहे "मुख के समान चंद्रमा है" यह प्रतीपालंकार और "चंद्रमा के समान मुख है और मुख के समान चंद्रमा है" यह उपमेयोपमालंकार; सो उनमें सादृश्य के चमत्कारी होने के कारण लक्षण की अतिव्याप्ति की शंका न करिए; क्योंकि उन दोनों का हमें इसी अलंकार में संग्रह करना है—अर्थात् हम मानते हैं कि वे दोनों अलंकार उपमा से सर्वथा भिन्न नहीं हैं, किंतु उपमा के ही भेद हैं।

जहाँ उपमान कल्पित हो वहाँ कौन अलंकार होता है ?

आप कहेंगे—"त्वयि कोपो ममाभाति सुधांशाविव पावकः—अर्थात् तुम्हारे अंदर कोप मुझे ऐसा प्रतीत होता है जैसे चंद्रमा में आग" इत्यादिक में जो उपमान है 'चंद्रमा में आग' आदि, उसकी बिलकुल संभावना नहीं—वह वस्तु असंभव है। ऐसी दशा में उस वस्तु के साथ सादृश्य ही नहीं स्वीकार किया जा सकता; क्योंकि जब कोई वस्तु हो तब तो उससे सादृश्य हो सके—जब वैसी कोई वस्तु ही नहीं है तो उसके साथ सादृश्य कैसा ? और जब सादृश्य ही नहीं तो चमत्कार होगा किससे ? अत: ऐसी जगह

पूर्वोक्त लक्षण के अनुसार उपमा मानी जाय या नहीं ? इसका उत्तर यह है कि—कवि को खंडश: पदार्थों की उपस्थिति होती है—अर्थात् उसे 'चंद्रमा में आग' इस संमिलित पदार्थ की उपस्थिति नहीं होती, किंतु 'चंद्रमा' की और 'आग' की अलग-अलग उपस्थिति होती है। इस तरह पदार्थों के खंडश: उपस्थित होने के अनंतर, कवि, अपने इच्छानुसार असंभावित—अर्थात् अनहोने—रूप से—न कि सच्चे रूप से, चंद्रमा के अंदर आग की कल्पना करेगा और जब ऐसे पदार्थ की कल्पना हो चुकेगी तब उसके साथ सादृश्य की भी कल्पना में कोई बाधक नहीं।

आप कहेंगे—कल्पित सादृश्य तो असत् (मिथ्या) हुआ, फिर वह चमत्कारोत्पादक कैसे होगा—झूठी बात को सुनकर क्या आनंद मिलेगा ? तो इसका उत्तर यह है कि—आनंद कुछ सच्ची चीज़ों से ही मिलता हो ऐसा नियम नहीं है। क्योंकि यदि हम, जिसके अंग अत्यंत मुलायम सोने से बने हों और जिसने मणिमय दाँतों की कांति से अंधकार को हटा दिया हो ऐसी कामिनी को, भावना द्वारा, अपने सामने खड़ी कर लें और उसका आलिंगन करें तो उस आलिंगन से आह्लाद का उत्पन्न होना देखा जाता है। रही लक्षण की बात; सो उसमें उपमान-उपमेय के सत्य होने का निवेश है नहीं। अत: उपमान के कल्पित होने पर उपमा मानने में दोष का लेश भी नहीं है। अतएव

"स्तनाभोगे पतन् भाति कपोलात् कुटिलोऽलकः ।
शशाङ्कबिम्बतो मेरौ लम्बमान इवोरगः ॥

अर्थात् स्तनों की परिपूर्णता पर—भरे-पूरे स्तनों पर कपोल से गिरता हुआ कुटिल केश, चंद्र-मंडल से सुमेरु पर्वत पर लटकते हुए साँप-सा प्रतीत होता है।" इत्यादिक में भी उपमालंकार मानने में कोई गड़बड़ नहीं।

अन्य विद्वानों का कहना है कि—"इस कल्पितोपमा का फल है 'अन्य किसी उपमान का न होना'—अर्थात् कवि ऐसी उपमा द्वारा यह सिद्ध करना चाहता है कि जगत् में ऐसा कोई पदार्थ विद्यमान नहीं कि जिसके साथ प्रकृत उपमेय की तुलना की जा सके; अतः इसे (उपमा न मानकर) अन्य कोई अलंकार मानना चाहिए"। सो ठीक नहीं। कारण यह है कि—ऐसे स्थलों में सादृश्य के चमत्कारी होने के कारण इसका उपमा में अंतर्भाव ही उचित है। क्योंकि उपमा के लक्षण में सादृश्य का "सत् पदार्थ से निरूपित होना" नहीं लिखा गया है—अर्थात् उपमान सत्य ही होना चाहिए यह नियम नहीं है। रहा यह कि "उपमान की कल्पना का फल अन्य किसी उपमान का न होना है"; सो यह बात तो इसे एक विशेष प्रकार की उपमा सिद्ध करती है; इससे इसका उपमा से बाहरी होना सिद्ध नहीं होता। क्योंकि 'अन्य उपमान का न होना' इसका फल होने पर भी चमत्कार तो सादृश्य का ही है, वह कवि द्वारा

कल्पित है तो क्या हो गया? अतः ऐसी जगह उपमा मानना ही उचित है।

बिंब प्रतिबिंब भाववाली उपमा

अच्छा, अब यह विचार करिए कि—

"विलसत्याननं तस्या नासाग्रस्थितमौक्तिकम् ।
आलक्षितबुधाश्लेषं राकेन्दोरिव मंडलम् ॥

अर्थात् जिसकी नासिका के अग्रभाग में मोती स्थित है वह उस (कामिनी) का मुख, जिसमें बुध-तारा का संयोग दिखाई देता हो ऐसे पूर्णिमा के चंद्र-मंडल-सा सुशोभित हो रहा है।"

इत्यादिक में समान धर्म के न होने के कारण उपमा किस तरह बन सकती है? क्योंकि साधारण धर्म की उपस्थिति ही उपमा का कारण है, बिना उसके उपमा नहीं हो सकती। यदि आप 'बुध' और 'मोती' को समान धर्म रूप मानें तब भी बात बनती नहीं। क्योंकि बुध और मोती एक ही एक में रहनेवाले हैं—अर्थात् बुध चंद्रमंडल में रहता है तो मुख में नहीं और मोती मुख में रहता है तो चंद्रमंडल में नहीं। और जो वस्तु उपमान और उपमेय दोनों में न रहे वह समानधर्म हो नहीं सकती।

आप कहेंगे—समानधर्म के विषय में यहाँ दो उत्तर हो सकते हैं—

१—"जिसकी नासिका के अग्रभाग में मोती स्थित है वह उसका मुख, जिसमें बुध का आलिंगन दिखाई दे रहा हो ऐसे पूर्णिमा के चंद्रमंडल-सा सुशोभित हो रहा है" इसका यदि यह तात्पर्य हो कि 'पूर्वोक्त विशेषणों से युक्त मुख, पूर्वोक्त विशेषणों से युक्त पूर्णिमा के चंद्रमंडल द्वारा निरूपित सादृश्य को सिद्ध करनेवाली शोभा का आश्रय है'; तब तो एक प्रकार की शोभा ही समानधर्म हो जाती है। और—

२—यदि यह तात्पर्य हो कि 'पूर्वोक्त विशेषणों से युक्त चंद्रमंडल के समान पूर्वोक्त विशेषणों से युक्त मुख सुशोभित (शोभा का आश्रय) हो रहा है' और इस तरह इस पद्य में वैसे चंद्रमंडल द्वारा निरूपित सादृश्य से व्याप्त मुख को उद्देश्य मानकर 'शोभा के आश्रय होने' को विधेयरूप से कहना अभीष्ट हो, तो यह लुप्तोपमा होगी; अतः जैसे 'कमल के समान मुख' इत्यादि में 'आह्लादकता' आदि समान धर्म की तर्कना कर ली जाती है वैसे किसी समानधर्म की तर्कना कर लेनी चाहिए। अतः कोई बाधा नहीं।

सारांश यह कि यदि पूर्वोक्त पद्य में 'शोभा' को सादृश्य का प्रयोजक माना जाय तब तो 'शोभा' स्वयं ही समानधर्म-रूप हो जाती है और यदि वैसा न मानकर शोभा को केवल विधेय माना जाय तो यहाँ लुप्तोपमा होने के कारण चंद्रमंडल और मुख के किसी अन्य समानधर्म (सुंदरता आदि) की कल्पना कर ली जानी चाहिए।

पर आपके ये दोनों ही उत्तर उचित नहीं। कारण, पहले उत्तर में जो आपने शोभा को समानधर्म बताया है सो यह बात है नहीं। क्योंकि वस्तुतः उपमेय और उपमान की शोभा भी असाधारण होती है। अर्थात् सोचकर देखने पर उपमान और उपमेय की शोभा भी भिन्न-भिन्न होती है, अतः उसे साधारण धर्म कहना कहाँ तक ठीक है? और दूसरे उत्तर के द्वारा यद्यपि प्रसिद्ध उदाहरणों में काम चल सकता है तथापि—

"कोमलातपशोणाभ्रसन्ध्याकालसहोदरः।
कषायवसनो याति कुङ्कुमालेपनो यतिः॥

अर्थात् जिसमें कोमल धूप हो और लाल बादल हों उस सन्ध्याकाल का सगा भाई, केसर के लेप और कषायवर्ण का भगवा वस्त्रवाला संन्यासी जा रहा है।"

इत्यादिक उदाहरणों में अन्य किसी (प्रसिद्ध) समान-धर्म की प्रतीति न होने के कारण—अर्थात् 'मुखचंद्र' आदि में 'आह्लादकता' आदि समान धर्मों के प्रसिद्ध होने पर भी यति और संध्याकाल आदि में किसी प्रकार के समानधर्म के प्रसिद्ध न होने के कारण—और यदि कोई समानधर्म सूझ भी पड़े तो उसके चमत्कारी न होने के कारण, तथा जो 'कोमल धूप' आदि धर्म बच रहते हैं, उनके असाधारण—अर्थात् उपमान या उपमेय में से केवल एक में रहनेवाले—होने के कारण ऐसे स्थलों में उपमा कैसे मानी जा सकती है? सो

यह प्रश्न ज्यों का त्यों रह जाता है। अतः आपके दोनों उत्तरों से कुछ काम नहीं चलता।

ऐसी दशा में इस प्रश्न का (सिद्धांतरूप से) यह उत्तर दिया जाता है कि—ऐसे स्थलों में उपमान और उपमेय में रहनेवाले धर्मों के असाधारण होने पर भी, उन धर्मों में जो परस्पर सादृश्य रहता है उसके कारण, उन धर्मों में अभेद मानकर उनकी साधारणता की कल्पना की जाती है। अर्थात् 'बुध' और 'मोती' तथा 'कोमल धूप' और 'केसर के लेप' आदि के परस्पर भिन्न होने पर भी उनमें जो (क्रमशः) श्वेत और अरुण कांति द्वारा समानता रहती है, उसके द्वारा उन्हें अभिन्न मानकर 'बुध से अभिन्न मोती' और 'भगवा वस्त्र से अभिन्न केसर के लेप' आदि को साधारण धर्म मान लिया जाता है। सो असाधारण धर्मों के भी साधारण हो जाने से उपमा बन जाती है।

आप कहेंगे—वाह ! आप भी खूब मिले ! सोचिए तो सही। यह जो आपका कल्पित अभेद ज्ञान है वह तो भ्रमरूप है—बिलकुल झूठा है; फिर उसके द्वारा ('बुध' और 'मोती' तथा) 'केसर के लेप और कोमल धूप' आदि वास्तव में भिन्न धर्मों का, उन्हें साधारण बनाने के लिये किया जाने-वाला सर्वथा अविद्यमान अभेद कैसे सिद्ध हो सकता है ? क्योंकि भ्रम द्वारा किसी पदार्थ की सिद्धि नहीं होती। तो इसका उत्तर यह है कि—पूर्वोक्त "त्वयि कोपो ममाभाति

सुधांशाविव पावकः" इत्यादिक उदाहरणों में जैसे उपमान और उपमेय* के सर्वथा मिथ्या होने पर भी केवल कल्पना के बल पर उपमा की सिद्धि हो जाती है, उसी तरह प्रस्तुत उदाहरणों में साधारण धर्मों की भी सिद्धि की जा सकती है—इस बात को हम स्पष्टतया सिद्ध कर देंगे। बस, कोई झगड़ा नहीं।

इसी—अर्थात् उपमान और उपमेय के धर्मों के वस्तुतः भिन्न होने पर भी उनकी पारस्परिक समानता के कारण उनके अभिन्न मानने—को ही प्राचीन विद्वान् 'बिंब प्रतिबिंब भाव' कहते हैं।

इसी तरह—

"भुजो भगवतो भाति चञ्चच्चाणूरचूर्णने।
जगन्मण्डलसंहारे वेगवानिव धूर्जटिः॥

अर्थात् चाणूर के चूर्ण करने में चंचलतायुक्त भगवान्—श्रीकृष्ण—की भुजा, भुवनकोश के संहार करने में वेगयुक्त शिवजी के सदृश, प्रतीत होती है।

---

* यद्यपि यहाँ उपमेय—अर्थात् 'नायिका के अंदर कोप'—'चंद्रमा के अंदर आग' की तरह वस्तुतः मिथ्या नहीं है, तथापि उसका उपमेय होना' मिथ्या है। कारण, जब उपमान और सादृश्य दोनों मिथ्या हैं तब उस वस्तु को उपमेय कहना कल्पित है।

यहाँ 'शिवजी' और 'भगवान् की भुजा' में आकार की समानता तो है नहीं और यदि 'प्रतीत होने (क्रिया)' को समान धर्म माना जाय तो वह बिना किसी विशेषण के सादृश्य का प्रयोजक होता नहीं—अर्थात् निरी प्रतीति मात्र से सादृश्य सिद्ध हो नहीं सकता। सो 'चाणूर का चूर्ण करना' जिसका निमित्त है उस 'चांचल्ययुक्तता' रूपी और 'भुवन-कोश का संहार जिसका निमित्त है उस 'वेगयुक्तता' रूपी—'प्रतीत होने' (क्रिया) के विशेषणों*—का अभेद मान लेने से यह सिद्ध हुआ कि—यहाँ 'अभिन्नधर्म जिसके विशेषण हैं उस 'प्रतीत होने(रूपी क्रिया)' का विशेष्य† होना (जो कि शिव और भुजा दोनों में रहता है)' साधारण धर्म हुआ; और तब उपमा सिद्ध हो गई।

उपर्युक्त अभिन्न धर्मों में से, 'चाणूर' और 'भुवनकोश' के वास्तव में भिन्न होने पर भी 'महाकाय होने' आदि (अपने धर्मों) के कारण समानता होती है, अतः इस अंश में तो (पूर्वोक्तरीत्या) यहाँ **बिम्ब प्रतिबिम्ब भाव** है और 'चूर्णन' और 'संहार' तथा 'चांचल्ययुक्तता' और 'वेगयुक्तता'

---

* इतना याद रखिए कि—वाक्य भर में वैयाकरणों के हिसाब से क्रिया और नैयायिकों के हिसाब से कर्ता विशेष्य होते हैं, अन्य सब पदों के अर्थ उनके विशेषण माने जाते हैं; क्योंकि वे सब अप्रधान होते हैं।

† यह कथन नैयायिकों के हिसाब से है।

ये यद्यपि आश्रय का भेद होने से भिन्न हैं—अर्थात् जुदी-जुदी चीजों में रहने से जुदी-जुदी प्रतीत होती हैं, तथापि वास्तव में एकरूप ही हैं; अतः इनका **वस्तु प्रतिवस्तु भाव** है।

बिंब प्रतिबिंब भाव और वस्तु प्रतिवस्तु भाव का भेद

(इस कथन से यह सारांश निकला कि—जिन पदार्थों के वास्तव में भिन्न होने पर भी उनमें रहनेवाले धर्मों के अभिन्न होने के कारण, जहाँ, उन्हें अभिन्न मान लिया जाता है वहाँ 'बिंब प्रति-बिंब भाव' होता है; और जो पदार्थ वस्तुतः भिन्न न हों, पर भिन्न भिन्न आधारों में रहने के कारण (और भिन्न भिन्न शब्दों से प्रतिपादित होने के कारण) भिन्न-से प्रतीत होते हों, उनका जहाँ अभेद माना जाय वहाँ 'वस्तु प्रतिवस्तु भाव' होता है।)

यों उपमा के लक्षण का निरूपण समाप्त हुआ।

उदाहरण

अब इसका उदाहरण सुनिए—

गुरुजनभयमद्विलोकनान्तःसमुदयदाकुलभावमावहन्त्याः।
दरदलदरविन्दसुन्दरं हा! हरिणदृशो नयनं न विस्मरामि॥

नायक अपने मित्र से कहता है—आह! इधर, बड़े-बूढ़ों का भय और उधर मेरा अवलोकन; इन दोनों के मध्य में उदय हो रही घबराहट को धारण करती मृगनयनी का,

किंचित् विकसित होते कमल के समान सुंदर, नेत्र, मुझे विस्मृत नहीं होता—आज भी वह ज्यों का त्यों मेरे सामने खड़ा है।

यहाँ उपमानवाचक 'दरदलदरविंद (किंचित् विकसित होता कमल)' शब्द का साधारण धर्म के वाचक 'सुंदर' शब्द के साथ समास होने पर प्रतीत होनेवाली उपमा, (स्मृति को सुशोभित करती हुई) समग्र वाक्य (पूरे श्लोक) के अर्थरूप विप्रलंभ शृंगार को सुशोभित कर रही है। अतः अलंकार-रूप है।

आप कहेंगे—यहाँ 'स्मृति-भाव' का प्रधानतया ध्वनित होना न मानकर विप्रलंभ-शृंगार की प्रधानता क्यों बताई जाती है ? तो यह प्रश्न उचित नहीं। कारण, 'न विस्मरामि (मुझे विस्मृत नहीं होता)' इस पद से स्मृति के अभाव का निषेध किया जाने के कारण 'स्मृति' स्पष्ट रूप से सूचित हो रही है और स्पष्ट प्रतिपादित अर्थ को व्यंग्य कहा नहीं जा सकता। सो ऐसी दशा में इस स्मृति को भाव भी नहीं कहा जा सकता, फिर प्रधान होने की तो बात ही क्या है ?

इसी तरह पूर्वार्ध में आए, और एक-दूसरे को दबाने की इच्छावाले, 'त्रास' और 'औत्सुक्य' भावों की संधि भी प्रधान नहीं हो सकती। क्योंकि प्रथम तो वह नायिका में रहने-के रूप से अनुवाद्य है, विधेय नहीं; और दूसरे उत्तरार्ध में वर्णित स्मृति का अंग है।

सो यह सिद्ध हुआ कि—'भावसंधि' और 'उपमालंकार' से सुशोभित की हुई स्मृति और 'हा (आह !)' पद से अभिव्यक्त संलापरूपी अनुभाव, दोनों विप्रलंभ शृंगार को ही सुशोभित करते हैं। अतः यहाँ विप्रलंभ-शृंगार की ही प्रधानता है।

प्राचीन लक्षणों की आलोचना

अप्पय दीक्षित ने तो "चित्रमीमांसा" में उपमा के—

१—"**उपमितिक्रियानिष्पत्तिमत्सादृश्यवर्णनम-दुष्टमव्यंग्यमुपमालंकारः**—अर्थात् जो दोषयुक्त और व्यंग्य न हो तथा उपमिति क्रिया की सिद्धि से युक्त हो—अर्थात् जिससे उपमिति क्रिया (तुलना) सिद्ध होती हो—ऐसे सादृश्य के वर्णन को 'उपमालंकार' कहते हैं।" और

२—"**स्वनिषेधापर्यवसायि सादृश्यवर्णनं वा तथाभूतं तथा**—अर्थात् अपने (उपमा के) निषेध में जिसका पर्यवसान न होता हो—अर्थात् जिससे अंततो गत्वा उपमा का निषेध सिद्ध न होता हो—ऐसा सादृश्य का वर्णन वैसा हो (दोषयुक्त तथा व्यंग्य न हो) तो वैसा (उपमा-लंकार) कहलाता है।"

इस तरह दो लक्षण बनाए हैं। पर ये दोनों ही विचार-णीय हैं। देखिए, इन दोनों ही लक्षणों में "सादृश्य के वर्णन" को उपमालंकार कहा गया है। अब सोचिए कि—वर्णन दो प्रकार से हो सकता है; बाहर विशेष प्रकार के

शब्दों के रूप में और अंतरात्मा में विशेष प्रकार के ज्ञान के रूप में। ऐसी दशा में, शब्दों के शब्दवाच्य न होने के कारण, और यदि शब्दों को शब्दवाच्य मान भी लो तो, ज्ञान के तो सर्वथा शब्दवाच्य न होने के कारण, वर्णन की अर्थालंकारता बाधित हो जाती है। सारांश यह कि जो वस्तु शब्दों द्वारा वाच्य होती है उसे अर्थ कहा जाता है और वही वस्तु जब किसी दूसरी वस्तु को सुशोभित करे तो उसे अर्थालंकार कहा जाता है। ऐसी दशा में जो वस्तु शब्दवाच्य नहीं उसे (अर्थात् वर्णन को) अर्थालंकार कहना अत्यंत असंगत है। दूसरे, शब्दरूप अथवा ज्ञानरूप वर्णन, सर्वथा ही, अव्यंग्य है—वह किसी प्रकार भी व्यंग्य नहीं हो सकता। अतः उसका 'व्यंग्य न हो' यह विशेषण भी व्यर्थ है।

अब यदि कहो कि—हम वर्णन को उपमालंकार नहीं कहते; किंतु वर्णन के विषय—अर्थात् वर्णन में आनेवाले—पूर्वोक्त विशेषणों से युक्त सादृश्य को उपमा कहते हैं। तो आपके लक्षण के अनुसार "जैसा बैल होता है वैसा ही गवय* (रोझ) होता है" इस वाक्य में उपमालंकार हो जायगा। इसी तरह "कालोपसर्जने च तुल्यम् (पाणिनि-सूत्र १।२।५७)" इत्यादिक में भी उपमालंकार होने लगेगा। क्योंकि यहाँ भी 'अनुशासन न करने योग्य होने' आदि

---

* नील गाय (हिन्दी)

समानधर्म द्वारा काल और उपसर्जन का 'प्रधानप्रत्ययार्थ-वचन'* रूपी उपमान के साथ सादृश्य का प्रतिपादन है। आप कहेंगे—यहाँ 'कालोपसर्जने' यह द्विवचन है और 'तुल्यम्' यह एकवचन है। यद्यपि व्याकरण से समाधान हो जाने के कारण इस प्रयोग को अशुद्ध नहीं कहा जा सकता, तथापि साहित्यशास्त्र के अनुसार यहाँ वचनभेद दोष है। सो लक्षण में आए हुए 'दुष्ट न हो' इस विशेषण से यहाँ उपमालंकार होने का निवारण हो जायगा। तो यह भी उचित नहीं। क्योंकि इस वाक्य को तोड़कर जब हम 'कालः प्रधानप्रत्ययार्थवचनेन तुल्यः' 'उपसर्जनं प्रधानप्रत्य-यार्थवचनेन तुल्यम्' इस तरह एक एक उपमेयवाले दो वाक्य बना लेंगे तब उन वाक्यों के निर्दोष हो जाने के कारण फिर भी अतिव्याप्ति रहेगी ही।

आप कहेंगे—ऐसे स्थलों पर उपमिति क्रिया के सिद्ध हो जाने पर भी 'सादृश्य का वर्णन' नहीं कहा जा सकता; क्योंकि यहाँ जो बात कही गई है वह चमत्कारी नहीं है, और 'वर्णन' पद का अर्थ है 'जिसका विषय (वर्णनीय वस्तु) चमत्कारी हो वह कवि की क्रिया'। सो सादृश्य के रहते हुए भी उपर्युक्त उदाहरणों के से स्थलों में सादृश्य का वर्णन नहीं कहा जा सकता। अतः लक्षण में कोई दोष नहीं।

---

* 'कालोपसर्जने च प्रधानप्रत्ययार्थवचनेन तुल्ये' इति संक्षिप्तः सूत्रार्थः।

तो हम कहेंगे कि—यदि आप ऐसा मानते हैं तो आपको लक्षण में 'चमत्कारित्व' अवश्य प्रविष्ट करना पड़ेगा—बिना उसके काम नहीं चल सकता। और ऐसी दशा में आपने उपमा के पहले लक्षण में 'सादृश्य वर्णन' के साथ जो 'उपमिति क्रिया की सिद्धि से युक्त हो' यह विशेषण दिया है सो व्यर्थ हो जायगा। क्योंकि बिना सिद्ध हुए, ऊपर ही ऊपर से प्रतीत होनेवाला, सादृश्य चमत्कार को उत्पन्न ही नहीं कर सकता। सो जब उसे चमत्कारोत्पादक कह दिया तब पूर्वोक्त विशेषण की कोई आवश्यकता नहीं रहती।

इसी तरह दूसरे लक्षण में "अपने निषेध में जिसका पर्यवसान न होता हो" यह 'सादृश्य के वर्णन' का विशेषण व्यर्थ है। क्योंकि 'व्यतिरेक' में "कमल आदि के सादृश्य" के निषेध के, और 'अनन्वय' में "सादृश्य के सर्वथा निषेध" के ही चमत्कारी होने के कारण वहाँ सादृश्य का निरूपण निषेध के लिये ही होता है—उसकी अपनी न प्रधानता होती है न चमत्कारिता, यह हम पहले ही कह चुके हैं। अतः उसके हटाने के लिये पूर्वोक्त विशेषण की कोई आवश्यकता नहीं।

यह तो हुई एक बात। अब दूसरी बात सुनिए। आपके इस लक्षण की—

"स्तनाभोगे* पतन् भाति कपोलात् कुटिलोऽलकः।
शशाङ्कबिम्बतो मेरौ लम्बमान इवोरगः॥

---

* इसका अर्थ पहले लिखा जा चुका है।

इत्यादिक में जो उपमा है, वह प्रधान वाक्यार्थरूप होने के कारण किसी अन्य अर्थ को सुशोभित करनेवाली नहीं होती; सो उस अलंकाररूप न होनेवाली उपमा में अतिव्याप्ति हो जायगी। क्योंकि यहाँ भी 'दुष्टता और व्यंग्यता से रहित उपमिति क्रिया की सिद्धि से युक्त सादृश्य का वर्णन' है। और आप यह तो कह नहीं सकते कि—हमें इस उपमा का भी लक्षण बनाना है; क्योंकि ऐसा कहने पर आपने जो व्यंग्य उपमा के निवारण के लिये परिश्रम किया है वह व्यर्थ हो जायगा। आप कहेंगे—यहाँ उपमा है कहाँ ? यहाँ तो उत्प्रेक्षा है, जिसमें सादृश्य नहीं किंतु अभेद प्रधान होता है। पर यह कहना उचित नहीं। क्योंकि ऐसा मानने से कल्पितोपमा के लिये कोई स्थान न रहेगा—वह बिलकुल उड़ जायगी (जिसे कि 'चित्र-मीमांसा' में आपने भी स्वीकार किया है)।

और अलंकार रूप न होनेवाली उपमा का भी आपने लक्षण बनाया है—यह बात तो बन नहीं सकती; क्योंकि आपके बनाए हुए—

"व्यापार उपमानाख्यो भवेद्यदि विवक्षितः।
क्रियानिष्पत्तिपर्यन्तमुपमालङ्कृतिस्तु सा ॥

अर्थात् जब उपमान नामक क्रिया (तुलना) का क्रिया की सिद्धि पर्यंत कहना अभीष्ट हो तो वह उपमालंकार होता

है" इस सूत्र में अलंकाररूप उपमा के लक्षण बनाने का कथन है। यहीं नहीं, किंतु वहाँ आपने फिर (अर्थात् उपमा के पूर्वोक्त दोनों लक्षणों के बाद) यह कहा है कि—"इन* दोनों लक्षणों को यदि अलंकाररूप उपमा के लक्षण बनाने हों तो उनमें 'दुष्टता और व्यंग्यता से रहित' यह विशेषण और दे देना चाहिए।" सो "स्तनाभोगे पतन् भाति..." आदि पूर्वोक्त पद्य में, आपके हिसाब से 'उपमालंकार' का लक्षण गए बिना नहीं रह सकता। और वह उपमा अलंकाररूप है नहीं। कारण, उपमान और उपमेय के सादृश्यरूपी उपमा के स्वरूप से अतिरिक्त अन्य कोई वाक्यार्थ नहीं है कि जिसे उपमा अलंकृत करे। सो आपके उपमालंकार के लक्षण की अलंकार न होनेवाली केवल उपमा में अतिव्याप्ति हुए बिना नहीं रहती।

एक बात और लीजिए। पूर्वोक्त दोनों लक्षणों में वर्णन के साथ जो "सादृश्य का" यह विशेषण लगाया गया है सो भी निरर्थक है। कारण, "उपमिति क्रिया की सिद्धि से युक्त वर्णन को उपमा कहा जाता है" इतना कहने से ही आपका अभीष्ट अर्थ सिद्ध हो जाता है; क्योंकि सादृश्य के अतिरिक्त अन्य किसी वर्णन से "उपमिति क्रिया की सिद्धि" होगी कैसे? सो यह सिद्ध हुआ कि अप्पयदीक्षित के लक्षण यथेष्ट विचारपूर्वक नहीं लिखे गए।

---

* एतत् (मूले) = लक्षणद्वयम्।

इसी तरह **विद्यानाथ** का ('प्रतापरुद्रीय' में लिखा हुआ) यह लक्षण कि—

"स्वतःसिद्धेन भिन्नेन संमतेन च धर्मतः ।
साम्यमन्येन वर्ण्यस्य वाच्यं चेदेकदोपमा ॥

अर्थात् स्वतः सिद्ध एवं उपमेय से भिन्न और कवि-समय-प्रसिद्ध—अर्थात् जिसमें लिंग-भेद वचन-भेद आदि दोष न हों ऐसी अप्रस्तुत वस्तु से, वर्णनीय वस्तु का, समान धर्म के कारण एक बार सादृश्य, यदि वाच्य हो तो उसे उपमा कहा जाता है।"

हटा दिया गया। कारण, इसकी, व्यतिरेकालंकार के, (अंततः) निषेध किए जानेवाले, सादृश्य में अतिव्याप्ति हो जाती है।

इसी प्रकार—

"उपमानोपमेयत्वयोग्ययोरर्थयोर्द्वयोः ।
हृद्यं साधर्म्यमुपमेत्युच्यते काव्यवेदिभिः ॥

अर्थात् उपमानता और उपमेयता के योग्य दो पदार्थों के सुंदर साधर्म्य (समान धर्मवाले होने) को काव्यज्ञ लोग उपमा कहते हैं।"

इस **प्राचीनों के** लक्षण का भी प्रत्याख्यान हो जाता है। कारण, साधर्म्य के साथ केवल 'हृद्य (सुंदर)' विशेषण देने से ही काम चल सकने के कारण अन्य विशेषण व्यर्थ हो जाते हैं।

इसी तरह **काव्यप्रकाश** में लिखा हुआ—

साधर्म्यमुपमा भेदे—अर्थात् भेद होने पर समानधर्मता को उपमा कहते हैं।”

यह लक्षण भी विशेष सुंदर नहीं। क्योंकि इसकी भी व्यतिरेकालंकार के, निषेध किए जानेवाले, सादृश्य में अति-व्याप्ति हो जाती है। यदि आप कहें कि—हम ‘साधर्म्य’ के साथ ‘पर्यवसित’ विशेषण और लगा देंगे, जिससे उसका अर्थ यह हो जायगा कि ‘जिस साधर्म्य का साधर्म्य में ही पर्यवसान (समाप्ति) हो जाय, निषेध आदि में नहीं, उस साधर्म्य को उपमा कहते हैं’, तो यह भी ठीक नहीं। कारण, अनन्वयालंकार में जो सादृश्य होता है उसका, साधर्म्य में पर्यवसान न होने से (क्योंकि अनन्वयालंकार के सादृश्य का पर्यवसान निषेध में जाकर होता है) ही निवारण हो जाने के कारण ‘भेद होने पर’ यह विशेषण व्यर्थ हो जाता है। एक तो उस लक्षण में यह दोष है; दूसरे यह भी दोष है कि—काव्य के अलंकारों के प्रकरण में ऐसे सामान्य लक्षण का बनाना अनुचित भी है, जो लौकिक, अलौकिक, प्रधान, वाच्य और व्यंग्य सभी प्रकार की उपमा में अतिव्याप्त हो जाय।

इसी—अर्थात् काव्यप्रकाश के लक्षण में बताए गए दोष—समूह के—कारण

"भेदाभेदतुल्यत्वे साधर्म्यमुपमा—अर्थात् भेद और अभेद के समान होने पर जो साधर्म्य हो उसे उपमा कहा जाता है"

यह **अलकारसर्वस्व** में लिखा हुआ लक्षण भी वैसा ही है—अर्थात् विशेष सुंदर नहीं है।

इसी तरह—

"प्रसिद्धगुणेनोपमानेनाऽप्रसिद्धगुणस्योपमेयस्य सादृश्य-मुपमा—अर्थात् जिसके गुण प्रसिद्ध हैं उस उपमान से, जिसके गुण प्रसिद्ध नहीं हैं उस उपमेय के, सादृश्य को उपमा कहते हैं।"

यह **अलंकार-रत्नाकर** में कहा हुआ लक्षण भी उत्तम नहीं है। क्योंकि श्लेषमूलक उपमा में 'श्लिष्ट शब्द'रूपी जो धर्म होता है, उसे कवि ही कल्पित करता है, वह न उपमान में प्रसिद्ध होता है, न उपमेय में। और उस रूप से उपमान की प्रसिद्धि भी नहीं होती। सो ये सब लक्षण गड़बड़ ही हैं।

अच्छा, छोड़िए अब इस दूसरों के दूषण ढूँढ़ने को। प्रस्तुत बात को लीजिए।

उपमा के भेद

अब इस उपमा के प्राचीनों के अनुसार कुछ भेदों के उदाहरण दिए जाते हैं—

उपमा दो प्रकार की है—पूर्णा और लुप्ता। उनमें से पूर्णा उपमा श्रौती और आर्थी दो भेदों में विभक्त है; और उन

भेदों में से प्रत्येक भेद वाक्यगामी, समासगामी और तद्धित-गामी—इस तरह तीन प्रकार के होते हैं, अतः पूर्णोपमा छः प्रकार की होती है। सारांश यह कि **पूर्णोपमा के छः भेद** हैं—श्रौती वाक्यगता, आर्थी वाक्यगता, श्रौती समासगता, आर्थी समासगता, श्रौती तद्धितगता और आर्थी तद्धितगता।

अब रही लुप्ता। सो वह **लुप्तोपमा** उपमानलुप्ता, धर्मलुप्ता, वाचकलुप्ता, धर्मोपमानलुप्ता, वाचकधर्मलुप्ता, वाचको-पमेयलुप्ता और धर्मोपमानवाचकलुप्ता इस तरह सात प्रकार की है। उनमें से **उपमानलुप्ता** वाक्यगता और समास-गता इस तरह दो प्रकार की। **धर्मलुप्ता** श्रौती समास-गता, आर्थी समासगता, श्रौती वाक्यगता, आर्थी वाक्यगता और आर्थी तद्धितगता इस तरह पाँच प्रकार की है। यह उपमा श्रौती तद्धितगता नहीं होती। **वाचकलुप्ता** समास-गता, कर्मक्यज्गता, आधारक्यज्गता, क्यङ्गता, कर्म-णमुलगता और कर्त्तृ-णमुलगता इस तरह छः प्रकार की है। **धर्मो-पमानलुप्ता** वाक्यगता और समासगता इस तरह दो प्रकार की है। वाचकधर्मलुप्ता भी क्विब्गता और समासगता इस तरह दो प्रकार की ही है। **वाचकोपमेयलुप्ता** एक प्रकार की है। **धर्मोपमानवाचकलुप्ता** भी एक प्रकार की है—समासगता। इस तरह सब मिलाकर लुप्ता के उन्नीस भेद होते हैं। पूर्णा के छः भेदों को इसमें जोड़ देने से सब २५ भेद हुए।

उपर्युक्त भेदों के उदाहरण

पूर्णोपमा

अच्छा, अब इन सबके क्रम से उदाहरण दिए जाते हैं। उनमें से—

पूर्णा श्रौती वाक्यगता; जैसे—

ग्रीष्मचण्डकरमण्डलभीष्मज्वालसंसरणतापितमूर्त्तेः ।
प्रावृषेण्य इव वारिधरो मे वेदनां हरतु वृष्णिवरेण्यः ॥

भक्त प्रार्थना करता है—ग्रीष्म-ऋतु के सूर्यमंडल की भयंकर ज्वालावाले प्रदेश में जाने-आने से जिसका शरीर संतप्त हो उठा हो उस (मनुष्य) की वेदना को जिस तरह वर्षा-ऋतु का मेघ दूर कर देता है; उसी तरह यादवश्रेष्ठ—भगवान् श्रीकृष्णचंद्र—पूर्वोक्त सूर्य की ज्वाला के समान संसार (जन्म-मरण) से संतप्त शरीरवाले मेरी वेदना को हरण करें।

यहाँ 'प्रावृषेण्यः' इस 'वारिधर' के विशेषण के साथ तो 'इव' का समास हो नहीं सकता; क्योंकि वह निराकांक्ष है—अन्य शब्द का विशेषण होने के कारण उसे 'इव' शब्द की आकांक्षा नहीं। उसका अन्वय तो 'वारिधर' से होता है। और कात्यायन के वार्त्तिक में 'इवेन सह समासः' यही पाठ है; 'इवेन नित्यं समासः' यह पाठ नहीं है; अतः नित्य-समास न होने के कारण 'वारिधर' शब्द के साथ भी 'इव' शब्द का समास होना आवश्यक नहीं है। सो यह उपमा वाक्यगता

हुई। इस उपमा में उपमान 'वारिधर', उपमेय भगवान् श्रीकृष्ण, समानधर्म 'वेदना का हरण करना' और सादृश्य-वाचक 'इव' शब्द—इन सबका कथन होने—अर्थात् इन सबके प्रतिपादक शब्द विद्यमान होने—के कारण यह उपमा पूर्णा* है। और सादृश्य का सुनते ही बोध हो जाता है—अर्थ पर विचार करने के बाद नहीं। (क्योंकि 'इव' शब्द साक्षात् सादृश्य का वाचक अथवा द्योतक है, 'सादृश्ययुक्त' का नहीं) अतः 'श्रौती' है।

पूर्णा आर्थी† वाक्यगता; जैसे—

प्राणापहरणेनाऽसि तुल्यो हालहलेन मे।
शशांक, केन मुग्धेन सुधांशुरिति भाषितः॥

विरहिणी चंद्रमा से कहती है—हे शशांक—हे कलंकिन्, तुम मेरे प्राणों के हरण करने के कारण जहर के समान हो। न जाने, किस भोले मनुष्य ने तुम्हें 'सुधांशु' इस नाम से कह दिया है। राम राम !! इस हलाहल जहरवाली किरणों में अमृत !! हद हो गई भोलेपन की !!

---

* उपमान, उपमेय, समानधर्म और सादृश्य इन सबके प्रतिपादक शब्द जहाँ विद्यमान हों, वहाँ 'पूर्णोपमा' होती है।

† 'समान' या 'तुल्य' शब्द विशेष्य के रूप से सादृश्य का वाचक नहीं, किंतु 'सादृश्ययुक्त' का वाचक है, अतः अर्थ पर विचार करने के बाद 'सादृश्य' की प्रतीति होने के कारण यह उपमा 'आर्थी' कहलाती है।

पूर्णा श्रौती समासगता; जैसे—

हरिचरणकमलनखगणकिरणश्रेणीव निर्मला नितराम् ।
शिशिरयतु लोचनं मे देवव्रतपुत्रिणी देवी ॥

भक्त गंगाजी से प्रार्थना करता है—भगवान् के चरण-कमलों के नख-समूह की किरणों की पंक्ति के समान अत्यंत निर्मल भगवती भीष्मजी की माता—अर्थात् देवी गंगा—मेरे नेत्रों को शीतल करे—अपने दर्शन देकर उन्हें आनंदित करे।

यहाँ 'इव' शब्द के साथ समास हुआ है। अतः यह उपमा 'समासगता' है।

पूर्णा आर्थी समासगता; जैसे—

आनंदनेन लोकानामातापहरणेन च ।
कलाधरतया चाऽपि राजन्निंदूपमो भवान् ॥

कवि कहता है—हे राजन्! आप मनुष्यों को आनंदित करने से तथा उनका संताप हरण करने से और कलाओं के धारण करने से चंद्रमा के समान हैं।

पूर्णा श्रौती तद्धितगता और **पूर्णा आर्थी तद्धित-गता** दोनों; जैसे—

निखिलजगन्महनीया यस्याभा नवपयोधरवत् ।
अंबुजवद्विपुलतरे नयने तद् ब्रह्म संश्रये सगुणम् ॥

भक्त कहता है—जिसकी कांति नवीन मेघ के समान सब जगत् द्वारा प्रशंसनीय है और जिसके नेत्र कमल की

तरह अत्यंत विशाल हैं उस सगुण ब्रह्म भगवान् कृष्ण का आश्रय करता हूँ—उसके शरणागत हूँ।

यहाँ पूर्वार्ध में 'वति' प्रत्यय का, "तत्रतस्येव (५।१।११६)" इस पाणिनि-सूत्र के अनुसार, सादृश्य के अर्थ में विधान किया गया है; अत: श्रौती है। और उत्तरार्ध में "तेन तुल्यं क्रिया चेद्वतिः (५।१।११५)" इस पाणिनि-सूत्र के अनुसार 'वति' प्रत्यय का विधान है, और उसका अर्थ होता है 'सादृश्य से युक्त', न कि केवल सादृश्य; अत: आर्थी है।

लुप्ता

उपमानलुप्ता वाक्यगता; जैसे—

यस्य तुलामधिरोहसि लोकोत्तरवर्णपरिमलोद्गारैः।
कुसुमकुलतिलक चंपक, न वयं तं जातु जानीमः॥

कवि कहता है—हे कुसुम-समूह के शिरोमणि चंपक, अलौकिक रंग और मनुष्यों का मन हरण करनेवाली महक के डंबरों से, तुम, जिसकी समानता प्राप्त करते हो—जिसकी बराबरी के हो, उसे हम तो कभी जानते नहीं। हमें तो आज दिन तक कोई ऐसा अवसर आया नहीं कि जब हमने कोई तुम्हारी जोड़ का दूसरा पुष्प देखा हो।

इसी पद्य के पहले चरण को यदि "**यत्तुलनामधिरोहसि**" बना दिया जाय, अर्थात् 'यस्य' को अलग न रखकर उसका 'तुलना' शब्द के साथ समास कर दिया जाय तो यही पद्य **उपमानलुप्ता समासगता** का उदाहरण हो जायगा।

आप कहेंगे—इस पद्य में उपमान का अभाव है—'चंपक' के उपमान का निषेध किया गया है। ऐसा करने से अंततः सादृश्य का अभाव सिद्ध हो जाता है—अर्थात् यह सिद्ध हो जाता है कि 'चंपक' का किसी के साथ सादृश्य नहीं। और उपमा का जीवन है (वाक्यार्थ का) सादृश्य में समाप्त हो जाना। पर इस पद्य के वाक्यार्थ की पूर्वोक्तरीत्या सादृश्य में समाप्ति न होकर सादृश्य के अभाव में समाप्ति होने के कारण, यहाँ कोई दूसरा ही अलंकार है, उपमानलुप्ता नहीं। तो यह ठीक नहीं। कारण, यहाँ यह कहा गया है कि—"तुम जिसकी समानता को प्राप्त करते हो उसे हम नहीं जानते।" इस कथन का सादृश्य के अभाव में पर्यवसान नहीं होता; किंतु "सर्वज्ञ न होने के कारण जिसे हम नहीं जान पाते वह कोई तुम्हारा उपमान होगा" इस तरह सादृश्य में ही पर्यवसान होता है। अतः यह उपमानलुप्ता उपमा ही है, अन्य अलंकार नहीं। इससे—

ढुँढुँणन्तो* हिमरीहसि कंटककलिआइँ केअइवणाँइ।
मालइकुसुमसरिच्छं भमर, भमन्तो ण पावहिसि॥

---

* 'काव्यप्रकाश' (आनदाश्रम संस्करण) में 'ढुँढुँणंतमरीहसि' पाठ है और यही रसगंगाधर के टीकाकार नागेश वहाँ ('उद्योत' में) 'ढुँढुँणंत' का अर्थ 'ढूँढ़ता हुआ' करते हैं, यहाँ 'ढूँढूँ करता हुआ'। इन दोनों अर्थों में से कौन प्रामाणिक है सो वे ही जानें।

एक नायिका अपने सौभाग्य की सूचना देती हुई अपने प्रियतम के समीप में भौंरे से कहती है—हे भौंरे, तुम काँटों से घिरे हुए केतकी के जंगलों में 'ढूँ ढूँ' करते हुए अथवा ढूँढ़ते हुए मर रहोगे; पर फिरते-फिरते भी मालती के पुष्प के (भीतरी अभिप्राय है 'मेरे') समान (किसी को) न पाओगे।

इस पद्य में उपमा से भिन्न—अर्थात् 'उपमा नहीं है किंतु 'असम' अलंकार है' यह—कहनेवाले 'अलंकार-रत्नाकर' आदि परास्त हो जाते हैं। कारण, वे इस बात को न समझ पाए कि ऐसे स्थानों में सादृश्य में ही पर्यवसान होता है।

धर्मलुप्ता श्रौती वाक्यगता; जैसे—

कलाधरस्येव कलाऽवशिष्टा विलूनमूला लवलीलतेव।
अशोकमूलं परिपूर्णशोका सा रामयोषा चिरमध्युवास॥

कवि कहता है—चंद्रमा की बची हुई कला की तरह और जड़ कटी हुई हरफारेवड़ी की तरह, शोक से परिपूर्ण, वह रामचंद्र की पत्नी—भगवती सीता, बहुत समय तक, अशोक वृक्ष के मूल में निवास करती रही।

धर्मलुप्ता पर एक विचार

पूर्वोदाहृत "ग्रीष्मचंडकरमंडल······" इत्यादि पूर्णोपमा के उदाहरण में, यदि, "वर्षा-ऋतु के मेघ के समान जो यादव-श्रेष्ठ हैं वे मेरी वेदना को हरण करें" इस तरह केवल 'यादव-श्रेष्ठ' को ही 'वेदनाहरण' का कर्त्ता कहना चाहें और मेघ के

साथ सादृश्य 'श्यामता' आदि किसी अन्य धर्म द्वारा कहना चाहें—अर्थात् 'वेदनाहरण के कर्त्ता होने' को समान धर्म रूप न मानकर उसका केवल कृष्ण में ही अन्वय कर दें तो वहाँ भी धर्मलुप्ता उपमा समझो। हाँ, इतनी विशेषता अवश्य है कि—**पूर्णा** में केवल 'यादवश्रेष्ठ' को उद्देश्य मानकर उनमें, वर्षा-ऋतु के मेघ का सादृश्य सिद्ध करनेवाले अथवा वैसे मेघ के सादृश्य से अभिन्न—अर्थात् सादृश्य-रूप—'वेदनाहरण के कर्त्ता होने' का विधान किया जाता है, अतः उपमा को विधेय मानकर बोध होता है। और **धर्मलुप्ता** में मेघ के सादृश्य से विशिष्ट यादवश्रेष्ठ को उद्देश्य मानकर उनमें केवल 'वेदनाहरण का कर्त्ता होना' विधान किया जाता है, अतः उपमा उद्देश्य की अवच्छेदक होती है—अर्थात् उद्देश्यभाग में आ जाती है।

धर्मलुप्ता आर्थी वाक्यगता; जैसे—

कोपेऽपि वदनं तन्वि तुल्यं कोकनदेन ते।
उत्तमानां विकारेऽपि नाऽपैति रमणीयता॥

नायक मानिनी से कहता है—हे तन्वि! तुम्हारा मुख कोप में भी रक्त-कमल के समान है। ठीक ही है, उत्तम वस्तुओं की रमणीयता विकार हो जाने पर भी हटती नहीं।

धर्मलुप्ता समासगता श्रौती तथा **आर्थी** और **तद्धितगता आर्थी**; जैसे—

सुधेव वाणी वसुधेव मूर्त्तिः सुधाकरश्रीसदृशी च कीर्त्तिः ।
पयोधिकल्पा मतिरासफेन्दोर्महीतलेऽन्यस्य नहीति मन्ये ॥

कवि कहता है—नवाब आसफखाँ की वाणी अमृत सी है, मूर्त्ति पृथिवी सी है, कीर्त्ति चंद्रमा की कांति सी है और बुद्धि समुद्र से कुछ ही कम है। मैं तो समझता हूँ (ऐसी ये बातें) भूतल में अन्य किसी की नहीं।

आप कहेंगे—यहाँ 'पयोधिकल्पा' में जो तद्धित-प्रत्यय 'कल्पप्' है, उसका अर्थ है 'कुछ कम होना', सादृश्य तो अर्थ है नहीं; फिर इसे आपने उपमा का उदाहरण कैसे बना दिया? इसका उत्तर यह है कि—'कुछ कम होना' भी दूसरे ढंग से सादृश्य ही है—अर्थात् बात एक ही है, केवल बोलने का फेर है।

वाचकलुप्ता समासगता का उदाहरण है पूर्वोदाहृत "गुरुजनभय ·········" (पृ० १९६) इत्यादि पद का "**दरदलदरविंदसुंदरम्** (कुछ विकसित होनेवाले कमल के समान सुंदर)" यह भाग।

वाचकलुप्ता कर्मक्यज्गता, आधारक्यज्गता और क्यङ्गता; जैसे—

मलयानिलमनलीयति मणिभवने काननीयति क्षणतः ।
विरहेण विकलहृदया निर्जलमीनायते महिला ॥

दूती नायक से कहती है—(वह) महिला मलयाचल के वायु के साथ अग्नि का सा व्यवहार करती है—मलय-

पवन को अग्नि समझती है और मणियों के भवन में ऐसा व्यवहार करती है जैसा जंगल में होता है—मणि-भवन में रहना उसे ऐसा जान पड़ता है जैसे जंगल में रहती हो। क्षण भर के विरह से व्याकुलचित्त हुई वह, बिना जल की मछली का सा, आचरण कर रही है—बेतरह छटपटा रही है।

यहाँ 'अनलीयति' इस पद में 'अनलमिवाचरति—आग का सा व्यवहार करती है' इस अर्थ में "उपमानादाचारे (३।१।१०)" इस पाणिनि-सूत्र से और 'काननीयति' पद में 'कानने इवाचरति—जंगल में जैसा व्यवहार किया जाता है वैसा व्यवहार करती है' इस अर्थ में सप्तम्यंत होने के कारण आधारार्थक 'कानन' शब्द से पूर्वोक्त सूत्र के "अधि-करणाच्च" इस वार्त्तिक से 'क्यच्' प्रत्यय होता है। और 'निर्जलमीनायते' यहाँ 'निर्जलमीन' शब्द से "कर्त्तुः क्यङ् सलोपश्च (३।१।११)" इस सूत्र से 'क्यङ्' प्रत्यय होता है।

आप कहेंगे—यह सब तो ठीक; पर यह तो समझाइए कि यहाँ वाचकलुप्ता उपमा हुई कैसे? इसका उत्तर यह है कि—जो (नैयायिक) लोग 'क्यच्' और 'क्यङ्' प्रत्ययों का केवल 'आचरण' अर्थ मानते हैं उनके सिद्धांत में प्रकृति (जिसके आगे प्रत्यय किया जाता है वह भाग; जैसे 'अनली-यति' आदि में 'अनल' आदि) से ही, लक्षणा द्वारा, अपने अपने अर्थों के समान—अर्थात् 'अग्नि' आदि के समान—बोध होता है। सो यहाँ पर सादृश्यवाचक पद न होने के कारण

वाचकलुप्ता सिद्ध है ही। और जिन (वैयाकरण) लोगों का सिद्धांत यह है कि—'अनलीयति' इत्यादि समुदाय (प्रकृति प्रत्ययों के समूह रूप पूरे पद) का ही, शक्ति द्वारा, 'अग्नि आदि के सादृश्य के सिद्ध करनेवाले आचरण का कर्त्ता' यह अर्थ है, प्रकृति-प्रत्ययों का अलग अलग अर्थ नहीं है; उनके हिसाब से 'सादृश्य' अथवा 'सादृश्य से युक्त' इन दोनों में से किसी एक के ही वाचक—अर्थात् इन दो अर्थों के अतिरिक्त किसी अन्य अर्थ के प्रतिपादन न करनेवाले—शब्द के न होने से वाचकलुप्ता सिद्ध हो जाती है।

वाचकलुप्ता कर्त्तृणमुल्गता और **कर्मणमुल्गता**; जैसे—

निरपायं सुधापायं पयस्तव पिबन्ति ये।
जह्नुजे! निर्जरावासं वसन्ति भुवि ते नराः॥

भक्त कहता है—हे गंगे! जो मनुष्य बिना किसी प्रतिबंध के—अर्थात् निरंतर—तेरा जल, अमृत की तरह, पान करते हैं वे पृथ्वी पर, देवताओं की तरह, निवास करते हैं।

यहाँ 'सुधापायम्' का अर्थ है 'सुधामिव—अमृत की तरह' और 'निर्जरावासम्' का अर्थ है 'निर्जरा इव—देवताओं की तरह'। इन अर्थों में "उपमाने कर्मणि च (३।४।४५)" इस पाणिनि-सूत्र से कर्मरूप उपमान के उपपद (समीपवर्त्ती पद) रहते और सूत्र के 'च'-कार से ग्रहण किए हुए कर्त्तारूप उपमान के उपपद रहते 'णमुल्' प्रत्यय हुआ है।

धर्मोपमानलुप्ता वाक्यगता और **समासगता**; जैसे—

गाहितमखिलं विपिनं परितो दृष्टाश्च विटपिनः सर्वे ।
सहकार ! न प्रपेदे मधुपेन तथापि ते समं जगति ॥

कवि कहता है—हे आम ! भौंरे ने सारा जंगल रौंद डाला और सब तरफ सारे वृक्ष देख डाले, तथापि, जगत् में, तेरी बराबरी का कोई न पाया।

यहाँ यदि 'तथापि ते समम्' को उड़ा दें और उसकी जगह 'भवत्समम्' यह लिखकर 'गीति' छंद न रखते हुए, शुद्ध 'आर्या' छंद ही बना डालें तो यही पद्य **धर्मोपमान-लुप्ता समासगता** का उदाहरण बन जाय।

वाचकधर्मलुप्ता क्विब्गता; जैसे—

कुचकलशेष्वबलानामलकायामथ पयोनिधेः पुलिने ।
क्षितिपाल ! कीर्त्तयस्ते हारन्ति हरन्ति हीरन्ति ॥

कवि कहता है—हे भूमिपते ! आपकी कीर्त्तियाँ अब-लाओं के कुच-कलशों पर मोतियों की माला का सा आच-रण करती हैं, अलकापुरी में शिव का सा आचरण करती हैं और समुद्र के तट पर हीरों का सा आचरण करती हैं।

यहाँ हार, हर और हीर शब्द आचारार्थक 'क्विप्' प्रत्यय का लोप हो जाने पर धातुरूप बन जाते हैं। इस स्थिति में जो लोग यह मानते हैं कि—'हार' आदि शब्द ही लक्षणा द्वारा हार आदि के सादृश्य का बोध करवाते

हैं और लोप हो जाने पर भी स्मरण किया हुआ 'क्विप्' प्रत्यय आचार का बोध करवाता है, उनके पक्ष में तो वाचक और धर्म दोनों का लोप स्पष्ट ही है; क्योंकि केवल सादृश्य और केवल धर्म का बोधक कोई शब्द यहाँ नहीं है। और जो लोग यह मानते हैं कि—'हार' आदि शब्द ही, लक्षणा द्वारा, वैसे (हारादि के) सादृश्य से अभिन्न आचार का बोध करवाते हैं, उनके पक्ष में जिस तरह केवल सादृश्य का बोधक कोई पद न होने के कारण सादृश्य का लोप समझा जाता है, उसी तरह केवल धर्म का भी बोधक कोई पद न होने से उसका भी लोप ही है।

वाचकधर्मलुप्ता समासगता; जैसे—

शोणाधरांशुसंभिन्नास्तन्वि ! ते वदनाम्बुजे !
केसरा इव काशन्ते कान्तदन्तालिकान्तयः ॥

नायक कहता है—हे तन्वि ! तेरे मुख-कमल में अरुण वर्ण अधर (नीचे के ओठ) की कांति से मिश्रित मनोहर दंत-पंक्ति की कांतियाँ केसरों की तरह प्रकाशित हो रही हैं।

यहाँ 'वदनांबुज (मुख-कमल)' शब्द के अंतर्गत 'वदन' और 'अंबुज' शब्दों में अभेद कहने की इच्छा से—अर्थात् रूपक बनाने के लिये यदि विशेषण-समास माना जाय—अर्थात् 'अंबुज के समान वदन' अर्थ न मानकर 'अंबुज से अभिन्न वदन' अर्थ माना जाय, तो दंत-पंक्ति की कांतियों का

केसरों से सादृश्य कहना असंगत हो जाता है। क्योंकि कमल से मुख के अभेद को सिद्ध करनेवाला है दंत-पंक्ति की कांतियों का केसरों से अभेद, न कि केसरों से सादृश्य। सो प्रधान ('वदनांबुज') में रूपक तभी माना जा सकता है जब कि उसके अंग (दंतकांति और केसर) में भी अभेद लिखा गया हो। यदि वक्ता को प्रधान में रूपक अभीष्ट होता तो अंग में सादृश्य कभी नहीं लिखता। अतः मानना पड़ता है कि यहाँ विशेषण-समास वक्ता को अभीष्ट नहीं। और उपमित-समास मानने पर तो 'वदन' और 'अंबुज' रूपी धर्मियों में 'सादृश्य' प्रतीत होगा, अतः उनके धर्म दंत-पंक्ति की कांतियों और 'केसरों' का सादृश्य कहना उचित ही है। सो यहाँ दंतकांतियों और केसरों के आधारों—अर्थात् वदन और अंबुज की उपमा को लेकर वाचकधर्मलुप्ता का उदाहरण दिया गया है, विधेयों में—अर्थात् दंत-कांति और केसरों में—रहनेवाली उपमा तो पूर्ण ही है। सारांश यह कि यहाँ दो उपमाएँ हैं—एक 'वदनांबुज' में और दूसरी 'दंत-कांति और केसरों' में। उनमें से पहली उपमा के कारण इस पद्य को वाचकधर्मलुप्ता का उदाहरण माना गया है।

वाचकोपमेयलुप्ता क्यच्गता और **धर्मोपमान-लुप्ता समासगता**; जैसे—

तया तिलोत्तमीयन्त्या मृगशावकचक्षुषा।
ममाऽयं मानुषो लोको नाकलोक इवाऽभवत्॥

नायक अपने मित्र से कहता है—अपने तईं तिलोत्तमा सा आचरण करती और हरिण के बच्चे के से नेत्रवाली उस (नायिका) के कारण मेरा यह मनुष्यलोक स्वर्गलोक सा हो गया—मुझे यहीं स्वर्ग का सा अनुभव हो गया।

यहाँ 'तिलोत्तमीयन्त्या' पद का अर्थ है 'तिलोत्तमामिवात्मानमाचरन्त्या—अर्थात् अपने तईं तिलोत्तमा (एक अप्सरा) सा आचरण करती'। इस पद में 'तिलोत्तमा' शब्द से 'आचारार्थक क्यच्' प्रत्यय हुआ है और 'तिलोत्तमा' शब्द 'तिलोत्तमा के सादृश्य' अर्थ में लाक्षणिक है; सो केवल सादृश्य का वाचक कोई पद न होने के कारण यहाँ वाचक का लोप है। और स्पष्ट प्रतीत होने के कारण तिलोत्तमा के उपमेय 'आत्मानम् (अपने तईं)' का (इस पद्य में) शब्द द्वारा ग्रहण नहीं किया गया, अतः उपमेय का लोप है। सो 'तिलोत्तमीयन्त्या' इस पद्य में 'क्यज्गता वाचकोपमेयलुप्ता उपमा' है।

आप कहेंगे—यहाँ उपमेय का लोप कहना ठीक नहीं। क्योंकि तिलोत्तमारूपी उपमान का उपमेय है स्वयं नायिका, और उसका वाचक 'तया' पद पद्य में है ही; फिर 'आत्मानम्' पद के न होने से उपमेय का लोप मानना कुछ अर्थ नहीं रखता। तो इसका उत्तर यह है कि—वह स्वयम् (नायिका) तिलोत्तमा का उपमेय नहीं हो सकती। कारण, तिलोत्तमारूपी उपमान 'आचरण' क्रिया का कर्म है और वह

(नायिका) कर्त्ता—क्योंकि वही तो आचरण करनेवाली है। और कर्ता का उपमेय होना और कर्म का उपमान होना असंगत है; कारण, 'उपमान और उपमेय में एक विभक्ति होनी चाहिए' यह नियम है। सो इस नियम के अनुसार कर्म को उपमान और कर्ता को उपमेय न माने जा सकने के कारण यहाँ 'आत्मानम्' की उपमेय रूप में तर्कना आवश्यक है—बिना उसके काम नहीं चल सकता। और उसका वाचक यहाँ कोई शब्द है नहीं; अतः यहाँ उपमेय का लोप मानने में कोई बाधा नहीं।

यह तो हुई वाचकोपमेयलुप्ता की बात। अब **धर्मोपमानवाचकलुप्ता** को लीजिए। वह इस पद्य के 'मृगशावकचक्षुषा' इस पद में है। इस पद का विग्रह (अर्थ समझानेवाला वाक्य) है "मृगशावकस्य चक्षुषी इव चक्षुषी यस्याः—अर्थात् जिसके नेत्र मृग के बच्चे के नेत्रों के समान हों" यह। यहाँ "सप्तम्युपमानपूर्वस्य" इस भाष्यवार्त्तिक* से समास हुआ है और उत्तर पद (उपमानवाचक 'चक्षुष्' शब्द) का लोप हुआ है। यह तो हुई शब्दसिद्धि; अब अर्थ की तरफ ध्यान दो। इस विषय में दो मत हैं—कुछ लोग 'मृगशावकचक्षुषा' शब्द के 'मृगशावक' पद का, लक्षणा द्वारा, 'मृग के बच्चे के नेत्रों के सदृश' इतना अर्थ मानते हैं

---

* यह वार्त्तिक "अनेकमन्यपदार्थे (२।२।२४)" के महाभाष्य में है।

और फिर उसका 'चक्षुष्' शब्द के साथ बहुव्रीहि करके 'जिसके नेत्र मृग के बच्चे के नेत्रों के समान हों' यह अर्थ निकालते हैं; और दूसरे लोग 'मृगशावकचक्षुषा' इस पूरे समस्त पद का ही पूर्वोक्त समग्र अर्थ मान लेते हैं। उनके हिसाब से समास ही इस सब अर्थ का वाचक है। दोनों ही पक्षों में उपमान 'चक्षुष्' (क्योंकि 'मृगशावकचक्षुषा' में केवल उपमेयवाचक ही 'चक्षुष्' शब्द है), सादृश्य और समान धर्म, तीनों में से केवल एक-एक के बोधक किसी पद के न होने के कारण तीनों का लोप है। सो यह है धर्मो-पमानवाचकलुप्ता का उदाहरण।

इस तरह उपमा के पचीस भेद समाप्त हुए।

अन्य 'सात' भेद

इस प्रकरण में अन्य विद्वान् इनके अतिरिक्त अन्य भेद भी कहते हैं। सुनिए—

वाचकलुप्ता

वाचकलुप्ता छः प्रकार की वर्णन की जा चुकी है। पर, वह "कर्त्तर्युपमाने (३।२।७९)" इस सूत्र से 'णिनि' प्रत्यय करने पर **सातवीं** भी देखी जाती है। जैसे 'कोकिल इवालपति = कोयल की तरह बोलती है' इस अर्थ में 'कोकि-लालापिनी' कहा जाता है।

आठवीं भी देखी जाती है। जैसे--"इवे प्रतिकृतौ (५।३।९६)" इस सूत्र से 'कन्' प्रत्यय और "लुम्मनुष्ये (५।३।९८)" इस सूत्र से उसका लोप करने पर 'चंचा इव=घास के बने मनुष्य सा' इस अर्थ में प्रयुक्त "**चंचा** पुरुष: सोऽयं य: स्वहितं नैव जानीते=अर्थात् वह पुरुष घास के बने मनुष्य सा है, जो अपने हित को न समझता हो" इस 'चंचा' शब्द में।

आचारार्थक 'क्विप्' प्रत्यय में, किसी दूसरे शब्द द्वारा समान धर्म के प्रतिपादन किए जाने पर, **नवीं** भी देखी जाती है। जैसे—"आह्लादि वदनं तस्या: शरद्राका मृगांकति=अर्थात् उस (प्रियतमा) का आनंददायक मुख शरद-पूनो के चंद्रमा सा आचरण करता है" इत्यादिक में।

उपमान लुप्ता

उपमानलुप्ता वाक्यगता और समासगता इस तरह दो प्रकार की वर्णन की गई है; पर तीसरी भी देखी जाती है। जैसे—

यच्चोराणामस्य च समागमो यच्च तैर्वधोऽस्य कृत:।
उपनतमेतदकस्मादासीत्तत् काकतालीयम्॥

एक पथिक के विषय में कहा जाता है—जो चोरों का और इसका समागम हुआ और जो उन्होंने इसका वध कर दिया—यह घटना अचानक बन गई; अत: 'काकतालीय' हुई।

यहाँ 'काकतालीय' शब्द के 'काक' और 'ताल' शब्द, लक्षणा द्वारा, 'कौए के आने' और 'ताड़ के गिरने' के बोधक हैं। उनका 'इव (=सा)' के अर्थ में "समासाच्च तद्विषयात् (५।३।१०६)" इस ज्ञापक द्वारा समास करने पर 'काक इव ताल इव काकतालम्' इस विग्रह के अनुसार 'काकतालम्' शब्द का अर्थ होता है—'कौए और ताड़ के समागम के—अर्थात् कौए के आने और ताड़ के गिरने के—समान चोरों का और इस (पथिक) का समागम'। इस 'काकताल' शब्द से 'काकतालमिव' इस तरह दूसरे 'इव' के अर्थ में पूर्वोक्त सूत्र ("समासाच्च तद्विषयात्") से ही 'छ=ईय' प्रत्यय करने पर 'काकतालीय' शब्द बनता है। अतः उपर्युक्त पद्य का अर्थ हुआ—'तालपतनजन्यकाकवधसदृशश्चोरकर्तृको देवदत्तवधः—अर्थात् चोरों का किया हुआ देवदत्त (अमुक मनुष्य) का वध, ताल के गिरने से उत्पन्न कौए के वध के समान, हुआ'। सो 'काकतालीयम्' में दो उपमाएँ हुईं—एक समासार्थरूप, जो 'काकतालम्' में है और दूसरी प्रत्ययार्थरूप, जो 'काकताल' शब्द से 'ईय' प्रत्यय करने पर प्रतीत होती है। ऐसी दशा में प्रत्ययार्थ-रूप दूसरी उपमा के उपमान 'ताल के गिरने से उत्पन्न कौए के वध' का ग्रहण न होने से—अर्थात् 'काकतालीय' पद में वैसे 'वध' का प्रतिपादक कोई शब्द न होने से यह उपमा

उपमानलुप्ता* हुई जो पूर्वोक्त उपमान लुप्ता के भेदों से अतिरिक्त है।

वाचकोपमानलुप्ता

वाचकोपमानलुप्ता का तो, प्राचीनों के भेदों में, नाम ही नहीं लिया गया। पर 'काकतालीयम्' की प्रकृति—अर्थात् 'काकतालम्'—के अर्थ में वह भी दिखाई देती है। क्योंकि उस उपमा का उपमान है 'काकताल समागम'; उस 'समागम' का वाचक यहाँ कोई शब्द नहीं और न सादृश्य का प्रतिपादक ही कोई शब्द है।

धर्मोपमानलुप्ता

धर्मोपमानलुप्ता वाक्यगता और समासगता दो प्रकार की ही कही गई है। पर यदि पूर्वोक्त पद्य ("यच्चोराणामस्य च······") के तीसरे चरण में वर्णित समानधर्म को निकाल दें (अर्थात् उत्तरार्ध यों बना दें कि—"किमिति ब्रूमो वयमिदमासीद्बत काकतालीयम्") तो प्रत्ययार्थवाली उपमा में धर्मोपमानलुप्ता भी यहाँ दिखाई पड़ती है, जो कि पहले वर्णन नहीं की गई है। सो उसका भी एक भेद और हो सकता है।

वाचकधर्मलुप्ता

वाचकधर्मलुप्ता क्विब्गता और समासगता दो प्रकार की ही वर्णित है। वह भी यदि पूर्वोक्त "चञ्चापुरुषः

* 'ईय' प्रत्यय के उपमावाचक होने के कारण इस उपमा में सादृश्यवाचक का लोप नहीं है।

सोऽयम्" इसके आगे का चरण "योऽत्यन्तं विषयवासनाधीनः (अर्थात् जो अत्यन्त विषय-वासना के अधीन है)" बना दिया जाय, तो 'अपना हित न करने' रूपी समान धर्म का ग्रहण न होने पर 'कन्' प्रत्यय के लोप में भी दिखाई देती है। क्योंकि विषय-वासना के अधीन होना केवल पुरुष में रहनेवाला धर्म होने के कारण 'बच्चा' और 'मनुष्य' का समान धर्म नहीं बन सकता।

सो इस तरह इन सात नए भेदों के सम्मिलित होने से उपमा के कुल ३२ भेद होते हैं।

भेदों की आलोचना

उपर्युक्त भेदों के विषय में यह बात ध्यान में रखने की है। प्राचीनों ने जो कर्मक्यच्, आधारक्यच् और क्यङ् में वाचकलुप्ता का उदाहरण दिया है, वह असंगत सा प्रतीत होता है; क्योंकि वहाँ धर्म का लोप भी हो सकता है। अर्थात् ये भेद धर्मवाचकलुप्ता के होने चाहिए, केवल वाचकलुप्ता के नहीं। आप कहेंगे—इन भेदों में क्यच् आदि प्रत्ययों का अर्थ—आचार—ही साधारणधर्म रूप है, सो धर्म का लोप कहाँ है ? तो इसका उत्तर यह है कि—'आचार' साधारण धर्म है सही; पर इतने मात्र से वह उपमा को सिद्ध नहीं कर सकता।

आप कहेंगे—क्यों नहीं सिद्ध कर सकता। "नारीयते सपत्नसेना—अर्थात् शत्रुओं की सेना स्त्रियों का सा आचरण

करती है" इत्यादिक में 'आचरण' रूप समान धर्म ही उपमा को सिद्ध करता है, अतः केवल 'आचार' को उपमा का सिद्ध करनेवाला न मानना व्यर्थ है। पर यह उचित नहीं। कारण, "नारीयते सपत्नसेना" इत्यादि में केवल आचार उपमा का साधक नहीं है, किंतु, व्यंजना द्वारा बोधित 'कायरता' आदि से अभिन्न समझा हुआ आचार उपमा का साधक है। ऐसा मानने का कारण यह है कि—"**त्रिविष्टपं तत्खलु भारतायते**—अर्थात् सुप्रसिद्ध स्वर्ग भारत (महाभारत) का सा आचरण करता है—भारत सा प्रतीत होता है" इत्यादि में 'सुप्रसिद्धता' आदि आचार के स्मरण हो जाने पर भी उपमालंकार सिद्ध नहीं होता; और उसी पद्य का "**सुपर्वभिः शोभितमंतराश्रितैः**—अर्थात् वह अंदर रहनेवाले 'सुपर्वों' (एकत्र—देवताओं; अन्यत्र—आदि, सभा इत्यादि पर्वों) से शोभित है" यह चरण और बना देने पर सिद्ध हो जाता है। अतः मानना पड़ता है कि ऐसी जगह आचार के अतिरिक्त अन्य किसी समान धर्म की आवश्यकता रहती ही है, 'क्यङ्' आदि का अर्थरूप केवल आचार साधारण होने पर भी उपमा को सिद्ध नहीं करता। धर्मलुप्ता में 'धर्म के लोप' का अर्थ ही है—'ऐसे साधारण धर्म के वाचक शब्द से रहित होना जो उपमा की साधकता का अवच्छेदक हो—अर्थात् जिससे उपमा की सिद्धि होती हो। अन्यथा "मुखरूपमिदं वस्तु प्रफुल्लमिव पंकजम्—अर्थात् यह मुखरूपी पदार्थ

प्रफुल्ल कमल सा है" इत्यादिक में भी पदार्थत्वरूप धर्म से पूर्णोपमा होने लगेगी, जो कि किसी को अभीष्ट नहीं। यह है इन सब का संक्षेप।

अप्पयदीक्षित के विचारों की आलोचना

अप्पयदीक्षित ने इसी प्रसंग में लिखा है—"धर्मलुप्ता वाक्य, समास और तद्धित में दिखाई गई है, पर वह द्विर्भाव (द्विरुक्ति) में भी दिखाई देती है; जैसे—'पटुपटुर्देवदत्तः (देवदत्त चतुर के सदृश है)' इस जगह। कारण, यहाँ 'प्रकारे गुणवचनस्य (८।१।१२)' इस सूत्र से द्विरुक्ति का विधान 'सादृश्य' अर्थ में है—अर्थात् यहाँ द्वित्व के कारण पटु-'शब्द का अर्थ 'पटु के सदृश' होता है।" सो यह व्यर्थ है। कारण, इस उदाहरण में केवल धर्म का ही लोप नहीं है, किंतु वाचक का भी लोप है, अतः इस भेद को वाचकधर्मलुप्ता में बढ़ाना उचित था, न कि धर्मलुप्ता में। क्योंकि उन्हें, केवल धर्म का लोप हुआ हो वहीं धर्मलुप्ता कहना अभीष्ट है। अन्यथा एकलुप्ताओं में ही द्विलुप्ता और त्रिलुप्ता का भी ग्रहण हो जाने से उनका पृथक् ग्रहण असंबद्ध ही होगा।

आप कहेंगे—'पटुपटुर्देवदत्तः' में द्विर्भाव (अर्थात् पटु शब्द का दो बार होना) ही सादृश्य का वाचक है, इस कारण वाचक का लोप नहीं कहा जा सकता, किंतु केवल

धर्म का लोप है अतः हमने इसे धर्मलुप्ता लिखा है। तो यह भी ठीक नहीं। कारण, द्विर्भाव को सादृश्यवाचक कहना भाष्य (व्याकरण महाभाष्य) और कैयट (उसके व्याख्याता) आदि के विरुद्ध है। देखिए, कैयट ने "प्रकारे गुणवचनस्य" इस पूर्वोक्त सूत्र के महाभाष्य के "सिद्धन्तु" इस प्रतीक को लेकर कहा है—

"द्विर्वचनस्य प्रकृतिः स्थानी, इति तदर्थो विशेष्यते, न तु प्रकारः। तत्र सर्वस्य गुणवचनत्वाद् व्यभिचाराभावात्। तद्ग्रहणाद् गुणवचनो यः शब्दो निर्ज्ञातस्तस्य सादृश्ये द्योत्ये द्वे भवत इति सूत्रार्थः।

अर्थात् द्विरुक्ति का स्थानी (जिसको दो किए जाते हैं वह) प्रकृति (पटु-आदि शब्द) है, अतः (सूत्र का) 'गुण वचन' शब्द उसका विशेषण है, प्रकार—अर्थात् सादृश्य—का नहीं। क्योंकि प्रकार तो सभी गुणवाची होता है, जातिवाची अथवा क्रियावाची होता ही नहीं, अतः वहाँ अतिव्याप्ति न होने के कारण यह विशेषण व्यर्थ हो जाता है। सो 'गुणवचन' शब्द के ग्रहण के कारण इस सूत्र का अर्थ यह है कि—जो शब्द निश्चित रूपेण गुणवाची ज्ञात हो उसके सादृश्य का द्योतन करना हो तो उस शब्द को दो हो जाते हैं।"

अतः यह सिद्ध होता है कि—द्विरुक्ति सादृश्य की द्योतक है, वाचक नहीं। सो वाचक का भी लोप होने के कारण

'पटुपटुर्देवदत्तः' धर्मवाचकलुप्ता का उदाहरण होना चाहिए, धर्मलुप्ता का नहीं* ।

यह तो हुई एक बात। अब दूसरी लीजिए। चित्र-मीमांसाकार (अप्पयदीक्षित) ने उसी प्रसंग में यह भी लिखा है—

"नृणां यं सेवमानानां संसारोऽप्यपवर्गति ।
तं जगत्यभजन्मर्त्यश्चञ्चा चन्द्रकलाधरम् ।

(अर्थात् जिसे सेवन करनेवाले मनुष्यों का संसार भी मोक्ष के समान हो जाता है, उन चन्द्रकलाधर (शिव) को न भजनेवाला मनुष्य, जगत् में, घास के बने पुतले के समान है।)

इस पद्य में 'अपवर्गति' पद में 'क्विप्' प्रत्यय का और 'चञ्चा' पद में 'कन्' प्रत्यय का लोप है, अतः यहाँ भी

---

* पंडितराज का यह खंडन उचित नहीं। बात यह है कि—इस प्रकरण में 'वाचक' शब्द का अर्थ 'अभिधा वृत्ति द्वारा सादृश्य का वाचक' नहीं है, किंतु 'सादृश्य अथवा सादृश्य से युक्त अर्थ का बोधक' है; और ऐसे किसी शब्द के न होने पर वाचक का लोप माना जाता है। अन्यथा जो लोग 'इव' आदि को सादृश्य का द्योतक मानते हैं, उनके मत में 'चंद्र इव मुखम्' इस जगह, और वाचक माननेवालों के हिसाब से 'चंद्रसुहृन्मुखम्' इस जगह भी वाचकलुप्ता का व्यवहार होने लगेगा। सो होता नहीं। अतः द्योतक (द्वित्व) को भी बोधक मानने में कोई बाधा न होने के कारण वाचक को विद्यमान मानकर अप्पयदीक्षित ने यहाँ धर्मलुप्ता मानी है। अतः इसका खंडन व्यर्थ है।

(गुरुमर्मप्रकाश का सार)

प्रत्येक उपमा में ('अपवर्गति' और 'चञ्चा' दोनों में) वाचक और धर्म दोनों का लोप हो जाता है।" सो यह सुंदर नहीं। हम पूछते हैं कि—यहाँ वाचक—'कन्' प्रत्यय—का लोप होने पर भी, 'उन चंद्रकलाधर को न भजनेवाला' इस विशेषण से सूचित 'शिव के भजन से रहित होना' रूपी धर्म, जो कि घास के पुतले और पुरुष दोनों में समान रूप से रहता है, जब इस पद्य में उक्त है तब धर्म का लोप कैसे कहा जा सकता है ?

आप कहेंगे—'शिव के भजन से रहित होना' यह उपमेय—पुरुष—के विशेषण रूप में लाया गया है, अतः 'सादृश्य' के विशेषण बने हुए 'चंचा (घास के पुतले)' में इसका अन्वय न हो सकने के कारण इसे साधारण धर्म नहीं कहा जा सकता—यह केवल पुरुष का धर्म है। तो इसका उत्तर यह है कि—

"यद्भक्तानां सुखमयः संसारोऽप्यपवर्गति ।
तं शम्भुमभजन्मर्त्यश्चञ्चैवाऽऽत्महिताकृतेः ॥

(अर्थात् जिसके भक्तों का संसार भी सुखमय होकर मोक्ष के समान हो जाता है, उन शंभु को न भजनेवाला मनुष्य, अपना हित न करने के कारण, घास का पुतला ही है।)

इस तरह पाठ कर देने पर दोनों जगह धर्म भी सुनाई देने लगता है।" यह आपका कथन असंगत हो जायगा—

आपकी बात ही आपके विरुद्ध हो जायगी। क्योंकि यहाँ भी 'सुखमय' शब्द उपमेय—संसार—के विशेषणरूप में आया है। ऐसी दशा में 'सुखमय होने' रूपी धर्म का सादृश्य के विशेषण मोक्ष में अन्वय न होने के कारण, इस धर्म को आप कैसे साधारण बता रहे हैं? आप कहेंगे—उपमेयगत और उपमानगत दोनों में से किसी रूप में ग्रहण करने के कारण धर्म का, (उपमान और उपमेय) दोनों में शब्द संबंधी अन्वय न होने पर भी, वस्तुत: दोनों में रहने का ज्ञान ही साधारणता का नियामक है—अर्थात् शाब्दिक रूप में धर्म का दोनों में अन्वय न होने पर भी यदि हम यह समझ सकें कि—यह धर्म वास्तव में दोनों में रहनेवाला है तो वह साधारण धर्म मान लिया जाता है। तो 'शिव के भजन से रहित होने' पर भी दृष्टि दीजिए—वह भी उपमेय का विशेषण होने पर भी वस्तुत: उपमान और उपमेय दोनों में रहनेवाला धर्म है।

इतने पर भी यदि आप सौगंद देकर—अर्थात् बलात्कार से—अपना यह अभिप्राय प्रकट करें कि—हमें तो यहाँ 'शिव के भजन से रहित होना' केवल उपमेय (मनुष्य) के धर्म के रूप में ही कहना अभीष्ट है और उपमान-उपमेय का साधारण धर्म तो अपने आत्मा का हित न करना' ही है, सो वह लुप्त ही है। तो हम मान लेते हैं कि—दोष का निवारण हो गया। आप प्रसन्न रहिए। (पर, कृपया,

हृदय से जरा और पूछ लीजिएगा कि—बात असली क्या है !) ।

एक तीसरी बात और सुनिए। उन्हीं (अप्पयदीक्षित ने वाचकोपमेयलुप्ता में यह एक उदाहरण और बनाया है—

"रूपयौवनलावण्यस्पृहणीयतराकृतिः ।
पुरतो हरिणाक्षीणामेष पुष्पायुधीयति ।

(जिसका आकार रूप, यौवन और लावण्य के कारण अत्यन्त स्पृहणीय है, ऐसा यह (नायक) मृगनयनियों के सामने अपने तईं कामदेव सा व्यवहृत करता है।)"

यह पद्य अशुद्ध शब्द से दूषित होने के कारण, बनानेवाले की, व्याकरण-ज्ञान-शून्यता को प्रकाशित करता है—इस पद्य से यह सिद्ध होता है कि इसका निर्माता व्याकरण नहीं जानता। देखिए, यहाँ जो 'पुरतः' शब्द आया है, उसकी व्युत्पत्ति क्या होगी ? यदि 'पुर' शब्द से, जिसका अर्थ नगर होता है, 'तसिल्' (वस्तुतः 'तसि' होना चाहिए) प्रत्यय करके इसे सिद्ध किया जाय तो अर्थ होगा 'मृगनयनियों के नगर से', जो यहाँ असंगत है। अब यदि 'पुर' शब्द का अर्थ 'पूर्व' मानकर 'पुरतः' का अर्थ आगे अथवा 'सामने' करने जायँ तो वह बन नहीं सकता; कारण, पूर्ववाचो 'पुर' शब्द कहीं सुना नहीं जाता। रहा 'पूर्व' शब्द, सो उससे तो "पूर्वाधरावराणामसि पुरधवश्चैषाम् (५।३।३९)" इस सूत्र से 'असि' प्रत्यय करने पर 'पुरः' बन सकता है,

'पुरतः' नहीं। अतएव महाकवि (कालिदास) ने "अमुं पुरः पश्यसि देवदारुम्" यह प्रयोग किया है। इसी तरह उन्होंने (चित्रमीमांसा के) दूसरे प्रकरण के आरंभ में "मुखस्य पुरतश्चन्द्रो निष्प्रभः—इत्यप्रस्तुतप्रशंसा" इस जगह भी अशुद्धि की है। 'पुरतः' शब्द के प्रयोग के अशुद्ध होने के कारण ही तो वैयाकरण लोग कहते हैं—" 'पत्या पुरतः परतः', 'आत्मीयं चरणं दधाति पुरतो निम्नोन्नतायां भुवि', 'पुरतः सुदती समागतं माम्' इत्यादिक सभी शब्द अशुद्ध हैं और इनका मूल है व्याकरण का अज्ञान* ।"

बत्तीस भेदों में से प्रत्येक के पाँच पाँच भेद

इस तरह इतने भेदोंवाली यह उपमा वस्तु, अलंकार और रसरूपी प्रधान व्यंग्यों और वस्तु तथा अलंकाररूप वाच्यों को शोभित करनेवाली होने के कारण पाँच प्रकार की है। उनमें से—

---

* नागेश कहते हैं—यह खंडन उचित नहीं। क्योंकि 'पुरतः' शब्द का प्रयोग इसी अर्थ में कालिदास और भवभूति जैसे महाकवियों ने भी किया है—"इयं च तेऽन्या पुरतो विडम्बना" (कुमारसंभव) और "पश्यामि तामित इतः पुरतश्च पश्चात्" (उत्तररामचरित)। और उसकी सिद्धि भी तीन प्रकार से हो सकती है—कुछ लोग उसे निपात मानते हैं, दूसरे 'अच्' प्रत्ययांत 'पुर' शब्द से 'अतसुच्' प्रत्यय करके सिद्ध करते हैं और वस्तुतः वह 'पुर अग्र गमने' धातु से 'इगुपधज्ञाप्रीकिरः कः' सूत्र से 'क' प्रत्यय करने पर और उससे 'तसि' प्रत्यय करने पर सिद्ध हो सकता है।

व्यंग्य वस्तु को शोभित करनेवाली उपमा; जैसे—

अनवरतपरोपकरणव्यग्रीभवदमलचेतसां महताम् ।
आपातकाटवानि स्फुरन्ति वचनानि भेषजानीव ॥

कवि कहता है—जिनका निर्मल चित्त निरंतर परोपकार में व्यग्र रहा करता है, उन महापुरुषों के, ऊपर से कटु प्रतीत होनेवाले वचन औषधों की तरह स्फुरित होते हैं।

यहाँ 'जो मनुष्य ऐसे वचनों का अर्थतः सेवन करता है—उनके अर्थ को उपयोग में लाता है—और जरा भी विचलित नहीं होता, उसे परिणाम में परम सुख होता है' इस रूप में प्रधानतया ध्वनित होनेवाली वस्तु को, औषध की उपमा उपस्कृत करती है।

व्यंग्य अलंकार को शोभित करनेवाली उपमा; जैसे—

अङ्कायमानमलिके मृगनाभिपङ्कं
पङ्केरुहाक्षि ! वदनं तव वीक्ष्य बिभ्रत् ।
उल्लासपल्लवितकोमलपक्ष्ममूला-
श्चञ्चूपुटं चपलयन्ति चकोरपोताः ॥

नायक कहता है—हे कमलनयने ! ललाट पर कलंक (चंद्रमा के धब्बे) के समान कस्तूरी के द्रव को धारण करते तुम्हारे मुख को देखकर, आनंद के मारे जिनकी पाँखों

की जड़ें पल्लवित हो गई हैं—खड़ी हो उठी हैं ऐसे चकोरों के बच्चे चंचूपुट को चंचल बना रहे हैं—चाँदनी चाखने को लालायित हो रहे हैं।

यहाँ 'जिसमें चकोर-कुमारों के चंचूपुट की चंचलता द्वारा मुख पर चंद्रमा का आरोप किया जा रहा है' वह 'भ्रांतिमान्' अलंकार प्रधान व्यंग्य है। उसका साधक है ललाट के कस्तूरी-द्रव में कलंक के अभेद का आरोप, और उस आरोप का मूल है कस्तूरी के द्रव और कलंक का सादृश्यरूपी दोष। सादृश्य को ही उपमा कहते हैं, अतः यहाँ उपमा व्यंग्य 'भ्रांतिमान्' अलंकार को उपस्कृत कर रही है।

रस को शोभित करनेवाली उपमा का "दरदल-दरविंद········" इत्यादि उदाहरण पहले (पृ० १९६) ही दिया जा चुका है।

रस के विषय में यह बात समझ लेने की है। इस प्रसंग में 'रस' पद से 'असंलक्ष्यक्रम व्यंग्य' का ग्रहण किया गया है, अतः भावादिक को सुशोभित करनेवाली उपमा का भी अंतर्भाव इसी भेद में कर लिया जाना चाहिए; जैसे—"नैवाऽपयाति हृदयादधिदेवतेव" और "बालकुरङ्गीव वेपते नितराम्" इत्यादि प्रथमानन के उदाहृत पद्यों में।

वाच्य वस्तु को शोभित करनेवाली उपमा; जैसे—

अमृतद्रवमाधुरीभृतः सुखयन्ति श्रवसी सखे ! गिरः ।
नयने शिशिरीकरोतु मे शरदिन्दुप्रतिमं मुखं तव ॥

मित्र की मित्र के प्रति उक्ति है—हे सखे ! अमृत-रस की मधुरता को धारण करनेवाले तुम्हारे वचन मेरे कानों को सुखित कर रहे हैं। (अब मैं चाहता हूँ कि) तुम्हारा शरद् के चंद्रमा के समान मुख मेरी आँखों को शीतल करे।

यहाँ 'आँखों को शीतल करना' रूपी जो वाच्य वस्तु है उसे, मुख को दी गई शरद् के चंद्रमा की उपमा, उपस्कृत कर रही है।

वाच्य अलंकार को शोभित करनेवाली उपमा; जैसे—

शिशिरेण यथा सरोरुहं दिवसेनाऽमृतरश्मिमण्डलम् ।
न मनागपि तन्वि शोभते तव रोषेण तथेदमाननम् ॥

नायक अथवा दूती नायिका से कहती है—जैसे ठंड से कमल और दिन से चंद्रमंडल थोड़ा भी शोभित नहीं हो पाता, उसी तरह तुम्हारा यह मुख रोष से नहीं शोभित होता—देखो तो बिलकुल फीका पड़ गया है।

यहाँ वाच्य दीपकालंकार को उपमा उपस्कृत करती है।

रस वाच्य नहीं होता

आप कहेंगे—जिस तरह व्यंग्य के वस्तु, अलंकार और रस तीन भेद बताए, उसी तरह वाच्यों के भी तीन भेद होने

चाहिए, फिर आपने दो ही क्यों लिखे—वाच्य-रस को शोभित करनेवाली उपमा का उदाहरण क्यों न दिया? इसका उत्तर यह है कि 'रसादिक तो वाच्य होते नहीं' यह पहले ही लिखा जा चुका है।

क्या अलंकार भी अलंकार को शोभित करता है?

आप कहेंगे—इन पाँच भेदों में अलंकार को अलंकार से शोभित होनेवाला कैसे बताया गया है? अलंकार्य (शोभित किया जानेवाला) वही हो सकता है जो प्रधान हो, जो स्वयं शोभित करनेवाला (अलंकार) है वह अलंकार्य कैसे कहा जा सकता है? तो यह ठीक नहीं। कारण, उपमादिक अलंकार ध्वनित होने की दशा में प्रधान होते हैं, अतः जिस तरह रसादिक अलंकारों से अलंकृत होते हैं, उस तरह ध्वनित होनेवाले अलंकार भी यदि अन्य अलंकारों से अलंकृत किए जायँ तो कोई विरोध नहीं। यही बात अलंकारों के मुख्यतया वाच्य होने पर भी है—अर्थात् उन्हें भी अन्य अलंकारों द्वारा अलंकृत किया जा सकता है। जैसे बाजार आदि में धरे सोने के कर्णफूल, रत्न आदि द्वारा अलंकृत किए जाते हैं, अतः रत्न-आदि को कर्णफूल आदि के अलंकार (शोभित करनेवाले) कहा जा सकता है। वही बात यहाँ भी है। पर वही कर्णफूल, जब कामिनी के कानों के अलंकार रूप बनें—उनमें पहनाए जायँ, तब तो प्रधानरूप में अन्य (कामिनी के कानों) के विद्यमान होने

के कारण, कर्णफूल और उसके अंदर के रत्न—सभी—साक्षात् और परंपरया कान आदि की शोभा बढ़ाते हैं। ऐसी दशा में कर्णफूल और रत्न, सबको, जैसे कानों का अलंकार कहा जाता है—कर्णफूल आदि को अलंकार्य नहीं माना जाता, उसी प्रकार यहाँ भी रस आदि के विद्यमान होने पर रूपक आदि अलंकार और उन्हें शोभित करनेवाले अन्य अलंकार सभी रस आदि के अलंकार हो जाते हैं। ऐसी जगह रूपक आदि को अलंकार्य नहीं कहा जा सकता। सारांश यह कि—यदि रस आदि अन्य कोई प्रधान व्यंग्य हो तब तो अलंकारों को अलंकारों का शोभित करनेवाला नहीं माना जाता, किंतु उन सबको रसादिक के ही अलंकार माना जाता है, पर यदि केवल अलंकार ही प्रधान हो तो उन्हें अन्य अलंकारों से शोभित होनेवाला मानने में कोई बाधा नहीं।

भेदों की संकलना

इस तरह प्राचीनों के मत से जो पचीस भेद पहले गिनाए जा चुके हैं उनमें से प्रत्येक पाँच पाँच प्रकार के होने के कारण उपमा के सवा सौ भेद हुए। और जो लोग बत्तीस भेद मानते हैं उनके हिसाब से एक सौ साठ भेद हुए। इनके अतिरिक्त अन्य भेद भी कुशाग्र बुद्धि लोगों को स्वयं निकाल लेने चाहिएँ।

समानधर्म को लेकर उपमा के भेद

उनमें से समानधर्म को लेकर कुछ भेद हो सकते हैं। १—किसी उपमा में समानधर्म केवल अनुगामी—अर्थात् उपमान और उपमेय में एक ही रूप से घटित हो जानेवाला—होता है, २—किसी में केवल बिंब-प्रतिबिंबभावापन्न होता है अथवा बिंब-प्रतिबिंबभावापन्न और अनुगामी दोनों एक-साथ होते हैं, ३—कहीं बिंबप्रतिबिंबभावापन्न धर्म वस्तु-प्रतिवस्तुभाव से मिश्रित होता है, ४—कहीं समानधर्म मिथ्या होने पर भी उपचरित (आरोपित) होता है, ५—और कहीं केवल शब्दरूप होता है। उनमें से—

१—अनुगामी समानधर्म; जैसे—

शरदिन्दुरिवाह्लादजनको रघुनन्दनः।
वनस्रजा विभाति स्म सेन्द्रचाप इवाम्बुदः॥

कवि कहता है—शरदृतु के चंद्रमा के समान आनंद-दायक भगवान् रामचंद्र, वनमाला से, इंद्रधनुष सहित मेघ के समान शोभित हो रहे थे।

यहाँ पूर्वार्ध में एक बार निर्देश करने से ही धर्म ('आनंद-दायकता') उपमान और उपमेय दोनों में घटित हो जाता है, अतः अनुगामी है। सारांश यह कि जो धर्म एक बार

कहने से उपमान-उपमेय दोनों में घटित हो जाय वह अनुगामी समानधर्म कहलाता है।

२—केवल बिंब-प्रतिबिंबभावापन्न समानधर्म

कोमलातपशोणाभ्रसन्ध्याकालसहोदरः।
कुङ्कुमालेपनो याति काषायवसनो यतिः॥

इस पूर्वोदाहृत पद्य में समझना चाहिए। (जिसका पहले विवेचन किया जा चुका है।)

बिंब-प्रतिबिंबभावापन्न और अनुगामी दोनों धर्म एक साथ हैं "शरदिन्दुरिवाह्लादजनको रघुनंदनः। वनस्रजा विभाति स्म सेन्द्रचाप इवाम्बुदः।" इस पद्य के उत्तरार्ध में। क्योंकि यहाँ 'मेघ' और 'राम' में शोभित होना धर्म अनुगामी है और 'वनमाला' तथा 'इन्द्रधनुष' का अभेदरूपी धर्म बिंब-प्रतिबिंबभावापन्न है।

३—वस्तु-प्रतिवस्तुभाव से मिश्रित बिंबप्रतिबिंबभावापन्न समानधर्म तीन प्रकार का है—एक केवल विशेषणों के वस्तु-प्रतिवस्तुभाव से मिश्रित, दूसरा केवल विशेष्यों के वस्तु-प्रतिवस्तुभाव से मिश्रित और तीसरा विशेषण-विशेष्य दोनों के वस्तु-प्रतिवस्तुभाव से मिश्रित। **उनमें से—**

केवल विशेषणों के वस्तु-प्रतिवस्तुभाव से मिश्रित; जैसे—

चलद्भृङ्गमिवाऽम्भोजमधीरनयनं मुखम्।
तदीयं यदि दृश्येत कामः क्रुद्धोऽस्तु किं ततः॥

जिसके अंदर भौंरा चल रहा हो उस कमल के समान अधीर (चंचल) नेत्रोंवाला उसका मुख यदि दिखाई दे जाय, तो कामदेव कुपित होता रहे, उससे क्या होना-जाना है।

यहाँ 'चलना' और 'अधीरता' दोनों विशेषण वास्तव में एक रूप हैं, तथापि उन्हें दो भिन्न-भिन्न शब्दों द्वारा ग्रहण किया गया है, अत: उनका वस्तु-प्रतिवस्तुभाव है; और वे जिनके विशेषण हैं उन (अर्थात् विशेष्यों) 'भौंरे' और 'नेत्र' का बिंबप्रतिबिंबभाव है (क्योंकि वस्तुत: भिन्न होने पर भी सादृश्य के कारण उन्हें अभिन्न माना गया है); अत: यह बिंब-प्रतिबिंबभाव वस्तु-प्रतिवस्तुभाव से मिश्रित कहलाता है।

केवल विशेष्यों के वस्तु-प्रतिवस्तुभाव से मिश्रित; जैसे—

आलिङ्गितो जलधिकन्यकया सलीलं
लग्नः प्रियंगुलतयेव तरुस्तमालः।
देहावसानसमये हृदये मदीये
देवश्चकास्तु भगवानरविन्दनाभः॥

भक्त कहता है—प्रियंगुलता से मिले हुए तमालवृक्ष के समान, लक्ष्मी से हाव-भाव सहित आलिंगन किए हुए भगवान् पद्मनाभ देव (विष्णु), देहांत के समय, मेरे हृदय में प्रकाशमान रहें।

यहाँ 'आलिंगित होना' और '(लग्न) मिलित होना' इन दोनों का वस्तु-प्रतिवस्तुभाव है; और वे जिनके विशेष्य

हैं उन (अर्थात् उनके विशेषणों) 'लक्ष्मी' और 'प्रियंगुलता' का बिंब-प्रतिबिंबभाव है। इस कारण यह बिंब-प्रतिबिंब-भाव भी वस्तु-प्रतिवस्तुभाव से मिश्रित ही है।

विशेषण-विशेष्य दोनों के वस्तु-प्रतिवस्तुभाव से मिश्रित; जैसे—

दशाननेन दृप्तेन नीयमाना बभौ सती।
द्विरदेन मदान्धेन कृष्यमाणेव पद्मिनी॥

कवि कहता है—दृप्त (अभिमानी) दशानन (रावण) से ले जाई जा रही सती (सीता), मदांध हाथी से खींची जाती हुई कमलिनी की तरह, शोभित हुई।

इस जगह 'दृप्तता' और 'मदांधता' इन विशेषणों का और 'ले जाई जा रही' तथा 'खींची जाती हुई' इन विशेष्यों का—इन दोनों वस्तु-प्रतिवस्तुभावों से, 'दशानन' और 'हाथी' का बिंब-प्रतिबिंबभाव, दोनों तरफ से संपुटित है—अर्थात् इन दोनों वस्तु-प्रतिवस्तुभावों के बीच में आया हुआ है।

केवल वस्तु-प्रतिवस्तुभाव

"विमलं वदनं तस्या निष्कलङ्कमृगाङ्कति।

अर्थात् उस नायिका का निर्मल मुख कलंकरहित चंद्रमा का-सा आचरण करता है।"

इस जगह 'निर्मलता' और 'कलंक-रहितता' वास्तव में एक रूप हैं, अतः ये बिंब-प्रतिबिंबभाव से रहित वस्तु-प्रतिवस्तु-

भावरूप हुईं। ऐसी दशा में यदि* वे उपमा की संपादिका मानी जायँ ते समानधर्म का 'शुद्ध वस्तु-प्रतिवस्तुभावापन्न' भी एक छठा भेद हो सकता है।

आप कहेंगे—उपर्युक्त उदाहरण में समानधर्म को वस्तु-प्रतिवस्तुभावापन्न मानने की आवश्यकता नहीं। कारण यह

---

* "यदि······मानी जाय ते" इस कथन से लेखक की अरुचि सूचित होती है। उसका कारण यह है कि—एक ही अर्थ को यदि दो भिन्न-भिन्न शब्दों से कहा जाय ते वह भिन्न-सा प्रतीत होता है। अतएव प्राचीनों का सिद्धांत है कि—"उदेति सविता ताम्रस्ताम्र एवाऽस्तमेति च—अर्थात् सूर्य ताम्रवर्ण उदय होता है और ताम्रवर्ण ही अस्त होता है" इसकी जगह पहला भाग ज्यों का त्यों रखकर 'रक्तवर्ण ही अस्त होता है' बना दिया जाय ते दोष हो जायगा। और प्रस्तुत प्रसंग में ते जिनसे वे धर्म-संबंध रखते हैं उन संबंधियों में भी भेद है, इस कारण भी उन धर्मों को भिन्न माना जाना उचित है। से इस तरह भिन्नरूप से प्रतीत होनेवाले धर्म को साधारण मानना, बिना किसी बिंब-प्रतिबिंबभावापन्न एक धर्म से संबंध जोड़े, नहीं बन सकता। अतः यह सिद्ध हुआ कि—वस्तु-प्रतिवस्तुभावापन्न धर्म, शब्द द्वारा और भिन्न वस्तुओं से संबंध रखने द्वारा, भिन्न ही प्रतीत होते हैं। अतः वे स्वतः साधारण नहीं हो सकते, किंतु बिंबप्रतिबिंबभावापन्न एक धर्म के संबंधी होने पर ही साधारण हो सकते हैं। ऐसी दशा में शुद्ध (केवल) वस्तु-प्रतिवस्तुभाव को उपमा का साधक कैसे माना जा सकता है? अतएव प्राचीनों का कहना है कि—वस्तु-प्रतिवस्तुभाव बिंब-प्रतिबिंबभाव से मिश्रित ही रहता है।

(गुरुमर्मप्रकाश का सार)।

है कि—"कोमलातपशोणाभ्रसंध्याकालसहोदरः" इत्यादि उदाहरणों में तो, संन्यासी और संध्याकाल की उपमा में अन्य कोई साधारणधर्म ज्ञात नहीं होता। अतः 'केसर के लेप' और 'भगवा वस्त्र' तथा 'कोमल धूप' और 'लाल बादल' इनका बिंब-प्रतिबिंबभाव अवश्य स्वीकार करना पड़ता है—बिना उसके काम नहीं चलता। पर इस पद्य में वस्तु-प्रतिवस्तुभाव मानना आवश्यक नहीं। कारण, यहाँ 'मुख' और 'चंद्रमा' में 'सुंदरता' रूपी साधारणधर्म प्रतीत हो रहा है, अतः अन्य किसी धर्म की अपेक्षा नहीं। तो इसका समाधान यह है कि—यदि ऐसा ही माना जाय तो—

"यान्त्या मुहुर्वलितकन्धरमाननं त—
दावृत्तवृन्तशतपत्रनिभं वहन्त्या।
दिग्धोऽमृतेन च विषेण च पक्ष्मलाक्ष्या
गाढं निखात इव मे हृदये कटाक्षः॥

(मालतीमाधव १।३२)

मालती के प्रथम दर्शन के बाद माधव अपने मित्र मकरंद से कह रहा है—झुके वृन्तवाले कमल के समान बार-बार तिरछी गरदनवाले मुख को धारण करती हुई—अर्थात् बार बार लौटकर देखती हुई उस सुनयनी ने, जाते हुए, मेरे हृदय में, अमृत और विष से सना हुआ एक कटाक्ष, तानकर, मार-सा दिया। क्या कहूँ, उसके मारे बेहाल हूँ।"

इस भवभूति के पद्य में भी साधारण सौंदर्य से ही काम चल सकता था; फिर सभी आलंकारिकों ने जो 'गरदन' और 'वृन्त' में बिंब-प्रतिबिंबभाव तथा 'झुकने' और 'तिरछे होने' में वस्तु-प्रतिवस्तुभाव माना है, वह विरुद्ध होगा; क्योंकि आपके हिसाब से तो वहाँ भी ऐसा मानने की कोई आवश्यकता नहीं। सो साहित्य के मर्मज्ञों की राय के सामने आपका कथन कोई चीज नहीं; अतः जैसा माना जाता है वही ठीक है—आप अपनी पंडिताई यहाँ न अड़ाइए।

४—**उपचरित** (वस्तुतः न होते हुए भी आरोपित) **समानधर्म**; जैसे—

शतकोटिकठिनचित्तः सोऽहं तस्याः सुधैकमयमूर्त्तेः।
येनाऽकारिषि मित्रं स विकलहृदयो विधिर्वाच्यः॥

जिस विधाता ने, वज्र-से कठोर चित्तवाले उस मुझे, जिसकी मूर्त्ति केवल अमृत से बनी है ऐसी उस (सीता) का मित्र बना दिया, वह हृदय-शून्य विधाता निंदनीय है— अपवाद मेरा नहीं किंतु विधाता का होना चाहिए, जिसने जानते-बूझते ऐसी बेमेल जोड़ी बना दी।

यह सीता को निकाल देने के अनंतर, अपने अंतःकरण के प्रति, रामचंद्र की उक्ति है। यहाँ पृथिवी का धर्म कठिनता (क्योंकि पृथिवी ही कठिन और कोमल हुआ करती है, चित्त नहीं, वह तो अमूर्त्त पदार्थ है) चित्त में उपचरित की गई है।

५—केवल शब्दरूप समानधर्म; जैसे—

'यत्र वसन्ति सुमनसि मनुजपशौ च शीलवन्तः सर्वत्र समाना मन्त्रिणो मुनय इव—अर्थात् जिस राज्य में सदाचार-संपन्न मंत्री लोग, मुनियों की तरह, विद्वान् और महामूर्ख सब मनुष्यों के विषय में 'समान' (एकत्र—बराबर आदर करनेवाले; अन्यत्र—समदृष्टि) हैं।"

यहाँ 'समान' शब्द का अर्थ उपमान और उपमेय दोनों में साधारण नहीं है; क्योंकि एक पक्ष में उसका जो अर्थ है वह दूसरे में नहीं। अतः यहाँ अर्थ के समान धर्मरूप न होने के कारण शब्द ही समान धर्म है।

पूर्वोक्त धर्मों का मिश्रण

इसी तरह इन धर्मों का मिश्रण भी हो सकता है। जैसे—

श्यामलेनाऽङ्कितं भाले बाले ! केनाऽपि लक्ष्मणा।
मुखं तवान्तरासुप्तभृङ्गफुल्लाम्बुजायते॥

नायक कहता है—हे बाले ! किसी काले धब्बे (कस्तूरी के तिलक) से ललाट पर चिह्नित तेरा मुख, जिसके अंदर भौंरा सोया हुआ हो ऐसे खिले कमल का-सा आचरण करता है।

यहाँ 'ललाट पर का धब्बा' और 'सोया हुआ भौंरा' ये दोनों बिंब-प्रतिबिंबभावापन्न हैं और वे 'अंबुजायते' पद में जो 'क्यङ्' प्रत्यय है उसके अर्थ 'आचार' रूपी अनुगामी

धर्म से अभिन्न होकर स्थित हैं। अतः इस उपमा में बिंब-प्रतिबिंबभावापन्न और अनुगामी धर्मों का मिश्रण है।

अथवा जैसे—

सिन्दूरारुणवपुषो देवस्य रदाङ्कुरो गणाधिपतेः।
सन्ध्याशोणाम्बरगतनवेन्दुलेखायितः पातु॥

सिंदूर के कारण अरुणवर्ण शरीरवाले गणपति देव का, संध्या-समय के लाल आकाश में स्थित चंद्रकला-सा आचरण करनेवाला, दाँत का अंकुर, आपकी रक्षा करे।

इस पद्य में 'सिंदूर से अरुणवर्ण शरीरवाले गणेशजी के दंतांकुर' को 'संध्या-समय के लाल आकाश की चंद्रकला' से उपमा दी गई है और 'चंद्रकला' तथा 'दंतांकुर' का समान धर्म है 'आचरण', जो कि पद्य के 'लेखायित' शब्द के अंतर्गत 'क्यङ्' प्रत्यय का अर्थ है। वह 'आचरण' यहाँ 'सिंदूर से अरुण गणेश' और 'संध्या-समय के लाल आकाश' के रूप में आया है—अर्थात् इस तरह के गणेश और आकाश का अभेद ही वह आचरणरूपी समानधर्म है जिसके कारण 'चंद्रकला' और 'दंतांकुर' की तुलना होती है। उनमें से 'संध्या और सिंदूर' का तथा 'आकाश और गणेश' का ये दो तो बिंब-प्रतिबिंबभावापन्न हैं और 'लाल (शोण) और अरुण' का यह एक वस्तु-प्रतिवस्तुभाव। इन सब को अन्वित करने पर चंद्र-कला और दंतांकुर का विशेषणों सहित समग्र धर्म

हुआ—'लाल' और 'अरुण' रूपी वस्तु-प्रतिवस्तुभावापन्न धर्म से युक्त जो 'संध्या' और 'सिंदूर' का बिंब-प्रतिबिंबभाव है उससे युक्त 'आकाश' और 'गणेश' का बिंब-प्रतिबिंबभाव, जो कि अनुगामी धर्म 'आचरण' से अभिन्न—अर्थात् आचरण रूप है। सारांश यह कि इस उपमा के समानधर्म* में अनुगामी धर्म का वस्तु-प्रतिवस्तुभावापन्न धर्म से युक्त दो बिंबप्रतिबिंबभावापन्न धर्मों से मिश्रण है।

कहीं इन धर्मों का कार्य-कारणरूप से मिश्रण होता है; जैसे—

खलः कापट्यदोषेण दूरेणैव विसृज्यते।
अपायशङ्किभिर्लोकैर्विषेणाशीविषो यथा॥

कवि कहता है—जैसे विष के कारण साँप को दूर से ही छोड़ दिया जाता है—कोई उसके पास नहीं जाता, वैसे, विघ्न की आशंका करनेवाले लोगों द्वारा, कपटरूपी दोष के कारण, दुष्ट छोड़ दिया जाता है।

यहाँ 'दुष्ट' और 'साँप' का अनुगामी धर्म है 'दूर से छोड़ देना' और उसके कारण हैं 'विष' और 'कपट'

* 'चंद्रकला' और 'दंतांकुर' की उपमा 'उज्ज्वलता' अथवा 'विशेष प्रकार की शोभा' आदि समानधर्म के द्वारा भी बन सकती है; पर कवि का तात्पर्य यहाँ इसी प्रकार के समानधर्म में है, अन्यथा वह इतने व्यर्थ विशेषण क्यों बढ़ाता?

—(गुरुमर्मप्रकाश का सारांश)

रूपो बिंब-प्रतिबिंबभावापन्न धर्मं। सो अनुगामी और बिंब-प्रतिबिंबभावापन्न धर्मों का कार्य-कारण रूप से मिश्रण है।

अथवा जैसे—

रूपवत्यपि च क्रूरा कामिनी दुःखदायिनी।
अन्तः काटवसंपूर्णा सुपक्वेवेन्द्रवारुणी॥

रूपवती होते हुए भी क्रूर कामिनी, अंदर कड़ुआस से भरी हुई इंद्रवारुणी (नारुन) की तरह, दुख देनेवाली है।

यहाँ 'रूपवती होना' और 'दुख देनेवाली होना' दो अनुगामी धर्म हैं। उनमें से 'दुख देनेवाली होना' रूपी समानधर्म के साथ 'क्रूरता' और 'कड़ुआस' रूपी बिंब-प्रतिबिंबभावापन्न धर्म कार्य-कारणरूप से मिश्रित हैं; क्योंकि कामिनी में 'क्रूरता' दुख देने का कारण है और इंद्रवारुणी में 'कड़ुआस'। और 'रूपवती होने' के साथ इन दोनों धर्मों—अर्थात् 'क्रूरता' और 'कड़ुआस'—का केवल सामानाधिकरण्य से मिश्रण है—अर्थात् 'रूपवती होने' के साथ इन धर्मों का संबंध है एक आधार में रहना; क्योंकि जिस वस्तु में वह धर्म रहता है उसी में ये भी रहते हैं। इसी तरह अन्य धर्मों से भी मिश्रण समझिए।

सुबुद्धि लोग ऐसे अन्य भेदों की अपने-आप तर्कना कर सकते हैं; जैसे—

यथा लतायाः स्तबकानतायाः
स्तनावनम्रे नितरां समाऽसि।

तथा लता पल्लविनी सगर्वे !
शोणाधरायाः सदृशी तवाऽपि ॥

नायक नायिका से कहता है—हे स्तनों के कारण झुकी हुई (प्रिये) ! जैसे तू, फूलों के गुच्छों से टूटी-पड़ती लता के अत्यंत समान है, वैसे हे मानिनि ! पल्लवों से युक्त लता भी अरुण अधर से युक्त-तेरे सदृश है।

इस पद्य का वाक्यार्थ यह हुआ कि—"(हे प्रियतमे !) 'स्तनों के कारण झुकी हुई मैं, फूलों के गुच्छों से टूटी पड़ती लता का, उपमान हूँ—उसकी तुलना मुझसे की जा सकती है, मेरी उससे नहीं' यह अभिमान न कर; क्योंकि जब अरुण अधर से युक्त तू उपमेय होती है—अर्थात् जब अरुण अधर को लेकर तेरी तुलना करनी हो, तब पल्लव-युक्त लता तेरा उपमान होती है—अर्थात् उस समय तेरी भी तुलना उससे की जाती है।" इस वाक्यार्थ को सिद्ध करनेवाली है 'जैसे' और 'तैसे' पदों से प्रतिपादन की जानेवाली उपमा, जिसका कि कामिनी ('तू') उपमान है और लता उपमेय। सारांश यह कि पूर्वोक्त पद्य में "जैसे तू .... वैसे ....लता............." यह उपमा प्रधान है, क्योंकि वही उपर्युक्त वाक्यार्थ को सिद्ध करती है।

अब यह सोचिए कि—प्रत्येक उपमा में चार बातें अवश्य होती हैं—उपमान, उपमेय, सादृश्य का वाचक और समानधर्म। उपर्युक्त उपमा में उपमान ('तू'), उपमेय ('लता') और

सादृश्यवाचक ('जैसे', 'वैसे') ये तीन बातें तो हैं। अब समानधर्म पर विचार करिए। विचार करने से प्रतीत होगा कि—उपर्युक्त पद्य में इस प्रधान उपमा का समानधर्म हैं दो उपमाएँ—एक 'तू लता के समान है' यह और दूसरी 'लता तेरे सदृश है' यह; और जिनके प्रतिपादक क्रमश: 'समान' और 'सदृश' शब्द हैं तथा जो बिंब-प्रतिबिंबभावापन्न विशेषणों से बनी हुई हैं। इन दोनों उपमाओं में से प्रथम उपमा का निरूपण करनेवाली 'कामिनी (तू)' है और दूसरी उपमा की 'लता'; क्योंकि ये दोनों क्रमश: इन दोनों उपमाओं की उपमान हैं; अत: निरूपकता-संबंध से पहली उपमा 'कामिनी' में रहती है और दूसरी 'लता' में; जो कि क्रमश: प्रधान उपमा की उपमान और उपमेय हैं। अत: यह सिद्ध हुआ कि—यहाँ, प्रधान उपमा के उपमान और उपमेय में निरूपकता-संबंध से रहनेवाली और परस्पर बिंब-प्रतिबिंबभावापन्न पूर्वोक्त दो उपमाएँ, जिनमें से एक का प्रतिपादक 'समान' शब्द है और दूसरी का 'सदृश' शब्द, प्रधान उपमा के समानधर्मरूप में स्थित हैं।

इन दोनों उपमाओं में से प्रधान उपमा के उपमान 'कामिनी' में निरूपकता-संबंध से रहनेवाली—अर्थात् 'तू लता के समान है' यह—उपमा प्रतिबिंबरूप है और प्रधान उपमा के उपमेय 'लता' में रहनेवाली—अर्थात् 'लता तेरे सदृश है' यह—उपमा बिंबरूप। इनमें से प्रतिबिंबरूप

उपमा में, 'झुकना' और 'टूटी पड़ना' रूपी वस्तु-प्रतिवस्तु-भावापन्न धर्मों के विशेषणरूप में आए हुए, 'स्तन' और 'गुच्छे' बिंब-प्रतिबिंबभावापन्न होकर समानधर्मरूप हैं; और इसी तरह बिंबरूप उपमा में 'अधर' और 'पल्लव' बिंब-प्रतिबिंबभावापन्न होकर समानधर्मरूप हैं। अर्थात् पहली उपमा में समानधर्म वस्तु-प्रतिवस्तुभावापन्न धर्म से मिश्रित बिंब-प्रतिबिंब-भावापन्न रूप है और दूसरी में केवल बिंब-प्रतिबिंबभावापन्न।

इस सब का सारांश यह हुआ कि—उपर्युक्त पद्य में तीन उपमाएँ—एक प्रधान और दो उसे सिद्ध करनेवाली—हैं उनमें से प्रधान उपमा का समानधर्म है उसे सिद्ध करनेवाली दो उपमाएँ, जो कि परस्पर बिंब-प्रतिबिंबभावापन्न हैं। और सिद्ध करनेवाली दो उपमाओं में से प्रथम उपमा का समान-धर्म है वस्तु-प्रतिवस्तुभावापन्न धर्मों से मिश्रित बिंब-प्रतिबिंब-भावापन्न और दूसरी का है केवल बिंब-प्रतिबिंबभावापन्न।

आप कहेंगे—यह सब तो ठीक। पर (उत्तरार्ध की उपमा—'लता तेरे सदृश है'—में) जो आपने लता को उपमेय बताया सो नहीं बन सकता। बात यह है कि—जब हम 'उससे समानता रखता है' कहते हैं तब 'वह' उप-मान और 'समानता रखनेवाला' उपमेय होता है; क्योंकि ऐसी दशा में 'वह' उपमा का निरूपण करता है और 'समा-नतारखनेवाला' उपमा का आधार होता है। और जब कहते हैं कि 'उसकी समानता रखता है', तब सादृश्य 'वह'

का संबंधी—अर्थात् 'वह' में रहनेवाला—होता है और सादृश्य का निरूपण करनेवाला होता है 'समानता रखनेवाला'। अत: यह सिद्ध होता है कि—तृतीयांत ('से' वाले) का उपमान होना और षष्ठ्यन्त (का, के की वाले) का उपमेय होना उचित है; क्योंकि सादृश्य का निरूपण करनेवाला उपमान और सादृश्य का आधार उपमेय होता है—यह नियम है। अब आप सोचिए कि—यहाँ जो 'लता तेरे सदृश है' यह कथन है, इसका अभिप्राय है—'लता से तेरी तुलना हो सकती है' यह। इस दशा में लता उपमा का निरूपण करनेवाली हुई। सो शब्द द्वारा ही लता की उपमानता सिद्ध हो जाती है। फिर आपने जो 'लता' को उपमेय बताया सो कैसे बन सकता है? इसका उत्तर यह है कि—'सदृश' शब्द से प्रतिपादित धर्मरूप उपमा में यद्यपि लता उपमान है, तथापि 'जैसे' और 'वैसे' शब्दों से प्रतिपादित प्रधान उपमा में लता के उपमेय होने में कोई बाधक नहीं। अर्थात् आपकी बात ठीक होने पर भी आप धर्मरूप उपमा की बात कह रहे हैं और हम प्रधान उपमा की; क्योंकि हमने तो 'लता' को प्रधान उपमा का उपमेय बताया है, न कि धर्मरूप उपमा का। अत: कोई आपत्ति नहीं।

इसी तरह अन्य भेद भी हो सकते हैं; जैसे—

यथा तवाननं चन्द्रस्तथा हासोऽपि चन्द्रिका।
यथा चन्द्रसमश्चन्द्रस्तथा त्वं सदृशी तव॥

अर्थात् जैसे तेरा मुख चंद्रमा है वैसे तेरी हँसी भी चाँदनी है; और जैसे चंद्रमा चंद्रमा के समान है—उसका अन्य कोई उपमान नहीं, वैसे तू तेरे सदृश है—तेरी भी तुलना किसी अन्य से नहीं हो सकती* ।

इस तरह धर्मों सहित पूर्वोक्त भेदों को, यथासंभव, गुणित करने पर उपमा के बहुतेरे भेद हो जाते हैं ।

धर्मों की वाच्यता-आदि के कारण

उपमा के भेद

समानधर्म वाच्य, लक्ष्य और व्यंग्य इस तरह तीन प्रकार से आता है । तदनुसार उपमा के तीन भेद होते हैं—वाच्य-धर्मा, लक्ष्यधर्मा और व्यंग्यधर्मा । धर्म के वाच्य होने पर **वाच्यधर्मा** होती है, जिसके अनेक उदाहरण दिए जा चुके हैं । इसी तरह धर्म के व्यंग्य होने पर **व्यंग्यधर्मा** होती है, जिसके उदाहरण वहाँ आए हैं जहाँ धर्म का लोप हुआ है । रही **लक्ष्यधर्मा**, जो धर्म के लक्षणा द्वारा प्रतिपादित होने पर होती है; जैसे—

सर्प इव शान्तमूर्त्तिः श्वेवाऽयं मानपरिपूर्णः ।
क्षीव इव सावधानो मर्कट इव निष्क्रियो नितराम् ।

---

* यहाँ पूर्वार्ध में दो 'रूपकों' की परस्पर उपमा है और उत्तरार्ध में दो 'अनन्वयों' की । उनमें से उत्तरार्ध के अनन्वयों की उपमा का समानधर्म है पूर्वार्ध के रूपकों की उपमा । —अनुवादक ।

एक मनुष्य आक्षेप करते हुए कहता है—यह साँप की तरह शांतमूर्त्ति है, कुत्ते की तरह संमानपूर्ण है, नशेबाज की तरह सावधान है और बंदर की तरह अत्यंत निश्चेष्ट है—चुपचाप बैठा रहता है।

इस जगह सर्प आदि उपमान के कारण 'शांतमूर्त्ति' आदि शब्दों से विरुद्ध अर्थ लक्षित होते हैं। अर्थात् उन विशेषणों से लक्षणा द्वारा यह प्रतिपादित होता है कि यह बड़ा अशांत, बड़ा तिरस्कृत, बड़ा प्रमत्त और बड़ा चपल है।

उपमा की उपस्कारकता

यह उपमा मुख्य अर्थ को कहीं साक्षात् उपस्कृत (सुशोभित) करती है और कहीं दूसरे उपस्कारक (वस्तु अथवा अलंकार) को अलंकृत करने द्वारा—अर्थात् परंपरया। उनमें से साक्षात् उपस्कृत करनेवाली उपमा के बहुतेरे उदाहरण पहले दिए जा चुके हैं। अब परंपरया उपस्कारक होने का उदाहरण सुनिए—

नदन्ति मददन्तिनः परिलसन्ति वाजिव्रजाः
पठन्ति विरुदावलीमहितमन्दिरे बन्दिनः।
इदं तदवधि प्रभो! यदवधि प्रबुद्धा न ते
युगान्तदहनोपमा नयनकोणशोणद्युतिः॥

कवि राजा से कहता है—हे प्रभो! आपके शत्रुओं के घर पर मत्त हाथी चिंघाड़ते हैं, घोड़ों की कतारें शोभित होती हैं और बंदीजन विरुदावली पढ़ते हैं। पर यह सब

तब तक है, जब तक कि आपके नेत्रकोण की, प्रलय-काल की अग्नि के समान, कांति नहीं बढ़ी।

यहाँ राजा के विषय में कवि का प्रेम प्रधानतया प्रतिपाद्य है और उसे उपस्कृत करनेवाली है 'ज्योंही तुम्हारे कोप का उदय होगा त्योंही शत्रुओं की संपदाएँ सर्वथा भस्म हो जाँयगी' यह वस्तु। एवं इस वस्तु को उपस्कृत करनेवाली है 'नेत्र-कोण की अरुण कांति' को दी गई 'प्रलय-काल की अग्नि' की उपमा।

वाच्य, लक्ष्य और व्यंग्य तीनों प्रकार की उपमाएँ अलंकाररूप हो सकती हैं

यह उपमा, जब सादृश्य-वाचक शब्द—इव, यथा, वा आदि (और हिंदी में 'जैसे' 'सा' आदि)—द्वारा, प्रतिपादित होती है, तब वाच्यरूप में अलंकार होती है। यही उपमा लक्ष्य—लक्षणा द्वारा प्रतिपादित होने पर भी अलंकाररूप में दिखाई देती है; जैसे—

नीवीं नियम्य शिथिलामुषसि, प्रकाश-
मालोक्य वारिजदृशः शयनं जिहासोः।
नैवाऽवरोहति कदापि च मानसान्मे
नाभेर्निभा सरसिजोदरसोदरायाः॥

नायक अपने मित्र से कहता है—सवेरा हो गया। उजाला दिखाई पड़ने लगा। कमल-नयनी ढीली पड़ी

धोती की ग्रन्थि को बाँधकर सेज छोड़ना चाहती थी। उस समय में, कमल-गर्भ की सगी बहिन, उसकी नाभि की जो शोभा थी वह मेरे हृदय से, कभी नहीं उतर पाती।

यहाँ 'नाभि' को 'कमल-गर्भ की सगी बहिन' कहा गया है। 'सगी बहिन' का मुख्य अर्थ है 'एक उदर से उत्पन्न होनेवाली'। यह मुख्य अर्थ इस जगह नहीं बन सकता; अत: यहाँ लक्षणा करनी पड़ेगी। उस लक्षणा का प्रयोजन है—शोभा में बराबरी का हिस्सा लेना—अर्थात् ईश्वर के यहाँ से शोभा का विभाग होते समय दोनों को उसका समान रूप से प्राप्त होना। इस प्रयोजन के विद्यमान होने से 'सगी बहिन' का अर्थ होता है—'समान' और तदनुसार उससे 'आर्थी उपमा' प्रतीत होती है। वह लक्ष्य उपमा 'उतर पाती' इस पद के लाक्षणिक अर्थ 'विस्मृत होने' के निषेध—अर्थात् 'नहीं विस्मृत होती' इस अर्थ—द्वारा प्रतीत होनेवाली 'स्मृति'-नामक चित्तवृत्ति को शोभित (उपस्कृत) कर रही है।

इसी तरह प्रतिभट, प्रतिमल्ल आदि शब्दों का भी प्रयोजन है 'उसे नीचा कर देना', 'उसकी शोभारूपी सर्वस्व का हरण कर लेना' इत्यादि। अत: उन शब्दों की भी 'सादृश्य से युक्त (अर्थात् 'सदृश')' अर्थ में लक्षणा ही है, व्यंजना नहीं। क्योंकि ऐसे स्थलों में मुख्यार्थ का बाध होता है। और यह सिद्धांत है कि—मुख्यार्थ के

बाधित होने पर जो अन्य अर्थ प्रतीत होता है वह व्यंग्य नहीं किंतु लक्ष्य होता है। हाँ, यहाँ जो प्रयोजन—'बराबरी का हिस्सा लेना' आदि—प्रतीत होता है, वह व्यंजना द्वारा होता है।

किसी जगह उपमा व्यंग्य होने पर भी अलंकाररूप होती है; जैसे—

अद्वितीयं रुचाऽऽत्मानं मत्वा किं चन्द्र ! हृष्यसि ।
भूमण्डलमिदं मूढ ! केन वा विनिभालितम् ॥

हे चंद्र ! तू अपने-आपको कांति में अद्वितीय समझकर क्यों प्रसन्न हो रहा है—क्यों इतना गर्व कर रहा है ? अरे मूर्ख ! इस भूमंडल को किसने खोज देखा है—न-जाने कहाँ क्या मिल जाय !

यह, किसी विदेशवासी की, किरणों से अपने को संतप्त करते हुए चंद्रमा के प्रति उक्ति है। इस उक्ति से यह अभिव्यक्त होता है कि—मेरी प्रियतमा, जो कभी बाहर नहीं निकली और इसी कारण जिसे तू भी नहीं देख पाया, उसका मुख तेरे समान है। यह व्यंग्य उपमा 'मूर्ख' पद से ध्वनित होनेवाली चंद्रमा के विषय में वक्ता की 'असूया' को अलंकृत करती है।

'चित्र-मीमांसा' पर विचार

१

क्या व्यंग्य-उपमा अलंकार नहीं हो सकती ?

इससे यह भी सिद्ध हुआ कि—अप्पयदीक्षित ने (अलंकाररूप) उपमा के लक्षण में जो 'व्यंग्य न हो' यह विशेषण दिया है—अर्थात् यह सिद्ध किया है कि कोई भी 'व्यंग्य' अलंकार नहीं हो सकता, सो अनुचित ही है। क्योंकि 'व्यंग्य होने' और 'अलंकार होने' में किसी तरह का विरोध नहीं है। रही 'प्रधान व्यंग्य' के अलंकार न होने की बात; सो वैसी दशा में अलंकार न होना उचित है; क्योंकि प्रधानता और अलंकारता में विरोध है—जो प्रधान हो वह अलंकार नहीं हो सकता। पर, प्रधान व्यंग्य में अलंकार के लक्षण की अतिव्याप्ति न होने के लिये (सादृश्य के साथ) 'व्यंग्य न हो' यह नहीं, किंतु 'शोभित करनेवाला' यह विशेषण देना चाहिए। यदि 'व्यंग्य न हो' यह विशेषण दिया जायगा तो उपर्युक्त ('अद्वितीयम्…' पद्यवाली), 'असूया' की अलंकाररूप (असूया को शोभित करनेवाली) उपमा में अव्याप्ति होगी—उसे उपमा अलङ्कार न कहा जा सकेगा।

आप कहेंगे—यदि उपमा के लक्षण में 'शोभित करनेवाला' यह विशेषण दिया जायगा और 'व्यंग्य न हो' यह विशेषण न दिया जायगा तो विशिष्टोपमा—अर्थात् बिंब-प्रतिबिंबभावापन्न साधारण धर्मवाली उपमा—आदि अलंकारों

के स्थल पर बिंब-प्रतिबिंब-रूप विशेषणों की परस्पर होनेवाली व्यंग्य उपमा में, इस लक्षण की अतिव्याप्ति हो जायगी; क्योंकि वह उपमा प्रधान उपमा को 'शोभित करनेवाली' ही होती है, स्वतः उसका कुछ उपयोग नहीं होता; अतः उपमा के लक्षण में 'व्यंग्य न हो' यह विशेषण आवश्यक है;—तो यह कुछ नहीं। कारण, ऐसे स्थल में विशेषण आदि की उपमाएँ वाच्य-सिद्धि का अंग होती हैं—उन्हीं के कारण प्रधान उपमा सिद्ध होती है, अतः वे उपमाएँ गुणीभूत व्यंग्य-रूप होती हैं। उन्हें अलंकार नहीं कहा जा सकता; क्योंकि वे किसी सिद्ध अर्थ को सुशोभित नहीं करतीं, किंतु उपमा आदि अर्थ को सिद्ध करती हैं—उनके बिना उपमादिक सिद्ध ही नहीं हो पाते। सो उनके अलंकार होने की शंका ही व्यर्थ है। फिर उनके बचाने के लिये 'व्यंग्य न हो' इस विशेषण की क्या आवश्यकता?

२
भेदों के विषय में

और जो उन्हीं द्रविडशिरोमणिजी ने कहा है कि—यह उपमा संक्षेप से तीन प्रकार की है—१—कहीं अपनी विचित्रता में ही पूरी हो जानेवाली; जैसे—

'सच्छिन्नमूलः क्षतजेन रेणुस्तस्योपरिष्टात्पवनावधूतः।
अङ्गारशेषस्य हुताशनस्य पूर्वोत्थितो धूम इवाऽऽबभासे॥

(रघुवंश ७ स०)

(अज का रण-वर्णन है। कवि कहता है—घोड़ों की टापों आदि से उड़ी हुई रज की जड़ रुधिर ने काट दी। उस रुधिर के ऊपर वायु से उड़ती रज, अंगारे-मात्र बची हुई आग के (ऊपर उड़ते), पहले से निकले हुए, धूएँ की तरह शोभित हो रही थी।)' इत्यादि में।

२—कहीं प्रतिपादित अर्थ को सिद्ध करनेवाली; जैसे—

'अनन्तरत्नप्रभवस्य यस्य हिमं न सौभाग्यविलोपि जातम्।
एको हि दोषो गुणसन्निपाते निमज्जतीन्दोः किरणेष्विवाऽऽङ्कः॥

('कुमारसंभव' में हिमालय का वर्णन है—अनंत रत्नों के उत्पत्ति-स्थान हिमालय के सौभाग्य को, हिम (बरफ), नष्ट न कर पाया—उसके कारण हिमालय की सुन्दरता में कोई फेर न आ सका। कारण, एक दोष गुणों के समूह में डूब जाया करता है, जैसे चंद्रमा की किरणों में कलंक।)' इत्यादि में।

और ३—कहीं ऐसी कि जिसमें व्यंग्य प्रधान होता है।

सो यह कथन भी सुंदर नहीं। क्योंकि "नयने शिशिरीकरोतु मे शरदिन्दुप्रतिमं मुखं तव" इसमें वाच्यवस्तु को सुशोभित करनेवाली, उपमा का इन भेदों में से किसी में अंतर्भाव नहीं हो सकता।

इन भेदों को देखकर हमें आपकी, उपमा के लक्षण में 'व्यंग्य न हो' इस विशेषण देने की, बात फिर से याद आ जाती है। हमें यह नहीं समझ पड़ता कि—जब अलंकार-

रूप उपमाओं में आपने 'अपनी विचित्रता मात्र में पूरी हो जानेवाली' उपमा का संग्रह किया है, तब व्यंग्य उपमा के हटाने के लिये 'व्यंग्य न हो' यह विशेषण देने का आपको क्यों दुराग्रह है? ओह! यह बड़े अन्याय की बात है कि—जिसका लक्षण नहीं बनाना है (जो अलंकाररूप है ही नहीं) उसका संग्रह किया गया है और जिसका लक्षण बनाना चाहिए (जो अलंकाररूप है) वह छोड़ दी गई। आप कहेंगे—प्राचीनों ने भी तो ऐसा ही किया है—उन्होंने भी तो 'अपनी विचित्रता मात्र में समाप्त' उपमा के हटाने के लिये कोई यत्न नहीं किया। यदि उसका संग्रह उन्होंने न किया होता तो उसके विषय में क्यों न वे कुछ लिखते? तो यह उचित नहीं। कारण, उन्होंने तो 'साधारण उपमा' का लक्षण बनाया है; अतः जैसे उनके लक्षण में व्यंग्य उपमा का संग्रह होता है वैसे ही इस उपमा का भी संग्रह अनुचित नहीं। पर आपको यह उचित नहीं। क्योंकि आपने प्रयत्नपूर्वक व्यंग्य उपमा को हटाकर स्पष्ट शब्दों में अलंकाररूप उपमा का लक्षण बनाया है। आप कहेंगे—यहाँ 'अपनी विचित्रता मात्र में समाप्त' उपमा का संग्रह, ग्रंथ के व्यंग्य के उपस्कारक रूप में, किया गया है—अर्थात् ऐसी उपमा की समाप्ति यद्यपि अपनी विचित्रता मात्र में हो जाती है, तथापि वह ग्रंथ के प्रधान प्रतिपाद्य व्यंग्य वीररस की तो उपस्कारक ही हुई, अतः उसकी अलंकारों में गणना उचित है।

तो ऐसी दशा में 'अपनी विचित्रता मात्र में समाप्त' यह कथन आपके विरुद्ध हो जायगा, जो ग्रंथ के व्यंग्य को उपस्कृत करता है उसकी समाप्ति अपनी विचित्रता मात्र में कैसे हो सकती है, फिर उसे साफ शब्दों में उपस्कारक ही क्यों नहीं कह देते?

और जो आपने "अनंतरत्नप्रभवस्य······" की बात लिखी है, सो इस पद्य में तो उपमालंकार ही नहीं है—आप उसे उपमा का उदाहरण कैसे बता रहे हैं? कारण यह है कि—इस पद्य के पूर्वार्ध में जो बात लिखी गई है उसके समर्थन के लिये उत्तरार्ध में यह एक सामान्य बात लिखी गई है कि—'गुण-समूह के साथ रहनेवाला एक दोष दोष-रूप से स्फुरित नहीं हुआ करता।' यह सामान्य बात, जब तक कोई विशेष उदाहरण न दिया जाय, तब तक अच्छी तरह समझ में नहीं आती; इस कारण, 'चंद्रमा की किरणों के साथ रहनेवाले कलंक' का उदाहरण दिया गया है, न कि 'कलंक' का उपमानरूप में निर्देश किया गया है। कलंक के उपमान न होने का कारण यह है कि—सामान्य से विशेष का भेद नहीं होता और बिना भेद के तुलना की नहीं जा सकती; क्योंकि भेदमिश्रित सादृश्य को ही उपमा कहा जाता है। सो यहाँ उपमालंकार का प्रसंग नहीं, यह तो उपमा से अतिरिक्त अलंकार है, जिसका नाम है 'उदाहरणालंकार'। जैसे "इको यणचि (अर्थात् कोई स्वर

आगे हो तो इ, उ, ऋ, लृ इन अक्षरों को क्रमशः य, व, र, ल ये अक्षर हो जाते हैं)" इस सामान्य वाक्यार्थ के समझने के लिये "जैसे कि—'दध्युदकम्' इस जगह 'दधि' शब्द के इकार के आगे 'उदक' शब्द का उकार आ जाने पर दधि शब्द के इकार को यकार हो गया" इस दूसरे वाक्य से सामान्य अर्थ का विशेषरूपेण उदाहरण दिया जाता है, वही बात इस उदाहरणालंकार में भी होती है। इस बात का विवेचन उदाहरणालंकार के प्रसंग में किया जायगा।

लुप्ता में भी बिंब-प्रतिबिंब-भावापन्न धर्म होता है

इसके अतिरिक्त अप्पयदीक्षित ने जो यह लिखा है कि—"लुप्ता में तो ऐसे (साधारण धर्म के कारण होनेवाले) भेद नहीं होते; क्योंकि उसमें साधारण धर्म के अनुगामी होने का नियम है—अर्थात् लुप्तोपमा में साधारण धर्म अनुगामी ही होता है, अन्य किसी प्रकार का नहीं।" सो भी ठीक नहीं। कारण,

"मलय इव जगति पाण्डुर्वल्मीक इवाऽयिधरणि धृतराष्ट्रः।

अर्थात् जगत् में पांडु राजा मलयाचल के समान है (जिसने चंदन के समान सब संसार को सुखित करनेवाले पांडवों को उत्पन्न किया) और धृतराष्ट्र (इस) पृथ्वी पर बामले के समान है (जिसने साँपों के समान सबको कष्ट देनेवाले कौरवों को उत्पन्न किया)।"

इस धर्मलुप्ता उपमा में कोई अनुगामी धर्म ज्ञात नहीं होता; अतः समान धर्म के रूप में चंदनों और पांडवों का एवं साँपों और दुर्योधनादि का बिंब-प्रतिबिंब-भाव ही स्वीकार करना पड़ेगा। 'बिंब-प्रतिबिंब-भाव के लिये पदार्थों का शब्द द्वारा वर्णन अनिवार्य है' यह आग्रह तो विद्वानों को उचित है नहीं; कारण, औचित्य इसी में है कि बिंब-प्रतिबिंब-भाव को श्रौत और आर्थ इस तरह दो प्रकार का माना जाय। उनका विषय-विभाग इस तरह है कि जहाँ बिंब-प्रतिबिंब बननेवाले पदार्थ शब्द से गृहीत हों वहाँ श्रौत बिंब-प्रतिबिंब-भाव होता है और जहाँ अर्थतः प्रतीत होते हों वहाँ आर्थ। अतएव तो 'अप्रस्तुत प्रशंसा' आदि में प्रस्तुत और अप्रस्तुत वाक्यार्थों का सादृश्य संगत हो सकता है, जिसका मूल है उन वाक्यार्थों के अवयवों का बिंब-प्रतिबिंब-भाव। यदि आर्थ बिंब-प्रतिबिंब-भाव न माना जाय तो अप्रस्तुत वाक्यार्थ के साथ प्रस्तुत वाक्यार्थ का सादृश्य कैसे बन सकता है? क्योंकि वहाँ अप्रस्तुत वाक्यार्थ का प्रतिपादन करने के लिये कोई शब्द नहीं होता।

उपमा के अन्य आठ भेद

यह उपमा भी रूपक की तरह केवल निरवयवा, माला-रूप निरवयवा, समस्तवस्तुविषया सावयवा, एकदेशविवर्त्ति-सावयवा, केवल श्लिष्टपरंपरिता, मालारूप श्लिष्टपरंपरिता,

केवल शुद्ध परम्परिता और मालारूप शुद्ध परंपरिता—इस तरह आठ प्रकार की होती है।

केवल निरवयवा में 'केवल होने' का अर्थ है, किसी माला (एक ही विषय की अनेक उपमाओं) के अंतर्गत न होना और 'निरवयव होने' का अर्थ है—किसी अन्य उपमा की अपेक्षा न रखना। अर्थात् '**केवल निरवयवा** उपमा' का पूरा अर्थ है—**किसी अन्य उपमा की अपेक्षा न रखनेवाली अकेली उपमा**। इसके सैकड़ों उदाहरण पहले दिए जा चुके हैं।

मालारूप निरवयवा; जैसे—

आह्लादिनी नयनयो रुचिरैन्दवीव
कण्ठे कृताऽतिशिशिराऽम्बुजमालिकेव।
आनन्दिनी हृदिगता रसभावनेव
सा नैव विस्मृतिपथं मम जातु याति॥

नायक मित्र से कहता है—नेत्रों को आह्लादित करनेवाली चंद्रमा की कांति की तरह, कण्ठ में पहनी हुई अत्यंत शीतल कमलों की माला की तरह और हृदय में प्रविष्ट आनंददायिनी रस की भावना (आस्वादन) की तरह, वह (नायिका), किसी समय भी, मेरी विस्मृति के मार्ग में नहीं जाती—उसे मैं कभी नहीं भूल पाता।

अथवा जैसे—

कलेव सूर्यादमला नवेन्दोः कृशानुपुञ्जात्प्रतिमेव हैमी।
विनिर्गता यातुनिवासमध्यादध्याबभौ राघवधर्मपत्नी॥

कवि कहता है—(अमावास्या के अनंतर) सूर्य से निकली हुई (क्योंकि अमावास्या के दिन चंद्रमा सूर्य से मिल जाता है) चंद्रमा की निर्मल नवीन कला की तरह और अग्नि-समूह से निकली हुई सोने की प्रतिमा की तरह, राक्षसों के निवास (लंका) के मध्य से निकली हुई रामचंद्र की धर्मपत्नी (भगवती सीता) अधिक सुशोभित होने लगीं।

इन दो पद्यों में से प्रथम पद्य की उपमाओं में उपमान-उपमेय का समान धर्म (आह्लादित करना आदि) अनुगामी है और देश-काल भिन्न-भिन्न हैं; क्योंकि जो देश-काल चंद्र-कला आदि (उपमानों) का है वही नायिका (उपमेय) का नहीं है। और दूसरे पद्य की उपमाओं में समान धर्म बिंब-प्रतिबिंब-भावापन्न है (क्योंकि 'सूर्य' और 'अग्नि-समूह' लंका के प्रतिबिंब-रूप में आए हैं) और देश तथा काल एक हैं; जो 'चंद्र-कला' का सूर्य में से निकलने का काल है वही सीता का लंका में से निकलने का काल है (क्योंकि रावण का वध अमावास्या को हुआ था और सीता शुक्ल प्रतिपदा को निकली थी) और जो 'सोने की प्रतिमा' के निकलने का देश (स्थल) है 'अग्नि-समूह', उसी में शुद्ध होकर सीता भी लंका से निकली थी। यह है इन दोनों उदाहरणों की परस्पर विशेषता।

दूसरे पद्य में 'अधिक शोभित होने रूपी' वाच्यार्थ को 'चंद्रकला' तथा 'सोने की प्रतिमा' की उपमा उपस्कृत करती

हैं, अतः यह मालोपमा वाच्य अर्थ की उपस्कारिका है। यहाँ सूर्यमंडल को लंका का प्रतिबिंब इसलिये बनाया गया है कि—वह चंद्र-कला के अत्यंत विनाश का कारण है और अत्यधिक चमकवाला है और लंका भी सीता के अत्यंत विनाश का (क्योंकि थोड़े दिन और रहती तो उसका विनाश हुए बिना न रहता) कारण थी और सुवर्णमयी होने के कारण अत्यधिक चमकवाली थी; और अग्नि-समूह को इसलिये लंका का प्रतिबिंब बनाया है कि वह 'सोने की प्रतिमा' की निष्कलंकता को प्रकट करनेवाला—निखरा देनेवाला और भस्मरूप हो जाने का कारण है और लंका भी सीता को निष्कलंक प्रकट करनेवाली थी तथा भस्म होने का कारण थी। सो इनका बिंब-प्रतिबिंब होना उचित है।

यह उपमा **'मालारूप' इसलिये कहलाती है कि—यहाँ एक उपमेयवाली अनेक उपमाएँ एक साथ रहती हैं।** अर्थात् जहाँ जहाँ ऐसी उपमाएँ हों वहाँ मालोपमा समझो।

समस्तवस्तुविषया सावयवा; जैसे—

कमलति वदनं यस्या मलयन्त्यलका मृणालतो बाहू।
शैवालति रोमावलिरद्भुतसरसीव सा बाला॥

कवि कहता है—जिसका मुख कमल के समान, अलक साँपों के समान, भुजाएँ मृणालों के समान और रोमावली

सेवाल के समान आचरण करती है, वह बाला एक अद्भुत सरसी सी बनी हुई है।

अथवा जैसे—

ज्योत्स्नाभमञ्जुहसिता सकल-कलाकान्त-कान्तवदनश्रीः।
राकेव रम्यरूपा राघवरमणी विराजते नितराम्।

कवि कहता है—जिसकी सुंदर हँसी चाँदनी की सी कांतिवाली है, जिसकी मुख-शोभा पूर्ण चंद्रमा के समान मनोहर है, वह रमणीय रूपवाली श्री रामचंद्र की रमणी—भगवती सीता—पूरे चंद्रमावाली पूर्णिमा के समान, अत्यंत शोभित हो रही है।

यहाँ सभी उपमानों का शब्दों द्वारा ही वर्णन है—कोई भी अर्थतः आक्षिप्त नहीं करना पड़ता, अतः यह उपमा **समस्तवस्तुविषया** है और अंगरूप उपमाओं से (मुख्य उपमा) सिद्ध होती है—यदि वे न हों तो मुख्य उपमा बन ही न सके, अतः **सावयवा** है।

एकदेशविवर्त्तिनी सावयवा; जैसे—

मकरप्रतिमैर्महाभटैः कविभी रत्नसमैः समन्वितः।
कवितामृत-कीर्त्तिचन्द्रयोस्त्वमिहोर्वीरमणोऽसि कारणम्।

कवि कहता है—हे राजन्! मगरों के समान महान् वीरों से और रत्नों के समान कवियों से युक्त आप, अमृत के समान कविता और चंद्रमा के समान कीर्त्ति के, कारण अर्थात् उत्पन्न करनेवाले—हो।

यहाँ उत्तरार्ध में 'कवितामृत' और 'कीर्त्तिचंद्र' शब्दों में उपमित-समास ही है—तदनुसार उनका अर्थ 'अमृत के समान कविता' और 'चंद्रमा के समान कीर्त्ति' होता है; विशेषण-समास नहीं; क्योंकि विशेषण-समास से ताद्रूप्य की प्रतीति होती है, जिसका प्रस्तुत में कुछ उपयोग नहीं। यहाँ राजा और समुद्र की उपमा, शब्द द्वारा वर्णित न होने पर भी—अर्थात् उसका साक्षात् प्रतिपादक कोई शब्द न होने पर भी—अंगरूप उपमाओं से आक्षिप्त होकर प्रतीत होती है। सो एक देश (एक भाग) में अन्यथा प्रतीत होने—अर्थात् उपमा को स्पष्ट प्रतीत न होने—के कारण इस उपमा को 'एकदेशविवर्त्तिनी' कहा जाता है। सारांश यह कि—

जहाँ किसी भाग में उपमा स्पष्ट हो और किसी में अर्थतः प्राप्त, ऐसे स्थल पर 'एकदेशविवर्त्तिनी' उपमा मानी जाती है।

केवल श्लिष्टपरंपरिता; जैसे—

नगरान्तर्महीन्द्रस्य महेन्द्रमहितश्रियः।
सुरालये खलु क्षीबा देवा इव विरेजिरे ॥

कवि कहता है—वह महीपति महेंद्र के समान संपत्तिशाली था। उसके नगर के अंतर्गत 'सुरालय' में, नशेबाज लोग, देवताओं की तरह शोभित होते थे।

यहाँ 'सुरालय' शब्द का प्रकरणप्राप्त अर्थ है 'मदिरालय'। पर उसी शब्द से श्लेष द्वारा 'सुमेरु' अर्थ की

भी उपस्थिति हो जाती है। इन दोनों अर्थों—अर्थात् 'मदिरालय और सुमेरु'—की उपमा, नशेबाजों को देवताओं की उपमा देने का, उपाय है—बिना उस उपमा के नशेबाजों के साथ देवताओं की उपमा बन नहीं सकती। अतः यहाँ 'श्लिष्टपरंपरिता' उपमा मानी गई है। सारांश यह कि—**जहाँ श्लिष्ट शब्द से प्रतिपादित अर्थों की उपमा मुख्य उपमा को सिद्ध करती हो वहाँ 'श्लिष्टपरंपरिता' उपमा होती है।** यहाँ 'परंपरित' शब्द का परिभाषित अर्थ है 'एक-दूसरे की उपमा का उपाय होना'—अर्थात् दोनों उपमाओं में से एक के भी न होने पर उपमा का न बन* सकना।

---

* यहाँ यह बात और समझ लेने की है कि—यद्यपि 'सावयवा' में भी अंगरूप उपमाएँ मुख्य उपमा की और मुख्य उपमा अंगरूप उपमाओं की समर्थक होती हैं, तथापि वहाँ उनके बिना भी काम चल सकता है। जैसे पूर्वोक्त "ज्योत्स्नाभमञ्जुहसिता......" पद्य में यदि हँसी को चाँदनी की उपमा न दी जाय, तथापि 'उज्ज्वलता' आदि के कारण 'सीता में पूर्णिमा की समानता' बन सकती है। पर परंपरित-उपमा में ऐसा नहीं हो सकता। जैसे इस पद्य में यदि मदिरालय को सुमेरु की उपमा न दी जाय तो नशेबाजों को देवताओं की उपमा नहीं दी जा सकती; क्योंकि देवताओं में और नशेबाजों में और किसी प्रकार की समानता नहीं हो सकती। पर जब हम (एक शब्द से गृहीत होने के कारण) सुरालय (मदिरालय) को सुरालय (सुमेरु) के समान मान लें तो नशेबाजों और देवताओं में सदृशता के कारण अभिन्न

मालारूप न होने के कारण इस उपमा को 'केवल' कहा जाता है। सो उपर्युक्त पद्य में 'केवल श्लिष्टपरंपरिता' उपमा हुई।

मालारूप श्लिष्टपरंपरिता; जैसे—

महीभृतां खलु गणे रत्नसानुरिव स्थितः।
त्वं काव्ये वसुधाधीश ! वृषपर्वेव राजसे ॥

कवि कहता है—हे राजन् 'महीभृतां' (=पर्वतों के समान राजाओं) के समूह में सुमेरु की तरह स्थित आप, 'काव्य' (शुक्राचार्य के समान कविता) के विषय में, वृषपर्वा (एक दानवों का राजा) की तरह शोभित होते हैं।

यहाँ 'महीभृत्' और 'काव्य' शब्दों के श्लेष द्वारा उपस्थित (अप्रकृत अर्थ) 'पर्वतों' और 'शुक्राचार्य' के साथ

माने हुए 'सुरालय में रहना' रूपी समान धर्म बन जाता है, अतः उनकी उपमा ठीक हो जाती है। इधर मदिरालय की सुमेरु से उपमा भी तब तक नहीं बन सकती, जब तक कि देवताओं और नशेबाजों की समानता न मान ली जाय, अन्यथा मदिरालय और सुमेरु की समानता मानी ही कैसे जा सकती है? अतः यह सिद्ध हुआ कि परंपरित उपमा में दोनों उपमाएँ एक-दूसरे की उपाय रूप होती हैं—उनमें से एक के भी न होने पर दोनों उपमाएँ नहीं बन सकतीं। रही अन्योन्याश्रय दोष की बात, सो वह 'रूपक' के प्रकरण में निवृत्त कर दी जायगी। (नागेश)

(प्रकृत अर्थ) 'राजाओं' और 'कविता' की उपमाएँ, वर्णनीय राजा की, सुमेरु और वृषपर्वा के साथ उपमाओं का उपाय है—अर्थात् श्लेष द्वारा उपस्थित अर्थों की उपमाएँ मुख्य उपमाओं को सिद्ध करती हैं। सो यह उपमा 'श्लिष्ट-परंपरिता' है और एक से अधिक (दो) होने के कारण 'मालारूप' है।

आप कहेंगे—इस पद्य में 'महीभृत्' शब्द के दो अर्थ 'पर्वत' और 'राजा', और 'काव्य' शब्द के दो अर्थ 'शुक्राचार्य' और 'कविता' की परस्पर उपमा बताकर यह अर्थ सिद्ध किया गया है कि—'पर्वतों के समान राजाओं में आप सुमेरु के समान हैं' और 'शुक्राचार्य के समान कविता के विषय में आप वृषपर्वा के समान हैं'। सो इनमें से श्लिष्ट शब्दों के अर्थों की परस्पर उपमाएँ—अर्थात् 'पर्वतों के समान राजा' और 'शुक्राचार्य के समान कविता' ये उपमाएँ—नहीं बन सकतीं। कारण, उपमा तभी हो सकती है जब कि उपमान और उपमेय के वाचक शब्द भिन्न भिन्न रूप में आए हों, न कि एक ही शब्द से दोनों अर्थों का बोध होता हो। सो यहाँ अभेद का बोध होना चाहिए, न कि सादृश्य का—अर्थात् रूपक होना चाहिए उपमा नहीं। इसका उत्तर यह है कि—श्लेष में जिस तरह 'एक शब्द से दो अर्थों के ग्रहण' के रूप में उन अर्थों का अभेद माना जाता है, वैसे ही 'एक शब्द से ग्रहण करने' रूपी समान धर्म

के कारण उन दोनों अर्थों में सादृश्य भी माना जा सकता है और वही प्रकृत में सिद्ध की जानेवाली उपमा के अनुकूल है। सारांश यह कि—जैसे 'एक शब्द से ग्रहण किए जाने' के रूप में श्लिष्ट अर्थों को अभिन्न माना जाता है वैसे ही 'एक शब्द से ग्रहण करने' रूपी समान धर्म द्वारा उनमें सादृश्य भी माना जा सकता है—अर्थात् केवल अभेद ही माना जाय—यह नियम नहीं है। ऐसी दशा में जहाँ सिद्ध किया जानेवाला—अर्थात् अंगी—रूपक हो वहाँ अंगरूप श्लिष्ट अर्थों में अभेद मानना चाहिए और जहाँ उपमा हो वहाँ सादृश्य। सो यहाँ उपमा के अंगी होने के कारण श्लिष्ट अर्थों में भी उपमा मानने में कोई बाधा नहीं।

केवल शुद्धपरंपरिता; जैसे—

राजा युधिष्ठिरो नाम्ना सर्वधर्मसमाश्रयः।
द्रुमाणामिव लोकानां मधुमास इवाऽभवत्॥

कवि कहता है—सब धर्मों का आश्रयरूप युधिष्ठिर नामक राजा, लोगों के लिये ऐसा था, जैसा वृक्षों के लिये चैत का महीना—अर्थात् उसके राज्य में सब लोग यथेष्ट फूलते-फलते थे।

(यहाँ बिना 'चैत' और 'युधिष्ठिर' की उपमा के 'वृक्षों और लोगों' की उपमा नहीं बन सकती, और न 'वृक्षों और लोगों' की उपमा के बिना 'चैत' और 'युधिष्ठिर' की उपमा

बन सकती है; अतः यह उपमा **परंपरिता** है, श्लेष-रहित है अतः **शुद्ध** है और एक है अतः **केवल** है।

मालारूप शुद्ध परंपरिता; जैसे—

मृगतां हरयन् मध्ये वृक्षतां च पटीरयन्।
ऋक्षतां सर्वभूतानां त्वमिन्द्वसि भूतले॥

हे राजन्! सब प्राणी मृगों का सा आचरण करते हैं तो उनमें आप सिंह का सा आचरण करते हैं, वृक्षों का सा आचरण करते हैं तो उनमें आप चंदन का सा आचरण करते हैं और तारों का सा आचरण करते हैं तो उनमें आप चंद्रमा का सा आचरण करते हैं।

(यहाँ वैसी अनेक उपमाएँ होने के कारण यह 'माला-रूप शुद्ध परंपरिता कहलाती है।)

इन परंपरित उपमाओं में उपमान-उपमेय के परस्पर अनुकूल होने पर जिनकी तुलना की जा रही है उनका उपाय (साधक) होना निरूपण किया गया है। उपमान से उपमान के और उपमेय से उपमेय के परस्पर प्रतिकूल होने पर परंपरिता उपमा; जैसे—

राजा दुर्योधनो नाम्ना सर्वसत्त्वभयङ्करः।
दीपानामिव साधूनां झञ्झावात इवाऽभवत्॥

अर्थात् सब प्राणियों के लिये भयंकर दुर्योधन नामक राजा सत्पुरुषों के लिये ऐसा था जैसा दीपों के लिये वर्षा-सहित वायु।

यहाँ 'दीपक' और 'वर्षा सहित वायु' ये दोनों उपमान तथा 'सत्पुरुष' और 'दुर्योधन' ये दोनों उपमेय, यद्यपि परस्पर प्रतिकूल हैं—एक-दूसरे के विरोधी हैं—तथापि (अंगी और अंग) दोनों उपमाओं की परस्पर अनुकूलता होने से वे (उपमाएँ) एक-दूसरे की साधक ही हो गई हैं—उनमें विरुद्धता न रही।

इसी तरह—

सरोजतामथ सतां शिशिरर्त्तवताऽधुना ।
दर्भतां सर्वधर्माणां राज्ञाऽनेन विदर्भितम् ॥

अर्थात् कमलों का सा आचरण करनेवाले सत्पुरुषों के साथ शिशिर-ऋतु (शीतकाल) का सा आचरण करनेवाले इस राजा ने, इस समय, दर्भ का सा आचरण करनेवाले सब धर्मों के साथ विदर्भ देश (जहाँ दर्भ नहीं उगते) का सा आचरण किया है। अर्थात् यह राजा जैसे शीतकाल कमलों का विरोधी होता है वैसे सत्पुरुषों का विरोधी है और जैसे विदर्भ देश दर्भों का विरोधी है वैसे धर्मों का।

इत्यादिक उपमाओं में मालारूप होने पर भी वही बात है—उपमान से उपमान की और उपमेय से उपमेय की प्रतिकूलता है। अर्थात् पहला उदाहरण **केवल शुद्ध परंपरिता उपमा** का है और दूसरा **मालारूप शुद्ध परंपरिता** का।

रशनोपमा

लक्षण

जब उपमेय, अपने* अपने उपमानों के उपमान न होते हुए, अन्य के उपमान हो जावें तब 'रशनोपमा' होती है। जैसे—

वागिव मधुरा मूर्त्तिर्मूर्त्तिरिवाऽत्यन्तनिर्मला कीर्त्तिः ।
कीर्त्तिरिव जगति सर्वस्तवनीया मतिरमुष्य विभोः ॥

कवि कहता है—इस राजा की जैसी मधुर वाणी है वैसी ही मधुर मूर्त्ति (शरीर) है और जैसी अत्यंत निर्मल मूर्त्ति है वैसी ही अत्यंत निर्मल कीर्त्ति है, एवं जैसी जगत् में सबसे प्रशंसनीय इसकी कीर्त्ति है वैसी ही इसकी बुद्धि भी सबसे प्रशंसनीय है ।

यह तो हुई समान धर्मों के भिन्न होने पर रशनोपमा। अब एक समानधर्मवाली रशनोपमा का उदाहरण सुनिए—

भूधरा इव मत्तेभा मत्तेभा इव सूनवः ।
सुता इव भटास्तस्य परमोन्नतविग्रहाः ॥

---

* यह विशेषण उपमेयोपमा में अतिव्याप्ति दोष न होने के लिये दिया गया है; क्योंकि यदि उपमेय अपने उपमानों के उपमान बन जायँ, तो उपमेयोपमा हो जाती है ।

कवि कहता है—उस राजा के पहाड़ों से मत्त हाथी, मत्त हाथियों से लड़के और लड़कों से योद्धा लोग, परम विशाल शरीरवाले हैं।

(यहाँ एक 'विशालकाय होना' ही तीनों उपमाओं में समान धर्म है।)

धर्मलुप्ता रशनोपमा के उदाहरण के लिये इसी पद्य का चौथा चरण "**भटा इव युधि प्रजाः**—योद्धा लोगों के समान ही युद्धों में प्रजाएँ हैं" यों समझ लीजिए।

उपमा के भेदों की अनंतता

इस तरह इन उपमा के भेदों को पूर्वोक्त भेदों के साथ गुणा करने पर उपमा के भेद इतने अधिक हो जाते हैं कि—उन्हें कहा नहीं जा सकता और अतएव उनकी इयत्ता (गणना) असंभव है। यह है इसका संक्षेप।

उपमा की ध्वनि

प्रधानतया ध्वनित होनेवाली उपमा को अलंकार न मानने का कारण

यही उपमा जब समग्र वाक्य से प्रधानतया ध्वनित होती है तब इसकी अलंकारता मिट जाती है और काव्य के 'ध्वनि' (उत्तमोत्तम) कहे जाने का कारण हो जाती है—अर्थात् ऐसी उपमा के कारण काव्य को 'चित्र-काव्य' न कहकर

'ध्वनि-काव्य' कहा जाता है। ऐसी उपमा को अलंकार कहना ठीक वैसा है, जैसा कि कभी गहने के रूप में न लाए गए—केवल तिजोरी में धरे—'कड़े' आदि को, पहने जानेवाले गहनों के धर्म (पहने जाने की योग्यता) का स्पर्श हो जाने मात्र के कारण 'आभूषण' कहना। अर्थात् जैसे तिजोरी के गहने केवल पहने जाने की योग्यता के कारण आभूषण कहलाते हैं—वास्तव में तो केवल संपत्तिरूप हैं, क्योंकि उनका उपयोग संपत्ति के रूप में ही होता है—आभूषणों के रूप में नहीं, वही दशा इनकी है। सारांश यह कि—जैसे उन गहनों को संपत्ति कहना ही उचित है, आभूषण कहना नहीं, वैसे ही इस उपमा को भी 'ध्वनि' कहना ही उचित है, 'अलंकार' कहना नहीं।

भेद

ऐसी उपमा कभी (पूर्वोक्त रीति से) शब्द-शक्ति-मूलक अनुरणन का विषय होती है और कभी अर्थ-शक्ति-मूलक अनुरणन का। अर्थात् प्रधानतया व्यंग्य उपमा दो प्रकार की है—एक शब्द-शक्ति-मूलक, दूसरी अर्थ-शक्ति-मूलक। उनमें से—

उपमा की शब्द-शक्ति-मूलक ध्वनि; जैसे—

अविरलविगलद्दानोदकधारासारसिक्तधरणितलः।
धनदाग्रमहितमूर्त्तिर्जयतितरां सार्वभौमोऽयम् ॥

कवि कहता है—जिसने निरंतर गिरते हुए मद-जल की धाराओं की वृष्टि से भूमंडल को सींच दिया है और

जिसके स्वरूप की कुबेर के आगे प्रशंसा होती रहती है—कुबेर भी जिसकी शरीर-संपत्ति पर लट्टू है, उस सार्वभौम नामक दिग्गज के समान, जिसने निरंतर गिरते दान-जल (संकल्प के पानी) की धाराओं की वृष्टि से भूमंडल को सींच दिया है और जिसका स्वरूप धन देनेवालों में सर्व-प्रथम प्रशस्त है ऐसा यह सार्वभौम (सब पृथ्वी का स्वामी) सबसे उत्कृष्ट है।

(यहाँ सार्वभौम नामक दिग्गज से राजा की तुलना शब्द-शक्ति के कारण ध्वनित होती है, उपमा का अभिधायक यहाँ कोई शब्द नहीं।)

अथवा जैसे—

विमलतरमतिगभीरं सुपवित्रं सत्त्ववत् सुरसम्।
हंसावासस्थानं मानसमिह शोभते नितराम्॥

कवि कहता है—इस जगत् में, अत्यंत निर्मल (कीचड़ आदि से रहित), अत्यंत गहरे, अत्यंत पवित्र, प्राणियों (जलजंतुओं) से युक्त, सुंदर जलवाले और राजहंसों के निवासस्थान मानसरोवर के समान अत्यंत निर्मल (काम-क्रोध आदि से रहित), अत्यंत गंभीर (धैर्ययुक्त), अत्यंत पवित्र, बलवान्, रसिक और परमात्मा का निवासस्थान हृदय अत्यंत शोभित होता है।

इस पद्य में 'विमलतर' आदि शब्द अनेकार्थक हैं। यद्यपि उन शब्दों की शक्ति का प्रकरण द्वारा प्रस्तुत अर्थ

('हृदय' के पक्ष) में संकोच कर दिया जाता है, तथापि (उन शब्दों की अन्य अर्थ में) शक्ति के कारण आविर्भूत व्यंजना द्वारा प्रतीत होनेवाला 'सरोवर' रूपी अर्थ लटकता ही न रह जाय (कवि का ऐसे शब्दों का प्रयोग, जो दोनों अर्थों में संगत हो सकते हैं, व्यर्थ न हो जाय), इसलिये इन दोनों अर्थों में से प्रस्तुत अर्थ के उपमेय होने और अप्रस्तुत अर्थ के उपमान होने की कल्पना की जाती है और वही इस पद्य का प्रधान वाक्यार्थ माना जाता है। अतः ऐसे स्थलों पर व्यंग्य उपमा ही सर्वप्रधान होती है।

उपमा की अर्थ-शक्ति-मूलक ध्वनि; जैसे—

अद्वितीयं रुचाऽऽत्मानं दृष्ट्वा किं चंद्र ! दृप्यसि।
भूमण्डलमिदं सर्वं केन वा परिशोधितम्॥

एक पुरुष अंतःपुरवर्त्तिनी अपनी अतिसुंदरी प्रियतमा का मुख देखकर निकला है और चंद्रमा से कह रहा है—हे चंद्रमा ! तू अपने को कांति के कारण अद्वितीय समझकर क्यों गर्व करता है ! यह सारा भूमंडल पूर्णतया किसने ढूँढ़ा है ?—इसमें बड़ी बड़ी चीजें हैं, न-जाने कहाँ क्या मिल जाय !

यहाँ चंद्रमा के लिये, 'मूर्ख' आदि संबोधन का अथवा अन्य किसी ऐसे पद का, प्रयोग नहीं किया गया (जो असूया आदि को अभिव्यक्त करे), अतः असूया आदि

का बोध न होने के कारण, यहाँ, उपमा* ही प्रधानतया व्यंग्य है।

शाब्दबोध

शाब्दबोध क्या है ?

('शाब्दबोध' हिंदोवालों के लिये एक बिलकुल नई बात है। अतः हम, आरंभ में, शाब्दबोध का स्वरूप समझा देना चाहते हैं—

---

* इस विषय में नागेश लिखते हैं—"इस जगह 'मूर्ख' आदि पद का प्रयोग न होने पर भी 'हे चंद्रमा ! तू······ क्यों गर्व करता है' इस आक्षेप से 'असूया' अभिव्यक्त होती है अथवा नहीं, इस बात का सहृदयों के विचार करना चाहिए।"

पर हमारी समझ से नागेश पंडितराज के तात्पर्य तक न पहुँचे। नागेश की बात हो सकती थी; पर तब, जब कि यह किसी वियोगी की उक्ति होती। यह तो संयोगी की उक्ति है, जो कि अपनी अति सुंदरी प्रियतमा का सद्योऽनुभवी है। उसे चंद्रमा कष्टप्रद तो है नहीं, फिर वह उससे क्यों असूया करे ? उसने तो केवल अपने अनुभव का प्रकाशन किया है। सो यहाँ तुलना ही मुख्य है, असूया नहीं। रही यह बात कि—पंडितराज ने, इसी पद्य में 'मूढ़' शब्द प्रविष्ट करके, यही बात विरही से कहलाई है और वहाँ 'असूया' की अभिव्यक्ति मानी है। सो यह कुछ है नहीं। क्योंकि वक्ता आदि का परिवर्त्तन होते ही व्यंग्य बदल जाया करता है—यह एक मानी हुई बात है; अन्यथा "अस्तंगतो भानुमान् (काव्यप्रकाश)" इस एक ही वाक्य में अनेक व्यंग्य कैसे हो सकते हैं ? —अनुवादक।

यह तो मानी हुई बात है कि—'अनेक पदों के समूह का नाम वाक्य है' और इस बात में भी कोई संदेह नहीं कि—वाक्य के अंतर्गत पदों के अर्थों का परस्पर किसी न किसी प्रकार का संबंध रहता है, अन्यथा बात असंबद्ध हो जाय। उन सब संबंधों सहित, वाक्य के अंतर्गत सब पदों का, शक्ति अथवा लक्षणा द्वारा, जैसा अर्थ होता हो उसका पूरा पूरा समझ जाना ही शाब्दबोध कहलाता है। सारांश यह कि—केवल पदों के अर्थ समझ लेने मात्र से वाक्यार्थ का बोध हुआ नहीं समझा जा सकता, किंतु उन अर्थों के परस्पर संबंध का भी बोध होना चाहिए तभी वाक्य का अर्थ पूर्णतया समझ में आया माना जाता है। अतः यह सिद्ध हुआ कि—**संबंधों सहित वाक्यार्थ के यथार्थरीत्या (वस्तु-परिचय के साथ) समझने को शाब्दबोध कहते हैं।**

उदाहरण के लिये कल्पना करिए कि—एक मनुष्य 'देवदत्तो गच्छति=देवदत्त जाता है' यह वाक्य कह रहा है। इस साधारण वाक्य के विषय में भी यदि किसी अनभिज्ञ से पूछा जाय तो, शाब्दबोध की प्रक्रिया न जानने के कारण, वह कुछ न कह सके और इसी कारण संभव है आप उसे भ्रम में ला दें। पर शाब्दबोध जाननेवाला विद्वान् आपके इस चक्कर में न आ सकेगा।

यदि वह विद्वान् व्याकरणज्ञ हुआ तो उत्तर देगा कि—'देवदत्तो गच्छति' इस पूर्वोक्त वाक्य से 'जिसका कर्त्ता देव-

दत्त से अभिन्न—अर्थात् देवदत्त—है ऐसी, वर्त्तमान समय में होनेवाली, आगे के स्थान से जा मिलने के अनुकूल चेष्टा' ज्ञात होती है। अर्थात् इस वाक्य से हमें यह समझ पड़ता है कि—देवदत्त, इस समय, ऐसी चेष्टा कर रहा है, जिससे वह वर्त्तमान स्थान को छोड़कर आगे के किसी स्थान से जा मिले। इसी बात को संस्कृत में यों कहा जाता है कि—'देवदत्ताभिन्नकर्तृको वर्त्तमानकालिक उत्तरदेशसंयोगानुकूलो व्यापारः'।

और यदि वह विद्वान् नैयायिक हुआ तो कहेगा कि—इस वाक्य से वर्त्तमान समय में होनेवाले, आगे के स्थान से जा मिलने के अनुकूल, चेष्टा के यत्न का आश्रय (यत्न करनेवाला) देवदत्त ज्ञात होता है। अर्थात् उसके हिसाब से पूर्वोक्त चेष्टा का नहीं, किंतु वैसी चेष्टा के अनुकूल यत्न करनेवाले देवदत्त का बोध होता है। इस बात को संस्कृत में यों कहा जायगा कि—वर्त्तमानकालिकोत्तरदेशसंयोगानुकूलव्यापारानुकूलकृत्याश्रयो देवदत्तः।

तात्पर्य दोनों का एक होने पर भी वैयाकरणों और नैयायिकों में प्रत्यय के अर्थ और विशेषण-विशेष्य भाव मानने में मतभेद है। वैयाकरण कर्त्ता को तिङ् प्रत्यय का अर्थ और व्यापार को समग्र वाक्य का प्रधान विशेष्य मानते हैं और नैयायिक यत्न को प्रत्यय का अर्थ और 'यत्न के आश्रय प्रथमांत पद के अर्थ' (कर्त्ता, देवदत्त) को मुख्य-विशेष्य मानते हैं। इस

मतभेद का कारण समझाकर हम आपको झगड़े में नहीं पटकना चाहते। आप तो केवल इतना समझ लीजिए कि इस बात को दोनों प्रकार से कहा जा सकता है।

अच्छा अब यह सोचिए कि—पूर्वोक्त शाब्दबोध में उन विद्वानों ने कितनी बातें समझीं। 'देवदत्तो गच्छति' इस वाक्य में दो पद हैं—'देवदत्तः' और 'गच्छति'। और यह तो आप समझ चुके हैं कि—शाब्दबोध के लिये इन दोनों पदों के अर्थ और उनका पारस्परिक संबंध जानने की आवश्यकता है। इनमें से पहले 'गच्छति' पद के अर्थ को लीजिए; क्योंकि वह विशेष विवेचन चाहता है और उसी के अंतिम भाग (प्रत्यय) के अर्थ के विषय में वैयाकरणों और नैयायिकों में मतभेद भी है। 'गच्छति' पद के व्याकरण के अनुसार दो विभाग हैं—एक धातु 'गम्' (जिसे 'गच्छ' आदेश हो गया है) और दूसरा प्रत्यय 'ति'। 'गम्' धातु का अर्थ है, 'आगे के स्थान से जा मिलने के अनुकूल चेष्टा' इसमें तो किसी को कोई आपत्ति है नहीं। पर 'ति' प्रत्यय का अर्थ वैयाकरणों के मत से होता है (उस वर्त्तमान चेष्टा का) 'कर्त्ता' और नैयायिकों के हिसाब से होता है वर्त्तमानकालीन 'कर्तृत्व—अर्थात् उस चेष्टा के अनुकूल यत्न'। अतः पूरे पद के अर्थ में भेद हो जाता है। सो वैयाकरणों के हिसाब से 'गच्छति' पद का अर्थ होता है 'आगे के स्थान से जा मिलने के अनुकूल वर्त्तमान चेष्टा का कर्त्ता' और नैयायिकों के

हिसाब से होता है 'आगे के स्थान से जा मिलने के अनुकूल चेष्टा का (के अनुकूल) यत्न'। रहा 'देवदत्त' पद, सो सभी जानते हैं कि वह एक व्यक्ति का नाम है, अतः उसके विवरण की आवश्यकता नहीं। अब केवल इन अर्थों का पारस्परिक संबंध जानना अवशिष्ट रह जाता है। सो 'गच्छति' पद का अर्थ 'पूर्वोक्त चेष्टा का कर्त्ता' माननेवालों (अर्थात् वैयाकरणों) के विचार से वह संबंध 'अभेद' होता है, क्योंकि देवदत्त ही उस क्रिया का कर्त्ता है—वह और उस चेष्टा का कर्त्ता दो भिन्न-भिन्न वस्तुएँ नहीं हैं। और जो लोग (नैयायिक) 'पूर्वोक्त चेष्टा का यत्न' 'गच्छति' पद का अर्थ मानते हैं, उनके विचार से 'यत्न' का 'देवदत्त' के साथ 'आश्रयता' (समवाय) संबंध होता है; क्योंकि वह यत्न देवदत्त में रहनेवाली वस्तु है—देवदत्त उसका आश्रय है।

अब इन तीनों बातों को मिलाकर बोलने पर और चेष्टा को वाक्य का विशेष्य रखने पर वैयाकरणों के मत से बोध हुआ 'जिसका कर्त्ता देवदत्त से अभिन्न है वह, वर्त्तमान समय में होनेवाली, आगे के स्थान से जा मिलने के अनुकूल चेष्टा' इस रूप में; और नैयायिकों के हिसाब से हुआ 'वर्त्तमान समय में होनेवाले आगे के स्थान से जा मिलने के अनुकूल चेष्टा के अनुकूल यत्न का आश्रय देवदत्त' इस रूप में। देखिए वही बात बन गई न ?

अब शायद आप समझ गए होंगे कि जो मनुष्य शाब्द-बोध की प्रक्रिया जानता है वही वाक्य का यथार्थ और पूरा पूरा अर्थ समझ सकता है; क्योंकि जो मनुष्य पदों के अर्थ और उनके परस्पर संबंधों को नहीं जानता वह उस वाक्य का पूर्णतया अर्थ समझ गया—इस बात को कोई भी समझ-दार मनुष्य नहीं स्वीकार कर सकता। इस तरह यह सिद्ध हुआ कि—अंगोपांग (जैसे 'गच्छति' में 'गम्' और 'ति') और संबंध (जैसे पूर्वोक्त वाक्य में 'अभेद' अथवा 'आश्रय') सहित यथार्थ अर्थ समझने का नाम ही शाब्दबोध है। पंडित होने के लिये—प्रत्येक वाक्य का सांगोपांग अर्थ समझने के लिये—शाब्दबोध की प्रक्रिया जानना अत्यावश्यक है, अन्यथा वाक्य का अर्थ करना इशारेबाजी ही है—ऐसा मनुष्य उसका प्रवीणता के साथ प्रतिपादन नहीं कर सकता। सो इस प्रकरण में यह समझाया जायगा कि—उपमा कितने प्रकार के वाक्यों से वर्णन की जा सकती है और उन वाक्यों के पूरे पूरे अर्थ क्या होते हैं।)

सादृश्य क्या है ?

(उपमा का शाब्दबोध समझने के पूर्व एक बात और समझ लेने की है। यह तो आप उपमा के लक्षण से समझ चुके हैं कि 'सादृश्य' का ही नाम उपमा है। पर वह सादृश्य क्या वस्तु है इस विषय में मतभेद है। मीमांसक आदि का मत है कि—'सादृश्य' एक अतिरिक्त पदार्थ है—

उसे किसी अन्य पदार्थ के अंतर्गत नहीं माना जा सकता। अर्थात् वह भी संसार की भिन्न भिन्न वस्तुओं में से एक स्वतंत्र वस्तु है, उसका किसी पदार्थ में अंतर्भाव नहीं। पर नैयायिक लोग इस बात को नहीं मानते। उनका कहना है कि—सादृश्य कोई अतिरिक्त पदार्थ नहीं है, दो वस्तुओं में परस्पर जो एक-से धर्म रहते हैं उन्हें ही सादृश्य कहा जाता है। उदाहरण के लिये यदि यह कहा जाय कि 'मुख और कमल में सादृश्य है, क्योंकि वे दोनों सुंदर हैं' इस स्थान पर मीमांसकों के हिसाब से 'सुंदरता' और 'सादृश्य' दोनों जुदे जुदे पदार्थ हैं; सुंदरता से सादृश्य सिद्ध होता है, पर वह स्वयं सादृश्य-रूप नहीं है। पर नैयायिकों के हिसाब से सुंदरता ही सादृश्य है, वह सुंदरता से अतिरिक्त कोई वस्तु नहीं। हाँ, यदि उसके अतिरिक्त और कोई धर्म भी सादृश्य के रूप में दिखाई देते हों तो उन सबको मिलाकर सादृश्य समझा जा सकता है; पर उन धर्मों से अतिरिक्त सादृश्य कोई वस्तु नहीं। सारांश यह कि—मीमांसकों के मत से सादृश्य एक अतिरिक्त पदार्थ है—अर्थात् अन्य वस्तुओं से भिन्न चीज है और नैयायिकों के विचार से समान धर्मरूप)।

सादृश्य को अतिरिक्त पदार्थ माननेवालों के मत से शाब्दबोध

जो लोग सादृश्य को अतिरिक्त पदार्थ मानते हैं, (पहले) उनके मत से शाब्दबोध लिखा जा रहा है—

(यहाँ इतना और समझ लीजिए कि संस्कृत भाषा में उपमा का प्रतिपादन अनेक प्रकार के वाक्यों से किया जा सकता है। उनमें १४ वाक्य क्रमशः यों दिखलाये हैं—१—अरविन्द-सुन्दरम्, २—अरविन्दमिव सुन्दरम्, ३—अरविन्द-मिव, ४—अरविन्दमिव भाति, ५—सौन्दर्येणाऽरविन्दमिव भाति, ६—गज इव गच्छति, ७—अरविन्दतुल्यो भाति, ८—अरविन्दवत् सुन्दरम्, ९—अरविन्दवन्मुखम्, १०—अरविन्दवत् सौन्दर्यमस्य, ११—अरविन्देन तुल्यम्, १२—सौन्दर्येणाऽरविन्देन तुल्यम् १३—अरविन्दमाननं च समम्। यह तो हुई अनुगामी साधारण धर्मवाली उपमा की बात। इसके अतिरिक्त १४वीं होती है बिंब-प्रतिबिंब-भावापन्न धर्मवाली उपमा, जैसी कि 'कोमलातपशोणाभ्र .....' इत्यादि पूर्वोक्त उदाहरणों मेंहै। यहाँ क्रमशः इन चौदह प्रकार के वाक्यों का शाब्दबोध वर्णित है। इसी प्रकार अन्यत्र भी जानना चाहिये।)

१—वाक्य—अरविन्दसुन्दरम् (कमल-सुंदर)।

विवेचन—इस वाक्य में दो पद हैं—एक अरविंद, दूसरा सुंदर। 'अरविंद' पद का अर्थ इस जगह, लक्षणा द्वारा, 'अरविंद से निरूपित सादृश्य का प्रयोजक' इतना बड़ा करना पड़ता है। इसका कारण यह है कि यदि ऐसा न किया जाय तो 'अरविंद' पद के अर्थ का 'सुंदर' पद के अर्थ के साथ अन्वय नहीं हो सकता।

बात यह है कि—'कमल' और 'सुंदर'—अर्थात् सौंदर्य से युक्त—इन वस्तुओं का यदि परस्पर अन्वय हो सकता है तो केवल सादृश्य के द्वारा हो सकता है। अन्य कोई वस्तु ऐसी नहीं जो इन दोनों पदार्थों को परस्पर जोड़ सके; अतः 'अरविंदसुंदरम्' का अर्थ 'अरविंदमिव सुंदरम् (कमल-सा सुंदर)' करना पड़ता है। 'इव (सा)' का अर्थ सादृश्य होता है, और उस सादृश्य का उपमान (अरविंद) से 'निरूपितता' संबंध है; क्योंकि उपमान सादृश्य का निरूपण करनेवाला होता है और सादृश्य उपमान से निरूपित। अतः 'अरविंद' और 'सादृश्य' के बीच में 'निरूपित' शब्द और लगाना पड़ता है। अब इस सादृश्य को जोड़ना है 'सुंदर' शब्द के अर्थ 'सौंदर्य से युक्त' के साथ। 'सुंदर' शब्द के इस पूरे अर्थ के साथ तो सादृश्य का किसी तरह अन्वय हो नहीं सकता; क्योंकि उसके साथ सादृश्य का कोई संबंध नहीं बन पाता। अतः उसके एक हिस्से 'सौंदर्य' के साथ सादृश्य को जोड़ना पड़ता है। जो लोग 'सादृश्य' को अतिरिक्त पदार्थ मानते हैं उनके हिसाब से सौंदर्य सादृश्य का प्रयोजक—अर्थात् सिद्ध करनेवाला अथवा निमित्त—होता है, अतः सादृश्य को सौंदर्य से जोड़ने के लिये उसके साथ 'प्रयोजक' शब्द और जोड़ना पड़ता है; क्योंकि बिना उसके वह आगे के अर्थ में अन्वित नहीं हो सकता। सो सब मिलाकर यहाँ 'अरविंद' पद का अर्थ होता है 'अरविंद से निरूपित

सादृश्य का प्रयोजक' इतना। अन्यथा अरविंद का सुंदर के साथ किसी तरह अन्वय नहीं हो सकता। यह अर्थ अभिधा द्वारा तो हो नहीं सकता, अतः 'अरविंद' शब्द में लक्षणा माननी पड़ती है।

यह 'अरविंद' पद का अर्थ 'सुंदर' पद के अर्थ के एक हिस्से, सौंदर्य के साथ अभेद संबंध से अन्वित होता है, अतः इन दोनों अर्थों के मध्य में 'अभिन्न' शब्द और जोड़ना पड़ता है। तब 'अरविंदसुंदर' का अर्थ होता है 'अरविंद से निरूपित सादृश्य के प्रयोजक से अभिन्न सौंदर्य से युक्त' इतना। इस अर्थ का भी आगे के अर्थ (मुख आदि) के साथ अभेद संबंध से अन्वय होता है; क्योंकि दो प्रातिपदिकार्थों में अभेद के अतिरिक्त अन्य कोई संबंध नहीं बन सकता। अतः 'अरविंदसुंदर' पद का—

शाब्दबोध—'अरविंद से निरूपित सादृश्य के प्रयोजक से अभिन्न (अर्थात् प्रयोजक-रूप) सौंदर्य से युक्त से अभिन्न',

यह होता है। इसमें 'प्रयोजक' तक का अर्थ अरविंद पद का है और 'सौंदर्य से युक्त' यह 'सुंदर' पद का। रहे दोनों 'से और अभिन्न' पद, सो वे संबंध-सूचक हैं। उनमें 'से' एक इन दोनों अर्थों का संबंध समझाता है और दूसरा 'सुंदर' पद के अर्थ के, विशेष्य (मुख आदि) के साथ, संबंध को। इस शाब्दबोध को

सरल शब्दों में*—'अरविंद के साथ जो सादृश्य है उसे सिद्ध करनेवाले सौंदर्य से युक्त (मुख आदि)' इस तरह कहा जा सकता है।

यद्यपि 'अरविंद' पद का, लक्षणा द्वारा, 'अरविंद से निरूपित सादृश्य' इतना सा अर्थ मानकर उसे 'प्रयोजकता' संबंध से 'सुंदर' पद के अर्थ में जोड़ दिया जा सकता था और इस तरह 'अरविंद से निरूपित सादृश्य के प्रयोजक सौंदर्य से युक्त' यह छोटा सा शाब्दबोध हो सकता था और बीच में 'अभिन्न' शब्द लगाने की कोई आवश्यकता नहीं थी, तथापि यह नियम है कि—"निपातों के अतिरिक्त दो प्रातिपदिकों† के अर्थों का (एक विभक्ति में आने पर) भेद से अन्वय नहीं बन सकता—उनमें अभेद के अतिरिक्त अन्य कोई संबंध नहीं माना जा सकता‡।" अतः यहाँ

---

* वाक्य की जटिलता मिटाने के लिये हमने सरल शब्दों में लिखते समय संबंध-सूचक 'अभिन्न' शब्द को उड़ा दिया है। पाठक जहाँ दो पदों के अर्थों के मध्य में कोई विशेष संबंध न लिखा हो वहाँ 'अभेद' संबंध समझ लिया करें।

† हिंदी की दृष्टि से, क्रियावाचक शब्दों को छोड़कर अन्य सब, विभक्ति-रहित शब्द 'प्रातिपदिक' कहे जा सकते हैं।

‡ बात यह है कि—जब कोई मनुष्य 'काला साँप' इत्यादि दो प्रातिपदिकों का समान विभक्ति में, अथवा विशेषण रूप से (यह हिंदी के अनुसार लिखा गया है, क्योंकि वहाँ विशेषण में विभक्ति नहीं लगाई जाती), प्रयोग करे, तब 'काला' और 'साँप' इन पदों

'अरविंद' शब्द का इतना बड़ा अर्थ मानकर उसका 'सुंदर' शब्द के अर्थ के एकदेश-सौन्दर्य के साथ 'अभेद' संबंध से अन्वय माना गया है; क्योंकि पूर्वोक्त नियम के अनुसार 'अरविंद' इस प्रातिपदिक के अर्थ का सुंदर' प्रातिपदिक के अर्थ के साथ अन्य कोई संबंध नहीं माना जा सकता।

अब रही यह शंका कि—"पदार्थः पदार्थेनाऽन्वेति न तु पदार्थैकदेशेन—अर्थात् पदार्थ का अन्वय पदार्थ के साथ होता है, न कि उसके एक हिस्से के साथ" इस नियम के अनुसार 'अरविंद' पद के अर्थ का अन्वय सुंदर पद के अर्थ ('सौंदर्ययुक्त' इतने) में होना चाहिए, न कि उसके एक हिस्से 'सौंदर्य' में। फिर 'अरविंद' पद के अर्थ 'अरविंद से निरूपित सादृश्य का प्रयोजक' का हमने 'सौंदर्य' में अभेद संबंध से अन्वय क्यों किया? उसका अन्वय तो 'सौंदर्य-युक्त' में होना चाहिए था। सो इसका समाधान यह है कि—ऐसे स्थलों पर एक देश में अन्वय तो अन्य कोई गति न होने के कारण स्वीकार करना पड़ता है। जैसे कि 'देव-दत्त का नाती' इस वाक्य में 'नाती' का अर्थ 'पुत्र का पुत्र'

के अर्थों को भिन्न भिन्न दो वस्तुएँ नहीं माना जा सकता—उन्हें अभिन्न ही मानना पड़ेगा। अन्यथा 'काला' का 'साँप' के साथ और 'साँप' का 'काला' के साथ किसी तरह अन्वय नहीं हो सकता। अतः 'दो प्रातिपदिकार्थों में भेद-संबंध किसी तरह नहीं बन सकता' यह नियम मान लिया गया है।

होने के कारण, उस अर्थ के एक हिस्से 'पुत्र' में ही देवदत्त का अन्वय करना पड़ता है, न कि 'पुत्र के पुत्र' में; क्योंकि देवदत्त से (अपने) पुत्र का और पुत्र से 'उसके पुत्र' का संबंध हो सकता है, न कि सीधा 'पुत्र के पुत्र' से। अतः विवश होकर ऐसा मानना पड़ता है। वही बात यहाँ भी है। तात्पर्य यह कि—कमल के साथ सादृश्य का सिद्ध करनेवाला 'सौंदर्य' रूपी धर्म है, न कि 'सुंदरतायुक्त' पदार्थ, अतः 'प्रयोजक' को 'सौंदर्य' में जोड़े बिना निर्वाह नहीं। इसलिये विवश होकर 'सुंदर' शब्द के अर्थ के एक अवयव में 'अरविंद' शब्द के अर्थ को जोड़ना पड़ता है। आप भी ऐसी दशा में और क्या कर सकते हैं ?

कुछ लोग कहते हैं—'अरविंद-सुंदरम्' इस पद में जो समास है उसी की 'अरविंद से निरूपित सादृश्य के प्रयोजक सौंदर्य से युक्त' इस समग्र अर्थ में शक्ति है—अर्थात् इस समस्त पद का ही यह अर्थ हो जाता है, उसका खंड-खंड अर्थ मानने की आवश्यकता नहीं।

अन्य लोगों का कहना है कि—इस स्थल पर 'अरविंद' पद ही, लक्षणा द्वारा, पूर्वोक्त समग्र अर्थ को समझा देता है, 'सुंदर' पद तो केवल यह समझाने के लिये प्रयुक्त किया गया है कि यहाँ 'अरविंद' पद से वक्ता का क्या तात्पर्य है, वह उसकी किस अर्थ में लक्षणा करना चाहता है। तात्पर्य यह कि—केवल एक पद का अर्थ होने के कारण

न तो ऐसा मानने पर संबंध जानने की ही आवश्यकता होती है और न 'सुंदर' पद के अर्थ के एक देश में अन्वय करने की ही।

यह उपमा समासगता कहलाती है।

२—**वाक्य**—**अरविंदमिव सुंदरम्** (कमल सा सुंदर)।

विवेचन—इस वाक्य में पूर्वोक्त वाक्य से केवल 'इव (सा)' शब्द अधिक है और उसका अर्थ है 'सादृश्य'। अरविंद का सादृश्य के साथ 'निरूपितता' संबंध है, अतः अरविंद और 'सादृश्य' के मध्य में 'निरूपित' शब्द लगाना पड़ता है, तथा सादृश्य का सौंदर्य ('सुंदर' पद के अर्थ के एक देश) के साथ 'प्रयोजकता' संबंध है, अतः उन दोनों के मध्य में 'प्रयोजक' शब्द लगाना पड़ता है; और विशेष्य के साथ तो 'सुंदर' शब्द के अर्थ 'सौंदर्य से युक्त' का अभेद संबंध से अन्वय होता ही है—यह तो नियम-सिद्ध बात है। अतः 'अरविंदमिव सुंदरम्' इस वाक्य का

शाब्दबोध—'अरविंद से निरूपित सादृश्य के प्रयोजक (सिद्ध करनेवाले) सौंदर्य से युक्त से अभिन्न'

यह होता है। इसमें आगे के पद के अर्थ के संबंध सहित 'अरविंदम्' पद का अर्थ है 'अरविंद से निरूपित' इतना, 'इव' का पूर्वोक्त संबंध सहित अर्थ है 'सादृश्य के (का) प्रयोजक' इतना, और 'सुंदरम्' पद का पूर्वोक्त संबंध

सहित अर्थ है 'सौंदर्य से युक्त से अभिन्न' इतना। इस शाब्दबोध को

सरल शब्दों में—'कमल के साथ सादृश्य के सिद्ध करनेवाले सौंदर्य से युक्त' इस तरह कहा जा सकता है।

३—**वाक्य—अरविंदमिव** (कमल सा)।

विवेचन—इस वाक्य में 'अरविंदम्' और 'इव' दो पद हैं। 'अरविंदम्' का अर्थ 'अरविंद', 'इव' का अर्थ 'सादृश्य' और इन दोनों अर्थों का संबंध 'निरूपितता' होता है; जैसा कि पहले लिखा जा चुका है। रहा 'सादृश्य' का विशेष्य (मुख आदि) के साथ संबंध, सो वह है 'युक्त होना (आश्रयता)'; क्योंकि वह वस्तु सादृश्य से युक्त है—सादृश्य उसमें रहता है। अतः 'अरविंदमिव' का

शाब्दबोध—'अरविंद से निरूपित सादृश्य से युक्त' यह होता है।

एक शंका का समाधान

उपर्युक्त दो शाब्दबोधों के विषय में एक शंका होती है। यह नियम है कि—जिस शाब्दबोध में प्रातिपदिकों के अर्थ विशेषण रूप से आए हों उस शाब्दबोध में उन उन प्रातिपदिकार्थों के प्रति विभक्तियों के अर्थों का विशेष्य रूप में आना—विशेष्य होना—कारण रूप (अनिवार्य) माना जाता है। ऐसी दशा में उपर्युक्त 'इव' शब्दवाले शाब्दबोधों में 'अरविंदम्' शब्द के अर्थ का अन्वय, उस शब्द की विभक्ति—प्रथमा—

के अर्थ—'अभेद'—में होना आवश्यक है। पर हमने 'अरविंद' शब्द के अर्थ का 'इव' शब्द के अर्थ सादृश्य में 'निरूपितता' संबंध से अन्वय किया है; अतः आप कहेंगे—यह अनुचित है। पर ऐसा कहना ठीक नहीं। कारण, यह नियम ऐसे ही शाब्दबोध में लगता है—जहाँ 'निपात' का अर्थ प्रातिपदिक के अर्थ का विशेषण अथवा विशेष्य न हो, अर्थात् जहाँ निपात का अर्थ प्रातिपदिक के अर्थ का विशेषण अथवा विशेष्य हो वहाँ यह नियम नहीं लगता। अतः जैसे 'घटो नास्ति* (घड़ा नहीं है)' आदि में 'न' के अर्थ—अभाव—में भेद-संबंध† से अन्वय करने में कोई दोष नहीं क्योंकि वह निपात है, वैसे ही यहाँ भी 'इव' (जो निपात है) के अर्थ 'सादृश्य' का अरविंद' के साथ भेद-संबंध ('निरूपितता') से अन्वय करने में कोई दोष नहीं।

४—**वाक्य—अरविंदमिव भाति** (कमल सा प्रतीत होता है)।

विवेचन—इस वाक्य में 'अरविंदमिव' इतना भाग तो ज्यों का त्यों उपर्युक्त वाक्य है; अतः उसका शाब्दबोध तो 'अरविंद से निरूपित सादृश्य' यह है ही—इसके विषय में

---

* शाब्दबोध के शास्त्रार्थ में 'घटो नास्ति' प्रसिद्ध है, अतः उसे यहाँ दृष्टांत रूप से लाया गया है। इसका विवेचन आगे (वाक्य नं० ६ के शाब्दबोध में) किया जायगा।

† अभेद के अतिरिक्त अन्य सब संबंध 'भेद-संबंध' कहलाते हैं।

तो कुछ कहना है नहीं। अब केवल 'भाति' पद का अर्थ और उसके साथ 'सादृश्य' का संबंध बताने मात्र की आवश्यकता है। 'भा' धातु का अर्थ 'प्रतीति' है, उसमें पूर्वोक्त सादृश्य का 'विशेषणता' संबंध से अन्वय होता है; क्योंकि शाब्दबोध की प्रक्रिया के अनुसार धातु का अर्थ विशेष्य और अन्य सब पदों के अर्थ उसके विशेषण होते हैं। और नैयायिकों के सिद्धांत के अनुसार धातु के अर्थ का विशेष्य होता है 'कर्त्ता' (प्रथमान्त पद से प्रतीत होनेवाला पदार्थ), सो धातु के अर्थ को उससे जोड़ने के लिये धातु के अर्थ के आगे 'विशेष्य' पद और जोड़ दिया जाता है। अतः 'अरविंदमिव भाति' इस वाक्य का

शाब्दबोध—'अरविंद से निरूपित सादृश्य जिसका विशेषण है उस प्रतीति का विशेष्य'

यह होता है। इस शाब्दबोध को

सरल शब्दों में—'जिसमें अरविंद का सादृश्य प्रतीत होता है ऐसा (मुख)' इस तरह कहा जा सकता है।

५—वाक्य—सौन्दर्येणारविन्दमिव भाति (सुंदरता से कमल सा प्रतीत होता है)।

विवेचन—यदि पूर्वोक्त वाक्य में ही 'सौन्दर्येण' इस समान धर्म का ग्रहण और कर लिया जाय तो वही वाक्य इस रूप में परिणत हो जाता है; अतः पूर्वोक्त वाक्य के शाब्द-बोध में 'सौंदर्येण (सौंदर्य से)' पद के अर्थ को संबंध सहित

जोड़ देने मात्र से इस वाक्य का शाब्दबोध बन जाता है। यहाँ 'सौंदर्येण' पद में जो तृतीया विभक्ति है उसका अर्थ है 'प्रयोज्यत्व (सिद्ध किया जाना)', और उसका अन्वय होता है धातु के अर्थ 'प्रतीति' में अथवा 'इव' के अर्थ 'सादृश्य' में; क्योंकि सौंदर्य द्वारा सिद्ध की जानेवाली यहाँ ये ही दो वस्तुएँ हो सकती हैं, अन्य कोई नहीं। अब पूर्वोक्त शाब्दबोध में इतना अंश और जोड़ देने से 'सौंदर्येणा-रविंदमिव भाति' इस वाक्य का

शाब्दबोध—धातु के अर्थ में अन्वय करने पर अरविंद से निरूपित सादृश्य जिसका विशेषण है ऐसी 'सौंदर्य द्वारा सिद्ध की जानेवाली प्रतीति का विशेष्य' यह

(और 'इव' के अर्थ में अन्वय करने पर) 'सौंदर्य द्वारा सिद्ध किया जानेवाला अरविंद से निरूपित सादृश्य जिसका विशेषण है उस प्रतीति का विशेष्य'

यह होता है। इन शाब्दबोधों को क्रमश:

सरल शब्दों में—'जिसमें सौंदर्य द्वारा सिद्ध किया जानेवाला अरविंद का सादृश्य प्रतीत होता है ऐसा (मुख)' और 'जिसमें सौंदर्य के कारण अरविंद का सादृश्य प्रतीत होता है ऐसा (मुख)' इस तरह कहा जा सकता है।

६—'**गज इव गच्छति** (हाथी सा चलता है)' और '**पिक इव रौति** (कोयल सा बोलता है)' इत्यादिक वाक्यों में उपमान-पदों (अर्थात् गज, पिक आदि) की, उपमानों के

द्वारा की जानेवाली, क्रिया में लक्षणा मानी जाती है—अर्थात् ऐसे स्थानों पर, लक्षणा द्वारा, 'गज' शब्द का अर्थ होता है 'गज की चाल' और 'पिक' शब्द का अर्थ होता है 'पिक की बोली' और, आरंभ में लिखी हुई रीति के अनुसार, 'गच्छति' का अर्थ गमन (चाल) के अनुकूल यत्न करनेवाला' तथा 'रौति' का अर्थ 'बोली के अनुकूल यत्न करनेवाला' होता ही है। इन दोनों अर्थों के मध्य में 'इव' के अर्थ के और जोड़ देने से 'गज इव गच्छति' इस वाक्य का शाब्दबोध—'हाथी की चाल के समान चाल के अनुकूल यत्न करनेवाला' यह, और 'पिक इव रौति' इस वाक्य का शाब्दबोध—'कोयल की बोली के समान बोली के अनुकूल यत्न करनेवाला' यह होना उचित है।

आप कहेंगे—यह शाब्दबोध ठीक नहीं किया गया। कारण यह है कि 'घटो न पश्यति' इत्यादि वाक्यों में यदि 'घट' का अन्वय 'न' के अर्थ—अभाव—में और अभाव का कर्मरूप से क्रिया में अन्वय किया जाय तो 'घटो न पश्यति' का अर्थ 'घड़े के अभाव को देखता है—अर्थात् घड़े को नहीं देखता' यह हो जायगा; पर होना चाहिए 'घड़ा नहीं देखता है' यह। इस अनुपपत्ति के हटाने के लिये यह नियम मानना पड़ता है कि—"धातु के अर्थ को विशेष्य मानकर विशेषणता संबंध से होनेवाले शाब्दबोध में विशेष्य रूप से होनेवाले विभक्ति के अर्थ के स्मरण को कारणरूप—

अर्थात् अनिवार्य—माना जाता है; तात्पर्य यह कि—जहाँ धातु का अर्थ विशेष्य हो उस शाब्दबोध में, विभक्ति का अर्थ (प्रातिपदिक के अर्थ के) विशेष्य रूप में अवश्यमेव आना चाहिए"। इसका फल यह होता है कि—घड़े का द्वितीया आदि के अर्थ के साथ अन्वय हो जाता है, 'न' के अर्थ अभाव के साथ नहीं; और तब अभीष्ट अर्थ सिद्ध हो जाता है।

इस नियम के मानने पर, प्रकृत शाब्दबोध में, जो 'इव' आदि के अर्थ 'सादृश्य' का धातु के अर्थ ('चाल' और 'बोली') में अन्वय किया जा रहा है, सो नहीं बन सकता—सादृश्य का विशेष्य बनकर धातु के अर्थ को प्रतीत होना अनुचित है। इस कारण, गज आदि के सादृश्य का अन्वय 'गमन (चाल)' आदि के कर्त्ता (चलनेवाले) में ही होना चाहिए, क्रिया में नहीं और सादृश्य का सिद्ध करनेवाला समान धर्म होना चाहिए 'अपनी (गज आदि की) चाल आदि के समान चाल आदि का कर्त्ता होना'। तात्पर्य यह कि—'गज इव गच्छति' और 'पिक इव रौति' इन वाक्यों के शाब्दबोध, क्रमशः, 'चलनेवाला हाथी के समान है' और 'बोलनेवाला कोयल के समान है' यों होने चाहिएँ, न कि 'हाथी की चाल के समान चाल के अनुकूल यत्न करनेवाला' और 'कोयल की बोली के समान बोली के अनुकूल यत्न करनेवाला' इस तरह। 'आख्यातवाद' की 'शिरोमणि' के

व्याख्याताओं ने भी यही सिद्धांत किया है; अतः पूर्वोक्त शाब्दबोध नियम-विरुद्ध हैं।

पर यह कथन ठीक नहीं। कारण, 'गज इव गच्छति' इस वाक्य में सादृश्य की विधेय रूप से प्रतीति होती है—यह स्पष्टतया ज्ञात होता है कि इस वाक्य का वक्ता सादृश्य पर जोर देना चाहता है, अर्थात् सादृश्य दिखाने के लिये ही उसने इस वाक्य का प्रयोग किया है। पर आपके शाब्द-बोध में इस प्रतीति का अपलाप हो जाता है, वहाँ 'चलनेवाला' विधेय हो जाता है और 'सादृश्य' उद्देश्य। अर्थात् आपके शाब्दबोध के अनुसार सादृश्य पर जोर नहीं पड़ता, किंतु कर्ता पर पड़ता है। 'हाथी के समान जो पुरुष है वह जा रहा है' और 'जो पुरुष है वह हाथी के समान जा रहा है' इन दोनों वाक्यों में भिन्न भिन्न प्रतीति अनुभव-सिद्ध है। पहले वाक्य में सादृश्य उद्देश्य रूप में आता है और दूसरे वाक्य में विधेय रूप में। इस जगह दूसरे वाकय का सा बोध होना चाहिए; पर आपके हिसाब से पहले वाक्य का सा बोध होता है। अतः जैसा बोध हमने माना है वैसा ही मानना उचित है, आप मानते हैं वैसा नहीं।

दूसरी बात यह है कि—आपका सा बोध मानने से 'वनं गज इव गृहं देवदत्तो गच्छति—अर्थात् जैसे हाथी वन को जाता है वैसे देवदत्त घर को जाता है' इत्यादिक वाक्यों में 'वन' आदि का सर्वथा ही अन्वय न हो सकेगा। क्योंकि

आपके हिसाब से तो इस वाक्य से 'हाथी' और 'देवदत्त' का सादृश्य समझ में आया और किस्सा खतम; बेचारे 'वन' और 'घर' तो लटकते ही रह जायँगे, उनका तो सादृश्य से कोई सरोकार हो नहीं सकता। यही नहीं, किंतु इसी तरह 'बिंब-प्रतिबिंब' रूप में जितने कारक होंगे उन सबका अन्वय* न हो सकेगा—यह समझ लीजिए।

---

* नागेश का कथन है कि—पंडितराज की यह नई कल्पना विचारणीय है—सोचने पर ऐसा मानने की आवश्यकता नहीं रहती। कारण, 'वनं गज इव रणभूमिं शूरो गच्छति' इत्यादिक बिंब-प्रतिबिंब-भावापन्न समान धर्मवाले वाक्यों में 'रणभूमि जिसका कर्म है उस गमन-क्रिया के अनुकूल यत्न से युक्त (कर्त्ता) शूर पुरुष, वन जिसका कर्म है उस गमन-क्रिया के अनुकूल यत्न से युक्त (कर्त्ता) हाथी के समान है'; और 'इव' शब्द, बिंब-प्रतिबिंब-भावापन्न 'रणभूमि' और 'वन' जिसके विशेषण हैं उस गमन-क्रिया का समान धर्म रूप होना समझाता है; क्योंकि 'इव' आदि शब्द समान धर्म के समझाने के लिये ही लाए जाते हैं—यह बात सब की मानी हुई है। अतः आख्यातवाद की 'शिरोमणि' की व्याख्या करनेवालों ने जो सिद्धांत किया है, वही ठीक है।

रही 'गज इव यः पुरुषः स गच्छति' और 'पुरुषो यः स गज इव गच्छति' इन वाक्यों की बात। सो उनमें से प्रथम वाक्य में, 'इव' शब्द, 'शूरता आदि' का समान धर्म होना समझाता है और दूसरे वाक्य में 'गमन' का ही समान धर्म होना। अर्थात् एक वाक्य में समान धर्म ऊपर से आता है और दूसरे में जो वाक्य का विधेय है वही समान धर्म है। अतः दोनों वाक्यों में भेद बन जाता है। रही उपमा (सादृश्य)

इसलिये ऐसा मानना चाहिए कि—जहाँ केवल 'गज इव गच्छति' वाक्य हो वहाँ उसका

के विधेय होने की बात, सो उसका अर्थ यही है कि—जहाँ 'इव' आदि उपमाबोधक शब्दों के द्वारा वाक्य का 'विधेय' अंश समान धर्म के रूप में बताया जाय वहाँ उपमा विधेय होती है। सो आपका कथन नैयायिकों के हिसाब से विचारणीय ही है—वे उसे ज्यों का त्यों नहीं स्वीकार कर सकते। सारांश यह कि नैयायिक लोग 'गज इव गच्छति' आदि वाक्यों में क्रियाओं की तुलना नहीं मानते, किंतु कर्त्ताओं की मानते हैं, अतः उनके सिर जो आप 'चाल सी चाल' 'बोली सी बोली' इस तरह क्रियाओं की तुलनावाला शाब्दबोध मढ़ते हैं सो अनुचित है।

हाँ, वैयाकरणों के सिद्धांत से अलबत्ता ऐसे वाक्यों में क्रियाएँ ही उपमान और उपमेय बनती हैं। अर्थात् 'वनं गज इव रणभूमिं शूरो गच्छति' इस वाक्य में उनके हिसाब से 'जिसका हाथी कर्त्ता और वन कर्म है उस गमन-क्रिया की जिसका शूर पुरुष कर्त्ता और रणभूमि कर्म है उस गमन-क्रिया से' तुलना मानी जाती है। सो उन्हें, एक 'गच्छति' पद से (उपमान और उपमेय रूप में प्रतीत होनेवाली) दो गमन-क्रियाओं का बोध न हो सकने के कारण, या तो 'गच्छति' पद की आवृत्ति करके उसका दोनों कर्त्ताओं (हाथी और शूर) के साथ अन्वय मानना पड़ेगा अथवा, जैसे आप मानते हैं वैसे, गज आदि की उनके द्वारा की जानेवाली क्रिया में लक्षणा। सारांश यह कि—आपका मत वैयाकरणों के हिसाब से ठीक हो सकता है; पर आपने जो नैयायिकों के सिर यह चाल मढ़ी सो अनुचित है। यदि ऐसा ही करना था तो आपको वैयाकरणों के हिसाब से शाब्दबोध लिखना था। यह सब है इसका संक्षेप

शाब्दबोध—'गज से निरूपित सादृश्य को सिद्ध करने-वाली चाल (गमन) का आश्रय' (और केवल 'पिक इव रौति' हो वहाँ उसका

शाब्दबोध—'पिक से निरूपित सादृश्य को सिद्ध करनेवाली बोली का आश्रय') यह होता है। और जहाँ इन वाक्यों के साथ अन्य कारक लगे हों, जैसे 'वनं गज इव गृहं देवदत्तो गच्छति' इत्यादि वाक्यों में, वहाँ पूर्वोक्त रीति से उपमान-वाचक पद—'गज' आदि—की, उसके द्वारा की जानेवाली क्रिया में लक्षणा माननी चाहिए—यही उचित है।

आप कहेंगे—इस तरह शाब्दबोध मानने से "धातु के अर्थ को विशेष्य मानकर विशेषणता संबंध से होनेवाले शाब्द-बोध में विशेष्य रूप से होनेवाले विभक्ति के अर्थ को कारण रूप माना जाता है" इस पूर्वोक्त कार्य-कारण-भाव का व्यभि-चार हो जायगा—वह नियम टूट जायगा; क्योंकि ऐसा मानने से उसका अतिक्रम हो जाता है। तो इसका उत्तर यह है कि—हम उस नियम को नहीं मानते। क्योंकि यदि उस नियम को माना जाय तो 'तूष्णीम् (चुप)' 'आरात् (दूर अथवा समीप)' और 'पृथक्' इत्यादि निपातों के अर्थों का धातु के अर्थ में अन्वय अनुभव-सिद्ध है (हम देखते हैं कि 'चुप रहो' इस वाक्य में 'चुप' के अर्थ का सीधा 'रहने' के साथ अन्वय होता है) उसे छिपाना पड़ेगा—अनुभव

करते हुए भी उसके लिये नाहीं करनी पड़ेगी। अतः उस नियम का न मानना ही अच्छा है।

अब रही यह शंका कि—उस नियम को नहीं मानते तो फिर 'घटो न पश्यति' इस पूर्वोक्त स्थल पर 'घड़े के अभाव को देखता है' यह अन्वय-ज्ञान क्यों नहीं हो जाता। इसका उत्तर यह है कि—'धातु के अर्थ को विशेष्य मानकर विशेषणता संबंध से होनेवाले अन्वय के बोध में, केवल 'नञ् (न)' के अर्थ के स्मरण के, 'प्रतिबंधक (रोक देनेवाला) होने' की कल्पना कर ली जानी चाहिए—अर्थात् एकमात्र 'नञ्' के अर्थ का बोध ऐसा है कि जो वैसे अन्वय-ज्ञान को रोक देता है—जहाँ वह न हो वहीं वैसा अन्वय-ज्ञान होता है। रही धातु के अर्थ के साथ 'प्रातिपदिक के अर्थ से भिन्न' यह विशेषण लगाने की बात; सो यह आप और हम दोनों के लिये समान है—वह विशेषण तो आपको भी लगाना पड़ेगा और हमें भी। आप कहेंगे—इस विशेषण का क्या फल है ? तो उत्तर यह है कि ऐसा करने से "पाको न यागः—पाक (पकाना) यज्ञ नहीं है" इत्यादिक में अतिव्याप्ति न होगी, अन्यथा यदि यहाँ भी 'न' के अर्थ को भी पूर्वोक्तरीत्या प्रतिबंधक माना जाय तो 'पाको न यागः' का प्रकृत अर्थ न हो सकेगा। अच्छा, छोड़िए अब इस अप्रस्तुत विचार को।

७—**वाक्य—अरविंदतुल्यो भाति** (अरविंद के सदृश प्रतीत होता है)।

विवेचन—अच्छा, अब यह सोचिए कि 'अरविंदतुल्यो भाति' इस वाक्य का शाब्दबोध किस तरह होता है—भेद-संबंध से अथवा अभेद-संबंध से ? 'तुल्य' पद के अर्थ का भेद-संबंध से तो धातु के अर्थ में अन्वय हो नहीं सकता; कारण, वह 'निपात' के अतिरिक्त प्रातिपदिक ('तुल्य') का अर्थ है, अतः पूर्वोक्त नियम लग जायगा। और यदि अभेद-संबंध से अन्वय मानकर ('अर्थात् अरविंद के समान से अभिन्न प्रतीति का आश्रय' यह शाब्दबोध मानकर) पूर्वोक्त 'तुल्यत्व (सादृश्य) को' 'प्रतीति' रूपी विधेय-अंश के उद्देश्य का अवच्छेदक माना जाय—अर्थात् 'तुल्य' शब्द के अर्थ को उद्देश्य माना जाय और 'तुल्यत्व' को उसका अवच्छेदक, और केवल '(धातु के अर्थ) प्रतीति' को विधेय माना जाय तो वक्ता का अभीष्ट अर्थ प्रतीत नहीं होगा; क्योंकि वह चाहता है 'सादृश्य (तुल्यत्व)' का विधेय होना और ऐसी दशा में वह उद्देश्य का अवच्छेदक हो जायगा।

अब यदि आप कहें कि—यहाँ 'तुल्य' शब्द का अर्थ, लक्षणा द्वारा, 'तुलयत्व जिसका विशेषण है' यह करेंगे और इस अर्थ का, अभेद-संबंध द्वारा, धातु के अर्थ 'प्रतीति' में अन्वय कर देंगे—अर्थात् 'अरविंदतुल्यो भाति' का शाब्दबोध 'अरविंद से निरूपित सादृश्य जिसका विशेषण है ऐसी प्रतीति का कर्त्ता' मानेंगे; तो हम कहते हैं—बात बन सकती है। पर उस दशा में 'अरविंदतुल्य' यह क्रिया

का विशेषण होगा, और तब "**क्रियाव्ययविशेषणानां क्लीबतेष्यते**—अर्थात् क्रिया और अव्यय के विशेषण नपुंसक होने चाहिए" इस व्याकरण के नियम के अनुसार 'अरविंदतुल्यं भाति' प्रयोग हो सकेगा, 'अरविंदतुल्यो भाति' नहीं। पर इस आपत्ति का उत्तर हो सकता है। वह यह कि—व्याकरण तो जैसा कुछ लोग बोलते आए हैं उसका अनुवादक है, उसे स्वतंत्रतया तो नियम बनाने का अधिकार है नहीं; अतः क्रियाविशेषणों के नपुंसक होने का नियम केवल 'स्तोकं पचति (थोड़ा पकाता है)' आदि में लगता है 'अरविंदतुल्यो भाति' आदि में नहीं। क्योंकि व्याकरण लोक-व्यवहार के अनुसार ही नियम बना सकता है, वह लोक-व्यवहार का अतिक्रमण कभी नहीं कर सकता*। अतः 'अरविंदतुल्यो भाति' इस वाक्य का

---

* नागेश कहते हैं—यदि आपका तात्पर्य शाब्दबोध में उपमा को विधेय रखने का है, तब तो 'अरविंदतुल्यम्' यही प्रयोग शुद्ध है 'अरविंदतुल्यः' यह नहीं। क्योंकि आपकी दी हुई युक्ति अड़ंगा-मात्र है, उससे क्रियाविशेषण पुंल्लिंग नहीं हो सकता। अब यदि आप हमारी लिखी पूर्वोक्त युक्ति से काम लें कि—'वाक्य में जो विधेय हो उसका उपमाबोधक (इव आदि) शब्द के द्वारा समानधर्म के रूप में उपस्थित किया जाना ही उपमा का विधेय होना है'; तब भी काम नहीं बन सकता। कारण, 'अरविंदतुल्यो भाति' इस वाक्य का शाब्दबोध (वैयाकरणों के हिसाब से) 'अरविंद-सदृश जिसका विषय है वह प्रतीति' और (नैयायिकों के हिसाब से) 'प्रतीति का

शाब्दबोध—'अरविंद से निरूपित सादृश्य जिसका विशेषण है ऐसी प्रतीति का विशेष्य'

यह होता है। इसमें 'अरविंद से निरूपित' इतना 'अरविंद' पद का संबंध सहित अर्थ है, 'सादृश्य जिसका विशेषण है ऐसी' इतना 'तुल्यः' पद का अर्थ है और 'प्रतीति का विशेष्य' यह 'भाति' पद का अर्थ है, जैसा कि पहले वाक्यों में लिखा जा चुका है। इस शाब्दबोध को

सरल शब्दों में—'अरविंद के समान प्रतीत होने-वाला' यों कहा जा सकता है।

कुछ लोगों का कथन है कि—पूर्वोक्त पूरा अर्थ, लक्षणा द्वारा, धातु से ही प्रतीत हो जाता है; 'अरविंदतुल्यः' यह

विषय (प्रतीति में आनेवाला) अरविंद-सदृश' इन्हीं दो प्रकारों से हो सकता है; पर इन दोनों ही प्रकारों में 'प्रतीति' ही समान धर्म के रूप में उपस्थित होती है और वह 'तुल्य' शब्द से बोधित होती नहीं; क्योंकि 'तुल्य' शब्द पूर्वोक्तरीत्या 'प्रतीति के विषय' का बोध करवाता है, 'प्रतीति' का नहीं। सो उपमा को विधेय मानना हो तो बिना 'अरविंदतुल्यम्' प्रयोग किए गुजारा नहीं। हाँ, यदि आप यहाँ उपमा को सिद्ध करनेवाला धर्म, 'प्रतीति' के अतिरिक्त, अन्य कोई ('सौंदर्य' आदि) मान लें तो अलबत्ता 'अरविंदतुल्यः' प्रयोग हो सकता है। पर तब भी उपमा तो उद्देश्यतावच्छेदक ही रहेगी, विधेय नहीं। इतना याद रखिए। (पर 'निर्मितिमादधती' इस काव्यप्रकाश के पद्य में 'निर्मिति' पद क्रियाविशेषण होने पर भी स्त्री-लिङ्ग है। अतः 'क्रियाविशेषण नपुंसक लिङ्ग ही होता है' यह नियम सार्वत्रिक नहीं है। इसलिये नागेश का कथन चिन्तनीय है।)—सं०।

भाग तो केवल इसलिये लिखा गया है कि यहाँ वक्ता का किस अर्थ में लक्षणा करने का तात्पर्य है, उसका स्वयं कोई अर्थ नहीं।

८—**वाक्य—अरविंदवत् सुंदरम्** (अरविंद के समान सुंदर)।

विवेचन—यहाँ "तेन तुल्यं क्रिया चेद्वतिः (५।१। ११५)" इस पाणिनि-सूत्र से 'वति (वत्)' प्रत्यय हुआ है। यद्यपि इस 'वति' प्रत्यय का अर्थ 'सादृश्य से युक्त (तुल्य)' होता है, तथापि यहाँ उसका, लक्षणा द्वारा, 'सादृश्य' अर्थ किया जाता है। उस सादृश्य का, 'सुंदर' पद के अर्थ के एक देश 'सौंदर्य' के साथ ('प्रयोजकता' संबंध से) अन्वय करने पर 'अरविंदमिव सुंदरम्* (नं० २)' की तरह बोध होता है।

---

* नागेश कहते हैं—सूत्र के अनुसार 'वति' प्रत्यय वहीं होता है, जहाँ क्रिया की तुल्यता हो; अतः 'अरविंदवत् सुंदरम्' और 'अरविंदमिव सुंदरम्' इन दोनों वाक्यों का बोध समान कैसे हो सकता है? क्योंकि 'वति' वाले वाक्य से क्रियाओं की समानता प्रतीत होती है और 'इव' वाले वाक्य से वस्तुओं की। अतः आपका कथन विचारणीय है। अतएव तो 'महाभाष्यकार' आदि ने "ब्राह्मणवदधीते" इत्यादि में 'ब्राह्मण' पद की ब्राह्मण द्वारा की जानेवाली अध्ययन-रूपी क्रिया' में लक्षणा मानी है। अतः 'अरविंदवत् सुंदरम्' इस वाक्य में 'भवति (होता है)' क्रिया का अध्याहार करना चाहिए और 'अरविंद' पद का अर्थ, लक्षणा द्वारा, 'सुंदर अरविंद

आप कहेंगे—'अरविंदमिव सुंदरम्' और 'अरविंदवत् सुंदरम्' इन दोनों वाक्यों का शाब्दबोध समान होता है, तो फिर हमने, उपमा के उदाहरणों का विवेचन करते हुए, 'इव' वाले वाक्यों में 'श्रौती' उपमा और 'वति' वाले वाक्यों में आर्थी उपमा क्यों बताई—दोनों वाक्यों के शाब्दबोध में कोई भेद तो है नहीं, फिर यह क्या बात है ? इसका उत्तर यह है कि—'इव' शब्द से 'सादृश्य' का प्रतिपादन अभिधा द्वारा होता है और 'वति' प्रत्यय से लक्षणा द्वारा—अर्थात् 'इव' से सादृश्य की सुनते ही उपस्थिति हो जाती है और 'वति' से अर्थ पर ध्यान देकर लक्षणा करने के बाद; अतः वहाँ 'श्रौती' और यहाँ 'आर्थी'* उपमा मानी गई है।

६—अरविन्दवन्मुखम्—(अरविंद के समान मुख) इस वाक्य का

का होना' इतना होना चाहिए। सो इस तरह इस वाक्य का शाब्द-बोध 'सुंदर अरविंद के होने के समान सुंदर मुख का होना' यह करना उचित है। रही 'मुख और अरविंद की समानता' की प्रतीति; सो वह इस बोध के बाद व्यंजना द्वारा होती है। इसी तरह 'अर-विंदवन्मुखम्' इस वाक्य का शाब्दबोध भी 'अरविंद के होने के समान मुख का होना' यही उचित है।

* वास्तव में यहाँ उपमा को आर्थी कहना अशुद्ध है। उपमा आर्थी वहाँ होती है जहाँ सादृश्य-विशिष्ट अर्थ हो, अर्थात् सादृश्य की विशेषण रूप से प्रतीति होती हो। वहाँ तो वति प्रत्यय की सादृश्य

शाब्दबोध—'अरविंद द्वारा निरूपित सादृश्य से युक्त से अभिन्न मुख'।

यह होता है। इसमें 'अरविंद द्वारा निरूपित' इतना तो 'अरविंद' पद का अर्थ है ही और 'सादृश्य से युक्त से अभिन्न' इतना है 'वति' प्रत्यय का संबंध सहित अर्थ। इस शाब्द-बोध को

सरल शब्दों में—'अरविंद द्वारा निरूपित सादृश्य से युक्त मुख' इस तरह कहा जा सकता है।

१०—**वाक्य**—**अरविन्दवत् सौन्दर्यमस्य** (इसकी सुंदरता अरविंद की सुंदरता के समान है)।

विवेचन—इस वाक्य में 'अरविंद' पद का अर्थ, लक्षणा द्वारा*, 'अरविंद की सुंदरता' होता है। इस 'वति' प्रत्यय

में लक्षणा होने से वह विशेष्य रूप से प्रतीत हो रहा है। यह बात 'निखिलजगन्महनीया' इस उदाहरण में स्पष्ट है।—सं०।

* नागेश कहते हैं—'अरविन्दवत् सौन्दर्यमस्य' यहाँ "तत्र तस्येव (५।१।११६)" इस सूत्र से 'वति' प्रत्यय होता है। यह 'वति' प्रत्यय 'इव' के अर्थ में विहित है अतः इसका अर्थ 'सादृश्य' तो होता ही है, अब आप उसका लक्षणा द्वारा 'सादृश्य का प्रयोजक' इतना अर्थ कर लीजिए तो इस वाक्य का शाब्दबोध (सीधे ढंग से) "इस वस्तु की सुंदरता अरविंद से निरूपित सादृश्य को सिद्ध करनेवाली है" यह हो जाता है। ऐसी दशा में 'अरविंद' पद की 'अरविंद की 'सुंद-रता' अर्थ में लक्षणा करने का क्या फल है और उसमें क्या प्रमाण है सो समझ में नहीं आता; अतः यह शाब्दबोध विचारणीय ही है।

का अर्थ सादृश्य है और उसके साथ इस सुंदरता का 'निरूपितता' संबंध है। 'इस वस्तु की सुंदरता' उस सादृश्य का 'आधार' होती है। अतः इस वाक्य का

शाब्दबोध—'इस वस्तु की सुंदरता, अरविंद की सुंदरता से निरूपित सादृश्य का, आधार है।'

यह होता है। इस तरह शब्दों से मुख और अरविंद की सुंदरताओं के सादृश्य का ज्ञान हो जाने पर उन दोनों सुंदरताओं को अभिन्न मानकर, एवं बाद में, उस अभिन्न धर्म को निमित्त मानकर मुख और अरविंद के सादृश्य का भी मानस बोध हो जाता है।

११—**वाक्य**—अरविंदेन तुल्यम् (अरविंद के समान)।

विवेचन—इस वाक्य में 'अरविंद' शब्द के आगेवाली तृतीया विभक्ति का अर्थ है 'निरूपितता'। उसका 'तुल्य' पद के अर्थ (सादृश्य से युक्त) के एक देश 'सादृश्य' में अन्वय किया जाता है और 'तुल्यम्' पद की प्रथमा विभक्ति का अर्थ तो 'अभेद' है ही। अतः इस वाक्य का

शाब्दबोध—'अरविंद से निरूपित सादृश्य के आश्रय (सादृश्य युक्त) से अभिन्न'

(नागेश आग्रह में हैं, क्योंकि लक्षणा दोनों मानते हैं। तब पण्डितराज अरविंद और मुख की सुंदरताओं की समानता से उनमें समानता कहें तो कोई आपत्ति नहीं। दोनों की सुंदरताओं के एक न होने से ऐसा कहना अधिक उचित भी है)—सं०।

यह होता है। इस शाब्दबोध को

सरल शब्दों में—अरविंद से निरूपित सादृश्य से युक्त' इस तरह कहा जा सकता है।

१२—**वाक्य**—सौन्दर्येणाऽरविन्देन तुल्यम् (सुंदरता से कमल के समान)।

विवेचन—पूर्वोक्त वाक्य में समान धर्म ('सौन्दर्येण') और बढ़ा देने पर यह वाक्य बन जाता है। यहाँ 'सौन्दर्य' शब्द के आगे जो तृतीया विभक्ति है उसका अर्थ 'प्रयोज्यता (सिद्ध होना)' होता है और शेष अंश तो वही है ही। अतः इस वाक्य का

शाब्दबोध—'अरविंद से निरूपित और सौंदर्य द्वारा सिद्ध होने वाले सादृश्य से युक्त से अभिन्न'

यह होता है।

१३—**वाक्य—अरविन्दमाननं च समम्** (कमल और मुख समान है)।

विवेचन—इस वाक्य में 'सम' शब्द का 'अरविंद' और 'आनन' दोनों पदों के अर्थों के साथ 'अभेद' संबंध है; क्योंकि 'दो प्रातिपदिकों के अर्थों का अभेद के अतिरिक्त अन्य कोई संबंध नहीं हो सकता' यह नियम पहले बताया जा चुका है। अतः प्रथमतः इस वाक्य का

शाब्दबोध—'सादृश्य-युक्त से अभिन्न कमल और मुख'

यह होता है। और बाद में, मन द्वारा अथवा व्यंजनावृत्ति द्वारा, अरविंद से निरूपित सादृश्य की मुख में और मुख से निरूपित सादृश्य की अरविंद में प्रतीति होती है। अर्थात् ऐसे वाक्यों में, बारी-बारी से, दोनों को उपमान और दोनों को उपमेय कहा जा सकता है; क्योंकि इन दोनों में से अमुक के द्वारा निरूपित सादृश्य अमुक में ही माना जाय इसमें कोई प्रमाण नहीं। पर यदि यह मानो कि—सादृश्य का प्रसिद्ध वस्तु के द्वारा निरूपित होना अनुभव-सिद्ध है, तो, सादृश्य को, उन दोनों में से जो वस्तु उस धर्म (सुंदरता आदि) के लिये प्रसिद्ध हो उसके द्वारा निरूपित समझ लीजिए। अतः यहाँ अरविंद के समान मुख यह बोध होगा पर प्रथमतः शाब्दबोध तो वैसा ही होता है।

१४—**बिंबप्रतिबिंबभावापन्न**

(क) कोमलातपशोणाभ्रसन्ध्याकालसहोदर।
कुङ्कुमालेपनो याति काषायवसनो यतिः॥

(कोमल धूप और लाल बादलवाले संध्या-समय का सगा भाई, केसर के लेप और कषाय वर्ण के वस्त्र से युक्त, संन्यासी जा रहा है।)

इत्यादि में, शक्ति द्वारा (और 'सहोदर' शब्द में लक्षणा द्वारा) यह **शाब्दबोध** होता है कि—"केसर के लेप आदि विशेषणों से युक्त संन्यासी, कोमल धूप आदि विशेषणों

से युक्त संध्या-समय के सदृश से अभिन्न है (अर्थात् सदृश है) ।"

जब यह शाब्दबोध हो चुकता है तब सादृश्य के सिद्ध करनेवाले समान धर्म की आकाङ्क्षा होती है—श्रोता यह जानना चाहता है कि इस उपमा में समान धर्म क्या है? और तब धर्म के अभिन्न होने के लिये पूर्वोक्त वाक्य में सुने गए 'कोमल धूप' और 'केसर के लेप' आदि उपमान और उपमेय के विशेषणों का, परस्पर सादृश्य के कारण, ताद्रूप्य (अभेद) मान लिया जाता है, और इस तरह एक रूप माने हुए विशेषण समान धर्म रूप बन जाते हैं। तात्पर्य यह कि—बिंब-प्रतिबिंब-भावापन्न धर्मवाली उपमा में शाब्द-बोध तो पूर्वोक्तरीत्या हो जाता है। (अर्थात् यदि 'इव' आदि शब्द हों तो उनके अर्थ 'सादृश्य' का 'आश्रयता (युक्त होना)' संबंध से और यदि 'सहोदर' आदि लक्षणा से 'सदृश' अर्थवाले पद हों तो उनका 'अभेद' संबंध से उपमेय में अन्वय हो जाता है।) पर बाद में उपमा के सिद्ध करनेवाले समानधर्म के लिये परस्पर सदृशता रखनेवाले उपमान-उपमेय के विशेषणों को अभिन्न मान लिया जाता है और इस तरह वे समान धर्म रूप बन जाते हैं।

(ख) यदि पूर्वोक्त पद्य बदलकर यों बना दिया जाय कि—

कुङ्कुमालेपकाषायवसनाभ्यामयं यतिः।
कोमलातपशोणाभ्रसन्ध्याकालसहोदरः॥

(अर्थात् यह संन्यासी, केसर के लेप और गेरुआ वस्त्र के कारण, कोमल धूप और लाल बादलवाले संध्या-समय का सगा भाई (समान) है।)

तब यद्यपि 'केसर का लेप' और 'गेरुआ वस्त्र' असाधारण होते हैं—अर्थात् ये दोनों चीज़ें केवल उपमेय (संन्यासी) से ही संबंध रखती हैं, अतः साधारण धर्म रूप नहीं हो सकतीं; तथापि संध्या समय और संन्यासी में हमें जिस सादृश्य की कल्पना करनी है—अर्थात् जो सादृश्य बिना इन विशेषणों के सिद्ध ही नहीं हो सकता—उस सादृश्य की सिद्धि में प्रयोजक हो जाती है; क्योंकि ये दोनों चीज़ें (केसर का लेप और काषाय वस्त्र), संध्यासमय के धर्मों (कोमल धूप और लाल बादल) के साथ अभिन्न मान ली जायँ तो,-साधारणता का बोध करवा देती हैं—अर्थात् इन धर्मों को उन धर्मों से अभिन्न मान लेने के द्वारा ही सादृश्य सिद्ध होता है। सो इन धर्मों के, सादृश्य की सिद्धि में, प्रयोजक होने के कारण सादृश्य के साथ केसर के लेप और गेरुआ वस्त्र (इन तृतीयान्त पदों) का 'प्रयोज्यता' संबंध से अन्वय होता है। अतः इस पद्य का

शाब्दबोध—यह संन्यासी, केसर के लेप और भगवा-वस्त्र द्वारा सिद्ध किए जानेवाले (प्रयोज्य), कोमल धूप और लाल बादलों से युक्त संध्या-समय के सादृश्य से युक्त (सदृश) से, अभिन्न है।

इससे यह सिद्ध हुआ कि—जहाँ बिंब-प्रतिबिंब-भावापन्न धर्मवाली उपमा में, उपमेय के विशेषण तृतीयान्त हों, वहाँ उनका, 'सदृश' अर्थवाची शब्द हो तो उसके अर्थ के एकदेश सादृश्य में और यदि सादृश्यवाची (इव आदि) शब्द हो तो उसके अर्थरूप सादृश्य में, 'प्रयोज्यता' संबंध से अन्वय होता है।

रही एक देश में अन्वय की बात; सो इन पक्षों में, और कोई गति न होने के कारण, उसे स्वीकार करना पड़ता है—यह पहले कहा ही जा चुका है।

सादृश्य को समान धर्म-रूप माननेवालों के मत से शाब्दबोध

यह तो हुई सादृश्य को अतिरिक्त पदार्थ माननेवालों (मीमांसक आदि) के मत से शाब्दबोध की बात, अब सादृश्य को समान धर्म-रूप माननेवालों (नैयायिकों) की बात सुनिए। उनके मत से जहाँ समान धर्म का ग्रहण है, केवल उन वाक्यों में—अर्थात् सं० १, २, ५, ८, १०, १२ इन छः वाक्यों में—भेद होता है। उनमें से भी अंतिम तीन वाक्यों में वही प्रक्रिया है जो पहले तीन वाक्यों में। अतः केवल तीन बोधों पर विचार कर लेने से उनका मतभेद विदित हो जायगा। अच्छा तो उन तीन बोधों पर भी विचार कर लीजिए—

१—**वाक्य—अरविंदसुंदरम्** (कमल-सुंदर)।

विवेचन—यहाँ 'अरविंद' शब्द से, लक्षणा द्वारा, अरविंद में रहनेवाले समान धर्म का बोध होता है और उसका, अभेद संबंध से 'सुंदर' पद के अर्थ (सौंदर्य-युक्त) के एक-देश 'सौंदर्य' में अन्वय होता है। अतः उनके मत से इस वाक्य का

शाब्दबोध—'अरविंद में रहनेवाले समान धर्म से अभिन्न सौंदर्य से युक्त से अभिन्न'

यह होता है। इसमें 'अरविंद में रहनवाले समान धर्म से अभिन्न' इतना 'अरविंद' शब्द का संबंध सहित अर्थ है और 'सौंदर्ययुक्त से अभिन्न' यह है 'सुंदर' शब्द का संबंध-सहित अर्थ। इस शाब्दबोध को

सरल शब्दों में—'अरविंद में रहनेवाले समान धर्म रूप सौंदर्य से युक्त' यों कहा जा सकता है।

२—**वाक्य—अरविंदमिव सुंदरम्** (अरविंद-सा सुंदर)।

विवेचन—इस वाक्य में 'अरविंद' पद का अर्थ (अर-विंद) 'आधेयता (रहने)'-रूपी संबंध से 'इव' पद के अर्थ 'समान धर्म' के साथ अन्वित होता है और शेष पहले की तरह हई है—अर्थात् समानधर्म का अभेद संबंध से 'सुंदर' पद के अर्थ के एकदेश 'सौंदर्य' के साथ अन्वय होता है। सो इस वाक्य का भी शाब्दबोध प्रथम वाक्य के समान ही

होता है। भेद केवल इतना है कि—प्रथम वाक्य में 'समान धर्म' की प्रतीति लक्षणा द्वारा होती है और इसमें अभिधा द्वारा; क्योंकि यहाँ समान धर्म का वाचक 'इव' शब्द है और वहाँ यह नहीं था।

३—वाक्य—**सौंदर्येणारविंदेन समम्** (सुंदरता से अरविंद के समान)।

विवेचन—इस वाक्य में 'सौंदर्येण' पद की तृतीया विभक्ति का अर्थ 'अभेद' होता है; जैसे कि '**धान्येन धनी** धान्य से धनवाला' यहाँ 'से' का अर्थ अभेद मानकर 'धान्य-रूपी धनवाला' यह अर्थ किया जाता है। क्योंकि यहाँ धान्य ही धन है। और 'अरविंदेन' पद की तृतीया विभक्ति का अर्थ 'निरूपितता'। शेष प्रक्रिया तो वही है ही। अतः इस वाक्य का

शाब्दबोध—'सौंदर्य से अभिन्न और अरविंद से निरूपित सादृश्य से युक्त से अभिन्न'

यह होता है। इसमें 'सौंदर्य से अभिन्न' इतना 'सौंदर्येण' पद का अर्थ है, 'अरविंद से निरूपित' इतना 'अरविंदेन' पद का अर्थ है और 'सादृश्य से युक्त से अभिन्न' इतना 'समम्' पद का संबंध सहित अर्थ है। इस शाब्दबोध को

सरल शब्दों में—'अरविंद से निरूपित सौंदर्यरूपी सादृश्य से युक्त' यों कहा जा सकता है।

लुप्तोपमा के विषय में

(लुप्तोपमा समास, तद्धित, नामधातु और कृदंत—इन चार स्थलों में होती है। उनमें से समास की लुप्तोपमा का बोध तो 'अरविंदसुंदरम् (नं० १)' में लिख ही दिया गया है और तद्धित की लुप्तोपमा में भी वही बात है; क्योंकि वहाँ भी उसी तरह उपमान पद में लक्षणा करके सब काम निकाल लिया जाता है। अब केवल नामधातु और कृदंत के 'क्यङ्' और 'कयच्' आदि प्रत्यय के विषय में कहना रह जाता है। सो उनके उदाहरण सुनिए—)

वाक्य—अरविंदायते (अरविंद का-सा आचरण करता है)।

विवेचन—यहाँ 'क्यङ्' प्रत्यय का अर्थ 'आचार' होता है, जो कि केवल 'समान धर्म' रूप है। उपमान पद—अरविंद—से लक्षणा द्वारा समझाया हुआ 'उपमान—अरविंद—से निरूपित सादृश्य', (सादृश्य को अतिरिक्त पदार्थ माननेवालों के मत से) 'प्रयोजकता' संबंध द्वारा अथवा (सादृश्य को समान धर्म रूप माननेवालों के मत से) अभेद संबंध द्वारा उस समानधर्म का विशेषण होता है, और विशेष्य होता है 'आश्रयता' संबंध द्वारा, उपमेय—अर्थात् मुख। अतः 'अरविंदायते' का

शाब्दबोध—'अरविंद से निरूपित सादृश्य के प्रयोजक—अथवा उससे अभिन्न—समान धर्म का आश्रय'

यह होता है। इस शाब्दबोध को

सरल शब्दों में—'अरविंद के सादृश्य को सिद्ध करनेवाले, अथवा सादृश्य रूप, समान धर्म से युक्त' यों कहा जा सकता है।

यही बात 'क्यच्' प्रत्ययवाले शाब्दबोध में भी है। उसमें केवल इतना भेद है कि 'क्यच्' प्रत्यय का अर्थ आचार केवल समान धर्म के रूप में ही प्रतीत नहीं होता, किंतु 'अनुरूप क्रिया' आदि विशेष रूप में प्रतीत होता है। अर्थात्

तिलोत्तमीयन्ती (अपने तईं तिलोत्तमा-सा आचरण करती हुई) इस वाक्य का

शाब्दबोध—'अपने तईं तिलोत्तमा के सादृश्य (सदृश बनाने) के अनुरूप क्रिया करती हुई' यह होता है।

यह है शाब्दबोध का संक्षेप।

'इव' आदिक अव्यय सादृश्य के द्योतक हैं वा वाचक ?

वैयाकरणों का कथन है कि—'इव' आदिक सादृश्य के द्योतक ही हैं, वाचक नहीं। कारण, ये सब निपात हैं और निपात द्योतक ही हुआ करते हैं; जैसे उपसर्ग। सारांश यह कि—जैसे उपसर्गों का स्वयं कोई अर्थ नहीं होता, किंतु वे धातु के अर्थ के द्योतक (प्रकाशक) मात्र होते हैं, वैसे ही 'इव' आदि भी सादृश्य के द्योतक हैं। 'द्योतक' शब्द का अर्थ है—अपने समीपवर्त्ती किसी अन्य पद से,

शक्ति अथवा लक्षणा द्वारा, (जैसा जहाँ अपेक्षित हो) वैसे अर्थ के समझाने के लिये तात्पर्य-ज्ञान करवा देने में उपयोगी होना। अर्थात् जिनका केवल इतना उपयोग हो कि—किसी समीपवर्त्ती पद का वक्ता की इच्छा के अनुकूल अर्थ, फिर वह शक्ति से हो अथवा लक्षणा से, समझा देना, वे द्योतक कहलाते हैं। अतः यह सिद्ध हुआ कि 'इव' आदिक का स्वयं कोई अर्थ नहीं, किंतु उपमान-पद से लक्षणा द्वारा ज्ञात होनेवाले उपमान के सादृश्य में वक्ता के तात्पर्य का ज्ञान करवा देने में उनका उपयोग है।

पर **नैयायिक** यह मानने को तैयार नहीं। वे कहते हैं—उपसर्गों को द्योतक मानना आवश्यक है, अन्यथा "उपास्यते गुरुः (गुरु सेवन किए जाते हैं)", "अनुभूयते सुखम् (सुख अनुभव किया जाता है)" इत्यादिक प्रयोगों में 'गुरु' आदि शब्द 'लट्' आदि लकारों से उक्त नहीं हो सकेंगे; क्योंकि उपसर्ग-रहित 'आस्' और 'भू' धातु के अकर्मक होने के कारण 'गुरु' और 'सुख' शब्द उन धातुओं के अर्थ के कर्म नहीं हो सकते। अतः यह मानना आवश्यक है कि 'सेवन' और 'अनुभव' भी 'आस्' और 'भू' धातु के ही अर्थ हैं, पर उन्हें 'उप' और 'अनु' उपसर्ग केवल द्योतित कर देते हैं। और यदि 'गुरु' आदि शब्द धातु के अर्थ से उक्त न होंगे तो उनमें प्रथमा विभक्ति न हो सकेगी। ऐसा होता नहीं, अतः उपसर्गों को द्योतक मानने की आवश्यकता

है। रहे 'इव' आदिक, सो उन्हें तो वाचक ही मानना चाहिए; क्योंकि ऐसा मानने में किसी प्रकार की बाधा नहीं। आपने जो 'निपात होने' को 'इव' आदि के द्योतक होने का हेतु बताया है सो उसमें कोई अनुकूल तर्क नहीं, अत: उस हेतु से यह बात सिद्ध नहीं होती। यदि इसी तरह हेतु लगाए जायँ तो 'अव्यय होने' को हेतु मानकर सभी अव्यय द्योतक माने जा सकते हैं। सो वैयाकरणों का 'इव' आदि को द्योतक मानना उचित नहीं, किंतु उपसर्गों को द्योतक और 'इव' आदि को वाचक मानना ही उचित* है।

उपमा के दोष

जो कुछ उपमा के चमत्कार को न्यून करे—अर्थात् आनंददायकता में, किसी भी तरह की बाधा उपस्थित करे—वह सब दोष है। जैसे—कवि-संप्रदाय में प्रसिद्ध न होना,

---

* नागेश कहते हैं—नैयायिकों की युक्ति शिथिल है। कारण, 'निपात होना' इस हेतु को अनुकूल तर्क से रहित कहना ठीक नहीं। क्योंकि यदि उपसर्गों को ही द्योतक माना जाय, निपातों को नहीं तो 'साक्षात्क्रियते दयिता' इत्यादि प्रयोगों में 'दयिता' आदि शब्दों से प्रथमा विभक्ति न हो सकेगी। अत: निपात मात्र को द्योतक मानना उचित है। रही सब अव्ययों को द्योतक मानने की बात, सो वह भी ठीक नहीं; क्योंकि यदि ऐसा मानो तो 'स्वर् (=स्वर्ग)' आदि अव्ययों का स्वतंत्र प्रयोग न हो सकेगा। और होता है अवश्य। अत: केवल उपसर्गों को ही नहीं, किंतु सब निपातों को द्योतक मानना और अव्ययों को द्योतक न मानना उचित है।

उपमान और उपमेय का जाति, प्रमाण, लिंग और वचन द्वारा परस्पर अनुरूप न होना, बिंब-प्रतिबिंब-भावापन्न धर्मों में उपमान और उपमेय के धर्मों का न्यूनाधिक होना; और समानधर्म के अनुगामी होने पर काल, पुरुष और विधि आदि अर्थों का उपपन्न न होना—अर्थात् उपमान और उपमेय दोनों में फिट् न बैठना; इत्यादि ।

अच्छा, अब क्रमशः इन दोषों के उदाहरण सुनिए ।

कवियों के व्यवहार में प्रसिद्ध न होना; जैसे—

प्रफुल्लकह्लारनिभा मुखश्री रदच्छदः कुङ्कुमरम्यरागः ।
नितान्तशुद्धा तव तन्वि ! वाणी विभाति कर्पूरपरम्परेव ॥

नायक नायिका से कहता है—हे कृशांगि ! तुम्हारी मुख की कांति फूले हुए कह्लार पुष्प के समान, तुम्हारा होठ केसर के-से रमणीय रंगवाला और तुम्हारी अत्यंत शुद्ध वाणी कपूर की पंक्ति के समान प्रतीत होती है ।

(यहाँ मुख की कांति की कह्लार पुष्प से, होठ की केसर से और वाणी की कपूर की पंक्ति से उपमा कवियों के व्यवहार में प्रसिद्ध नहीं है ।)

उपमान और उपमेय का जाति द्वारा अनुरूप न होना; जैसे—

मुनिः श्ववदयं भाति सततं पर्यटन् महीम् ।
विनिवृत्तक्रियाजातः श्वाऽपि लोके शुकायते ॥

निरंतर पृथिवी पर घूमता हुआ यह मुनि कुत्ते की तरह प्रतीत होता है। संसार में सब काम छोड़ बैठने पर कुत्ता भी शुकदेव के समान हो जाता है।

(यहाँ पूर्वार्ध में कुत्ते से मुनि की उपमा देना और उत्तरार्ध में शुकदेवजी से कुत्ते की उपमा देना दोनों ही जाति के द्वारा अनुरूप नहीं। कुत्ते की जाति हजार यत्न करने पर भी मुनियों के सदृश कैसे हो सकती है ?)

प्रमाण (परिमाण) के द्वारा अनुरूप न होना; जैसे—

सरसि प्लवदाभाति जम्बीरं सुपचेलिमम् ।
आदिकारणतोयौघ इव ब्रह्माण्डमण्डलम् ॥

तालाब में तैरता हुआ अत्यंत पका नीबू ऐसा प्रतीत होता है, जैसे संसार के आदिकारण रूप जल-समूह में ब्रह्मांड का मंडल।

(यहाँ उपमान और उपमेय का परिमाण अनुरूप नहीं। कहाँ बेचारा नीबू और कहाँ चौदह भुवनों को पेट में रख लेनेवाला ब्रह्मांड-मंडल ! एवं कहाँ जरा-सा तालाब और कहाँ वैसे अनेक ब्रह्मांडों को अपने भीतर समाविष्ट कर लेनेवाला वह जल-समूह !)

इसी पद्य में कुछ पदों को बदलकर यदि ब्रह्मांड को उपमेय बना दिया जाय तब भी यही दोष होगा। जैसे—

सरसीव समाभाति जम्बीरं सुपक्वेलिमम् ।
आदिकारणतोयौघे प्लवद् ब्रह्माण्डमण्डलम् ॥

लिंग और वचन के द्वारा अनुरूप न होना; जैसे—

द्राक्षेव मधुरं वाक्यं चरितं कौमुदी यथा ।
सदैवार्द्राणि चेतांसि सुधेव सुमहात्मनाम् ॥

अच्छे महात्माओं का वाक्य दाख-सा मधुर होता है, चरित्र ऐसा (निर्मल) होता है जैसी कि चाँदनी और चित्त सुधा की तरह निरंतर पिघले ही रहते हैं ।

[यहाँ उपमान (दाख, चाँदनी और सुधा) स्त्रीलिंग हैं और उपमेय (वाक्य, चरित और चित्त) नपुंसक, अतः लिंग के द्वारा, और 'चेतांसि(चित्त)' बहुवचन है तथा 'सुधा' एकवचन, अतः वचन के द्वारा, उपमा अनुरूप नहीं है ।]

बिंब-प्रतिबिंब-भावापन्न धर्मों में धर्म की न्यूनता; जैसे—

वामाकल्पितवामाङ्गो भासते भाललोचनः ।
शम्पया सम्परिष्वक्तो जीमूत इव शारदः ॥

भगवती पार्वती से वामांग बनाए हुए (अर्थात् अर्धनारीश्वर) ललाट पर लोचनवाले भगवान् शिव ऐसे प्रतीत होते हैं, जैसे बिजली से आलिंगन किया हुआ शरद् ऋतु का मेघ ।

यहाँ मेघ (उपमान) में ललाट के लोचन का प्रतिबिंब-रूप कोई धर्म नहीं लाया गया, अतः एक धर्म की न्यूनता

है। पर यदि 'भाललोचनः' के स्थान पर 'भगवान् भवः' पाठ कर दिया जाय तो वह न्यूनता निवृत्त हो जायगी। कारण, बिंब (ललाट के लोचन) के न रहने से प्रतिबिंब की अपेक्षा ही न रहेगी।

धर्म की अधिकता; जैसे—

विष्णुवक्षः स्थितो भाति नितरां कौस्तुभो मणिः।
अङ्गारक इवाऽनेकतारके गगनाङ्गणे॥

विष्णु के वक्षःस्थल में स्थित कौस्तुभ मणि अनेक तारों से युक्त आकाश-मंडल में मंगल के तारे की तरह, अत्यंत शोभित हो रही है।

यहाँ तारों का बिंबरूप कोई धर्म नहीं लाया गया, अतः प्रतिबिंब में एक धर्म की अधिकता है। यदि इसका पूर्वार्ध "**विष्णोर्वक्षसि मुक्तालिभासुरे भाति कौस्तुभः**—अर्थात् मोतियों की पंक्ति से चमकते हुए विष्णु के वक्षःस्थल में कौस्तुभ मणि शोभित हो रहा है" यह बना दिया जाय तो दोष नहीं रहता; क्योंकि तब मोतियों की पंक्ति तारों का बिंबरूप हो जायगी। इस पद्य में विशेषणों के विशेषण—'मोतियों की पंक्ति' और 'तारों के समूह'—के बिंब-प्रतिबिंब-भाव से 'वक्षःस्थल' और 'आकाश-मंडल' रूपी विशेषणों का बिंब-प्रतिबिंब-भाव होता है और वही इस उपमा का मूल है।

अनुगामी धर्म में काल का अनुपपन्न होना; जैसे—

रराज राजराजस्य राजहंसः करे स्थितः ।
हस्तनक्षत्रसंसक्त इव पूर्णो निशाकरः ॥

राजाधिराज के हाथ पर बैठा राजहंस, हस्त नक्षत्र से मिले हुए पूर्ण चंद्रमा सा सुशोभित हुआ।

यहाँ 'सुशोभित हुआ' इस पद से भूतकालवाली एक विशेष क्रिया का प्रतिपादन होता है। उस कालवाली क्रिया में जैसे 'राजहंस' का अन्वय हो सकता है वैसे 'चंद्रमा' का नहीं हो सकता। (क्योंकि वह हस्त नक्षत्र से संयुक्त होकर अब भी शोभित होता रहता है।) अतः यह अनुगामी धर्म उपमान और उपमेय दोनों में न घटित होनेवाले काल से मिश्रित है, अतः काल अनुपपन्न है।

इसी तरह—

रणाङ्गणे रावणवैरिणो विभोः
शराः समन्ताद्वलिता विरेजिरे ।
निदाघमध्यन्दिनवर्त्तिनोऽम्बरे
सहस्रभानोः प्रखराः करा इव ।

रावण के वैरी प्रभु (श्री रामचंद्र) के, रणांगण में चारों तरफ फैले हुए, बाण, आकाश में (फैले हुए) ग्रीष्म ऋतु के मध्याह्न-कालीन सूर्य की कठोर किरणों की तरह, सुशोभित हुए। (यहाँ भी वही दोष है)।

अथवा जैसे—

आगतः पतिरितीरितं जनैः शृण्वती चकितमेत्य देहलीम् ।
कौमुदीव शिशिरीकरिष्यते लोचने मम कदा मृगेक्षणा ।

विदेश-स्थित नायक सोच रहा है—'(तुम्हारे) पति आ गए' इस, लोगों के कथन को सुनती हुई, डरते डरते, देहली पर आकर (वह) मृगनयनी, मेरी आँखों को, चाँदनी की तरह (न जाने) कब शीतल करेगी ।

यहाँ 'सुनती हुई' इस पद के 'ती हुई' इस शब्दखंड द्वारा (क्योंकि इससे क्रिया का समाप्त न होना सूचित होता है) समझाए गए 'सुनने के समय ही देहली पर आ जाना' इस अतिशयोक्ति रूप अर्थ से बोधित 'त्वरा की अधिकता', प्रियतमा के अंतर्गत 'औत्सुक्य की अधिकता' को पुष्ट करती है। और 'चाँदनी' की उपमा, उस उत्सुकता से परिपुष्ट प्रियतम की उत्सुकता को पुष्ट करती है—अर्थात् चाँदनी की उपमा और प्रियतमा की उत्सुकता दोनों प्रियतम की उत्सुकता को पुष्ट करती हैं। 'डरते-डरते' यह 'आने' का विशेषण भी, वास्तविक विचार करने पर, देखने का विशेषण होता हुआ उसी औत्सुक्य की पुष्टि के अनुकूल हो जाता है। अतः यह पद्य बड़ा ही उत्कृष्ट है। पर इतना सब होते हुए भी 'शीतल करेगी' यह भविष्यत्काल वाला साधारण धर्म, जिस तरह उपमेय (मृगनयनी) में अन्वित होता है उस तरह उपमान (चाँदनी) में नहीं होता (क्योंकि चाँदनी का 'शीतल करना' भविष्यत् नहीं है)। अतः दोष है।

पुरुष का उपपन्न न होना; जैसे—

एतावति महीपालमण्डलेऽवनिमण्डन !
तारकापरिषन्मध्ये राजन् ! राजेव राजसे ॥

हे पृथ्वी के भूषणरूप राजन् ! आप इतने (बड़े भारी) राज-समूह में, तारों की सभा में चंद्रमा की तरह, शोभित होते हैं।

यहाँ संबोधित किए जानेवाले उपमेय (राजा) का जिस तरह क्रिया में अन्वय हो रहा है उस तरह उपमान (चंद्रमा) का नहीं होता। क्योंकि 'मध्यम पुरुष से संबोधनीय' व्यक्ति का ही उसमें अन्वय हो सकता है, अन्य किसी का नहीं।

'विधि' आदि का अनुपपन्न होना; जैसे—

राजेव संभृतं कोषं केदारमिव कर्षकः ।
भवन्तं त्रायतां नित्यं भयेभ्यो भगवान् भवः ॥

कवि आशीर्वाद दे रहा है—जिस तरह राजा भरे-पूरे खजाने की और किसान खेत की, उस तरह भगवान् शिव, भयों से तुम्हारी रक्षा करें।

यहाँ प्रार्थना का विषय 'रक्षा करना', जिस तरह उपमेय—शिव—में अन्वित होता है, उस तरह उपमान—'राजा' और 'किसान'—में अन्वित नहीं हो सकता। कारण, उनका रक्षा करना तो सिद्ध वस्तु है—वे तो ऐसा किया ही करते

हैं, फिर उनसे प्रार्थना कैसी ? अत: प्रार्थना (जो 'त्रायताम्' पद के अर्थ में सम्मिलित है) सहित 'रक्षा करने' का उपमान-उपमेय दोनों में अन्वित न होना यहाँ दोष है। हाँ, यदि 'त्रायताम्' (रक्षा करें) के स्थान पर 'त्रायते' (रक्षा करते हैं) पाठ कर दिया जाय और इस तरह 'प्रार्थना-रहित रक्षा करना' लिखा जाय तो धर्म के उपमान और उपमेय में समान हो जाने के कारण यह दोष नहीं रहता।

क्या धर्म का एकत्र अनुवाद्य होना और अन्यत्र विधेय होना भी उपमा का दोष है ?

आप कहेंगे—'त्रायते' पाठ कर देने पर भी वह धर्म उपमान और उपमेय में समान तो होगा नहीं; क्योंकि जिस तरह प्रार्थना-सहित और प्रार्थना-रहित होने मात्र से एक ही धर्म (रक्षा करने) को भिन्न मान लिया गया, वैसे 'विधेय होना' और 'अनुवाद्य होना' भी उस धर्म को भिन्न कर देंगे—अर्थात् 'त्रायते' पाठ कर देने पर भी 'रक्षा करना' उपमेय में विधेय होगा और उपमान में अनुवाद्य; अत: फिर भी वह धर्म उपमान और उपमेय में समान न हो सकेगा। अत: यह दोष फिर भी ज्यों का त्यों रहा। हम कहते हैं—यह बात आपकी सच है। पर, जरा समझने की बात है कि—जिस उपमा में समान धर्म का लोप नहीं होता—अर्थात् जहाँ समान धर्म का वाचक पद विद्यमान होता है—

वहाँ, जिस तरह धातु का अर्थ, उस धर्मवाचक शब्द का प्रतिपाद्य होता है उसी तरह उस अर्थ के विशेषण प्रार्थना, भूतता, भविष्यता और वर्त्तमानता आदि विशेषण भी उस शब्द के प्रतिपाद्य होते हैं। ऐसी दशा में यदि उन विशेषणों के सहित धर्म की उपमान और उपमेय में समानता न होगी तो वह धर्म उपमा का निमित्त नहीं हो सकेगा; क्योंकि धर्म-वाचक शब्द का पूरा अर्थ ही उपमा का साधक हो सकता है, उसका एक अंश नहीं। और बिना ऐसा हुए उपमा सिद्ध न होगी—यह एक मानी हुई बात है। सो 'प्रार्थना' आदि (लकारों के अर्थों) का धर्म की समानता में बाधक होना उचित है; अतः 'त्रायताम्' पाठ रखने पर दोष रहेगा ही। पर 'त्रायते' पाठ कर देने पर यह बात नहीं रहती। क्योंकि 'विधेयता' और 'अनुवाद्यता' केवल विषयता-रूप हैं, उनका धर्मवाचक शब्द द्वारा प्रतिपादन नहीं होता, वे तो ऊपर से समझने की चीजें हैं। ऐसी स्थिति में यदि उनसे सहित धर्म की समानता नहीं है तो न रहे। इससे उपमा के निमित्त रूप धर्म—शब्द के प्रतिपाद्य अर्थ—की समानता में कोई बाधा नहीं आती। क्योंकि उपमा में, उदासीन विशेषणों से युक्त धर्म की समानता अपेक्षित नहीं है, किंतु धर्म-वाचक शब्द से प्रति-पाद्य विशेषणों से युक्त धर्म की ही समानता अपेक्षित है।

सारांश यह कि—प्रार्थना आदि (धातु के अर्थ के विशे-षण) धर्मवाचक शब्द के प्रतिपाद्य होते हैं, अतः यदि वे,

उपमान-उपमेय दोनों में घटित न हों, तो धर्म की साधारणता में बाधक होते हैं; पर उद्देश्यता अथवा विधेयता धर्मवाचक शब्द से प्रतिपाद्य नहीं होतीं, अतः वे धर्म की साधारणता में बाधक नहीं होतीं।

इसी तरह 'चंद्रवत् सुंदरं मुखम्—चाँद सा सुंदर मुख' इस जगह भी 'सुंदरता' उपमान में अनुवाद्य है और उपमेय में विधेय, तथापि धर्म के समान होने में कोई हानि नहीं होती।

बिंब-प्रतिबिंब-भावापन्न धर्मों की न्यूनाधिकता के विषय में एक विचार

आप कहेंगे—

नीलाञ्चलेन संवृतमाननमाभाति हरिणनयनायाः।
प्रतिबिम्बित इव यमुनागभीरनीरान्तरेणाङ्कः॥

नीली साड़ी के अञ्चल से ढँका हुआ मृगनयनी का मुख ऐसा प्रतीत होता है, जैसे यमुना के गंभीर जल के अंदर प्रतिबिंबित हुआ मृगांक (चंद्रमा)।

इस पद्य में चंद्रमारूपी उपमान के लिये जो 'एणांक (मृगांक)' शब्द आया है, उसमें बहुव्रीहि समास है। तदनुसार उस शब्द का अर्थ 'जिसमें मृगरूपी अंक (चिह्न) है' यह होता है। इस अवयवार्थ की प्रणाली से, उपमान के विशेषण रूप में, जो 'मृगरूपी अंक' प्रतीत होता है, वह किसका प्रतिबिंब होगा? क्योंकि 'चंद्रमा' के उपमेय—मुख—

के साथ कोई ऐसा विशेषण नहीं जो 'मृगरूपी अंक' का बिंब हो सके—इसकी समानता रखे। अतः 'एणाङ्क' शब्द द्वारा भासित होनेवाला यह 'मृगरूपी अंक' अधिकता उत्पन्न करने के कारण—अर्थात् जो बात बिंब में नहीं है उसे प्रतिबिंब में ले आने के कारण दोषरूप हुआ। यदि इसका उत्तर यह दिया जाय कि—समास की प्रक्रिया के अनुसार 'हरिण के नेत्र के समान नेत्र' इस तरह उपमेयवाचक 'हरिणनयना (मृगनयनी)' शब्द के अवयवार्थ में, प्रतीत होनेवाले 'नेत्र' को बिंबरूप मान लिया जायगा और 'मृगरूपी अंक' को उसका प्रतिबिंब, तो यह ठीक नहीं। कारण, वह 'नयन' शब्द बहुव्रीहि समास के वाच्य 'कांता' का विशेषण है और 'कांता' उपमेय है नहीं, उपमेय तो 'मुख' है। सो समास की प्रणाली से ज्ञात होनेवाला नयन, मुख का विशेषण न होने के कारण 'मृगरूपी अंक' का बिंब नहीं हो सकता।

इसका उत्तर यह है कि—यद्यपि 'नेत्र' का, मुख का विशेषण होना, शब्द से प्रतिपादित नहीं होता, तथापि वह 'कांता' का विशेषण होने के कारण ही 'मुख में रहनेवाला' भी मान लिया जा सकता है। कारण, बिना मुख के बीच में पड़े 'नेत्र' का कांता का विशेषण होना अनुभवविरुद्ध है। आप कहेंगे—यह सब होते हुए भी, 'नयन' शब्द के समीपवर्ती शब्द से तो 'मुख' पदार्थ का प्रतिपादन हुआ नहीं;

अत: 'नेत्र' (पूर्वोक्तरीत्या मानस-बोध में मुख का विशेषण हो जाने पर भी) शाब्दबोध में तो मुख का विशेषण हो नहीं सकता। तो इसका उत्तर यह है कि—यद्यपि यहाँ शब्दार्थ के रूप में 'नेत्र' 'मुख' का विशेषण नहीं होता—यह ठीक है, तथापि 'मुख' को (कांता और नेत्र के) संसर्ग (संबंध) के अंतर्गत मानने में तो कोई बाधा है नहीं; सो पूर्वोक्त नेत्र 'अपने से युक्त मुख' रूपी संबंध से 'कांता' का विशेषण हो जायगा। अर्थात् यद्यपि 'मुख' यहाँ किसी शब्द का अर्थ नहीं है, तथापि 'कांता' और 'नेत्र' के संबंध रूप में 'मुख' की 'नेत्रों से युक्त होने' के रूप में शाब्दी प्रतीति हो जाती है। सो संबंधरूप में प्रतीत होनेवाले 'मुख' का विशेषण बनकर 'नेत्र' बिंबरूप हो जाता है, क्योंकि किसी भी प्रकार से उपमेय में रहने का बोध ही बिंबरूप होने का निमित्त है—अर्थात् बिंब बनने के लिये किसी शब्द से प्रतिपादित होना आवश्यक नहीं है, किंतु जिसका किसी तरह उपमेय में रहना प्रतीत हो जाय वह बिंब माना जा सकता है।

आप कहेंगे कि—इस तरह संबंध रूप से नेत्र को उपमेय में रहनेवाला बना देने पर भी आप 'बिंब' को शब्द से आनन का प्रकार होना तो सिद्ध कर नहीं सके; क्योंकि संबंध की उपस्थिति शब्द जन्य नहीं मानी जाती अत: वह प्रकार नहीं हो सकता तो दूसरा उत्तर यह है कि—पूर्वोक्त 'नेत्र' का जब 'कांता' के विशेषणरूप से शाब्दबोध हो चुकेगा

तब 'मुख' का, व्यंजना द्वारा अथवा मन द्वारा, नेत्र के विशेष्य रूप से बोध मान लिया जायगा— अर्थात् अभिधा-वाले बोध में 'नेत्र' के मुख के विशेषणरूप से न आने पर भी व्यंजना-जन्य अथवा मानसबोध में वैसा हो तब तो किसी प्रकार की बाधा है नहीं।

इस तरह यह सिद्ध हुआ कि—पूर्वोक्त वाक्य (पद्य) से उत्पन्न ज्ञान में उपमेय के विशेषणरूप में प्रतीत होनेवाला पूर्वोक्त 'नेत्र' बिंबरूप हो जाता है, सो उसके प्रतिबिंब रूप से चंद्रमा में रहनेवाले 'मृगरूपी अंक' का लाना आवश्यक ही है। अतः यहाँ 'आधिक्य' रूपी दोष नहीं है। इसी तरह 'आनन (नपुंसक)' और 'एणांक (पुं०)'—इन उपमेय और उपमानवाचक शब्दों में लिंग का भिन्न होना भी दोष नहीं है; क्योंकि ऐसा लिंगभेद कविसंप्रदाय से सिद्ध है।

दोष भी दोष नहीं होते

सो इस तरह कवि-संप्रदाय से सिद्ध होने के कारण अथवा अन्य किसी प्रकार से पूर्वोक्त दोष यदि चमत्कार को कम न करते हों (तात्पर्य यह कि सहृदयों के हृदय में न खटकते हों) तो वे दोषरूप होते ही नहीं।

जैसे—

नवाङ्गनेवाङ्गणेऽपि गन्तुमेष प्रकम्पते।
इयं सौराष्ट्रजा नारी महाभट इवोद्भटा॥

यह मनुष्य, नई दुलहिन की तरह, आँगन में जाने को काँपता है और यह काठियावाड़ी स्त्री बड़े योद्धा की तरह उद्दण्ड है—किसी से नहीं डरती।

(यहाँ पुरुष की स्त्री से और स्त्री की पुरुष से उपमा उद्वेजक न होने के कारण दोषरूप नहीं है।)

इसी तरह अन्य स्थानों पर भी समझिए। शेष बातें 'स्मरणालंकार' और 'विकल्पालंकार' के प्रकरण में कहेंगे।

यह है उपमा के निरूपण का संक्षेप।

उपमेयोपमालंकार

उपक्रम

अब उपमा के ही एक भेद 'उपमेयोपमा' का निरूपण किया जाता है—

लक्षण

तीसरे सदृश पदार्थ की निवृत्ति का बोध—अर्थात् उन दोनों पदार्थों की परस्पर ही तुलना हो सकती है, अन्य किसी से नहीं, यह ज्ञान—जिसका फल है उस वर्णन में आनेवाला, परस्पर उपमान-उपमेय बने पदार्थों का, सुंदर सादृश्य 'उपमेयोपमा' कहलाता है।

लक्षण का विवेचन

"तडिदिव तन्वी भवती भवतीवेयं तडिल्लता गौरी ।

हे प्रियतमे ! तू बिजली की तरह दुबली-पतली है और यह बिजली की रेखा तेरे समान गोरी है ।"

इस परस्पर की उपमा में अतिव्याप्ति न होने के लिये, लक्षण में, 'तीसरे सदृश पदार्थ की निवृत्ति का बोध जिसका फल है उस वर्णन में आनेवाला' इतना भाग लिखा गया है ।

उपर्युक्त आधे पद्य में दो समान धर्म हैं—एक 'दुबली-पतली होना' और दूसरा 'गोरी होना' । इन दो समान धर्मों से पृथक् पृथक् दो उपमाएँ सिद्ध होती हैं । ऐसी भिन्न भिन्न समान धर्मवाली उपमाएँ तीसरे सदृश पदार्थ की निवृत्ति नहीं कर सकतीं । कारण यह है कि—एक धर्म द्वारा एक से दूसरे का सादृश्य निरूपित हो जाने पर उस धर्म द्वारा उसका दूसरे से सादृश्य भी अर्थतः सिद्ध हो जाता है । ऐसी दशा में उसी बात—अर्थात् दूसरे से उसके सादृश्य—का पुनःकथन, अपनी व्यर्थता मिटाने के लिये, तीसरे सदृश की निवृत्ति को आक्षिप्त कर देता है—अर्थात् उपमान से उपमेय की तुलना हो चुकने पर उपमेय से उपमान की पुनः तुलना करने से यह सिद्ध हो जाता है कि 'इन दोनों के समान तीसरा कोई नहीं है;' क्योंकि कोई भी समझदार मनुष्य, बिना किसी कारण के, अर्थतः सिद्ध बात को फिर से नहीं दुहरा सकता । इस तरह एक समानधर्म वाली परस्पर उपमा में तीसरे सदृश का

व्यवच्छेद हो जाता है। पर प्रस्तुत पद्य-खंड में यह बात नहीं हो सकती। कारण, 'दुबली-पतली होने' रूपी समान धर्म द्वारा बिजली से कामिनी का सादृश्य निरूपित हो जाने पर यद्यपि 'दुबली-पतली होने' रूपी समान धर्म द्वारा कामिनी से बिजली का सादृश्य अर्थतः सिद्ध हो जाता है, तथापि 'गोरी होने' रूपी समान धर्म द्वारा कामिनी से बिजली का सादृश्य सिद्ध नहीं हो पाता। ऐसी दशा में उपर्युक्त पद्यवाले सादृश्य के दुहराने का फल उन्हीं उपमान-उपमेयों का अन्य समान धर्म के द्वारा सादृश्य होता है, न कि तीसरे सदृश पदार्थ की निवृत्ति। सो यदि उतना भाग लक्षण में न लिखा जाता तो यह पद्यभाग भी उपमेयोपमा का उदाहरण हो जाता।

'परस्पर उपमान-उपमेय बने पदार्थों का' यह लक्षण का भाग निम्नलिखित उपमा में अतिव्याप्ति न होने के लिये लिखा गया है—

"सदृशी तव तन्वि ! निर्मिता विधिना नेति समस्त-संमतम्।
अथ चेन्निपुणं विभाव्यते मतिमारोहति कौमुदी मनाक्।

हे तन्वि ! तुम्हारे समान विधाता ने कोई दूसरी नहीं बनाई, यह तो सबकी मानी हुई बात है—इसके विरुद्ध तो किसी की संमति है नहीं। पर यदि बहुत सावधानी से सोचा जाय तो चाँदनी कुछ-कुछ बुद्धि में आरूढ़ होती है—

इतना-सा समझ पड़ता है कि 'चाँदनी कुछ तेरी तुलना के योग्य है' ।"

इस पद्य में जो चाँदनी के साथ सादृश्य है उसका फल तीसरे सदृश की निवृत्ति है—उससे यह सिद्ध होता है कि इन दोनों के समान तीसरा कोई नहीं है। यदि उपर्युक्त भाग लक्षण में न लिखा जाता तो यह पद्य उपमेयोपमा का उदाहरण हो जाता।

लिंग-भेद, वचनभेद आदि दोषों से युक्त सादृश्य में अतिव्याप्ति न हो जाय—इसलिये लक्षण में सादृश्य को 'सुंदर' विशेषण दिया गया है।

उदाहरण

अच्छा, अब इसका उदाहरण सुनिए—

कौमुदीव भवती विभाति मे कातराक्षि ! भवतीव कौमुदी।
अम्बुजेन तुलितं विलोचनं लोचनेन च तवाऽम्बुजं समम्*।

नायक कहता है—हे कातराक्षि ! तू मुझे चाँदनी-सी प्रतीत होती है, और चाँदनी तुझ-जैसी। तेरा नेत्र कमल के तुल्य है और कमल तेरे नेत्र के समान।

---

* नागेश कहते हैं—'तुलितम्' और 'समम्' इन उपमावाचक की विलक्षणता, आगे कही जानेवाली 'क्विप्' 'क्यङ्' आदि की विलक्षणता के समान, दूषित है।" बात भी ठीक है। अत. हमारी समझ से 'लोचनेन तुलितं च तेम्बुजम्' पाठ होता तो अच्छा था।

—अनुवादक।

उपमेयोपमा के भेद

उपमेयोपमा प्रथमतः दो प्रकार की है—एक **उक्तधर्मा** (जिसमें समान धर्म स्पष्ट शब्दों में लिखा हो) और दूसरी **व्यक्तधर्मा** (जिसमें समान धर्म व्यंजना से ज्ञात हो, लुप्त हो)। उनमें से उक्तधर्मा धर्मों के, पूर्वोक्त अनुगामी आदि, भेदों से अनेक प्रकार की होती है।

अनुगामी धर्मवाली उपमेयोपमा; जैसे—

निखिले निगम-कदम्बे लोकेष्वप्येष निर्विवादोऽर्थः।
शिव इव गुरुर्गरीयान् गुरुरिव सोऽयं सदाशिवोऽपि तथा॥

समग्र वेद-समूह में और लोक में भी यह बात बिना विवाद के सिद्ध है कि—शिव की तरह गुरु बहुत बड़े हैं और गुरु की तरह यह सदाशिव भी हैं।

(यहाँ 'बहुत बड़ा होना'-रूपी धर्म अनुगामी रूप से आया है।)

बिंबप्रतिबिंबभावापन्न धर्मवाली उपमेयोपमा; जैसे—

रमणीयस्तबकयुता विलसितवक्षोजशालिन्यः।
लतिका इव ता वनिता वनिता इव रेजिरे लतिकाः॥

बगीचे में विहार करती स्त्रियों का वर्णन है। कवि कहता है—वे स्त्रियाँ, रमणीय पुष्प-गुच्छों से युक्त लताओं

की तरह, और लताएँ, सुंदर स्तनों से शोभित स्त्रियों की तरह, शोभित हुईं।

यहाँ परस्पर वस्तु-प्रतिवस्तु-भावापन्न 'रमणीयता' और 'सुंदरता' रूपी विशेषणों तथा 'युक्तता' और 'शोभितता (क्योंकि उसका भी वस्तुतः 'युक्तता' ही अर्थ है)' रूपी विशेष्यों से संपुटित 'पुष्पों के गुच्छे' और 'स्तन' रूपी धर्म परस्पर बिंब-प्रतिबिंब-भावापन्न हुए हैं।

उपचरित धर्मवाली उपमेयोपमा; जैसे—

कुलिशमिव कठिनमसतां हृदयं जानीहि हृदयमिव कुलिशम्।
प्रकृतिः सतां सुमधुरा सुधेव हि प्रकृतिरिव च सुधा ॥

तुम दुष्टों के हृदय को वज्र की तरह कठिन समझो और वज्र को (दुष्टों के) हृदय की तरह। सत्पुरुषों का स्वभाव अमृत की तरह अत्यंत मधुर होता है और अमृत (सत्पुरुषों के) स्वभाव की तरह होता है।

(यहाँ वज्र का धर्म 'कठिनता' हृदय में और अमृत का धर्म 'अत्यंत मधुरता' स्वभाव में उपचरित (आरोपित) हैं।)

केवल शब्द रूप धर्मवाली उपमेयोपमा; जैसे—

अविरतचिन्तो लोके वृक इव पिशुनोऽत्र पिशुन इव च वृकः।
भारतमिव सच्चित्तं सच्चित्तमिवाऽथ भारतं सकृपम् ॥

इस संसार में चुगलखोर भेड़िया की तरह 'अविरतचिंत' (निरंतर चिंतावाला) रहता है—उसे कभी कल नहीं पड़ती

और चुगलखोर की तरह भेड़िया 'अविरतचिंत' (भेड़ों में ध्यान लगाए) रहता है। एवं सत्पुरुषों का चित्त महाभारत की तरह 'सकृप' (कृपायुक्त) है और सत्पुरुषों के चित्त की तरह महाभारत 'सकृप' ('कृप' नामक आचार्य से युक्त) है।

(यहाँ 'निरंतर चिंतित रहना' धर्म भेड़िया में नहीं बन पाता और 'भेड़ों में ध्यान लगाए रहना' धर्म चुगलखोर में नहीं बन पाता। इसी तरह 'कृपायुक्त होना' धर्म महाभारत में नहीं बन पाता और 'कृपाचार्य से युक्त होना' सत्पुरुषों के चित्त में नहीं बन पाता। अतः यहाँ 'अविरतचिंत' और 'सकृप' शब्दों को ही (जिनमें दोनों-दोनों अर्थों के प्रतिपादन की शक्ति है) धर्मरूप मानना पड़ता है। यह तो हुई उक्त-धर्मा उपमेयोपमा की बात।

व्यक्तधर्मा उपमेयोपमा; जैसे—

वारिधिराकाशसमो वारिधिसदृशस्तथाऽऽकाशः।
सेतुरिव स्वर्गङ्गा स्वर्गङ्गेवाऽन्तरा सेतुः॥

कवि कहता है—समुद्र आकाश के समान है और आकाश समुद्र के समान। आकाश के मध्य में सेतु की तरह स्वर्गंगा (छायापथ Milky way) है और समुद्र के मध्य में स्वर्गंगा की तरह सेतु है।

(यहाँ समुद्र और आकाश में 'अपारता' रूपी समान-धर्म तथा सेतु और स्वर्गंगा में 'दुर्घटत्व' रूपी धर्म व्यंजना से प्रतिपादित होता है।)

यह तो हुआ उन स्थलों की उपमेयोपमा का विस्तार जहाँ वाक्यभेद स्पष्ट है—अर्थात् दोनों सादृश्य दो वाक्यों में पृथक् पृथक् लिखे गए हैं।

अब **अर्थत: वाक्यभेद का उदाहरण** सुनिए—

अभिरामतासदनमम्बुजानने नयनद्वयं जनमनोहरं तव ।
इयति प्रपञ्चविषयेऽपि वैधसे तुलनामुदञ्चति परस्परात्मना ॥

हे कमलमुखी! सुंदरता के निवासस्थान और मनुष्यों का मन हर लेनेवाले तुम्हारे इस नयन-युगल की विधाता की इतनी बड़ी सृष्टि में, केवल परस्पर तुलना हो सकती है—अन्य कोई वस्तु ऐसी नहीं कि जिससे इसकी तुलना की जा सके।

यहाँ 'परस्पर तुलना हो सकती है' इस संक्षिप्त वाक्य से 'दाहिनी आँख की बाँई आँख से तुलना हो सकती है और बाँई आँख की दाहिनी आँख से' ये दो वाक्य निकलते हैं।

उपमा के समान उपमेयोपमा के भी पूर्णा, लुप्ता आदिक प्राय: सभी भेद हो सकते हैं। सुबुद्धि पुरुष इसी रीति से उनकी तर्कना कर सकते हैं, अत: यहाँ उनका निरूपण नहीं किया जा रहा है।

चित्र-मीमांसा के लक्षण का खंडन

'चित्रमीमांसाकार' ने

"उपमानोपमेयत्वं द्वयो: पर्यायतो यदि ।
उपमेयोपमा सा स्याद्व्यङ्ग्यत्वविशेषिता ॥

यदि दोनों (पदार्थ) क्रमशः उपमान और उपमेय हों तो वह उपमेयोपमा होती है। उसके दे। भेद हैं।"

इस प्राचीनों के लक्षण को अव्याप्ति और अतिव्याप्ति आदि से दूषित बताकर स्वयं यह लक्षण लिखा है—

अन्योन्येनोपमा बोध्या व्यक्त्या वृत्त्यन्तरेण वा।
एकधर्माश्रया या स्यात् सोपमेयोपमा मता ॥

इसका अर्थ, सहृदयों को कठिनता न पड़े इस हेतु से, चित्रमीमांसाकार की बताई रीति से, एक एक पद का कार्य दिखाते हुए, हम, संक्षेप से लिख देते हैं—

(अन्योन्येन=) परस्पर की प्रतियोगिता सहित (या उपमा=) जो उपमा (व्यक्त्या=) व्यंजनावृत्ति द्वारा (वा=) अथवा (वृत्त्यंतरेण=) अभिधावृत्ति द्वारा (बोध्या=) ज्ञात होती हो एवं जो (एक धर्माश्रया=) एक धर्म द्वारा सिद्ध होती हो उस उपमा (सादृश्य) को 'उपमेयोपमा' माना जाता है—यह तो है इस पद्य का अन्वय के अनुसार अर्थ। अब पदकृत्य सुनिए—

इस लक्षण में 'अन्योन्येन' (जिसका अर्थ 'परस्पर की प्रतियोगिता सहित' है) विशेषण "यह और वह समान है" इस उपमा में अतिव्याप्ति न होने के लिये दिया है। इस उपमा में यद्यपि एक दूसरे के सादृश्य का प्रतियोगी* है—

---

* 'प्रतियोगी' और अनुयोगी का अर्थ जानने के लिये इतना

अर्थात् इस वाक्य से 'इसका सादृश्य उसमें' और 'उसका सादृश्य इसमें' इस तरह दोनों का दोनों में सादृश्य सिद्ध हो जाता है—किसी एक का किसी एक में ही नहीं; तथापि यहाँ प्रतियोगिता व्यंजना वृत्ति द्वारा ज्ञात होती है और उपमा ('समान' शब्द की) अभिधावृत्ति द्वारा सो प्रतियोगिता सहित उपमा का, अन्यवृत्ति की अपेक्षा से रहित एक वृत्ति द्वारा, बोध नहीं हो पाता; क्योंकि 'प्रतियोगिता' के ज्ञान के लिये अभिधा को व्यंजना की अपेक्षा रहती है और उपमा के ज्ञान के लिये व्यंजना को अभिधा की। और लक्षणानुसार होना चाहिए 'अन्य वृत्ति की अपेक्षा रहित एक वृत्ति द्वारा प्रतियोगिता-सहित सादृश्य का बोध'।

समझ लेना पर्याप्त होगा कि—'सादृश्य' का सदा दो वस्तुओं से संपर्क रहता है। उन दोनों में से एक वस्तु सादृश्य का निरूपण करनेवाली होती है और दूसरी आधार। जैसे 'चाँद-सा मुख' यहाँ 'चाँद' सादृश्य का निरूपण करनेवाला है और 'मुख' आधार; क्योंकि चाँद का सादृश्य मुख में बताया जा रहा है। निरूपण करनेवाला प्रतियोगी होता है और आधार अनुयोगी। अतः यहाँ चाँद सादृश्य का प्रतियोगी हुआ और मुख अनुयोगी। सारांश यह कि—जब किसी सादृश्य के प्रतियोगी-अनुयोगी जानने हों तब यह सोचो कि—किसका किसमें सादृश्य बताया जा रहा है; जिसका सादृश्य हो वह प्रतियोगी होगा और जिसमें सादृश्य हो वह अनुयोगी।

—अनुवादक।

आप कहेंगे—पद्य के अर्थ में तो 'अन्यवृत्ति की अपेक्षा से रहित' यह वृत्ति का विशेषण है नहीं, फिर आपने यह बात कैसे सिद्ध कर डाली। तो इसका उत्तर यह है कि—लक्षण के '(वा=) अथवा' शब्द से यह बात कह दी गई है। अर्थात् 'अथवा' कहने का यहाँ यही अभिप्राय है कि या तो 'पूर्वोक्त प्रतियोगिता सहित उपमा' का केवल व्यंजना वृत्ति से ही प्रतिपादन होना चाहिए या अभिधावृत्ति से ही, एक-एक का अलग अलग वृत्तियों से नहीं।

"एकधर्माश्रया (जिसका अर्थ 'एक धर्म द्वारा सिद्ध होती हो उस' है)" इस विशेषण का फल यह है कि "रज से आकाश पृथ्वी की तरह हो गया और मेघों के समान गजों से पृथ्वी आकाश की तरह हो गई" इस किसी पद्य के अर्थ में जो परस्पर की उपमा वर्णन की गई है उसमें इस लक्षण की अतिव्याप्ति नहीं होती। कारण, यहाँ दोनों उपमाओं का सिद्ध करनेवाला धर्म एक नहीं है। 'भूतल' को उपमान मानकर जो उपमा दी गई है उसमें 'रज' रूपी अनुगामी धर्म है और 'आकाशतल' को उपमान मानकर जो उपमा दी गई है उसमें 'मेघों के समान गज' रूपी बिंब-प्रति-बिंब-भावापन्न धर्म है। सो वे दोनों धर्म भिन्न भिन्न हैं।

"व्यक्त्या (व्यंजनावृत्ति के द्वारा)" यह विशेषण इस लिये दिया गया है कि—इस लक्षण के द्वारा व्यंग्य उपमेयोपमा का भी संग्रह हो जाय। यह है 'उपमेयोपमात्व' को

सिद्ध करनेवाला लक्षण—अर्थात् जहाँ यह लक्षण घटित हो वह उपमा उपमेयोपमा होती है।

'चित्र-मीमांसा-कार' के कथन का यही सारांश है।

पर इतना सब होने पर भी यह लक्षण ठीक नहीं हो पाया। कारण यह है कि—इस लक्षण के अनुसार तो

"अहं लतायाः सदृशीत्यखर्वं गौराङ्गि गर्वं न कदापि यायाः।
गवेषणेनाऽलमिहाऽपरेषामेषाऽपि तुल्या तव तावदस्ति।

हे गौरांगि! 'मैं लता के सदृश हूँ (उसकी मुझसे तुलना की जा सकती है, मेरी किसी से नहीं)' इस तरह का महान् गर्व तू कभी न करना। इस विषय में दूसरों को ढूँढ़ने की आवश्यकता नहीं, प्रथमतः तो यह (लता) भी तेरे सदृश है। तात्पर्य यह कि— यह तो बिना ढूँढ़े ही तेरे समान निकल आई, यदि ढूँढ़ा जाय तो न-जाने कितनी ऐसी निकल आवें।"

इस पद्य में भी उपमेयोपमा होने लगेगी। क्योंकि यहाँ भी परस्पर की प्रतियोगिता सहित उपमा 'दुर्बलता' आदि एक धर्म से सिद्ध और अभिधारूपी एक वृत्ति से बोधित होती है।

यदि आप कहें कि—यहाँ उपमा में परस्पर की प्रतियोगिता नहीं प्रतीत होती; क्योंकि पद्य के 'लता के समान' और 'तेरे समान' इन शब्दों से तो 'गौरांगी' आदि में लता

आदि से संबंध रखनेवाले सादृश्य का आश्रय होना ही प्रतीत होता है, प्रतियोगी होना नहीं। तो इसका उत्तर यह है कि—ऐसा कहोगे तो लक्षण की "**मुखस्य सदृशश्चन्द्रश्चन्द्रस्य सदृशं मुखम्**—अर्थात् मुख के समान चंद्रमा है और चंद्रमा के समान मुख" इस उपमेयोपमा में अव्याप्ति होगी—यहाँ उपमेयोपमा न हो सकेगी; क्योंकि यहाँ भी वही बात है। अतः विवश होकर स्वीकार करना पड़ेगा कि—ऐसे स्थलों पर शब्दतः प्रतियोगिता के प्रतीत न होने पर भी अर्थतः उसकी प्रतीति हो जाती है। ऐसी दशा में आपके लक्षण के अनुसार उपर्युक्त पद्य में उपमेयोपमा का होना अनिवार्य हो जाता है।

अब यदि आप कहें कि—"अहं लतायाः ......" इस उपर्युक्त पद्य में हम उपमेयोपमा मान लेते हैं, बस, झगड़ा मिटा। सो यह हो नहीं सकता। क्योंकि उत्तरार्ध की उपमा का तात्पर्य तो केवल गर्व हटा देने में है—उससे तीसरे सदृश की निवृत्ति का प्रतिपादन नहीं होता। अतएव 'और भी तेरे समान हैं ही, पर उनके ढूँढ़ने से क्या फल ?' इस अर्थ का प्रतिपादक इस पद्य का उत्तरार्ध संगत होता है, अन्यथा वह असंगत हो जाय। और जब तक तीसरे सदृश पदार्थ की निवृत्ति नहीं हो तब तक उपमेयोपमा हो नहीं सकती। आप कहेंगे—'तीसरे सदृश की निवृत्ति हो वही उपमेयोपमा होती है' इस बात में ही क्या प्रमाण

है ? तो इसका उत्तर यह है कि—"तीसरे सदृश पदार्थ की निवृत्ति ही उपमेयोपमा का जीवन है—जहाँ वह न हो वहाँ उपमेयोपमा होती ही नहीं" यह आलंकारिकों का सिद्धांत है—सभी आलंकारिकों ने इस बात को स्वीकार किया है। दूसरों की बात जाने दीजिए, यदि ऐसा न मानें तो आपने स्वयं ही जो "भुवस्तलमिव व्योम कुर्वन् व्योमेव भूतलम्" इस रघुवंश के पद्य में उपमेयोपमा के निवारण का परिश्रम किया है वह व्यर्थ हो जायगा।

अब यदि आप कहें कि—''अहं लतायाः ......" इस पद्य में अतिव्याप्ति न होने के लिये 'तीसरे सदृश की निवृत्ति जिसका फल हो' यह विशेषण और लगा देंगे, तो यह भी ठीक नहीं। कारण, ऐसा करने से आपके अन्य सब विशेषण व्यर्थ हो जायँगे; क्योंकि जिन-जिन बातों को आप उन विशेषणों से हटाना चाहते हैं वे सब इसी एक विशेषण से हट जायँगी। यह तो हुई एक बात।

दूसरी बात यह है कि—आपके लक्षण में "परस्पर की प्रतियोगिता सहित उपमा एक वृत्ति मात्र से बोधित होनी चाहिए" यह कथन भी अयोग्य ही है; क्योंकि "**खमिव जलं जलमिव खम्**=जल आकाश के समान हो रहा है और आकाश जल के समान" इस उपमेयोपमा में आकाश और जल का जो सादृश्य के साथ अन्वय होता है उसमें प्रतीत होनेवाली प्रतियोगिता संसर्ग रूप है, अतः वह किसी

वृत्ति से प्रतिपादित नहीं होती। क्योंकि 'वृत्ति द्वारा ज्ञात होनेवाले पदार्थों का संसर्ग वृत्ति द्वारा ज्ञात नहीं होता' यह नियम है—अर्थात् पदार्थों का बोध ही वृत्ति से होता है न कि पदार्थों के संबंधों का। अन्यथा संबंध भी विशेषण-रूप हो जायँगे, जो कि सिद्धांत से सर्वथा विरुद्ध है। अतः यदि आप 'प्रतियोगिता सहित उपमा का एक वृत्ति मात्र से बोधित होना' मानेंगे तो आपके हिसाब से "खमिव जलम्......" आदि में भी उपमेयोपमा न हो सकेगी*।

अलंकारसर्वस्वकार का खंडन

यह तो हुई 'चित्रमीमांसाकार' की बात। अब 'अलंकारसर्वस्वकार' को लीजिए। उन्होंने उपमेयोपमा का

"द्वयोः पर्यायेण तस्मिन्नुपमेयोपमा—अर्थात् दोनों की क्रमशः उपमानता और उपमेयता होने पर उपमेयोपमा होती है।"

यह लक्षण बनाया है। और लिखा है कि—"इस लक्षण में 'तस्मिन्' का अर्थ है 'उपमानता और उपमेयता होने पर' और 'पर्याय' शब्द का अर्थ है 'एक साथ न होना—अर्थात् भिन्न भिन्न वाक्यों से उपमानता और उप-

---

* नागेश कहते हैं कि—'एक वृत्ति से बोधित होने' का अर्थ है, 'अन्य किसी वृत्ति से बोधित न होना', अतः यहाँ कोई दोष नहीं; क्योंकि संसर्गों का बोध अन्य किसी वृत्ति से नहीं होता।

मेयता का प्रतिपादित होना'; अतएव उपमेयोपमा में वाक्य-भेद हुआ करता है।" सारांश यह है कि 'अलंकारसर्वस्व-कार' के हिसाब से 'यदि प्रथम वाक्य का उपमान दूसरे वाक्य में उपमेय और प्रथम वाक्य का उपमेय दूसरे वाक्य में उपमान हो तो उपमेयोपमा होती है। सो यह लक्षण भी ठीक नहीं। इस लक्षण में 'द्वयोः' पद व्यर्थ है। वह पद "**गगनं गगनाकारम्**—आकाश आकाश के-से आकार-वाला है" इत्यादि अनन्वयालंकार में अतिव्याप्ति न होने के लिये लिखा गया है, क्योंकि वहाँ एक ही पदार्थ उप-मेय और उपमान दोनों होता है। पर अनन्वयालंकार में इस लक्षण की अतिव्याप्ति की शंका व्यर्थ है; क्योंकि वहाँ वाक्य-भेद नहीं होता, अतः पर्याय का अभाव होता है। अर्थात् जिस बात को वे 'द्वयोः' पद से हटाना चाहते हैं वह 'पर्यायेण' पद से ही हट जाती है, अतः 'द्वयोः' पद व्यर्थ है।

यदि स्पष्टता के लिये, अथवा दोनों के उपमान उपमेय होने की योग्यता सिद्ध करनेवाले 'लिंगभेद, वचनभेद आदि दोषों से रहित होने' के बोध के लिये, अथवा कवि-संप्रदाय की प्रसिद्धि की स्फूर्त्ति के लिये 'द्वयोः' पद का ग्रहण माना जाय तथापि एक तो पूर्वोक्त "अहं लतायाः......" पद्य से प्रतिपादित उपमा में इस लक्षण की अतिव्याप्ति होगी, और दूसरे

तद्वल्गुना युगपदुन्मिषितेन ताव-
त्सद्यः परस्परतुलामधिरोहतां द्वे ।
प्रस्पन्दमानपरुषेतरतारमन्त-
श्चक्षुस्तव प्रचलितभ्रमरं च पद्मम् ॥

महाराज रघु के राजकुमार अज को स्वयंवर में जाना है। उसे जगाने के लिये बन्दीजनों के लड़के प्रातःकाल का वर्णन कर रहे हैं। कहते हैं—(हे राजकुमार, सूर्योदय हो चुका है) इस कारण (हम चाहते हैं कि) इस समय साथ ही साथ सौंदर्यपूर्ण विकास के कारण ये दो वस्तुएँ परस्पर की तुलना को प्राप्त करें—एक दूसरी के समान बनें। कौन? एक तो जिसके अंदर कोमल पुतली चंचल हो उठी है वह तेरा नेत्र और दूसरा जिसके अंदर भौंरा विचलित हो उठा है वह कमल।"

इस कालिदास के पद्य में प्रतिपादित उपमेयोपमा में, जिसमें एक साथ उपमान की उपमेयता और उपमेय की उपमानता आ जाती है, अव्याप्ति होगी। क्योंकि इस उपमेयोपमा में वाक्यभेद नहीं है—अर्थात् उपमान की उपमेयता और उपमेय की उपमानता भिन्न भिन्न दो वाक्यों से नहीं वर्णित की गई है। और आपके लक्षण के अनुसार वैसा अवश्य होना चाहिए।

यदि आप इस बात को यह कहकर टाल देना चाहें कि—उपर्युक्त कालिदासवाली उपमेयोपमा में ऊपरी तौर से

शब्द ('परस्पर') के एक होने पर अंत में वाक्यभेद हो जाता है—अर्थात् 'परस्पर की तुलना को प्राप्त करें' इस एक वाक्य के अंततः विचार करने पर 'तेरी आँख पद्म की समानता को प्राप्त करे और पद्म तेरी आँख की समानता को' इस तरह दो भिन्न भिन्न वाक्य बन जाते हैं, अतः कोई दोष नहीं। तथापि

"सविता विधवति, विधुरपि
सवितरति, दिनन्ति यामिन्यः।
यामिनयन्ति दिनानि च
सुखदुःखवशीकृते मनसि ॥

अर्थात् जब मन सुख के वश में होता है तब सूर्य चंद्रमा की तरह (शीतल) हो जाता है और दिन रात्रि की तरह (शांतिप्रद) हो जाते हैं; और जब मन दुःख के वश होता है तब चंद्रमा सूर्य की तरह (प्रचंड) हो जाता है और रात्रियाँ दिन की तरह (अशांत और व्यग्रतामय) हो जाती हैं।"

इस किसी कवि के पद्य में जो परस्पर की—सूर्य आदि की चंद्रमा आदि के साथ और चंद्रमा आदि की सूर्य आदि के साथ—उपमा है, उसमें अतिव्याप्ति हो जायगी। और आप यहाँ उपमेयोपमा तो कह नहीं सकते; क्योंकि यहाँ 'सुख के समय दुःखदायी भी सुखदायी और 'दुःख के समय सुखदायी भी दुःखदायी हो जाता है' केवल इतना-सा अर्थ कहना

अभीष्ट है और इस कथन से 'तीसरे सदृश पदार्थ का निवारण', जो कि उपमेयोपमा का जीवन है, प्रतीत होता नहीं।

इसी तरह

"रजोभिः स्यन्दनोद्धूतैर्गजैश्च घनसंनिभैः।
भुवस्तलमिव व्योम कुर्वन् व्योमेव भूतलम्॥

अर्थात् रथों की उड़ी हुई रजों से आकाश को भूतल के समान और मेघों के समान हाथियों से भूतल को आकाश के समान बनाता हुआ (राजा रघु दिग्विजय के लिये गया)।"

इस परस्पर की उपमा में भी अतिव्याप्ति हो जायगी।

अब यदि आप लक्षण में "इन दोनों से भिन्न तृतीय सदृश का निवारण हो" यह विशेषण अधिक लगावें तो अंततः वही बात आ गई जो हम कह रहे हैं। अतः आपका लक्षण अपूर्ण ही है।

यह तो हुई मूल 'अलंकारसर्वस्व' की बात। अब उसकी टीका 'विमर्शिनी' के कर्त्ता ने जो इस पर विवेचन किया है उसका भी एक अंश सुनिए। वे कहते हैं—"वह वाक्यभेद दो तरह का होता है—एक शाब्द (शब्दों से प्रतिपादित) दूसरा आर्थ (अर्थ से सिद्ध)। उनमें से शाब्द वाक्यभेद; जैसे—'रजोभिः स्यन्दनोद्धूतैः ...' इत्यादि।...। इस (उपमेयोपमा) का परस्पर के अतिरिक्त अन्य उपमान का निवारण ही फल है। इसी कारण '**उपमेयेनोपमा**

(उपमेय के साथ—अर्थात् उपमेय को उपमान मानकर जो उपमा हो उसे **उपमेयोपमा** (कहा जाता है)। इस तरह इस नाम की सार्थकता होती है।" सो यह कथन निस्सार है। क्योंकि (उनके दिए उदाहरण) "रजोभिः स्यंदनोद्धूतैः......" इस पद्य में अन्य उपमान का निवारण नहीं प्रतीत होता। कारण यहाँ दोनों उपमाओं में एक धर्म नहीं है; पहली उपमा धूलिरूप अनुगामी धर्म से सिद्ध होती है और दूसरी बिंब-प्रतिबिंब-भावापन्न घन और गजरूप धर्म से। और अन्य उपमान का निवारण तभी हो सकता है जब दोनों उपमाओं में एक धर्म हो। सो वे महाशय यही न समझ पाए कि हमारा कथन हमारे ही उदाहरण में घटित होता है अथवा नहीं।

अलंकार-रत्नाकर का खंडन

'अलंकाररत्नाकर' वाले ने "**परस्परमुपमानोपमेयत्वमुपमेयोपमा**—परस्पर उपमान-उपमेय होने को उपमेयोपमा कहते हैं" यह लक्षण बनाकर "सविता विधवति..." इत्यादि पूर्वोक्त पद्य उदाहरण दिया है। पर यह उदाहरण "वह (अर्थात् परस्पर उपमान उपमेय होना) अन्य उपमान के निषेध के लिये है" इस अपने ही कथन के विरुद्ध है। क्योंकि इस पद्य में अन्य उपमान का निषेध नहीं प्रतीत होता—यह बात हम पहले ही समझा चुके हैं।

इतने पर भी यदि आप कहें कि—प्रतीत ही होता है; तो हम आपसे कहेंगे कि—आप कृपा करके अपने हृदय से दुबारा फिर पूछ लीजिए। वही उत्तर दे देगा।

अच्छा तो छोड़िए इस विवाद को।

'उपमेयोपमा' अलंकार कब कहलाती है ?

यह उपमेयोपमा जब किसी अर्थ को उत्कृष्ट बनाती है—उसे उपस्कृत करती है तब अलंकार कहलाती है, अन्यथा इसकी समाप्ति अपनी विचित्रता में ही हो जाती है। अर्थात् ऐसी दशा में केवल उपमेयोपमा कहा जा सकता है, उपमेयोपमा अलंकार नहीं। यही बात अन्य अलंकारों में भी समझिए—अर्थात् वे भी जब किसी अन्य अर्थ को उपस्कृत करें तभी उन्हें अलंकार कहा जा सकता है, अन्यथा नहीं।

व्यंग्य उपमेयोपमा

अच्छा, अब व्यंग्य उपमेयोपमा का उदाहरण दिया जाता है—

गाम्भीर्येणाऽतिमात्रेण महिम्ना परमेण च।
राघवस्य द्वितीयोऽब्धिरम्बुधेश्चाऽपि राघवः॥

अर्थात् अत्यंत गंभीरता के कारण तथा परम महत्त्व के कारण रामचंद्र के लिये दूसरा (है तो) समुद्र है और समुद्र के लिये दूसरा (है तो) रामचंद्र।

यहाँ 'दूसरे' शब्द की 'सादृश्य से युक्त' अर्थ में शक्ति नहीं है, अतः सादृश्य व्यंग्य ही है। यदि आप इस स्थान पर लक्षणा मानें तो यह उदाहरण लीजिए—

सुधासमुद्रं तव रम्यवाणी वाचं क्षमाचन्द्र! सुधासमुद्रः।
माधुर्यमध्यापयितुं दधाते खर्वेतरामान्तरगर्वमुद्राम् ॥

राजा से कवि कहता है—हे भूमण्डल के चंद्र! तुम्हारी रमणीय वाणी अमृत के समुद्र को और अमृत का समुद्र तुम्हारी वाणी को, मधुरता का पाठ पढ़ाने के लिये, भीतरी गर्व की महती मुद्रा को धारण करते हैं—खासा रंग-ढंग दिखाते हैं।

यहाँ वाणी आदि के द्वारा जो 'एक दूसरे को पाठ पढ़ाना' लिखा है वह बाधित है, अतः लक्षणा द्वारा उसका अर्थ यह ज्ञात होता है कि—वे एक तरह से परस्पर मधुरता पहुँचा रहे हैं। इस लक्षणा का प्रयोजन होगा उस 'मधुरता के पहुँचाने' द्वारा सिद्ध होनेवाला 'परस्पर का उपमान-उपमेय होना'। उसी का नाम है 'उपमेयोपमा', सो वह यहाँ व्यंग्य है ही।

उपमेयोपमा के दोष

अब दोष सुनिए। उपमा के जितने दोष पहले बताए जा चुके हैं, और जो विस्तार के भय से नहीं बताए जा सके, वे सब उपमेयोपमा में भी दोष समझने चाहिए; क्योंकि यह

भी एक तरह की उपमा ही है, उससे भिन्न नहीं है। इसके अतिरिक्त '(उपमेयोपमा में जो दो उपमाएँ होती हैं उनका) एक-दूसरी से विलक्षण होना—उनमें किसी प्रकार का भेद होना' भी एक दोष है। जैसे—

"कमलमिव वदनमस्या वदनेन समं तथा कमलम्।

अर्थात् इस (स्त्री) का मुख कमल-सा है और कमल इसके मुख के तुल्य है।"

यहाँ 'इव (सा)' शब्द से प्रतिपादित होने के कारण प्रथम उपमा श्रौती है और 'सम (तुल्य)' शब्द से प्रतिपादित होने के कारण दूसरी आर्थी। यह इन दोनों में विलक्षणता है।

"कमलति वदनं तस्या वदनं कमलायते जगति।"

(अर्थ वही)

यहाँ एक उपमा 'क्विप्' प्रत्यय से प्रतिपादित है और दूसरी 'क्यङ्' प्रत्यय से। यह विलक्षणता है। इसी तरह यदि इस पद्य में एक तरफ 'पद्मं वदनायते' अथवा 'कमलं वक्त्रायते' बना दिया जाय, तो उपमान-वाचक और उपमेय-वाचक शब्दों की विलक्षणता हो जायगी।

इस तरह विविध प्रकार से होनेवाली विलक्षणता, यदि सहृदयों के हृदय को उद्वेग पहुँचानेवाली हो तो, उसे दोष समझना चाहिए।

—* इति उपमेयोपमा समाप्त *—

अनन्वयालंकार

लक्षण

दूसरे सदृश का निवारण जिसका फल हो उस वर्णन में आनेवाला और एक ही उपमान उपमेय वाला सादृश्य 'अनन्वय' कहलाता है। वह यदि किसी अन्य अर्थ का उपस्कारक हो तो अलंकार होता है, अन्यथा शुद्ध अनन्वय।

लक्षण का विवेचन

"लोहितपीतैः कुसुमैरावृतमाभाति भूभृतः शिखरम्।
दावज्वलनज्वालैः कदाचिदाकीर्णमिव समये॥

लाल-पीले फूलों से ढँकी पहाड़ की चोटी ऐसी प्रतीत होती है, जैसी कि (वही) किसी समय दावानल की ज्वालाओं से व्याप्त हुई प्रतीत होती थी।"

इस पद्य में 'लाल-पीले फूलों से ढँकी पहाड़ की चोटी' की तुलना 'किसी समय दावानल की ज्वालाओं से व्याप्त' अपने-आप के साथ की गई है। ऐसे सादृश्य में इस लक्षण की अतिव्याप्ति न होने के लिये सादृश्य को 'दूसरे सदृश का निवारण जिसका फल हो उस वर्णन में आनेवाला' यह विशेषण दिया गया है।

अथवा इस विशेषण का उदाहरण इस पद्य को समझिए—

"नखकिरणपरम्पराभिरामं किमपि पदाम्बुरुहद्वयं मुरारेः।
अभिनवसुरदीर्घिकाप्रवाहप्रकरपरीतमिव स्फुटं चकासे ॥

भगवान् का अनिर्वचनीय चरण-कमल-युगल, नख-किरणों की पंक्ति से मनोहर होकर, स्पष्टतया ऐसा प्रतीत होता था कि जैसे गंगा के नवीन प्रवाह-समूह से व्याप्त हो।"

यहाँ भी 'नख-किरणों की पंक्ति से मनोहर भगवान् के चरण-कमलों' की तुलना 'गंगा के नवीन प्रवाह-समूह से व्याप्त' अपने ही आपके साथ की जा रही है। इस समय भगवान् के चरण-कमल का गंगा के प्रवाह के साथ संबंध नहीं है, सो गंगा की उत्पत्ति के समय वाले चरण-कमल को उपमान बताने के लिये गंगा के प्रवाह के समूह को 'नवीन' विशेषण लगाया गया है। यहाँ सादृश्य के वर्णन का फल 'दूसरे सदृश का निवारण' नहीं है, क्योंकि इस वर्णन से वह बात सिद्ध नहीं होती। अतः सादृश्य का यह विशेषण चरितार्थ है।

स्तनाभोगे पतन् भाति कपोलात् कुटिलोऽलकः।
शशाङ्कबिम्बतो मेरौ लम्बमान इवोरगः ॥

(अर्थ देखो पृ० १८६)

इस कल्पित उपमानवाली उपमा में अतिव्याप्ति न होने के लिये लक्षण में सादृश्य को 'एक ही उपमान उपमेयवाला'

यह विशेषण दिया गया है। इस पद्य में मिथ्या उपमान की कल्पना से यह सिद्ध होता है कि इस उपमेय का सच्चा उपमान नहीं है। सो ऐसी उपमा से भी 'दूसरे सदृश के निवारण' की प्रतीति हो जाती है। यदि यह विशेषण न दिया होता तो लक्षण की ऐसी उपमा में अतिव्याप्ति हो जाती।

उदाहरण

'अनन्वय' का उदाहरण 'पीयूषलहरी (गंगालहरी)' नामक मेरे बनाए गंगा के स्तोत्र में है—

कृतक्षुद्राघौघानथ सपदि संतप्तमनसः
समुद्धर्तुं सन्ति त्रिभुवनतले तीर्थनिवहाः।
अपि प्रायश्चित्तप्रसरणपथातीतचरितान्
नरानूरीकर्तुं त्वमिव जननि ! त्वं विजयसे ॥

हे जननि ! जिन लोगों ने छोटे छोटे पाप-समूह किए हैं और उसी समय जिनका मन संतप्त हो उठा है उन लोगों का उद्धार करने के लिये तो त्रिलोकी में तीर्थों के झुण्ड हैं— उन्हें छुटकारा दिलानेवालों की कमी नहीं। पर जिन लोगों के चरित्र, जहाँ तक प्रायश्चित्तों की पहुँच है उस मार्ग का उल्लंघन कर चुके हैं, उन मनुष्यों का स्वीकार करने के लिये तूही तेरे समान उत्कृष्ट है—इस विषय में तेरी तुलना किसी से नहीं हो सकती।

अथवा जैसे—

इयति प्रपञ्चविषये तीर्थानि कियन्ति सन्ति पुण्यानि ।
परमार्थतो विचारे देवी गङ्गा तु गङ्गेव ॥

इस जगत् में कितने ही तीर्थ पवित्र हैं—उनकी पवित्रता में किसी को संदेह नहीं। पर वास्तविक विचार करने पर गंगा देवी तो गंगा के ही समान है—उसकी तुलना तो अन्य किसी से हो नहीं सकती।

पहले पद्य में अनुगामी धर्म वाच्य है और इस पद्य में व्यंग्य है—यह पहले पद्य से इस पद्य में विशेषता है। इस पद्य में 'तु (तो)' शब्द अन्य तीर्थों से विलक्षणता का प्रतिपादन करता हुआ श्रीगंगा में 'भगवान् वासुदेव के स्वरूप होने' रूपी धर्म को अभिव्यक्त करता है।

उपर्युक्त दोनों उदाहरणों में श्री गंगा के प्रेम का उपस्कारक होने के कारण यह अनन्वय अलंकार रूप है।

अनन्वय में बिंब-प्रतिबिंब-भावापन्न धर्म नहीं होता

अनन्वयालंकार में बिंब-प्रतिबिंब-भावापन्न धर्म तो होता नहीं; क्योंकि यदि ऐसा हो तो किसी धर्म से युक्त अपने से की गई तुलना का अन्य धर्म से युक्त अपने साथ अन्वय होने में कोई बाधा न रहेगी और तब अन्य सदृश का निवारण न होने के कारण ऐसी जगह अनन्वय ही न हो सकेगा।

क्योंकि जहाँ सादृश्य का अन्वय बाधित हो और दूसरे सदृश का निवारण होता हो वहाँ तो अनन्वयालंकार होता है। अतः बिंब-प्रतिबिंब-भावापन्न धर्म होने पर अनन्वया-लंकार का होना असंभव है।

'अनन्वय' के भेद

'अनन्वय' प्रथमतः दो प्रकार का है—'पूर्ण' और 'लुप्त'। पूर्ण अनन्वय उपमा की तरह छहों* प्रकार का हो सकता है। जैसे—

१—गंगा हृद्या यथा गंगा २—गंगा गंगेव पावनी।
३—हरिणा सदृशो बंधुः ४—हरितुल्यः परो हरिः।
५—गुरुवद्गुरुराराध्यो ६—गुरुवद्गौरवं गुरोः।

(१—गंगा गंगा-सी सुंदर है, २—गंगा गंगा-सी पवित्र है, ३—हरि के समान बंधु हरि है, ४—हरि के समान उत्कृष्ट हरि है, ५—गुरु गुरु की तरह सेव्य है, ६—गुरु का गौरव गुरु का-सा है।)

(यहाँ प्रथम पाद में **श्रौत वाक्यगत अनन्वय**, दूसरे में **श्रौत समासगत**, तीसरे में **आर्थ वाक्यगत**, चौथे में **आर्थ समासगत**, पाँचवें में 'तेन तुल्यम्……'

---

* ये भेद केवल संस्कृतवालों के जानने के हैं, हिंदी में ऐसे भेद नहीं हो सकते।

—अनुवादक।

सूत्र से 'वति' प्रत्यय होने के कारण **आर्थ तद्धितगत** और छठे पाद में 'तत्र तस्येव' सूत्र से 'वति' प्रत्यय होने के कारण **श्रौत तद्धितगत** अनन्वयालंकार है।)

लुप्त भेदों में भी **धर्मलुप्त अनन्वय** पाँचों प्रकार का—अर्थात् श्रौत वाक्यगत, आर्थ वाक्यगत, श्रौत समासगत, आर्थ समासगत और आर्थ तद्धितगत—हो सकता है। जैसे कि पूर्वोदाहृत डेढ़ पद्य में धर्मवाचक पदों को उड़ाकर उनके स्थान पर अन्य पद रख देने से—अर्थात् उस डेढ़ पद्य को यों बना देने से—

गङ्गा राजन् यथा गङ्गा, गङ्गा गङ्गेव सर्वदा ।
विष्णुना सदृशो विष्णुर्हरितुल्यः सदा हरिः ॥
गुरुवद्गुरुरास्तेऽस्मिन् मण्डले गुरुवद्गुरोः ।

(इसमें अन्य पादों का अर्थ तो स्पष्ट और पूर्वोक्तप्राय है। तृतीय पाद का अर्थ—'गुरुजी के (अर्थात् गुरुजी के प्रदेश के) समान' इस गुरुजी के प्रदेश में गुरुजी के समान गुरुजी हैं—अन्य कोई उनके सदृश नहीं है।')

वाचकलुप्त अनन्वय; जैसे—

रामायमाणः श्रीरामः सीता सीतामनोहरा ।
ममान्तःकरणे नित्यं विहरेतां जगद्गुरू ॥

राम के समान आचरण करनेवाले श्रीराम और सीता के समान मनोहर सीता—दोनों जगत् के गुरु (माता-पिता), मेरे अंतःकरण में, निरंतर विहार करते रहें।

इस पद्य में क्रमशः 'क्यङ्' प्रत्यय के स्थल में तथा समास में वाचक का लोप हुआ है।

इसी तरह—

लङ्कापुरादतितरां कुपितः फणीव
निर्गत्य जातु पृतनापतिभिः परीतः।
क्रुद्धं रणे सपदि दाशरथिं दशास्यः
संरब्धदाशरथिदर्शमहो ददर्श।

लंका के युद्ध का वर्णन है—किसी समय, सेनापतियों से व्याप्त रावण ने, अत्यंत कुपित सर्प की तरह, लंकापुरी से निकलकर, तत्काल, क्रुद्ध रामचंद्र के समान क्रुद्ध रामचंद्र को रण में, आश्चर्य से देखा।

इस पद्य में 'कर्म-णमुल् (प्रत्यय)' में वाचक का लोप हुआ है।

इसी तरह 'कर्तृ-णमुल्' आदि में भी वाचक-लुप्त अनन्वय की तर्कना कर लीजिए।

धर्म-वाचक-लुप्त अनन्वय; जैसे—

अम्बरत्यम्बरं यद्वत् समुद्रोऽपि समुद्रति।
विक्रमार्क महीपाल ! तथा त्वं विक्रमार्कसि।

जैसे आकाश आकाश का-सा आचरण करता है और और समुद्र समुद्र का-सा (क्योंकि उनकी बराबरी का कोई नहीं है), वैसे ही हे विक्रमार्क राजा ! तू भी विक्रमार्क

के समान ही आचरण करता है (तेरी बराबरी का भी कोई नहीं है)।

यहाँ वाक्यार्थ के अंगरूप तीन अनन्वय आए हैं। उन तीनों ही में धर्म और वाचक दोनों का लोप है। और मुख्य वाक्यार्थ तो 'मालोपमा' ही है, जो कि इन तीनों अनन्वयों के फलरूप अनुपमता को समान धर्म मानकर सिद्ध होती है। आप कहेंगे—आपने उपमा के उदाहरणों में तो, जिसमें अनन्वय-मूलक अनुपमता समान धर्म-रूप हो ऐसी मालोपमा लिखी नहीं। हम कहते हैं—यह आपका कथन ठीक है। पर बिना अनन्वय के समझे ऐसी मालोपमा का समझना कठिन पड़ता और अब सहज में समझी जा सकती है; अतः इस मालोपमा का उदाहरण यहीं लिखा गया है। आप मालोपमा के भेदों में यह एक भेद और समझ लीजिए।

धर्मोपमान-वाचक-लुप्त अनन्वय; जैसे—

एतावति प्रपञ्चेऽस्मिन् सदेवासुरमानुषे ।
केनोपमीयतां तज्ज्ञै रामो रामपराक्रमः ।

देवता, असुर और मनुष्यों सहित इस इतने बड़े जगत् में, राम के स्वरूप को समझनेवाले लोग, राम के पराक्रम के समान पराक्रमवाले राम की, किससे उपमा दें। जब उनके पराक्रम के समान पराक्रम वाला कोई है ही नहीं तो फिर उस (पराक्रम) की उपमा बने कैसे?

इस पद्य में वाचक, धर्म और उपमान तीनों का लोप है; क्योंकि यहाँ वाचक और धर्म की तरह उपमान-वाचक राम-पराक्रम शब्द भी अनिर्दिष्ट है।

अनन्वयालंकार में 'उपमानलुप्त' आदि अन्य भेदों के उदाहरण असंभव होने के कारण, और यदि संभव हों तो सुंदर न होने के कारण, यहाँ नहीं लिखे गए हैं।

'रत्नाकर' का खंडन

'अलंकार-रत्नाकर' में लिखा है—"उस, उसके एक देश (हिस्से) अथवा उसी का (किसी तरह) भिन्न मानकर उपमेय के साथ जो सादृश्य होता है उसे अनन्वय कहा जाता है। इसका अभिप्राय यह है कि—अनन्वय तीन प्रकार का है; १—उपमेय को ही उपमान रूप में कल्पित करके ऊपर से प्रतीत होनेवाली (अवास्तविक) समानधर्मता का ले आना; २—उसी तरह उपमेय के एक देश को उपमान के रूप में कल्पित कर लेना; और ३—उपमेय को ही प्रति-बिंबता आदि के कारण भिन्न मानकर उपमान रूप में कल्पित कर लेना।

उनमें से पहला; जैसे—"**युद्धेऽर्जुनोऽर्जुन इव प्रथित-प्रतापः**—अर्थात् युद्ध में अर्जुन अर्जुन के सदृश प्रथित प्रतापवाला है, उसका सानी कोई नहीं।"

दूसरा; जैसे—

एतावति प्रपञ्चे सुन्दर-महिला-सहस्रभरितेऽपि ।
अनुहरति सुभग ! तस्या वामार्धं दक्षिणार्धस्य ॥

नायक मित्र से कहता है—हे सुभग ! इतना बड़ा संसार यद्यपि सहस्रों सुंदर महिलाओं से परिपूर्ण है; पर उस (नायिका) का वामार्ध (बायाँ हिस्सा) दक्षिणार्ध (दाहिने हिस्से) की (ही) समानता करता है—अन्य किसी स्त्री का अंग ऐसा नहीं जिससे उसे उपमा दी जा सके ।

तीसरा; जैसे—

गन्धेन सिन्धुरधुरन्धरवक्त्र ! मैत्री-
मैरावणप्रभृतयोऽपि न शिक्षितास्ते ।
तत् त्वं कथं त्रिनयनाचलरत्नभित्ति-
स्वीयप्रतिच्छविषु यूथपतित्वमेषि ॥

हे गजेंद्रवदन (गणेश)! ऐरावत आदि (दिग्गज) आपकी मित्रता (समानता) को लेश मात्र से भी नहीं सीख पाए—उनमें क्या योग्यता है कि वे आपकी तुलना में आ सकें। अतः हम आपसे पूछते हैं कि—आप, कैलास पर्वत की रत्नमय दीवारों में जो आपके प्रतिबिंब होते हैं उनके यूथपति कैसे बन जाते हैं ? यह समझ में नहीं आता कि जब बड़े बड़े दिग्गजों की आपसे किंचित् भी तुलना नहीं हो सकती तब वे प्रतिबिंब आपके झुंड में कैसे सम्मिलित हो जाते हैं ?

इन तीनों भेदों में अन्य उपमान का अभाव प्रतीत होता है, अतः अनन्वय तीन प्रकार का है।"

सो यह कुछ नहीं। यदि अन्य उपमान के अभाव की प्रतीति मात्र से ही अनन्वय होने लगे तो "स्तनाभोगे पतन् भाति (पृ० १८६)" इस पद्य में दिखाई गई कल्पितोपमा भी अनन्वय रूप हो जायगी एवं अनन्वय की 'यद्यर्थातिशयोक्ति (देखो तीसरे भाग के आरंभ में 'अतिशयोक्ति प्रकरण') में भी अतिव्याप्ति होने लगेगो। इस आपत्ति को दूर करने के लिये यदि आप यह बात मानें कि—'जिसका फल अन्य उपमान के अभाव की प्रतीति हो और जिसमें उपमान-उपमेय एक हो ऐसे सादृश्य को अनन्वय कहा जाता है'; तो फिर हम आपसे पूछते हैं कि—वामार्ध और दक्षिणार्ध, जो भिन्न भिन्न हैं—एक नहीं है, उनके सादृश्य को आप अनन्वय का भेद कैसे बता रहे हैं ?

आप कहेंगे—हमारे लक्षण का तात्पर्य यह है कि—वह (उपमेय), उसका एक देश और उसका प्रतिबिंब जिसका प्रतियोगी हो वह सादृश्य अनन्वय कहलाता है। ऐसी दशा में अव्याप्ति अथवा अतिव्याप्ति कहाँ रही ? सभी बातें तो लक्षण में संगृहीत हो गईं। तो हम कहते हैं कि—आपका यह तात्पर्य भ्रांतिपूर्ण है—आप यही नहीं समझ पाए कि अनन्वय कहते किसे हैं ? 'अनन्वय' शब्द का योग-शक्ति द्वारा यह अर्थ होता है कि—जिसका अन्वय न हो

सके अर्थात् जो वस्तुतः बाधित होने पर भी केवल दूसरे की उपमानता निवृत्त करने के लिये ही प्रयुक्त किया गया हो ऐसा सादृश्य अनन्वय कहलाता है। यह अर्थ एक देशों की परस्पर तुलना करने में घटित नहीं हो पाता; क्योंकि किसी भी व्यक्ति के एक हिस्से से दूसरे हिस्से की तुलना करने में कोई बाधा उपस्थित नहीं होती। सो ऐसा सादृश्य 'अनन्वय' पद का वाच्य नहीं हो सकता।

दूसरी बात यह है कि—"गगनं गगनाकारम्‌·····" इत्यादि अनन्वय में जब उपमेय को ही उपमान रूप में रखा जाता है तब उपमेय से भिन्न उपमान का अभाव प्रतीत होने द्वारा उपमेय की अनुपमता सिद्ध होती है। पर प्रकृत पद्य में जब 'वामार्ध' रूपी उपमेय का 'दक्षिणार्ध' रूपी उपमान निर्दिष्ट है तब उसका अनुपम होना सरासर विरुद्ध है—अपने से भिन्न उपमान के प्राप्त होते हुए किसी को अनुपम कैसे कहा जा सकता है? रही यह बात कि—इस कथन से कामिनी की तो अनुपमता प्रतीत होती है। सो इस बात में कोई संदेह नहीं। पर वह अनुपमता की प्रतीति अनन्वय का फल नहीं हो सकती। कारण, इस सादृश्य का उपमेय कामिनी नहीं है और उपमेय से अतिरिक्त की अनुपमता सिद्ध करनेवाले सादृश्य को अनन्वय कहा नहीं जा सकता।

'अलंकार-सर्वस्वकार' का खंडन

और जो अलंकार-सर्वस्वकार ने लिखा है कि—("एतावति प्रपंचे······") "यह पद्य अनन्वय की ध्वनि होगा—अर्थात् इस पद्य में अनन्वय व्यंग्य है, अन्यथा अलंकार की ध्वनि का कोई विषय ही न रहेगा।" सो यह कथन भी निस्सार है। कारण, यह लिखा जा चुका है कि—उपमान का निषेध जिसका फल हो और जिसके उपमान-उपमेय अभिन्न हों वह सादृश्य अनन्वय का स्वरूप है। सो वैसा सादृश्य, प्रस्तुत पद्य में प्रतिपादित 'वामार्ध' और 'दक्षिणार्ध' में तो बनता नहीं—यह बात पहले सिद्ध की जा चुकी है। रही कामिनी के उपमान के निषेध की बात, सो उसकी प्रतीति यहाँ अवश्य होती है, पर वहाँ भी अनन्वय का स्वरूप 'जिसके उपमान और उपमेय अभिन्न हों वह सादृश्य' नहीं प्रतीत होता। और बिना उस स्वरूप की प्रतीति के इस व्यंग्य को अनन्वय रूप कहा कैसे जा सकता है? यह कोई नियम तो है नहीं कि—सभी अनुपमता की प्रतीतियों के पूर्व 'जिसके उपमान और उपमेय अभिन्न हों ऐसे सादृश्य' की प्रतीति हो ही। क्योंकि कल्पितोपमा, अतिशयोक्ति और असमालंकार की ध्वनि में अनुपमता प्रतीत होती है, पर वहाँ वैसे सादृश्य की प्रतीति नहीं होती। अतः इस पद्य में अनन्वय का लेश भी नहीं है—इस बात में अब कोई संदेह नहीं रह जाता।

अप्पयदीक्षित का खंडन

अप्पयदीक्षित ने लिखा है—"यह अनन्वय व्यंग्य भी है। जैसे—

> अद्य या मम गोविन्द? प्रीतिस्त्वयि गृहागते।
> काले नैषा भवेत्प्रीतिस्तवैवाऽऽगमनात्पुनः ॥

हे गोविंद! आज आपके मेरे घर पधारने से मुझे जो प्रसन्नता हुई है, वह प्रसन्नता, किसी समय जब आप ही पुनः पधारें तब हो सकती है।

यह, घर पर आए श्रीकृष्ण के प्रति, विदुर का वाक्य है। इसमें 'यह आपके आगमन से उत्पन्न प्रसन्नता, बहुत समय के अनंतर, फिर भी आपके आगमन से ही हो सकती है, अन्य किसी वस्तु से नहीं' इस कहने के ढंग से यह अभिव्यक्त होता है कि—'आपके आगमन की प्रसन्नता के समान वही प्रसन्नता है, अन्य किसी वस्तु से उत्पन्न प्रसन्नता वैसी नहीं हो सकती'।"

सो यह भी ठीक नहीं। 'इस कारण, आपके आगमन से उत्पन्न प्रसन्नता के दूसरी बार आपके आगमन से उत्पन्न प्रसन्नता समान है' यह प्रतीति सर्वजनसिद्ध है—इस कथन में किसी को कोई बाधा नहीं प्रतीत होती। बात यह है कि—श्रीकृष्ण के आगमन से उत्पन्न प्रसन्नता एक सामान्य वस्तु है और उसके अंग हैं समय समय पर उत्पन्न हुई दो

प्रसन्नताएँ। इन दोनों प्रीतियों को भिन्न भिन्न समय में उत्पन्न होने के कारण भिन्न भिन्न मानने में कोई बाधा नहीं। ऐसी दशा में इन प्रीतियों का साहश्य बाधित नहीं कहा जा सकता। और साहश्य के बाधित हुए बिना 'अनन्वय' शब्द का व्युत्पत्ति-जन्य अर्थ यहाँ घटित होगा नहीं, फिर यहाँ अनन्वय बताना कहाँ तक ठीक है? आपने स्वयं ही उपमा प्रकरण में लिखा है कि—"अपने साहश्य का अन्वय अपने आपमें नहीं हो सकता, अतः इसे अनन्वय कहा जाता है।" अब आप ही बताइए कि—जब पूर्वोक्त रीति से साहश्य का अन्वय हो गया तो यहाँ अनन्वय हुआ कैसे? यहाँ उपमेय है एक विशेष प्रकार की प्रीति, उसकी जब दूसरी वैसी ही प्रीति से तुलना की जा रही है तो 'अन्य सदृश का निवारण' तो बाधित हो ही गया—अर्थात् यह तो रहा नहीं कि इस प्रीति के समान अन्य प्रीति नहीं है। सो यहाँ यों तो अनन्वय का लेश भी नहीं रह जाता।

अब यदि सामान्य प्रीति की, जो कि इन दोनों प्रीतियों की अंगिरूप है, अनुपमता को लेकर यहाँ अनन्वय की अभिव्यक्ति मानी जाय तो यह भी उचित नहीं। कारण, सामान्य प्रीति यहाँ उपमेय नहीं, किंतु विशेष प्रीति है, अतः वह उसका उपमान नहीं बन सकती। विशेष प्रकार की प्रीति रूपी उपमेय का उपमान भी विशेष प्रकार की प्रीति ही

हो सकती है, सामान्य प्रीति नहीं। सो यह उदाहरण "अनुहरति सुभग तस्याः......" इस पूर्वोक्त उदाहरण के तुल्य ही हो गया। जो दोष उस उदाहरण में बताए गए हैं वे ही यहाँ भी आ जायँगे।

यदि कहो कि—कहीं कहीं अवयवों की उपमा भी अवयवी की अनुपमता की व्यंजक हुआ करती है—ऐसा देखा जाता है; अतः इन दोनों अंगरूप विशेष प्रीतियों द्वारा प्रतीत सामान्य प्रीति को, श्रीकृष्ण के आगमन से उत्पन्न सामान्य प्रीति के सदृश, मान लेंगे; और इस तरह विशेष प्रीतियों की समानता के मध्य में सामान्य प्रीति की सामान्य प्रीति के साथ सदृशता की कल्पना कर लेंगे, तो यह बात सहृदयों के हृदय में आती नहीं; क्योंकि ऐसी कल्पना सहृदयता के विरुद्ध है।

अब यदि कहो कि—हम तो 'रत्नाकर' ने जो अनन्वय के भेद बताए हैं, उन्हीं में से "अनुहरति सुभग तस्याः......" वाले भेद को व्यंग्य बता रहे हैं तो यह भी ठीक नहीं। कारण, वह भेद अनन्वय का है ही नहीं, हम उसमें पहले ही दोष दिखा चुके हैं। आप कहेंगे—आपने दोष दिखा दिया इससे क्या हुआ; हमने थोड़े ही दोष दिखाया है—हम तो 'रत्नाकर'वाले भेदों को मानेंगे। तो यह भी ठीक नहीं। कारण, आपने उन भेदों का अनन्वय प्रकरण में कहीं प्रतिपादन नहीं किया है, यदि आपको वे भेद स्वीकृत

होते तो आप क्यों न उन्हें लिखते ? अतः यह अनन्वय ध्वनि का उदाहरण कुछ नहीं।

अनन्वय की ध्वनि

'अनन्वय' की ध्वनि का उदाहरण तो यह है—

पृष्टाः खलु परपुष्टाः परितो दृष्टाश्च विटपिनः सर्वे ।
भेदेन भुवि न पेदे साधर्म्यं ते रसाल ! मधुपेन ।

हे आम ! भौंरे ने कोयलों से पूछा और आसपास के सब वृक्ष देख डाले; पर तुम्हारी समानता को उसने भेद-संबंध से (अर्थात् तुम्हारे अतिरिक्त अन्य किसी में) न पाया।

यहाँ 'भेद-संबंध से न पाया' इस कथन से यह सिद्ध होता है कि—अभेद संबंध से सादृश्य का, जिसे अनन्वय कहा जाता है—अर्थात् तेरे समान तू ही है इसका, ज्ञान उसे हो गया। अतः यहाँ 'अनन्वय' व्यंग्य है।

अथवा जैसे—

नगेभ्यो यान्तीनां कथय तटिनीनां कतमया
पुराणां संहर्तुः सुरधुनि ! कपर्दोऽधिरुरुहे ।
कया वा श्रीभर्तुः पदकमलमक्षालिसलिलै-
स्तुलालेशो यस्यां तव जननि ! दीयेत कविभिः ॥

हे सुरधुनि—हे गंगे ! पर्वतों से निकलनेवाली नदियों में से कौन ऐसी है, जिसने शिवजी के जटाजूट पर आरो-

हरण किया हो और कौन ऐसी है जिसने भगवान् श्रीपति के चरण-कमलों को अपने जलों से धोया हो, कि जिसे, हे जननि, कवि लोग, तुम्हारी तुलना का लेश (भी) दे सकें।

यहाँ 'तुम्हारे अतिरिक्त कौन ऐसी नदी है जिसने श्रीपति के चरण-कमल को जलों से धोया हो, जिसे कि कवि लोग तुम्हारी तुलना का लेश भी दे सकें' इस अर्थ से 'तुमने तो जल से श्रीरमण का चरण-कमल धोया ही है, अतः तुम्हारे साथ तुम्हारी तुलना की जा सकती है' यह अर्थ अभिव्यक्त होता है, जो कि अनन्वय रूप है और जिसकी समाप्ति श्रीगङ्गा की अनुपमता में होती है। यह अर्थ 'यस्याम्' पद के अर्थ रूप 'इतर (अतिरिक्त)' पद के प्रभाव से अभिव्यक्त होता है।

इति अनन्वय समाप्त

असमालंकार

लक्षण

उपमा के सर्वथा ही निषेध को 'असम' नामक अलंकार कहते हैं।

विवेचन

यह अलंकार यद्यपि 'अनन्वय' में व्यंग्य रहता है, तथापि वहाँ अनन्वय के चमत्कार का पोषक होने के कारण, जिस

तरह रूपक, दीपक आदि में (सादृश्य के व्यंग्य होने पर भी) उपमा को अलग अलंकार नहीं कहा जा सकता उस तरह, इसे भी पृथक् अलंकार नहीं कहा जा सकता। पर (सादृश्य के) निषेध के वाच्य होने पर, निषेध के स्वतंत्रतया चमत्कारी होने के कारण, यह पृथक् अलंकार कहलाता है।

उदाहरण

भूमीनाथ शहाबदीन ! भवतस्तुल्यो गुणानां गणै-
रेतद्भूतभवत्प्रपञ्चविषये नाऽस्तीति किं ब्रूमहे।
धाता नूतनकारणैर्यदि पुनः सृष्टिं नवां भावये-
न्नस्यादेव तथापि तावकतुलालेशं दधानो नरः॥

हे शहाबदीन पृथ्वीपते ! गुण-समूह के कारण तुम्हारे समान, इस भूत और वर्त्तमान सृष्टि में नहीं है, यह तो क्या कहें; क्योंकि यह तो बिना कहे ही सिद्ध है। पर यदि विधाता नए कारणों से पुनः नई सृष्टि तैयार करे, तो भी तुम्हारी (तुलना तो कहीं रही) तुलना के लेश को भी धारण करनेवाला मनुष्य हो ही नहीं सकता।

अथवा जैसे—

भुवनत्रितयेऽपि मानवैः परिपूर्णे विबुधैश्च दानवैः।
न भविष्यति, नास्ति, नाऽभवन्नृप ! यस्ते भजते तुलापदम्॥

हे राजन् ! यद्यपि त्रिलोकी देव, मानव और दानवों से परिपूर्ण है तथापि वह, जो तुम्हारी समानता का स्थान प्राप्त करे, न था, न है और न होगा।

इन दोनों उदाहरणों में 'असम' राजा की स्तुति का उपस्कारक होने के कारण, अलंकार रूप है।

'असम' और 'उपमान-लुप्ता उपमा' में भेद

असमालंकार में उपमान का सर्वथा निषेध होता है और उपमान-लुप्ता में किसी स्थान अथवा किसी समय पर उपमान का निषेध होता है, अतः इन दोनों का विषय एक नहीं हो सकता। आप कहेंगे—'उपमान-लुप्ता' की तरह 'असम' को भी उपमा का ही एक भेद क्यों नहीं मान लेते, पृथक् अलंकार क्यों मानते हो? इसका उत्तर यह है कि—इस अलंकार में उपमान का सर्वथा ही निषेध होता है, अतः सादृश्य की स्थिति न होने के कारण इस जगह उपमा का लेश भी नहीं है, उपमा का भेद मान लेना तो दूर की बात है।

'रत्नाकर' का खंडन

रत्नाकर ने लिखा है—

ढुँढुँणतो हि मरीहसि कण्टककलिआइँ केअइवणाइँ।
मालइकुसुमसरिच्छं भमर! भमन्तो न पावहिसि।

हे भौंरे! तू काँटों से घिरे केतकी के जंगलों को ढूँढ़ता ढूँढ़ता मर रहेगा; पर, भ्रमण करता हुआ तू, मालती के पुष्प के समान (अन्य कोई पुष्प) न पावेगा।

यह उपमान-लुप्ता उपमा नहीं है; कारण, उपमान-लुप्ता उपमा वहाँ होती है जहाँ उपमान के रहते हुए भी उसका

ग्रहण न किया गया हो, न कि उपमान का निषेध किया गया हो, किंतु 'असम' अलंकार है।

सो झूठी बात है। "हे भौंरे! तू भ्रमण करता हुआ भी मालती के पुष्प के समान (पुष्प) न पा सकेगा" इस कथन से यह बोध होता है कि—'किसी जगह वैसा पुष्प भले ही रहे, पर तुझे तो दुर्लभ ही है', अतः उपमान का सर्वथा निषेध न होने के कारण, यहाँ उपमान-लुप्ता उपमा ही हो सकती है, असमालंकार नहीं। अन्यथा 'मालती के पुष्प के सदृश नहीं है' यही कहा गया होता, 'नहीं पा सकेगा' यह नहीं।

'अनन्वय' को पृथक् अलंकार क्यों माना जाता है?

आप कहेंगे—'अनन्वय' में चमत्कार-जनक अंश है 'उपमान के निषेध की प्रतीति'; और उपमान के निषेध का नाम ही है 'असमालंकार'। अतः यह सिद्ध हुआ कि 'असमालंकार' के ध्वनित करने से ही 'अनन्वय' में चमत्कार बन पाता है। सो अनन्वय के वर्णन को असमालंकार की ध्वनित करनेवाली वस्तु के रूप में ही मानकर काम चल जाता है, फिर उसे अलग अलंकार मानने की क्या आवश्यकता है? तो इसके उत्तर में हम आपसे पूछते हैं कि—'दीपक' आदि अलंकारों में भी उपमा की अभिव्यक्ति से ही चमत्कार बन पाता है—यदि सादृश्य की अभिव्यक्ति न हो

तो उनमें और क्या चमत्कार रह जाता है ? फिर उन्हें क्यों पृथक् अलंकार माना जाता है ? बात दोनों जगह बराबर है।

आप कहेंगे—यद्यपि 'दीपक' आदि में उपमा व्यंग्य होती है, तथापि वह गुणीभूत (अप्रधान) होती है और वाच्य अर्थ प्रधान होता है; पर 'अनन्वय' में तो अपनी समानता अपने साथ सर्वथा नहीं बन पाती, अतः वहाँ असमालंकार का ध्वनित होना ही प्रधान हो जाता है। तो इसका उत्तर यह है कि—जैसे 'दीपक', 'समासोक्ति' आदि अलंकारों में गुणीभूत (अप्रधान) व्यंग्य के रहने पर भी उनके अलंकार होने में कोई न्यूनता नहीं आती; इसी तरह 'अनन्वय' में प्रधान व्यंग्य के विद्यमान होने पर भी अलंकार होने में क्या बाधा है ? जब अप्रधान व्यंग्य के रहने से किसी वस्तु का अलंकार होना नहीं रुक सकता तो प्रधान व्यंग्य के रहने से वह रुक जाय यह कहाँ की बात है ? और 'अनन्वय' को वाच्य अलंकार कहना भी ठीक है; क्योंकि अनन्वय का शरीर जो 'अपने साथ अपनी तुलना' है, वह तो वाच्य ही है, व्यंग्य है नहीं।

आप कहेंगे—'दीपक' आदि अलंकारवाले काव्यों में व्यंग्य के गुणीभूत (अप्रधान) होने के कारण उन्हें यदि 'गुणीभूत व्यंग्य (मध्यम काव्य)' माना जाता है तो माना जाय। पर किसी अलंकार-प्रधान काव्य का ध्वनि

(उत्तमोत्तम काव्य) होना कहीं नहीं देखा गया। तात्पर्य यह कि—कुछ अलंकार ऐसे हैं जिनमें व्यंग्य गुणीभूत रूप से रहता है, अतः उन्हें चित्रकाव्य (मध्यम) न मानकर गुणीभूत व्यंग्य (उत्तम) माना जा सकता है; पर कोई ऐसा काव्य नहीं जो अलंकारप्रधान होने पर भी ध्वनि (उत्तमोत्तम) कहा जा सके। किंतु अनन्वयालंकार में असमालंकार प्रधानतया ध्वनित होता है। सो ऐसी दशा में अनन्वया-लंकारवाले काव्य को 'ध्वनि' रूप मानना पड़ेगा, जो कि एक अदृष्टपूर्व बात है। तो हम कहते हैं—ज़रा आँखें खोल-कर देखिए, 'पर्यायोक्त' और सादृश्यमूलक 'अप्रस्तुतप्रशंसा' आदि अलंकारप्रधान काव्यों का ध्वनि रूप होना स्पष्ट है। अतः यह शंका व्यर्थ है।

प्राचीनों का मत

प्राचीन आचार्य 'असम' को भिन्न अलंकार नहीं मानते। (उनका कहना है कि—उपमा के निषेध से उपमेय का उत्कर्ष सिद्ध होता है, जो कि व्यतिरेकालंकार का विषय है, अतः असमालंकार को व्यतिरेक के अंतर्गत ही मानना चाहिए। पर, यह कथन ठीक नहीं; कारण, व्यतिरेक में साधर्म्य रहता है (देखिए तृतीय भाग में 'व्यतिरेक प्रकरण')। पर 'असम' में साधर्म्य (सादृश्य) का लेश भी नहीं होता; जैसा कि पहले लिखा जा चुका है।

व्यंग्य 'असम'

व्यंजना द्वारा प्रतीत होनेवाला 'असमालंकार' जैसे—

मयि त्वदुपमाविधौ वसुमतीश ! वाचंयमे
न वर्णयति मामयं कविरितिक्रुद्धं मा कृथाः ।
चराचरमिदं जगज्जनयतो विधेर्मानसे
पदं न हि दधेतरां तव खलु द्वितीयो नरः ॥

हे राजन् ! मैं आपकी उपमा देने में चुप हूँ, इसलिये आप, यह समझकर कि 'यह कवि मेरा वर्णन नहीं करता', क्रोध न कीजिएगा। बात असली यह है कि—इस चराचर जगत् के उत्पन्न करनेवाले विधाता के मन में तुम्हारी जोड़ का कोई मनुष्य स्थान ही न पा सका। बनाना तो दूर, पर वह सोच भी न सका कि आपकी जोड़ का कोई हो सकता है।

यहाँ "जो (तुम्हारी जोड़ का) इतने समय तक विधाता के मन में न आ सका, वह कोई प्रमाण न होने के कारण आगे भी न आ सकेगा' इस कथन से 'ऐसा कोई सर्वथा ही नहीं है' यह प्रतीत होता है, जो कि 'असम' रूप है। यद्यपि यह असम व्यंग्य है, तथापि राजा की स्तुति रूपी प्रधान व्यंग्य का उपस्कारक होने के कारण 'अलंकार' रूप ही है, प्रधान व्यंग्य नहीं।

प्रधानतया ध्वनित होनेवाला 'असम'; जैसे—

सदसद्विवेकरसिकैरालोक्य समस्तलोकमथ कविभिः ।
गणिता गगनलतादेर्गणनायां तन्वि ! तव सदृशी ॥

हे तन्वि ! सच्चे और झूठे पदार्थों के विवेचन के रसिक कवियों ने सारे संसार के देख चुकने के बाद तुम्हारी जैसी को 'आकाशलता' आदि की गणना में गिना है—अर्थात् जैसे 'आकाशजन्य लता' दुनिया में नहीं है; वैसे ही तेरे सदृश भी कोई नहीं हो सकती ।

असमालंकार के भेद

यह 'असम' कहीं उपमान के निषेध से होता है और कहीं साक्षात् उपमा के ही निषेध से । उनमें से पहले भेद का उदाहरण दिया जा चुका है । दूसरा भेद; जैसे—

पूर्णमसुरै रसातलममरैः स्वर्गो वसुन्धरा च नरैः ।
रघुवंशवीरतुलना तथापि खलु निरवकाशैव ॥

अर्थात् पाताल असुरों से परिपूर्ण है, स्वर्ग देवों से और पृथिवी मनुष्यों से । फिर भी रघुवंशवीर—श्री रामचंद्र—की तुलना को तो अवकाश है नहीं ।

पूर्ण और लुप्त होने के कारण असमालंकार के भी भेदों की, यथासंभव, तर्कना कर ली जानी चाहिए ।

इति असमालङ्कार समाप्त

उदाहरणालंकार

लक्षण

सामान्य रूप से निरूपित अर्थ का सरलता से बोध होने के लिये, उसके एक देश का निरूपण करके, सामान्य पदार्थ और उसके एक देश का, शब्द से उक्त अंगांगिभाव 'उदाहरण' कहलाता है।

लक्षण का विवेचन

'अर्थांतरन्यास' अलंकार में अतिव्याप्ति न होने के लिये, इस लक्षण में, 'शब्द से उक्त' यह विशेषण दिया गया है क्योंकि उसमें सामान्यविशेष के रहने पर भी उनके संबंध के बोधक इव आदि शब्द नहीं रहते। काव्यों में वा, इव, यथा, निदर्शन और दृष्टांत आदि शब्दों से अंगांगिभाव की उक्ति स्पष्ट है—उसके अनेक उदाहरण प्राप्त होते हैं। आप कहेंगे—'इव' और 'यथा' शब्द तो 'सादृश्य' के वाचक हैं, अतः उनके द्वारा, विशेष और सामान्य जिसका स्वरूप है (अर्थात् विशेष अंग है और सामान्य अंगी) उस अंगांगिभाव की अभिधा द्वारा उक्ति हो नहीं सकती। तब 'इव' आदि शब्द अंगांगिभाव का प्रतिपादन किस वृत्ति के द्वारा करेंगे? तो हम कहते हैं—लक्षणा वृत्ति के द्वारा; क्योंकि जहाँ अभिधा बाधित हो वहाँ लक्षणा का साम्राज्य है—उसे रोकनेवाला कोई नहीं।

अन्यथा 'इव' आदि का अर्थ तो 'संभावना' भी नहीं होता, फिर 'इव' आदि को उत्प्रेक्षा का बोधक मानना भी कठिन हो जायगा। अतः यह मानना चाहिए कि—जैसे 'इव' आदि शब्दों से लक्षणाद्वारा संभावना का बोध होता है, वैसे ही अंगांगिभाव का भी बोध हो सकता है, इसमें कोई बाधा नहीं।

उदाहरण

अमितगुणोऽपि पदार्थो दोषेणैकेन निन्दितो भवति।
निखिलरसायनराजो गन्धेनोग्रेण लशुन इव॥

अमित (बेशुमार) गुणवाला भी पदार्थ एक दोष के कारण निंदित हो जाता है; जैसे समग्र रसायनों (आयु, बल आदि बढ़ानेवाले औषधों) का राजा लहसुन उग्र गंध के कारण (निंदित हो गया है)।

इस पद्य में 'पदार्थ' और 'लहसुन' की उपमा नहीं कही जा सकती। क्योंकि उनमें सामान्यविशेषभाव है— 'लशुन' 'पदार्थ' से भिन्न नहीं किंतु वह भी एक प्रकार का पदार्थ ही है, अतः उन दोनों में सादृश्य नहीं उल्लसित होता। यदि सामान्य और विशेष का परस्पर सादृश्य हो सकता तो इस अलंकार में जैसे 'इव' आदि शब्दों का प्रयोग होता है वैसे ही 'सदृश' आदि शब्दों का

भी प्रयोग हो सकता। पर ऐसा होता नहीं। प्रकृत उदाहरण में ही देखिए; "जैसे लशुन" इस वाक्य के स्थान पर "लशुन के सदृश" यों नहीं कहा जा सकता।

यह तो हुआ 'इव' शब्दवाला उदाहरण। अब 'यथा' शब्दवाला उदाहरण सुनिए; जैसे—

अतिमात्रबलेषु चापलं विदधानः कुमतिर्विनश्यति।
त्रिपुरद्विषि वीरतां वहन्नवलिप्तः कुसुमायुधो यथा॥

अत्यंत बलवानों से चपलता करनेवाला कुबुद्धि पुरुष नष्ट हो जाता है; जैसे त्रिपुरारि (शिव) के विषय में वीरता रखनेवाला—उन्हें वीरता दिखानेवाला घमंडी कुसुमायुध (कामदेव)।

यहाँ 'शिव' और 'वीरता' रूपी विशेष पदार्थों के सामान्य पदार्थ हैं 'अत्यंत बलवान्' और 'चपलता'; एवं 'घमंड' और 'कामदेव' रूपी विशेष पदार्थों के सामान्य पदार्थ हैं 'कुबुद्धि' शब्द में गौण-रूप से आई हुई 'बुरी बुद्धि' और प्रधान रूप से आया हुआ 'बुरी बुद्धिवाला'।

'निदर्शन' 'दृष्टांत' आदि शब्दों से भी इस अलंकार का उदाहरण बनाया जा सकता है; जैसे—

उपकारमेव कुरुते विपद्गतः सद्गुणो नितराम्।
मूर्च्छां गतो मृतो वा निदर्शनं पारदेऽत्र रसः॥

आपत्ति में पड़ा हुआ (भी) अच्छे गुणोंवाला पदार्थ अत्यंत उपकार ही करता है। इस बात का निदर्शन है मूच्छित* अथवा मृत पारा।

इस पद्य का निर्माण 'निदर्शन' शब्द के स्थान पर 'दृष्टांत' शब्द रखकर भी किया जा सकता है।

एक बात

इस अलंकार के विषय में इतनी बात समझ लेने की है कि—जब 'इव' आदि शब्दों का प्रयोग होता है तब 'सामान्य पदार्थ' की प्रधानता रहती है और एक वाक्य होता है, और जब 'निदर्शन' आदि शब्दों का प्रयोग होता है तब 'विशेष पदार्थ' की प्रधानता रहती है और दो वाक्य होते हैं।

शाब्दबोध

अच्छा, अब उदाहरणालंकार के उदाहरणों का शाब्द-बोध सुनिए। जिन लोगों के सिद्धांत से 'आख्यात' (तिङन्त, 'भवति' आदि क्रियावाचक पद) के प्रयोगस्थल में क्रिया की प्रधानता मानी जाती है, उन (वैयाकरणादिकों) के हिसाब से।

१—अमितगुणोऽपि पदार्थो दोषेणैकेन निन्दितो भवति।
सकलरसायनराजो गन्धेनोग्रेण लशुन इव।

इस पद्य का **शाब्दबोध**

---

* संस्कृत पारा के बुभुक्षित आदि भेदों में मूर्छित एक भेद है।

"अमित गुणवाला पदार्थ जिसका कर्त्ता है और एक दोष जिसका कारण है वह निंदित होना ऐसा (सामान्य पदार्थ) है, जिसका 'समग्र रसायनों का राजा लहसुन जिसका कर्त्ता है और उग्र गंध जिसका कारण है वह निंदित होना' अंग (एक विशेष पदार्थ) है।"

यह होगा। और जो लोग ऐसे स्थल पर प्रथमांत पद के अर्थ को विशेष्य (प्रधान) मानते हैं उन (नैयायिकादिक) के मत से इस पद्य का **शाब्दबोध** होगा

"उग्र गंध जिसका कारण है ऐसे निंदित होने (क्रिया) का आश्रय (आधार) समग्र रसायनों का राजा लहसुन जिसका अंग है वह अमित गुणवाला सामान्य पदार्थ, जिसका एक दोष कारण है उस निंदित होने (क्रिया) का आश्रय है।" यह।

इनमें से प्रथम शाब्दबोध को **सरल शब्दों** में

समग्र रसायनों के राजा लहसुन का उग्र गंध के कारण निंदित होना, अमित गुणवाले पदार्थ के एक दोष के कारण निंदित होने का एक अंश (उदाहरण) है।

यों कहा जा सकता है। और दूसरे शाब्दबोध को **सरल शब्दों में**—

उग्र गंध के कारण निंदित होनेवाला समग्र रसायनों का राजा लहसुन, एक दोष के कारण निंदित होनेवाले (पदार्थ) का एक अंश (उदाहरण) है।

यों कहा जा सकता है।

आप कहेंगे—पूर्वोक्त पद्य में 'निंदित होना' रूपी क्रिया का केवल एक बार (सामान्य पदार्थ के साथ) प्रयोग हुआ है, पर आपने शाब्दबोध में उस क्रिया का दो बार (सामान्य पदार्थ के साथ और विशेष पदार्थ के साथ) प्रयोग किया है; यह क्यों? इसका उत्तर यह है कि—विशेष वाक्य के अर्थ में क्रिया का अन्वय ढूँढ़ना पड़ता है—अर्थात् सामान्य पदार्थवाली क्रिया का विशेष पदार्थ के साथ अन्वय किए बिना गुजारा नहीं; कारण, ऐसे उदाहरणों में सामान्य पदार्थ के हेतु से विशेष पदार्थ का हेतु भिन्न होता है—जो हेतु सामान्य पदार्थ में होता है वही विशेष पदार्थ में नहीं होता; जैसे पूर्वोक्त पद्य में सामान्य पदार्थ में हेतु है 'एक दोष' और विशेष पदार्थ में हेतु है 'उग्र गंध'। ऐसी दशा में दूसरे (विशेष पदार्थवाले) हेतु के अन्वय के लिये क्रिया का दुहराना आवश्यक है। यदि ऐसा न किया जाय और केवल विशेष पदार्थ का सामान्य पदार्थ के साथ अन्वय कर दिया जाय तो बात नहीं बनेगी; क्योंकि विशेष पदार्थ का हेतु लटकता ही रह जायगा; कारण, एक ही क्रिया में दो भिन्न भिन्न हेतुओं का अन्वय असंभव है। अतः विशेष पदार्थ के साथ हेतु का अन्वय करने के लिये क्रिया दुहराई गई है।

२—यही बात 'यथा'शब्दवाले स्थल, जैसे—

'अतिमात्रबलेषु चापलं विदधानः कुमतिर्विनश्यति ।
त्रिपुरद्विषि वीरतां वहन्नवलिप्तः कुसुमायुधो यथा ॥'

इत्यादि के शाब्दबोध में भी समझ लेनी चाहिए। अर्थात् वहाँ भी 'यथा' शब्द का अर्थ 'अंग' होता है और शेष सब बात वही है।

३—अब रही 'निदर्शन', 'दृष्टांत' आदि पदोंवाले वाक्यों के शाब्दबोध की बात। सो भी सुनिए। प्रकृत में ऐसे शब्दोंवाला उदाहरण है—

उपकारमेव कुरुते विपद्गतः सद्गुणो नितराम् ।
मूर्च्छां गतो मृतो वा निदर्शनं पारदोऽत्र रसः ॥

यह पद्य। नैयायिकों के मत से इस पद्य के शाब्दबोध की प्रक्रिया यों है। पहले लिखा जा चुका है कि—'निदर्शन' आदि शब्दों से घटित उदाहरणों में दो वाक्य होते हैं। उनमें से पहले वाक्य का शाब्दबोध होगा "आपत्ति में पड़े हुए से अभिन्न अच्छे गुणोंवाला पदार्थ उपकार के अनुकूल कृति (यत्न) से युक्त (होता है)" यह और दूसरे वाक्य का शाब्दबोध होता है "(अत्र=) इस बात में मूर्च्छित अथवा मृत पारा (निदर्शन=) एक देश (अंग) है" यह। इनमें से इस दूसरे वाक्य के अर्थ का पहले वाक्य का अर्थ विशेषण होता है—अर्थात् पहले वाक्य का अर्थ दूसरे वाक्य के अर्थ में विशेषण रूप से जुड़ जाता है।

सारांश यह कि दोनों वाक्यों का मिलकर (अर्थात् पूरे पद्य का) **शाब्दबोध** यह होता है कि

आपत्ति में पड़े हुए से अभिन्न अच्छे गुणोंवाला (पदार्थ) उपकार के अनुकूल यत्न से युक्त (होता है), इस (सामान्य) अर्थ का मूर्च्छित अथवा मृत पारा अंगरूप (एक उदाहरण) है।

इस शाब्दबोध को **सरल शब्दों में** यों कहा जा सकता है—

आपत्ति में पड़ा हुआ अच्छे गुणोंवाला पदार्थ उपकार ही करता है, इस बात का एक उदाहरण है मूर्च्छित अथवा मृत पारा।

यह तो हुआ नैयायिकों के मत से शाब्दबोध। अब वैयाकरणों को लीजिए। उनके हिसाब से पहले वाक्य का शाब्दबोध होता है "आपत्ति में आए हुए से अभिन्न अच्छे गुणोंवाला पदार्थ जिसका कर्त्ता है वह उपकार के अनुकूल क्रिया" यह। और दूसरे वाक्य का शाब्दबोध होता है "(अत्र =) इस पहले वाक्य के अर्थ का मूर्च्छित अथवा मृत पारा (निदर्शन =) एक देश (अंग) है।" सारांश यह कि वैयाकरणों के हिसाब से पूरे पद्य का **शाब्दबोध** यह होता है कि—

आपत्ति में आए हुए से अभिन्न अच्छे गुणोंवाला पदार्थ जिसका कर्त्ता है उस उपकार के अनुकूल क्रिया

रूपी (सामान्य) अर्थ का मूर्च्छित अथवा मृत पारा अंगरूप है।

इस शाब्दबोध को **सरल शब्दों में** यों कहा जा सकता है कि—

आपत्ति में आए हुए अच्छे गुणोंवाले पदार्थ द्वारा उपकार किए जाने का एक उदाहरण है मूर्च्छित अथवा मृत पारा।

यहाँ आप एक शंका कर सकते हैं। आप कहेंगे—वैयाकरणों के शाब्दबोध में पहले वाक्य का अर्थ है क्रिया (उपकार करना) और दूसरे वाक्य का अर्थ है द्रव्य (पारा), एवं दूसरे वाक्य के अर्थ को पहले वाक्य के अर्थ का अंग बताया गया है। सो ठीक नहीं। भला, क्रिया का अंग द्रव्य कैसे हो सकता है? इसका समाधान यह है कि यद्यपि 'पारा' वास्तव में 'अच्छे गुणोंवाले पदार्थ' का अंग है, न कि क्रिया का। तथापि 'पारा' जिसका अंग है वह 'अच्छे गुणोंवाला पदार्थ' इस वाक्य में क्रिया का विशेषण होकर आया है, अतः क्रिया के विशेषण का अवयव होने के कारण वह क्रिया का भी अवयव कहा जा सकता है। क्योंकि जैसे प्रधान (विशेष्य) का अवयव विशिष्ट (विशेषणों सहित पूरे वाक्यार्थ) का अवयव होता है, वैसे ही विशेषणों का अवयव भी विशिष्ट का अवयव हो सकता है—अर्थात् यद्यपि यहाँ 'पारा' रूपी विशेष पदार्थ 'क्रिया' रूपी विशेष्य का अंग नहीं हो सकता, तथापि विशेषणों सहित विशेष्य (विशिष्ट)

का अंग होने में तो कोई बाधा है नहीं। जैसे कि 'घड़ा ला' इस वाक्य के अंतर्गत 'घड़ा' रूपी सामान्य पदार्थ का एक अंग 'नीला घड़ा' पूरे वाक्यार्थ का अंग हो जाता है, यदि ऐसा न होता तो 'घड़ा ला' इस वाक्य से श्रोता 'नीले घड़े' के साथ 'लाना' क्रिया का संबंध न समझ पाता, और न वैसा घड़ा लाता ही। सारांश यह कि आप केवल विशेष्य का अंग समझकर हमें दोष दे रहे हैं, पर हम 'पारा' को विशेष्य का अंग नहीं, किंतु विशिष्ट का अंग बता रहे हैं, और वैसा हो सकता है, अतः कोई दोष नहीं।

'विकस्वरालङ्कार' के खंडन के लिये उदाहरण

अर्थिभिश्छिद्यमानोऽपि स मुनिर्न व्यकम्पत।
विनाशेऽप्युन्नतः स्थैर्यं न जहाति, द्रुमो यथा।

याचकों (देवताओं) द्वारा काटा जाता हुआ भी वह मुनि (दधीचि) कंपित नहीं हुआ। ठीक ही है, जो उन्नत होता है वह विनाश होने पर भी स्थिरता नहीं छोड़ता; जैसे वृक्ष; उसे काटते जाइए पर चूँ न करेगा।

यहाँ, जिसका दधीचि ऋषि आलंबन हैं, उनके अलौकिक चरित का श्रवण उद्दीपन है और इस पद्य का प्रयोग अनुभाव है—वह, इस पद्य के निर्माता की (दधीचि ऋषि के विषय में) रति (प्रेम) प्रधान है; और उसमें, जिसका याचक आलंबन हैं, उनके द्वारा की गई याचना का श्रवण

उद्दीपन है एवं शरीर के छेदन की अनुमति अनुभाव है और जिसे 'धृति' रूपी संचारी भाव ने पुष्ट किया है वह मुनि का उत्साह गौण हो गया है। उस उत्साह के उत्कर्षक रूप में स्थित और इस पद्य के तृतीय तथा आधे चतुर्थ (३॥) चरण ("विनाशेऽप्युन्नत: स्थैर्यं न जहाति") द्वारा प्रतिपादित 'अर्थांतरन्यास (अलंकार)' को, (विचार करने से प्रतीत होता है) अलंकृत करता है चतुर्थ चरण के एक भाग में आया हुआ ("द्रुमो यथा" यह) उदाहरणालंकार। (सारांश यह कि पूर्वोक्त उदाहरणों में माने हुए उदाहरणालंकार से ही जब यहाँ भी काम चल सकता है तो फिर 'कुवलयानंद' में बताया गया 'विकस्वरालंकार' पृथक् मानने की कोई आवश्यकता नहीं।)

यही बात—

"अनन्तरत्नप्रभवस्य यस्य हिमं न सौभाग्यविलोपि जातम् ।
एको हि दोषो गुणसन्निपाते निमज्जतीन्दोः किरणेष्विवाङ्कः॥

'कुमार-संभव' में हिमालय का वर्णन है—अनंत रत्नों के उत्पत्ति-स्थान हिमालय के सौभाग्य को हिम (बरफ) नष्ट न कर पाया। कारण, एक दोष गुणों के समूह में डूब जाया करता है, जैसे चंद्रमा की किरणों में कलंक।"

इस कालिदास के पद्य में भी समझनी चाहिए। अर्थात् वहाँ भी यही उदाहरणालंकार है।

आप कहेंगे—यह अलंकार जब 'अर्थांतरन्यास' से मिश्रित ही पाया जाता है, तब क्यों न इसे 'अर्थांतरन्यास' का ही एक भेद मान लिया जाय ? अतिरिक्त अलंकार मानने की क्या आवश्यकता है ? तो इसका उत्तर यह है कि इस अलंकार में 'अवयवावयविभाव' के बोधक 'इव' आदि शब्दों का प्रयोग होता है और सामान्य (जैसे 'गुणसमूह में एक दोष') और विशेष (जैसे 'चंद्रमा की किरणों में कलंक') दोनों पदार्थों का एक ही विधेय (जैसे 'डूबना' क्रिया) में अन्वय होता है; पर अर्थांतरन्यास में ऐसा नहीं होता। यह बात अर्थांतरन्यास के भेद से इस अलंकार में विलक्षणता उत्पन्न कर देती है, अतः इसे पृथक् अलंकार मानना पड़ता है। इस बात को हम अर्थांतरन्यास के प्रकरण में अच्छी तरह से सिद्ध करेंगे।

प्राचीनों का मत

प्राचीन विद्वानों का तो यह भी कथन है कि—"यह अलंकार अतिरिक्त नहीं है; क्योंकि यह उपमा से गतार्थ हो जाता है। आप कहेंगे—सामान्य और विशेष में (तो अभेद संबंध होता है) भेदविशिष्ट सादृश्य तो होता नहीं; फिर यहाँ उपमा कैसे होगी ? तो इसका उत्तर यह है कि—"कोई भी सामान्य बिना विशेष के नहीं होता, सामान्य होगा तो विशेष अवश्य होगा" यह नियम है; अतः यह मानना पड़ेगा

कि बिना किसी विशेष के सामान्य में प्रयुक्त नहीं हो सकता—अर्थात् उसके गर्भ में भी कोई न कोई विशेष अवश्य रहता है, सो उस विशेष को लेकर अन्य विशेष के साथ सामान्य (विशेषरूप में पर्यवसन्न) का सादृश्य होने में कोई बाधक नहीं है। अतः यह मानना चाहिए कि 'इव' आदि शब्दों से प्रथमतः सामान्य-विशेषभाव की प्रतीति होने पर भी वह सामान्य विशेषभाव अंततोगत्वा सादृश्य के रूप में परिणत होकर ही विश्राम पाता है—बिना सादृश्य के रूप में परिणत हुए गुजारा नहीं।"

इति उदाहरण समाप्त

स्मरणालंकार

लक्षण

सादृश्य के बोध द्वारा उद्बुद्ध संस्कार के फल-स्वरूप (प्रयोज्य) स्मरण को 'स्मरणालंकार' कहते हैं।

उदाहरण

दोर्दण्डद्वयकुण्डलीकृतलसत्कोदण्डचण्डध्वनि-
ध्वस्तोद्दण्डविपक्षमण्डलमथ त्वां वीक्ष्य मध्येरणम्।

वल्गद्गाण्डिवमुक्तकाण्डवलयज्वालावलीताण्डव-
भ्रश्यत्खाण्डवरुष्टपाण्डवमहो ! को न क्षितीश ! स्मरेत् ।

कवि कहता है—हे पृथ्वीनाथ ! दोनों भुजदंडों से कुंडल के समान गोल किए सुंदर धनुष की प्रचंड ध्वनि से उद्दंड शत्रु-समूह को नष्ट कर देनेवाले तुम्हें, संग्राम के मध्य में देखकर, कौन ऐसा पुरुष होगा, जो, विलोल गांडीव धनुष से निकले बाण-समूह की ज्वालावली के नृत्य से भ्रष्ट होते खांडव (इंद्र के वन) को देखकर रुष्ट पांडव (अर्जुन) का स्मरण न करे। युद्ध के समय आपको देखकर देखनेवाले को वैसे अर्जुन का स्मरण हो ही आता है।

अथवा जैसे—

भुजभ्रमितपट्टिशोद्दलितदृप्तदन्तावलं
भवन्तमरिमण्डलक्रथन ! पश्यतः सङ्गरे ।
अमन्दकुलिशाहतिस्फुटविभिन्नविन्ध्याचलो
न कस्य हृदयं झगित्यधिरुरोह देवेश्वरः ॥

हे शत्रु-मंडल के नाशक ! भुजाओं से घुमाए जाते पट्टिश (एक शस्त्र) के द्वारा मत्त हाथियों का अच्छी तरह दलन करनेवाले तुम्हें, युद्ध में देखते हुए, वज्र की प्रबल चोटों से निस्संकोच विंध्याचल का तोड़नेवाला देवराज—इन्द्र—किसके हृदय में तत्काल आरूढ़ नहीं हो जाता।

इन दोनों पद्यों में राजा के विषय में कवि का प्रेम प्रधान है और प्रकृत स्मरण उसे उत्कृष्ट बनाता है, अतः यह स्मरण

अलंकार-रूप है। हाँ, इतनी विशेषता अवश्य है कि—पहले पद्य में स्मरण वाच्य है और दूसरे पद्य में ('हृदय में आरूढ़ होने' पद से) लक्ष्य। इन पद्यों में जो वीर-रस है वह भी प्रधान (कवि के प्रेम) को उत्कृष्ट बनाता है, अतः अलंकार-रूप ही है।

लक्षण का विवेचन

एकीभवत्प्रलयकालपयोधिकल्प-
मालोक्यसंगरगतं कुरुराजसैन्यम्।
सस्मार तल्पमहिपुङ्गवकायकान्तं
निद्रां च योगकलितां भगवान् मुकुन्दः॥

महाभारत युद्ध का वर्णन है। कवि कहता है—एक होते हुए प्रलय के समुद्र के समान, युद्ध में आई हुई कुरु-राज—दुर्योधन—की सेना देखकर भगवान् श्रीकृष्ण को सर्पराज—शेषजी—के शरीर से (बनी) सुंदर शय्या का और योग-निद्रा का स्मरण हो आया।

यहाँ यद्यपि 'शय्या' और 'निद्रा' का स्मरण, शय्या और निद्रा के सादृश्य देखने से उद्बुद्ध संस्कार का फल-स्वरूप नहीं है; क्योंकि भगवान् ने यहाँ कोई ऐसी वस्तु नहीं देखी जो शय्या अथवा निद्रा के सदृश हो। तथापि सेना में समुद्र का सादृश्य देखने के कारण समुद्र का संस्कार उद्बुद्ध होने से समुद्र का स्मरण उत्पन्न हुआ, और उस स्मरण के

अधीन है यह शय्या तथा निद्रा का स्मरण, इस कारण यह स्मरण भी किसी सादृश्य के देखने से उद्‌बुद्ध संस्कार का फलस्वरूप हो ही जाता है। परंपरया स्मरण इस तरह होने पर भी लक्षण में किसी प्रकार की बाधा नहीं आती; क्योंकि लक्षण में यह कहना तो अभीष्ट है नहीं कि—सादृश्य जिसका स्मरण हो उसका संबंधी होना चाहिए, किंतु यह अभीष्ट है कि—सादृश्य चाहे किसी से संबंध रक्खे, पर स्मरण सादृश्य द्वारा, साक्षात् अथवा परंपरया, किसी तरह, उद्‌बुद्ध संस्कार का फलस्वरूप होना चाहिए।

सो इस तरह, इस पद्य में जो वाच्यरूप से आए हैं उन 'शय्या' तथा 'निद्रा' के स्मरणों का, और उनके कारणरूप से आक्षिप्त समुद्र के स्मरण का, समान रूप से, संग्रह हो जाने के लिये (अर्थात् इस लक्षण द्वारा सादृश्य से साक्षात् संबंध रखनेवाले स्मरण का ही नहीं, किंतु परंपरया संबंध रखनेवाले स्मरण का भी संग्रह हो जाने के लिये) लक्षण में 'उत्पन्न होनेवाला' शब्द छोड़कर 'फलस्वरूप' शब्द लाया गया है।

कुछ लोगों का यह भी कथन है कि—"सदृश के ज्ञान से उद्‌बुद्ध संस्कार द्वारा उत्पन्न, और सदृश के विषय में होनेवाला ही, स्मरण अलंकार-रूप होता है। अतः उपर्युक्त पद्य में शेषजी और निद्रा का स्मरण अलंकार-रूप नहीं है।*

* नागेश लिखते हैं कि—इस मत में पूर्व मत से दो बातें विशेष हैं—एक तो 'फलस्वरूप होने' के स्थान पर 'उत्पन्न होने' का

प्रत्युदाहरण और स्मरणालंकार के विषय में एक खास बात

इत एव निजालयं गताया वनिताया गुरुभिः समावृतायाः।
परिवर्तितकन्धरं नतभ्रु स्मयमानं वदनाम्बुजं स्मरामि।

नायक कहता है—यहाँ से अपने घर गई और बड़ी-बूढ़ियों से घिरी वनिता के, गरदन फिराए और भौंह नीचे किए मुसक्याते मुख-कमल का स्मरण कर रहा हूँ।

निवेश, दूसरे 'सदृश के विषय में होने' का निवेश, ऐसा करके उन्होंने यह सार निकाला है कि—शेष-शय्या और निद्रा का स्मरण यद्यपि समुद्र के स्मरण से उत्पन्न हो सकता है, तथापि 'सदृश के ज्ञान से उद्बुद्ध संस्कार द्वारा उत्पन्न' नहीं है और 'सेना के सदृश के विषय में' भी नहीं है, अतः ऐसे स्मरण को अलंकार नहीं कहा जा सकता। पर यह मत अरुचिपूर्ण है, और अरुचि का कारण यह है कि—एक तो ऐसी दशा में इस लक्षण में 'सदृश के विषय में होनेवाला' यह विशेषण निष्फल हो जाता है; क्योंकि 'सदृश के ज्ञान से उद्बुद्ध संस्कार द्वारा उत्पन्न स्मरण' असदृश के विषय में होता नहीं; और दूसरे, 'समुद्र का स्मरण' तो 'सदृश का ज्ञान' हुआ ही; क्योंकि स्मरण भी ज्ञानरूप है और समुद्र सेना के सदृश है। एवं उस 'समुद्र के स्मरण' के द्वारा 'शय्या-आदि के स्मरण के अनुकूल संस्कार का उद्बोधन होता ही है, अतः शेष-शय्या आदि का स्मरण फिर भी 'सदृश के ज्ञान से उद्बुद्ध संस्कार द्वारा उत्पन्न' हो गया। सो ऐसा लक्षण बनाने पर भी शय्या और निद्रा का स्मरण अलंकार-रूप हो ही जायगा, अतः यह सब प्रयास व्यर्थ है।

इस पद्य में जिस स्मरण का वर्णन है वह चिंता द्वारा उद्बुद्ध संस्कार का फलस्वरूप है, सादृश्य द्वारा उद्बुद्ध संस्कार का नहीं; अतः अलंकार नहीं कहा जा सकता। और व्यंग्य नहीं है—वाच्य है—अतः भाव भी नहीं कहा जा सकता।

इसी तरह—

दरानमत्कन्धरबन्धमीषन्निमीलितस्निग्धविलोचनाब्जम्।
अनल्पनिःश्वासभरालसाङ्ग्याः स्मरामि संगं चिरमङ्गनायाः।

नायक अपने मित्र से कहता है—अत्यंत श्वास-समूह से आलस्य-युक्त शरीरवाली अंगना के, जिसमें गरदन का जोड़ किंचित् झुका हुआ और स्नेहपूर्ण नेत्र-कमल थोड़े-से मिंचे हुए थे ऐसे, संग को स्मरण करता हूँ।

इस जगह भी स्मरण न भाव है, न अलंकार। क्योंकि व्यभिचारी (प्रथमानन में बताए हुए हर्षादिक ३४ में से एक) व्यंग्य होने पर ही 'भाव' कहलाता है, वाच्य होने पर नहीं; जैसे कि "सा वै कलङ्कविधुरा मधुराननश्रीः (प्रथमानन पृ० २१०)" इत्यादि में। कारण, आलंकारिकों का यह सिद्धांत है कि—जब स्मरण सादृश्यमूलक हो तब 'निदर्शना' आदि की तरह 'अलंकार' होता है तथा सादृश्यमूलक न हो और व्यंग्य हो तब 'भाव' होता है और यदि ये दोनों ही बातें न हों तो 'केवल वस्तुरूप' होता है।

अप्पयदीक्षित का खंडन

अप्पयदीक्षित ने तो लिखा है कि—

"स्मृतिः सादृश्यमूला या वस्त्वन्तरसमाश्रया ।
स्मरणालङ्कृतिः सा स्यादव्यंग्यत्वविशेषिता ॥

जिसका मूल सादृश्य हो और जो किसी भिन्न वस्तु (फिर वह सदृश हो अथवा असदृश) के विषय में हो वह स्मृति 'अव्यंग्यत्व' विशेषण से युक्त हो—अर्थात् व्यंग्य न हो तो 'स्मरणालंकार' कहलाती है। जैसे—

अपि तुरगसमीपादुत्पतन्तं मयूरं
न स रुचिरकलापं बाणलक्षीचकार ।
सपदि गतमनस्कश्चित्रमाल्यानुकीर्णे
रतिविगलितबन्धे केशपाशे प्रियायाः ॥

रघुवंश में दशरथ की मृगया का वर्णन है। कवि कहता है—घोड़े के समीप में भी उड़ते सुंदर पंखोंवाले मयूर को उसने अपने बाण का लक्ष्य न बनाया। बात यह थी कि मयूर के देखते ही उसका चित्त, रति के कारण उन्मुक्तबंधन और विविध वर्णों की पुष्प-मालाओं से व्याप्त, प्रिया के केशपाश में चला गया—उसे मयूर के देखते ही वैसे केशपाश का स्मरण हो आया।

अथवा जैसे—

दिव्यानामपि कृतविस्मयां पुरस्ता-
दम्भस्तः स्फुरदरविन्दचारुहस्ताम् ।
उद्वीक्ष्य श्रियमिव काञ्चिदुत्तरन्ती-
मस्माषीज्जलनिधिमन्थनस्य शौरिः ॥

'माघ-काव्य' में जल-क्रीड़ा का वर्णन है। कवि कहता है—भगवान् कृष्ण ने, स्वर्ग-वासियों को भी विस्मित कर देने-वाली किसी नायिका को, जब, सुंदर कर में चंचल कमल लिए, लक्ष्मी की तरह, अपने सामने जल से निकलती देखा, तो उन्हें समुद्र-मंथन का स्मरण हो आया—उनकी आँखों के आगे लक्ष्मीजी के प्रादुर्भाव का समय नाचने लगा।

इन दो उदाहरणों में से प्रथम उदाहरण में सदृश पदार्थ (मोर के पंख) के देखने से उसके सदृश (प्रिया के विविध पुष्पमय केशपाश) की स्मृति हुई है और दूसरे उदाहरण में सदृश पदार्थ (कमल हाथ में लिए नायिका) के देखने से उसके सदृश लक्ष्मी से संबंध रखनेवाले समुद्र-मंथन की स्मृति हुई है। दोनों जगह सादृश्यमूलक और भिन्न वस्तु के विषय में होनेवाली स्मृति समान ही है। अतएव (अर्थात् यह लक्षण सदृश की स्मृति में भी काम दे और सदृश के संबंधी की स्मृति में भी) लक्षण में सदृश और असदृश दोनों को समान रूप से प्रतिपादित करनेवाले 'भिन्न वस्तु' शब्द का ग्रहण सार्थक है। क्योंकि यदि ऐसा न किया जाता तो केवल सदृश वस्तु के विषय की स्मृति का ही ग्रहण होता

और इस तरह दूसरे उदाहरण में स्मरणालंकार के लक्षण की अव्याप्ति हो जाती।

सौमित्रे ! ननु सेव्यतां तरुतलं चण्डांशुरुज्जृम्भते
चण्डांशोर्निशि का कथा रघुपते ! चन्द्रोऽयमुन्मीलति।
वत्सैतद्विदितं कथं नु भवता ? धत्ते कुरङ्गं यतः,
क्वाऽसि प्रेयसि हा कुरङ्गनयने ! चन्द्रानने जानकि ॥

हनुमन्नाटक में, सीता के वियोग के समय, राम-लक्ष्मण की उक्ति-प्रत्युक्ति है। राम ने कहा—लक्ष्मण, वृक्ष के नीचे चलो; क्योंकि चंडकिरण—सूर्य—उदय हो रहा है। लक्ष्मण ने कहा—रघुपते, रात के समय सूर्य की क्या बात, यह तो चंद्रमा उदय हो रहा है। राम ने कहा— वत्स, तुमने यह कैसे समझ लिया कि यह चंद्रमा है? लक्ष्मण ने कहा—क्योंकि वह मृग को धारण कर रहा है (सूर्य में मृग कहाँ से आवेगा)। यह कहते ही राम ने कहा—हाय! मृगनयनी! चंद्रमुखी! प्रियतमे! जानकी! तुम कहाँ हो?

यहाँ भी यद्यपि (लक्ष्मण के मुख से) सुने 'मृग' पद से मृग के नेत्रों की स्मृति हुई और उस स्मृति के कारण उन नेत्रों के सदृश सीता के नेत्रों की तथा उन नेत्रों से संबंध रखनेवाली सीता की स्मृति हुई है, तथापि यह स्मृति व्यंग्य है और अलंकार्य है। ऐसी स्मृति में लक्षण की अतिव्याप्ति न होने के लिये "अव्यंग्य" विशेषण दिया गया है।

अत्युच्चाः परितः स्फुरन्ति गिरयः स्फारास्तथाम्भोधय-
स्तानेतानपि बिभ्रती किमपि न श्रान्ताऽसि तुभ्यं नमः ।
आश्चर्येण मुहुर्मुहुः स्तुतिमिति प्रस्तौमि यावद् भुव-
स्तावद् बिभ्रदिमां स्मृतस्तव भुजो वाचस्ततो मुद्रिताः ॥

कवि राजा की स्तुति में कहता है—'चौतरफ बड़े ऊँचे ऊँचे पहाड़ और बड़े बड़े समुद्र दिखाई दे रहे हैं, (हे भगवति !) इन सबको धारण करती हुई भी तू कुछ भी न थक पाई, तुझे प्रणाम है'—इस तरह, आश्चर्य के कारण, ज्योंही पृथ्वी की बार बार स्तुति का प्रस्ताव करता हूँ, त्योंही (जो इस पृथ्वी को भी धारण करती है उस) आपकी भुजा का स्मरण हो आया, फिर क्या था जबान बंद हो गई—मारे आश्चर्य के मैं तो हक्का-बक्का सा हो गया, यही न सूझ पड़ा कि मैं आपके विषय में क्या कहूँ !

यहाँ जिसकी स्तुति की जा रही है उस पृथ्वी से संबंध रखनेवाले राजा की स्मृति सादृश्यमूलक नहीं है, अतः यहाँ स्मरणालंकार नहीं है; किंतु संचारिभावरूप स्मृति राजा के विषय में रतिरूपी भाव का अंग हो गई है, अतः 'प्रेयान्' अलंकार है। यहाँ अतिव्याप्ति न होने के लिये स्मृति को 'जिसका मूल सादृश्य हो' यह विशेषण दिया गया है।

सो यह सब कथन सुंदरता से शून्य है—इसमें कोई ऐसी बात नहीं जो विद्वानों का चित्त लुभा सके। देखिए, सबसे पहले तो जो अप्पयदीक्षित ने यह लिखा है कि—"सदृश

और असदृश जो केशपाश और समुद्र-मंथन हैं उन दोनों के संग्रह होने के लिये लक्षण में 'भिन्न वस्तु' शब्द का ग्रहण सार्थक है।" सो यह ठीक नहीं। कारण, "सादृश्य-मूलक स्मृति को स्मरणालंकार कहा जाता है" इतने कथन से ही केशपाश के स्मरण की तरह समुद्र-मंथन के स्मरण का भी संग्रह हो सकता है, अतः 'भिन्न वस्तु के विषय में होने-वाली' यह विशेषण निरर्थक है। पहले पद्य में सादृश्य देखने से उद्बुद्ध संस्कार से उत्पन्न होने के कारण और दूसरे पद्य में सादृश्य देखने से उद्बुद्ध संस्कार से उत्पन्न लक्ष्मी के स्मरण से उद्बुद्ध होने के कारण सादृश्यमूलकता समान ही है। अर्थात् एक जगह सादृश्य साक्षात् मूल है, दूसरी जगह परंपरया; पर स्मृति का मूल सादृश्य होने में तो कोई बाधा है नहीं। क्योंकि 'सादृश्यमूलक' कहने से 'सदृश-पदार्थ के विषय में होनेवाली' यह अर्थ तो निकलता नहीं कि जिससे 'समुद्र-मंथन के स्मरण' का संग्रह न होगा। अतः 'भिन्न वस्तु के विषय में होनेवाली' यह विशेषण निरर्थक* ही है।

---

* नागेश कहते हैं—'सादृश्य' के संबंधी नियत होते हैं, अतः संबंधी की आकांक्षा होने पर नियमतः उपस्थित 'स्मरण किए जानेवाले के सदृश' का ही उसके साथ अन्वय होगा, न कि असदृश का। ऐसी दशा में 'सादृश्यमूलक' कहने से सदृश की स्मृति का ही संग्रह होगा, सदृश के संबंधी की स्मृति का नहीं; अतः 'भिन्न वस्तु के विषय में होनेवाली' यह विशेषण सार्थक है।

अब दूसरी बात लीजिए। आपने लिखा है कि—"सौमित्रे ! ननु सेव्यतां तरुतलम्...." इस पद्य में स्मृति व्यंग्य है और अलंकार्य है, सो उस स्मृति में अतिव्याप्ति न होने के लिये 'स्मृति' को 'अव्यंग्य' यह विशेषण दिया गया है।" सो यह भी ठीक नहीं। क्योंकि यहाँ 'स्मृति' अलंकार्य* नहीं है; किंतु जिसका जानकी आलंबन है, रात्रि का समय उद्दीपन है, संताप आदि अनुभाव है और उन्मादरूपी व्यभिचारी भाव पोषक है वह 'विप्रलंभ शृंगार', प्रधान होने के कारण, अलंकार्य है। प्रकृत स्मृति तो उसे उत्कृष्ट करनेवाली है अतः अलंकाररूप है, सो उसे हटाने के लिए 'अव्यंग्य' विशेषण देना सर्वथा अनुचित है। और यह तो

---

* नागेश कहते हैं—"प्रकृत पद्य में 'हाय! कहाँ है' इन पदों से प्रधानतया स्मृति ही अभिव्यक्त होती है; अतः ब्याहे जाते नौकर के साथ चलनेवाले राजा की तरह अथवा "शठेन विधिना निद्रा दरिद्रीकृतः (प्रथमानन)" इत्यादिक में 'शठ' आदि पदों से अभिव्यक्त असूया की तरह स्मृति ही प्रधान होने से वही अलंकार्य है। वह किसी को अलंकृत नहीं करती, प्रत्युत 'विप्रलंभ' उसे अलंकृत करता है अतः उसके अलंकार्य होने में कोई बाधा नहीं।" पर यह बात हमें नहीं जँची। कारण, जिस प्रकरण का यह पद्य है उस पूरे प्रकरण का व्यंग्य विप्रलंभ है, अतः उस रस का अंग स्मृति हो यही उचित है और कवि ने भी उसे पुष्ट करने के लिये ही यह पद्य लिखा है। सहृदय लोग जरा इस बात को सोच देखें।

—अनुवादक।

आप कह नहीं सकते कि—'व्यंग्य होने' और 'अलंकार होने' में परस्पर विरोध है—जो व्यंग्य हो वह अलंकार हो ही न सके; क्योंकि नित्यव्यंग्य—अर्थात् जो कभी वाच्य होते ही नहीं उन—रस, भाव आदि को भी दूसरे के अंगरूप होने पर अलंकार माना जाता है। रही यह बात कि 'प्रधान व्यंग्य अलंकार-रूप नहीं हो सकता' सो यह वस्तुतः ठीक है, और अतएव—प्रधान व्यंग्य की निवृत्ति के लिये—हमने प्रथमतः ही यह कह दिया है कि "सभी अलंकारों के लक्षणों में 'उपस्कारक' विशेषण देना चाहिए—अर्थात् अलंकार तभी कहला सकता है जब वह किसी अन्य को उपस्कृत करे।" पर यहाँ स्मृति प्रधान व्यंग्य नहीं है, किंतु अंगरूप है अतः अप्पयदीक्षित के इस कथन में कोई तत्त्व नहीं।

तीसरी बात अप्पयदीक्षित ने यह लिखी है कि—"अत्युच्चाः परितः स्फुरन्ति गिरयः... इस पद्य में, स्मृतिरूपी संचारी भाव राजा के विषय में होनेवाली रति का अंग है, अतः प्रेमान् अलंकार है।" सो यह बात भी नहीं बन सकती। बात यह है कि—जब कोई भाव किसी दूसरे भाव आदि का अंग हो तभी 'प्रेयान्' अलंकार होता है। पर प्रकृत पद्य में स्मृति 'भाव' रूप ही नहीं है; कारण, स्मृति का वाचक 'स्मृ' धातु पद्य में विद्यमान है अतः वह वाच्य है और वाच्य व्यभिचारी को 'भाव' कहना उचित नहीं; क्योंकि ऐसा मानने पर "**व्यभिचार्यञ्जितो भावः**—अर्थात् व्यंग्य

व्यभिचारी भाव कहलाता है" इस ('काव्यप्रकाश') के सिद्धांत का विरोध होता है।

काव्यप्रकाशकार ही नहीं, किंतु "अलंकारसर्वस्वकार" भी यही कहते हैं। उनका कथन है कि—

"प्रेयान्" अलंकार का विषय तो सादृश्य के अतिरिक्त अन्य किसी निमित्त से उद्बोधित स्मृति है और सो भी विभावादि के द्वारा अभिव्यक्त होने पर; जैसे '**अहो! कोपेऽपि कान्तं मुखम्**—अर्थात् आश्चर्य है कि उसका मुख कोप में भी मनोहर था' इत्यादिक में। अपने वाचक शब्द से प्रतिपादित होने पर 'स्मृति' भावरूप नहीं होती; जैसे—

'अत्रानुगोदं मृगयानिवृत्तस्तरङ्गवातेन विनीतखेदः।
रहस्त्वदुत्सङ्गनिषण्णमूर्धा स्मरामि वानीरगृहेषु सुप्तम्॥

पुष्पक विमान द्वारा लंका से लौटते समय पंचवटी के किसी स्थल को दिखाते हुए भगवान् राम सीता से कह रहे हैं—'यहाँ, गोदावरी के किनारे किनारे शिकार खेलकर लौटा हुआ और लहरियों के वायु से खेद-रहित किया गया मैं, जो, एकांत में तुम्हारी गोदी में शिर रखकर वेतस के घरों में शयन करता था उस शयन का स्मरण कर रहा हूँ—ओह! इस स्थल के देखते ही उस शयन की स्मृति जग उठी!'

इत्यादिक में, जहाँ कि 'स्मृ' धातु द्वारा स्मरण का स्पष्ट प्रतिपादन किया गया है।"

अब यदि आप कहें कि—हमारे हिसाब से "भावादिक का अंगरूप भाव होना" 'प्रेयान्' अलंकार का लक्षण नहीं है, किंतु "भावादिक का अंगरूप केवल संचारी होना" ही है। ऐसा मानने से, वाचक शब्द-द्वारा प्रतिपादित होने के कारण, स्मरण के, भावरूप न होने पर भी संचारी होने में तो कोई बाधा है नहीं, अतः प्रकृत पद्य में 'प्रेयान्' अलंकार कहना विरुद्ध नहीं। तो हम कहते हैं—तब आपको "दूसरे" का अंगरूप स्थायी (रति आदि) रसालंकार कहा जाता है, न कि अभिव्यक्त होनेवाला" यह मानने में भी कोई अड़चन नहीं होनी चाहिए। क्योंकि जो बात वहाँ है वही यहाँ भी है। यदि आप कहें कि—हाँ; तो आपके हिसाब से

"चराचरोभयाकारजगत्कारणविग्रहम् ।
कल्पान्तकालसंक्रुद्धं हरं सर्वहरं नुमः ॥

हम, स्थावर-जंगम दोनों रूपवाले जगत् के कारण स्वरूप और प्रलय-काल में कुपित सब के संहार करनेवाले शिव की स्तुति करते हैं।"

यहाँ क्रोध के, वाचक शब्द ('संक्रुद्ध') से प्रतिपादित होने पर भी 'देवता के विषय में प्रेम का अंग स्थायी' होने में तो कोई बाधा है नहीं, अतः "रसालंकार" होना चाहिए। यदि आप कहें कि—हमें यह भी स्वीकृत है; तो आपकी बात मानी नहीं जा सकती; क्योंकि ऐसा मानना सिद्धांत से विरुद्ध है।

अतः यह सिद्ध हुआ कि—जिस तरह अभिव्यक्त स्थायी जब अन्य का अंग होता है तब 'रसालंकार' होता है, वैसे ही अभिव्यक्त ही संचारी जब भावादिक का अंग हो तब 'प्रेयान्' अलंकार होता है। ऐसी दशा में पूर्वोक्त पद्य में वाच्य स्मृति को लेकर 'प्रेयान्' अलंकार नहीं कहा जा सकता; किंतु पूर्वार्ध द्वारा अभिव्यक्त पृथिवी के विषय की रति, उत्तरार्ध द्वारा अभिव्यक्त राजा के विषय की रति का अंग हो गई है, इसे लेकर यहाँ 'प्रेयान्' अलंकार की सत्ता कहना उचित है। जैसा कि इस पद्य के विषय में मम्मट भट्ट ने कहा है कि—"यहाँ पृथिवी के विषय में होनेवाला रतिरूपी भाव राजा के विषय में होनेवाले रति-भाव का अंग है।"

अच्छा, मम्मट भट्ट को भी जाने दीजिए। पर बड़ा भारी आश्चर्य तो यह है कि आप अपने बनाए "कुवलयानंद" नामक निबंध को भी भूल गए। उसमें स्वयं आपने भी तो लिखा है—"विभाव और अनुभाव से अभिव्यक्त 'निर्वेद' आदिक भाव जहाँ किसी दूसरे का अंग हो जाता है वहाँ 'प्रेयान्' अलंकार होता है।" अतः आपका यह सब लेख गड़बड़ ही है।

'अलंकार-सर्वस्व' और 'अलंकाररत्नाकर' के लक्षण का विचार

और जो 'अलंकार-सर्वस्व' तथा 'अलंकाररत्नाकर' में स्मरणालंकार का लक्षण लिखा है कि—"सदृश के अनुभव

से अन्य किसी वस्तु की स्मृति का नाम स्मरणालंकार है।" सो यह लक्षण भी नहीं हो सकता। कारण, इस लक्षण की सदृश के स्मरण से उद्बुद्ध संस्कार से उत्पन्न स्मरण में अव्याप्ति है—अर्थात् स्मरण से उत्पन्न स्मरण इस लक्षण के अंतर्गत नहीं हो सकता; क्योंकि इस लक्षण में "सदृश का अनुभव" ही लिखा गया है, स्मरण नहीं। स्मरण से उत्पन्न स्मरण का उदाहरण जैसे—

सन्त्येवाऽस्मिन् जगति बहवः पक्षिणो रम्यरूपा-
स्तेषां मध्ये मम तु महती वासना चातकेषु।
यैरध्यक्षैरथ निजसखं नीरदं स्मारयद्भिः
स्मृत्यारूढं भवति किमपि ब्रह्म कृष्णाभिधानम्॥

इस जगत् में यद्यपि बहुतेरे पक्षी रमणीय रूपवाले हैं, तथापि उनमें से मेरे हृदय पर तो सबसे अधिक प्रभाव चातकों का ही पड़ता है। जो आँखों के सामने आते ही अपने मित्र मेघ का स्मरण करवाते हैं, जिससे कृष्ण नामक एक अनिर्वचनीय ब्रह्म स्मृति में आरूढ़ हो जाता है—

यहाँ चातक के दिखाई देने से, दो संबंधियों में से एक का ज्ञान होने के कारण दूसरे संबंधी जलधर का स्मरण हो आता है, जो कि भगवान् श्रीकृष्ण के सदृश है। उस स्मरण से भगवान् श्रीकृष्ण का स्मरण होता है और वह श्रीकृष्ण का स्मरण वक्ता का जो श्रीकृष्ण में प्रेम है उसका अंग हो गया है। सो इस स्मरण को स्मरणालंकार मानने

में किसी प्रकार की आपत्ति नहीं। पर यह उदाहरण लक्षण के अंतर्गत नहीं होता, अतः लक्षण में न्यूनता होना स्पष्ट है। हाँ, यदि "सदृश का अनुभव" के स्थान पर "सदृश का ज्ञान" लिख दिया जाय तो यह लक्षण भी संगृहीत हो सकता है—इसे भी मानने में कोई बाधा नहीं रहती। यह है संक्षेप।

स्मरणालंकार की ध्वनि

अच्छा, अब इस अलंकार की ध्वनि का उदाहरण सुनिए। जैसे—

इदं लताभिः स्तबकानताभिर्मनोहरं हन्त ! वनान्तरालम्।
सदैव सेव्यं, स्तनभारवत्यो न चेद्युवत्यो हृदयं हरेयुः।

ओह ! फूलों के गुच्छों से झुकी हुई लताओं से मनोहर यह वन का मध्य-भाग सदैव सेवन करने योग्य है; यदि स्तनों के भार से युक्त युवतियाँ हृदय हरण न कर लें।

यहाँ 'फूलों के गुच्छों' से झुकीं लताओं द्वारा स्तनों के भार से युक्त युवतियों का स्मरण प्रधान है; क्योंकि वह अन्य किसी को उपस्कृत नहीं करता; यह वाक्य उस स्मरण के चमत्कार में ही समाप्त हो जाता है। और वह स्मरण व्यंग्य भी है; कारण, 'स्तनों' और 'फूलों के गुच्छों' रूपी बिंब-प्रतिबिंब-भावापन्न साधारण धर्म के वाच्य होने पर भी उसके द्वारा सिद्ध सादृश्यमूलक स्मरण किसी शब्द से वाच्य नहीं। अतः इस पद्य को स्मरणालंकार की ध्वनि मानने में कोई बाधा नहीं।

रहा मूल के "युवत्य:" शब्द के विषय में यह प्रश्न कि 'युवति' शब्द ह्रस्व इकारांत है, अतः प्रथमा के बहुवचन में उसका रूप "युवतय:" होना चाहिए, "युवत्य:" नहीं; सो यह कुछ है नहीं। क्योंकि *"सर्वतोऽक्तिन्नर्थात्" इस वार्त्तिक से "ङीष्" प्रत्यय कर देने पर "युवती" शब्द दीर्घांत भी हो सकता है।

अथवा जैसे—

इदमप्रतिमं पश्य सरः सरसिजैर्वृतम्।
सखे! मा जल्प नारीणां हृदयानि दहन्ति माम्॥

एक प्रेमी से उसके मित्र ने कहा—कमलों से भरे इस अनुपम सरोवर को देखिए। प्रेमी ने कहा—मित्र, बात न करो; (इसे देखते ही) मुझे नारियों के नयन जलाए देते हैं।

यहाँ पर कमलों के ज्ञान के वशीभूत, कमलों के सदृश नेत्रों की, स्मृति प्रधानतया ध्वनित होती है।

स्मरणालंकार में दोष

इस स्मरणालंकार में उपमा के जितने दोष हैं, वे प्रायः सभी दोष हैं; पर स्मरणालंकार का विशेषरूपेण दोष है

---

* यु धातु से शतृप्रत्यय करने के अनंतर ङीप् प्रत्यय से भी युवती शब्द सिद्ध हो सकता है, अतः इतने क्लेश की कोई आवश्यकता नहीं।

'सादृश्य का किसी शब्द से प्रतिपादित होना—अर्थात् पद्य में सादृश्य के (चाहे किसी तरह) प्रतिपादक किसी शब्द का आ जाना। कारण; ऐसा नियम है कि—इस अलंकार में सादृश्य व्यंग्य ही होना चाहिए, वाच्य कभी नहीं।

उपकारमस्य साधोर्नैवाऽहं विस्मरामि जलदस्य।
दृष्टेन येन सहसा निवेद्यते नवघनश्यामः ॥

मैं इस सज्जन जलद का उपकार भूलता ही नहीं, जो कि दिखाई देते ही नव-घन-श्याम (नवीन मेघ के समान श्यामवर्ण श्रीकृष्ण) को उपस्थित कर देता है—वे बिना याद आए रहते ही नहीं।

यहाँ भगवान् का मेघ से सादृश्य, स्मरण के द्वारा, अपने आप प्रतीत हो रहा है। वह सादृश्य, "घनश्याम" शब्द के प्रयोग से वाच्यवृत्ति में लेकर कदर्थित कर दिया गया है—उसका दरजा घटा दिया गया है। हाँ, यदि यहाँ "नवघनश्यामः" शब्द के स्थान पर "देवकीतनयः" शब्द कर दिया जाय तो पद्य निर्दोष हो सकता है।

साधारण धर्म के विषय में विचार

'स्मरणालंकार' में सादृश्य के सिद्ध करनेवाले साधारण धर्म के साक्षात् ग्रहण करने और न करने की व्यवस्था उपमा की तरह ही है। जैसे कि—

१—उपमा में कहीं साधारण धर्म नियमतः व्यंग्य होता है, अतः ऐसे धर्म का साक्षात् ग्रहण कहीं भी होना ही न चाहिए। जैसे "शंख" की तरह श्वेत कांतिवाला"। यहाँ श्वेतता रूपी साधारण धर्म उपमेय के विशेषण 'कांति' का विशेषण होकर आया है। उसका यद्यपि उपमान के साथ साक्षात् संबंध नहीं है, तथापि समीपवर्त्ती होने के कारण वही उपमान का भी साधारण धर्म बन जाता है। ऐसी जगह उपमान में उसका व्यंग्य रहना ही उचित है—अर्थात् "श्वेत शंख की तरह श्वेत कांतिवाला" यह कहना उचित नहीं।

२—"शंख के समान श्वेत" इत्यादिक में तो 'श्वेतता' आदि साधारण धर्म वाच्य बनाया जाता है, पर तब, जब कि अनेक धर्मों में से यह समझना कठिन हो जाता है कि—यहाँ इसी धर्म के द्वारा सादृश्य है अथवा अन्य किसी धर्म के द्वारा। क्योंकि सर्वत्र ही उपमान और उपमेय से समान रूप में संबंध रखनेवाला 'श्लिष्ट शब्द' रूपी अथवा अन्य कोई कवि का अनभिप्रेत धर्म भी उपमा का प्रयोजक हो सकता है, न कि प्रसिद्ध धर्म ही। अतः उस अनभिप्रेत धर्म को प्रकृत उपमा का प्रयोजक न समझ लिया जाय इसलिये कवि के अभिप्रेत धर्म का ग्रहण आवश्यक हो जाता है।

अथवा जैसे "कमल-सा सुंदर मुख" इत्यादि में 'सुंदरता' आदि धर्म। यहाँ भी 'सुंदरता' आदि का ग्रहण केवल इसी

दृष्टि से है कि इससे भिन्न धर्म उपमा का प्रयोजक न मान लिया जाय।

कहीं ऐसे सुप्रसिद्ध धर्मों को वाच्य नहीं भी बनाया जाता है—उन्हें श्रोताओं की बुद्धि पर ही छोड़ दिया जाता है; क्योंकि ऐसी जगह प्रसिद्धि के प्रबल होने के कारण वक्ता को अन्य किसी धर्म की उपस्थिति नहीं हो पाती। जैसे—"कमल-सा मुख" इत्यादि में 'सुंदरता' आदि।

३—हाँ, जो धर्म अप्रसिद्ध हो उसका साक्षात् ग्रहण आवश्यक है; अन्यथा यदि लोग उस धर्म को न समझ पाए तो कवि का उपमा बनाने का प्रयास व्यर्थ हो जायगा। जैसे—नीरदा इव ते भान्ति बलाकाराजिता भटाः—अर्थात् वे योद्धा मेघों के समान प्रतीत होते हैं; क्योंकि जैसे मेघ 'बलाकाराजित' (बगुलों की पंक्ति से शोभित) हैं वैसे ही वे भी 'बलाकाराजित' (बल और आकार के कारण किसी से न जीते गए) हैं।" इत्यादि में ('बलाकाराजित' आदि) श्लिष्ट शब्द-रूपी धर्म। यदि इस धर्म को स्पष्ट शब्दों में न लिखा जाय तो लोग समझ ही न पाएँगे कि मेघों और योद्धाओं में क्या समान धर्म है। अतः ऐसे अप्रसिद्ध धर्मों का साक्षात् ग्रहण आवश्यक है।

इस तरह यह सिद्ध हुआ कि (उपमा में) कुछ साधारण धर्म ऐसे होते हैं जिनका साक्षात् ग्रहण नहीं होना चाहिए, कुछ ऐसे होते हैं जिनका साक्षात् ग्रहण हो भी

सकता है और नहीं भी, और कुछ ऐसे होते हैं जिनका ग्रहण होना ही चाहिए। यह है सहृदयों का संमत व्यवहार। यही बात स्मरणालंकार के विषय में भी समझनी चाहिए; क्योंकि इस अलंकार को भी जीवन देनेवाली उपमा ही है। सारांश यह कि—स्मरणालंकार में भी साधारण धर्म तीनों प्रकार का हो सकता है।

उपमा के साधारण धर्मों की तरह स्मरणालंकार के भी साधारण धर्म अनुगामी आदि अनेक प्रकार के हो सकते हैं। उनमें से

अनुगामी धर्मवाले स्मरणालंकार का वर्णन "स्मृत्यारूढं भवति किमपि ब्रह्म कृष्णाभिधानम्" इत्यादि पद्य में किया जा चुका है। और

बिंब-प्रतिबिंब-भावापन्न धर्मवाला स्मरणालंकार "भुजभ्रमितपट्टिश......" इत्यादि पद्य में वर्णन किया जा चुका है। वहाँ 'वज्र' और 'पट्टिश' तथा 'पहाड़ों' और 'हाथियों' का बिंब-प्रतिबिंब-भाव है।

उपचरित धर्म; जैसे—

क्वचिदपि कार्ये मृदुलं क्वापि च कठिनं विलोक्य हृदयं ते।
को न स्मरति नराधिप! नवनीतं किञ्च शतकोटिम् ॥

राजन्! किसी काम में कोमल और किसी काम में कठिन आपके हृदय को देखकर कौन ऐसा मनुष्य है जो मक्खन और वज्र को याद नहीं करता।

अथवा जैसे—

अगाधं परितः पूर्णमालोक्य स महार्णवम् ।
हृदयं रामभद्रस्य सस्मार पवनात्मजः ॥

अगाध और चौतरफ भरे महासमुद्र को देखकर हनुमान् को भगवान् रामचंद्र का स्मरण हो आया।

यहाँ पर 'कोमलता' आदि धर्म उपचरित (आरोपित) हैं। इन दोनों उदाहरणों में परस्पर यह विशेषता है कि—एक जगह अनुभव किए जाते हृदय में स्मरण किए जाते 'मक्खन' आदि के सादृश्य की सिद्धि हुई है और दूसरी जगह स्मरण किए जानेवाले हृदय में अनुभव किए जानेवाले समुद्र के सादृश्य की। क्योंकि सादृश्य अनुभूयमान और स्मर्यमाण दोनों प्रकार की वस्तुओं से संबंध रखता है।

केवल शब्दात्मक धर्म; जैसे—

ऋतुराजं भ्रमरहितं यदाऽहमाकर्णयामि नियमेन ।
आरोहति स्मृतिपथं तदैव भगवान् मुनिर्व्यासः ।

कवि कहता है—जब मैं ऋतुराज वसंत को सुनता हूँ कि वह 'भ्रमरहित' (भौरों का हितकारी) है; तभी भगवान् व्यास मुनि अवश्य ही मेरे स्मृति-पथ में आरूढ़ हो जाते हैं; क्योंकि वे भी भ्रम-रहित (यथार्थ ज्ञाता) हैं।

यहाँ पर 'भ्रमरहित' शब्द व्यासजी और वसंत दोनों में साधारण धर्मरूप है।

इसी तरह सुबुद्धि पुरुषों को साधारण धर्मों के अन्यान्य भेद भी तर्कित कर लेने चाहिएँ। यहाँ तो उनकी तरफ इशारा मात्र किया गया है।

इति स्मरणालंकार

— —

अथ रूपकालंकार

उपक्रम

अब जिन अलंकारों में अभेद प्रधान है उनमें से रूपकालंकार का निरूपण किया जाता है।

लक्षण

उपमेयतावच्छेदक (मुखत्व आदि) को आगे रखकर, शब्द द्वारा निश्चित की जानेवाली, उपमेय (मुख आदि) में उपमान (चंद्र आदि) की एकरूपता (अभेद) को 'रूपक' कहते हैं।

लक्षण का विवेचन

"उपमेयतावच्छेदक को आगे रखकर" इस विशेषण का फल यह है कि इस लक्षण की अपह्नुति, भ्रांतिमान्, अतिशयोक्ति और निदर्शना में अतिव्याप्ति नहीं होती। क्योंकि अपह्नुति में उपमेयतावच्छेदक का स्वेच्छा से ही निषेध कर दिया जाता है, भ्रांतिमान् में भ्रांति के उत्पन्न करनेवाले दोष

द्वारा उपमेयतावच्छेदक का ज्ञान रोक दिया जाता है और अतिशयोक्ति और निदर्शना का मूल साध्यवसाना लक्षणा है (जिसमें उपमेयतावच्छेदक का आगे रखना बन नहीं सकता) अतः इनमें उपमेयतावच्छेदक का पुरस्कार नहीं होता।

"शब्द के द्वारा" इस विशेषण का फल यह है कि—जब हम मुख को प्रत्यक्ष देखने के समय 'यह मुख चंद्रमा है' इस तरह का आहार्य (बाधित जानते हुए कल्पित) निश्चय करें, तब उस निश्चय में आनेवाली मुख के साथ चंद्रमा की एकरूपता से रूपक का भेद हो गया; क्योंकि वह एकरूपता शब्द के द्वारा निश्चित नहीं, किंतु इच्छा और इंद्रिय के द्वारा निश्चित हुई है।

"निश्चित की जानेवाली" इस विशेषण का फल यह है कि—'मुख मानो चंद्र है' इस संभावना रूप उत्प्रेक्षा का निवारण हो जाता है; कारण, इस वाक्य में चंद्रमा से एक-रूपता का निश्चय नहीं, किंतु संभावना है।

लक्षण में जो "उपमान" और "उपमेय" शब्द आए हैं, उनसे सादृश्य प्राप्त हो जाता है, इस कारण "मनोरम रमणी सुख है" इत्यादि शुद्ध (बिना) सादृश्य के आरोप में आने-वाली एकरूपता की निवृत्ति हो जाती है।

आप कहेंगे—और सब तो ठीक; पर इस शुद्ध आरोप-वाली एकरूपता को हटाने की क्या आवश्यकता? इसे रूपक मानने में क्या आपत्ति है? तो इस प्रश्न का उत्तर

यह है कि—सादृश्यमूलक हो एकरूपता रूपक कहलाती है, अन्यथा नहीं। अतएव तो कहते हैं कि—

"तद्रूपकमभेदो य उपमानोपमेययोः। (मम्मट)

अर्थात् जो उपमान और उपमेय का अभेद है वही रूपक है।" और

"उपमैव तिरोभूतभेदा रूपकमुच्यते। (दंडी)

अर्थात् उपमा में से ही जब 'भेद' हटा दिया जाता है, तब वह रूपक कहलाने लगती है।"

तात्पर्य यह कि—भेद और अभेद दोनों को लिए हुए सादृश्य उपमा कहलाता है और जहाँ उसमें से भेद हटा दिया जाय—केवल अभेद रह जाय, वहाँ रूपक हो जाता है।

हाँ, तो अब यह बात सिद्ध हो गई कि—सादृश्यमूलक अभेद का ही नाम रूपक है, अतः शुद्ध अभेद को रूपक न मानना उचित है।

अभेद किन किन रूपों में आता है

यह अभेद काव्यों में तीन प्रकार से आया करता है—संबंधरूप से, विशेषणरूप से और विशेष्यरूप से। जहाँ उपमान और उपमेय दोनों एक विभक्ति में आवें वहाँ यह अभेद 'संबंधरूप' से रहता है और अन्यत्र किसी शब्द के अर्थरूप में आता है, अतः कहीं विशेषणरूप से रहता है

और कहीं विशेष्यरूप से। इसका विवेचन आगे उदाहरणों में किया जायगा।

'रत्नाकर' का खंडन

'रत्नाकर' ने लिखा है—"सादृश्य के कारण अथवा अन्य किसी संबंध के कारण से भिन्न पदार्थों की समानाधिकरणता (एक विभक्ति में आना आदि) का सभी निरूपण रूपक कहलाता है। अर्थात् जहाँ कहीं दो भिन्न पदार्थों को अभेद संबंध से आए देखो वहाँ रूपक समझ लो। कारण, ऐसे सभी अभेदों का मूल सारोप लक्षणा है। वह जैसी सादृश्य-मूलक अभेद में होती है वैसी ही अन्य-संबंध-मूलक अभेद में होती है। उसके समान होने के कारण सादृश्य-मूलक अभेद की तरह अन्य-संबंध-मूलक अभेद भी यहाँ (रूपक में) लिया जाना चाहिए। इस कारण प्राचीनों का यह दुराग्रह ही है कि—'उपमान और उपमेय के अभेद का नाम ही रूपक है, कार्य-कारण के अभेद का नहीं'।"

'रत्नाकर' का यह कथन ठीक नहीं। कारण, एक तो ऐसी दो भिन्न पदार्थों की समानाधिकरणता अपह्नुति आदि में भी होती है, अतः आपके लक्षण की वहाँ अतिव्याप्ति हो जायगी। दूसरे, आपने ही पहले लिखा है कि—"सादृश्य-मूलक स्मरण का नाम स्मरणालंकार है, चिंतादिमूलक नहीं।" अब आप जरा सोचिए कि—यदि आप सादृश्यमूलक न होने पर भी कार्य-कारण में कल्पित ताद्रूप्य को रूपक मानते हैं,

तो फिर जिसका मूल सादृश्य न हो किंतु चिंतादिक हो उस स्मरण की भी अलंकारता आपको मंजूर होना उचित है। आप कहेंगे—ऐसा करने से स्मरण को जो 'भाव' रूप बताया जाता है, उसके लिये कोई स्थान न रहेगा। सभी स्मरण तो अलंकार-रूप हो गए, फिर भावरूप स्मरण कहाँ से आवेगा? पर यह ठीक नहीं। कारण, 'भाव' होने के लिये व्यंग्य स्मरण विद्यमान है। अर्थात् ऐसा मानने में कोई बाधा नहीं कि व्यंग्य स्मरण 'भाव' कहलाता है और वाच्य स्मरण अलंकार। फिर आप चिंतादिमूलक स्मरण को स्मरणालंकार क्यों नहीं मानते? अब यदि आप कहें कि—ऐसा मानना संप्रदाय-विरुद्ध है, तो फिर रूपक में भी वही बात है। जो अभेद सादृश्यमूलक न हो उसे रूपक मानना भी संप्रदाय-विरुद्ध है। अतः बिना सोचे-समझे प्राचीनों की परिपाटी में अड़ंगा लगाना अच्छा नहीं।

अप्पयदीक्षित का खंडन

अप्पयदीक्षित ने लिखा है—

"बिम्बाविशिष्टे निर्दिष्टे विषये यद्यनिह्नुते।
उपरञ्जकतामेति विषयी रूपकं तदा॥

अर्थात् जब विषयी (उपमान), बिंब (जिसके प्रतिबिंब रूप से उपमान का विशेषण आवे ऐसे उपमेय के विशेषण) से रहित, विषयिबोधक से भिन्न शब्द द्वारा बोधित,

और न छिपाए गए विषय (उपमेय) का उपरंजक बनता है तब रूपक होता है।

यहाँ, 'बिंब से रहित' इस विषय के विशेषण से

'तत्पादनख-रत्नानां यदलक्तकमार्जनम् ।
इदं श्रीखण्डलेपेन पाण्डुरीकरणं विधोः ॥

(रत्न-सदृश आपके चरण-नखों का जो अलते (महावर) से साफ करना (रँगना) है, यह चंदन के लेप से चंद्रमा का श्वेत बनाना है।)'

इस निदर्शना की निवृत्ति हो जाती है। क्योंकि यहाँ 'साफ करना' रूपी विषय 'अलता' आदि बिंब से युक्त है।

'भिन्न शब्द के द्वारा बोधित' इस विशेषण से जिसमें विषय का विषयी के द्वारा ही ग्रहण रहता है, अलग नहीं, उस

'कमलमनम्भसि कमले च कुवलये, तानि कुमुदलतिकायाम् ।

[बिना जल के कमल (मुख) है, कमल में दो कुमुद (आँखें) हैं और वे सब एक सोने की लता (सुंदरी) में हैं।]' इत्यादि अतिशयोक्ति में अतिव्याप्ति नहीं होती; क्योंकि अतिशयोक्ति में विषय 'भिन्न शब्द से बोधित' नहीं रहता, किंतु विषयी के अंदर घुसा रहता है।

'उपरंजक बनता है' इसका अभिप्राय है 'तादूप्य के आहार्य निश्चय का विषय होना—अर्थात् वस्तुतः वैसा न होना जानते हुए भी स्वेच्छया वैसा कल्पित कर लेना'। इससे ससंदेह, उत्प्रेक्षा, समासोक्ति, परिणाम और भ्रांतिमान्

अलंकारों में इस लक्षण की अतिव्याप्ति निवृत्त हो जाती है। कारण, ससंदेह और उत्प्रेक्षा में तो निश्चय ही नहीं होता—वहाँ तो संदेह और संभावना ही रहती है, समासोक्ति में केवल व्यवहार का आरोप होता है—विषयी का नहीं, और परिणाम में विषयी ही विषय के ताद्रूप्य का विषय होता है, न कि विषय विषयी के ताद्रूप्य का—अर्थात् रूपक से बिलकुल विपरीत होता है; अतः अतिव्याप्ति नहीं हो सकती। रहा 'भ्रांतिमान्' सो उसमें प्रवृत्ति (काम करने लगने) तक भी विद्यमान अथवा कल्पित भ्रम का ही वास्तविक वर्णन होता है, अतः उस ताद्रूप्य के निश्चय को आहार्य नहीं कह सकते, क्योंकि उसका बाध कवि को अभीष्ट नहीं—वह तो उसे ज्यों का त्यों ही रखना चाहता है। अतः यह लक्षण बिलकुल ठीक है।"

पर ऐसा नहीं है। प्रथम तो "त्वत्पादनखरत्नानाम् (पृ० ४२९)" इत्यादि पद्य में लिखी निदर्शना की निवृत्ति के लिये जो आपने उपमेय को बिंबरहित' विशेषण दिया है सो युक्तिरहित ही है। कारण, यहाँ "मुखचंद्र" आदि अन्य रूपकों के समान श्रौत (शब्दप्रतिपादित) आरोप होने पर भी यदि यह कहा जाता है कि 'यह रूपक नहीं, किंतु निदर्शना है', तो फिर "मुखचंद्र" इसे भी निदर्शना ही कहिए और रूपक की मर्यादा रखने के लिये लगाई लँगोटी दूर हटाइए और अन्य सब अलंकारों को भी आनंद से उसके दायरे में ला

घुसाइए। जब इस उदाहरण और उस उदाहरण में कुछ भी भेद नहीं तब यहाँ निदर्शना कैसे है सो आप ही जानें। अच्छा, अब थोड़ी देर के लिये यदि यही मान लिया जाय कि "त्वत्पादनखरत्नानाम् ....." इस पद्य में निदर्शना ही है, तो हम आपसे पूछते हैं कि—यहाँ 'पदार्थनिदर्शना' है अथवा 'वाक्यार्थनिदर्शना।' यदि आप यहाँ 'पदार्थनिदर्शना' बतावें तो यह संभव नहीं; क्योंकि वह वहीं होती है जहाँ एक पद के अर्थ का अन्य पद के अर्थ में आरोप किया जाय। सो यहाँ है नहीं। कारण, यहाँ तो बिंब-प्रतिबिंब-भावापन्न पदार्थों से बने वाक्यार्थों का ही अभेद प्रतीत होता है। और न 'कुवलयानंद' के 'निदर्शना-प्रकरण' में आपके बताए मार्ग के अनुसार कि—किसी पद के अर्थरूप धर्मी में अन्य पद के अर्थ रूपी धर्मी के भेद से आरोप को 'पदार्थ-निदर्शना' कहते हैं, वही निदर्शना है। क्योंकि यहाँ किसी धर्मी में धर्म का भेद से आरोप नहीं, किंतु दो भिन्न-भिन्न धर्मों के अभेद का वर्णन है।

अब यदि 'वाक्यार्थ-निदर्शना' मानो तो वह भी नहीं हो सकती; क्योंकि ऐसा मानने से वाक्यार्थ रूपक का उच्छेद हो जायगा—उस बेचारे को कहीं जगह न रहेगी। यदि आप यह स्वीकार करें कि—हम 'वाक्यार्थ-रूपक' नहीं मानते, तो हमें भी यह कहने में क्या आपत्ति होगी कि—हम 'वाक्यार्थ-निदर्शना' नहीं मानते। आप कहेंगे—यह

तो आपका सूखा अड़ंगा हुआ—आपने कोई व्यवस्था तो बताई नहीं। सो यह बात भी नहीं। क्योंकि हम निदर्शना-प्रकरण में यह मार्ग बनानेवाले हैं कि—एक तो रूपक में अभेद श्रौत होता है और निदर्शना में अर्थप्राप्त और दूसरे रूपक उद्देश्य-विधेय-भाव का स्पर्श करता है—उसमें एक का उद्देश्य और दूसरे का विधेय होना दिखाई देता है, पर निदर्शना में उद्देश्य-विधेय-भाव नहीं होता। इस तरह सब व्यवस्था बन जाती है। अतः यहाँ वाक्यार्थ-रूपक ही है, वाक्यार्थ-निदर्शना नहीं। यदि वाक्यार्थ-निदर्शना का उदाहरण बनाना है तो इस पद्य को यों बनाइए—

त्वत्पादनखरत्नानि यो रञ्जयति यावकैः।
इन्दुं चन्दनलेपेन पाण्डुरीकुरुते हि सः॥

जो मनुष्य रत्न-सदृश आपके चरण-नखों को अलते से रँगता है वह चंदन के लेप से चंद्रमा को श्वेत बनाता है।

यहाँ यद्यपि कर्त्ताओं का अभेद शब्द से प्रतिपादित है तथापि क्रियाओं का अभेद वैसा नहीं है और उसी के ऊपर सारा भार है—वाक्यार्थ का पर्यवसान वहीं जाकर होता है, अतः यहाँ निदर्शना ही है।

अब कदाचित् आप यह कहें कि—यदि "त्वत्पादनखरत्नानाम् (पृ० ४२९)" यह उदाहरण निदर्शना में न होता तो अलंकार-सर्वस्व-कार इस उदाहरण को उस प्रकरण में क्यों लिखते? तो हम कहते हैं—बहुत ठीक, उन्होंने आपको धोखा दिया

है। आप तो प्रामाणिक पुरुष ठहरे, अतः बिना किसी के कहे आप थोड़े ही कहते हैं—आपकी पुस्तकों में तो दूसरे की नकल रहती है, अपने-आप तो कुछ सोचते-विचारते हैं नहीं; सो उनकी गलती को आपने भी रगड़ मारा। अतः यह कुछ उत्तर नहीं हुआ।

दूसरे, आपने जो यह लिख मारा है कि—"रूपक में बिंब-प्रतिबिंब-भाव नहीं है" सो भी भ्रांति से ही लिखा है। आप, अलंकार-सर्वस्व की टीका 'विमर्शिनी' में दिया गया बिंब-प्रतिबिंब-भाव से रूपक का उदाहरण, सुनिए—

"कन्दर्पद्विप-कर्ण-कम्बुमलिनैर्दानाम्बुभिर्लाञ्छितं
संलग्नाञ्जनपुञ्जकालिमकलं गण्डोपधानं रतेः।
व्योमानोकहपुष्पगुच्छमलिभिः संछाद्यमानोदरं
पश्यैतच्छशिनः सुधा-सहचरं बिम्बं कलङ्काङ्कितम्॥

चंद्रोदय का वर्णन है। नायक नायिका से कहता है—मद के मलिन जलों से चिह्नित—शंख-सा (श्वेत)—कामदेव के हाथी का कान, जिसमें अंजन-समूह की कालिमा का अंश लग गया है ऐसा रति (कामदेव की स्त्री) का गल-तकिया, और जिसका भीतरी भाग भौंरों से आच्छादित है वह आकाश-वृक्ष के पुष्पों का गुच्छ, ऐसा सुधा का साथी (एकदम श्वेत) और कलंक से अंकित यह चंद्र-बिंब देखिए।"

और साथ ही यह लिखा है कि—"यहाँ 'कलंक' और 'मद-जल' आदि पदार्थों में बिंबप्रतिबिंब-भाव बनाया गया है और 'चिह्नित' तथा 'अंकित' पदार्थों की शुद्ध समानरूपता (वस्तु-प्रतिवस्तु-भाव) है।"

इसलिये इस समय इस विषय को छोड़िए—इतना सब कह देने के बाद इस विषय पर अधिक बल लगाने की आवश्यकता नहीं रहती।

यह तो हुआ आपके लक्षण में लिखे "बिंब से रहित" इस विशेषण पर विचार। अब "भिन्न शब्द द्वारा बोधित" इस विशेषण को लीजिए। इस विषय में हम आपसे पूछते हैं कि "शब्द द्वारा बोधित" कहने से आपका क्या अभिप्राय है? 'चाहे किसी रूप में शब्द द्वारा बोधित हो गया हो' यह, अथवा उपमेयतावच्छेदक ('मुखत्व' आदि) के रूप में शब्द से उच्चारित (बोधित) हो, यह? यदि आप पहला पक्ष स्वीकार करें—अर्थात् 'चाहे किसी रूप में शब्द द्वारा उच्चारित' यह अर्थ समझें, तब तो आपके लक्षण की "**सुन्दरं कमलं भाति लतायामिदमद्भुतम्**—लता में यह अद्भुत और सुंदर कमल सुशोभित हो रहा है।" इस (रूपकातिशयोक्ति) में अतिव्याप्ति हो जायगी; क्योंकि यहाँ "सुंदर" पद के द्वारा 'सुंदरत्व' रूप से (क्योंकि 'सुंदरत्व' का संबंध लक्ष्य अर्थ—मुख—के साथ भी है) और "(इदम् =) यह" पद से उपमेय—मुख—का प्रतिपादन हो रहा है। यदि

आप कहें कि यहाँ 'सुंदर' पद के अर्थ का आरोप किए जाने-वाले—कमल—में ही अन्वय है, मुखरूपी उपमेय में नहीं, तो यह भी उचित नहीं। क्योंकि यहाँ 'कमल' पद से, लक्षणा द्वारा, कमल के रूप में प्रधान रूप से मुख की ही उपस्थिति होती है—अर्थात् यहाँ 'कमल' शब्द का अर्थ केवल कमल नहीं, किंतु कमलरूप मुख है। अतः "सुंदर" आदि पदार्थों का अन्वय मुख में ही होना उचित है, विशेषण रूप बने हुए कमल में नहीं।

अब यदि आप कहें कि—"जिस किसी रूप में शब्द से उच्चारित उपमेय को उद्देश्य बनाकर उसमें जहाँ उपमान की एकरूपता का विधान किया जाय" यह भी हमारे लक्षण का वाक्यार्थ है—अर्थात् 'उपमेय का उद्देश्य होना और उपमान का विधेय होना' भी हमारे लक्षण में सम्मिलित है। और प्रकृत उदाहरण में 'सुंदरता' से अवच्छिन्न (मुख आदि) को उद्देश्य करके उसमें कमल की एकरूपता का विधान किया नहीं गया है, इसलिये अतिव्याप्ति न होगी, तो यह भी ठीक नहीं। कारण, "**मुखचन्द्रस्तु सुन्दरः**—मुखचंद्र सुंदर है" इत्यादि रूपक में अव्याप्ति हो जायगी; क्योंकि यहाँ उपमान-उपमेय दोनों के लिये अलग अलग विभक्तियाँ नहीं आई हैं, और बिना अलग अलग विभक्ति के—अर्थात् समासांतर्गत पदों में—उद्देश्य-विधेय-भाव हो नहीं सकता। क्योंकि उद्देश्य विधेय होने के लिये भिन्न विभक्ति का

होना आवश्यक है। अत: यों मानने पर भी आपका छुटकारा नहीं।

अब यदि आप दूसरा पक्ष लें—अर्थात् "शब्द द्वारा उच्चारित" का अर्थ 'उपमेयतावच्छेदक रूप से शब्द द्वारा उच्चारित' यह मानें; तो "न छिपाए गए" इस उपमेय के विशेषण की व्यर्थता होगी। क्योंकि अपह्नुति में उपमेय-तावच्छेदक ('मुखत्व' आदि) का निषेध रहता है—उसमें स्पष्ट लिखा रहता है कि "यह मुख नहीं किंतु चंद्र है"; सो वहाँ उपमेय के उपमेयतावच्छेदक रूप से शब्द द्वारा उच्चारित न होने से ही लक्षण नहीं जाता फिर "न छिपाए गए" यह विशेषण किस मर्ज की दवा है ? दूसरे जो आपने "उपरंजक बनता है" की व्याख्या करते हुए लिखा है कि "ताद्रूप्य के आहार्य निश्चय का विषय होना", सो यहाँ 'निश्चय' का विशेषण 'आहार्य्य' भी व्यर्थ हो जायगा। यह विशेषण आपने भ्रांतिमान् अलंकार में अतिव्याप्ति न होने के लिये दिया है, पर वहाँ एक प्रकार के दोष (भ्रांति) द्वारा रोक दिए जाने के कारण उपमेयतावच्छेदक का स्पर्श ही नहीं है—यदि उपमेयतावच्छेदक का स्पर्श हो जाय तो फिर भ्रम ही काहे का ? अत: वह अर्थ मानने से आपका एक लक्षणवाला और एक व्याख्यावाला यों दो विशेषण व्यर्थ हुए जाते हैं, जिससे सिद्ध होता है कि आपको वह अर्थ अभीष्ट नहीं।

इतने पर भी यदि "शब्द द्वारा उच्चारित" का पूर्वोक्त द्वितीय अर्थ मान ही लिया जाय, तथापि "कुवलयानंद" में आपकी बताई

"नायं सुधांशुः किं तर्हि सुधांशुः प्रेयसी-मुखम् ।

अर्थात् यह (सामने दिखाई देनेवाला चंद्रमा) चंद्रमा नहीं है। तो चंद्रमा क्या है ? प्रियतमा का मुख।"

इस अपह्नुति में आपके लक्षण की अतिव्याप्ति हुए बिना न रहेगी। क्योंकि यहाँ 'चंद्रमा' (उपमान) में चंद्रत्व (उपमानतावच्छेदक) का निषेध होने पर भी आरोप का विषय (उपमेय) जो मुख है, वह नहीं छिपाया गया है। सो यहाँ उपमेय के उपमेयतावच्छेदक रूप से शब्द द्वारा निर्दिष्ट होने के कारण, आपके लक्षणानुसार, अपह्नुति नहीं, किंतु रूपक होना चाहिए। और आप यह तो कह नहीं सकते कि—पूर्वोक्त कुवलयानंद के उदाहृत पद्य में रूपक ही है; क्योंकि आप ही की उक्ति का विरोध होता है। सारांश यह कि—यद्यपि "शब्द द्वारा उच्चारित" विशेषण का द्वितीय अर्थ मानने पर काम बन सकता था तथापि आपका पिंड नहीं छूट सकता; क्योंकि आपने कुवलयानंद में अपह्नुति का एक मिथ्या उदाहरण देकर आफत बटोर ली है।

और जो आपने यह लिखा है कि—"इसी में यदि 'अव्यंग्य' विशेषण और बढ़ा दें तो यही लक्षण अलंकार-रूप रूपक का हो जायगा", सो भी उचित नहीं। कारण,

'व्यंग्य होने' और 'अलंकार होने' में परस्पर विरोध नहीं है— अर्थात् ऐसा कोई नियम नहीं कि जो व्यंग्य हो वह अलंकार न हो। रही प्रधान रूपक में अतिव्याप्ति न होने की बात; सो उसके लिये "उपस्कृत करनेवाला।" विशेषण की आवश्यकता है, न कि "व्यंग्य न हो" इस विशेषण की, जैसा कि हम बार बार कह चुके हैं। अतः अप्पयदीक्षित का यह लक्षण गड़बड़ ही है।

'काव्य-प्रकाश' के लक्षण पर विचार

प्राचीनों (काव्यप्रकाशकारादिकों) ने लिखा है—

"तद्रूपकमभेदो य उपमानोपमेययोः।

अर्थात् उपमान और उपमेय के अभेद को रूपक कहा जाता है।" सो यह भी विचारणीय है। क्योंकि अपह्नुति आदि में उपमान-उपमेय का अभेद अनुभव-सिद्ध है, अतः उन अलंकारों में इस लक्षण की अतिव्याप्ति हो जाती है। यदि आप कहें कि—लक्षण की "उपमान और उपमेय का अभेद" इस उक्ति से यह अर्थ कि "उपमेयतावच्छेदक (मुखत्व आदि) को आगे रखकर उसमें उपमानतावच्छेदक (चंद्रत्व आदि) से अवच्छिन्न (चंद्र आदि) का अभेद" प्राप्त हो जाता है। और अपह्नुति में उपमेयतावच्छेदक का पुरस्कार होता नहीं (क्योंकि उपमेय का निषेध होता है), अतः अतिव्याप्ति नहीं होगी। सो भी नहीं। कारण,

ऐसी दशा में भी "नूनं मुखं चन्द्रः—मुख मानो चंद्र है" इत्यादिक उत्प्रेक्षा में अतिव्याप्ति होगी; क्योंकि वहाँ उपमेयतावच्छेदक (मुखत्व आदि) को आगे रखकर ही मुख आदि का निरूपण होता है, अपह्नुति की तरह उसका निषेध नहीं किया जाता।

आप उत्तर देंगे—"**प्रकृतं यन्निषिध्याऽन्यत् साध्यते सा त्वपह्नुतिः**—अर्थात् उपमेय का निषेध करके उसे उपमान सिद्ध करना अपह्नुति कहलाता है।" और "**संभावनमथोत्प्रेक्षा प्रकृतेन समस्य यत्**—अर्थात् उपमेय की उपमान के रूप में संभावना उत्प्रेक्षा कहलाती है।" (तात्पर्य यह कि (अभेद होने पर भी) जहाँ निषेध हो वहाँ अपह्नुति होती है और जहाँ संभावना हो वहाँ उत्प्रेक्षा होती है) इत्यादि स्पष्ट लिख दिया गया है; अतः अपह्नुति, उत्प्रेक्षा आदि रूपक के बाधक हैं। वे जिन जिन विषयों (निषेध, संभावना आदि) को ले लेंगे, उनसे अतिरिक्त "मुख चंद्र है" इत्यादिक (केवल अभेद) रूपक का विषय होगा। जैसे—यज्ञ के समय "कुश का बर्हि होना चाहिए" ऐसा लिखा है, पर जब अभिचार (मारणादिक) करना हो तब "सरकंडे का बर्हि होना चाहिए" यह लिखा है; ऐसी जगह 'सरकंडे के बर्हि' का विषय छोड़कर अन्यत्र 'कुश का बर्हि' होता है। अथवा जैसे—व्याकरण में जहाँ "च्लि" को "क्स" आदेश होता है, उसे छोड़कर अन्यत्र "सिच्" आदेश होता है।

कारण, 'सरकंडे का बर्हि' और 'क्स' आदेश क्रमशः 'कुश के बर्हि' और 'सिच्' के बाधक हैं—जहाँ वे होंगे वहाँ ये नहीं हो सकते। लोक में भी हम देखते हैं; जैसे—"ब्राह्मणों को दही देना और कौंडिन्य को तक्र" यह कहने पर यह सिद्ध हो जाता है कि जिसे तक्र देना है उससे अतिरिक्तों को दही दिया जायगा। ठीक वही बात यहाँ है—अर्थात् जहाँ निषेध अथवा संभावना वाला अभेद होगा वहाँ अपह्नुति और उत्प्रेक्षा होगी और जहाँ केवल अभेद होगा वहाँ रूपक। अतः उपर्युक्त शङ्का कुछ नहीं।

हम कहते हैं—आपके दृष्टांत विषम हैं—दृष्टांतों वाली बात यहाँ फिट् नहीं बैठती। बात यह है—(आपके दृष्टांतों में) विशेष शास्त्र (विशेष विधान) इस बात को समझाता है कि—सामान्य शास्त्र (सामान्य विधान) का विषय अपने विषय से अतिरिक्त है—अर्थात् जहाँ विशेष शास्त्र न लगे वहाँ सामान्य शास्त्र लगता है। इस बात के मानने में किसी को कोई आपत्ति नहीं। पर प्रकृत में यह बात नहीं। यहाँ लक्षण रूपक का धर्म है—अर्थात् एक विशेष वस्तु है। वही धर्म यदि उत्प्रेक्षादिक में हो तो उसे उस विषय से हटाकर दूसरे विषय को समझावेगा कौन?—अर्थात् यहाँ रूपक नहीं है और उत्प्रेक्षा ही है, यह बात कैसे सिद्ध की जा सकेगी। क्योंकि विशेष धर्म सामान्य धर्म को हटाकर रहता हो—यह बात नहीं होती। उदाहरण के लिए,

जैसे—'घटत्व' घड़े का धर्म है, वह घड़े में से 'पृथिवीत्व' अथवा 'द्रव्यत्व' धर्म को निकालकर अन्य विषय (केवल घटत्व) को समझा देने का सामर्थ्य नहीं रखता—घड़े में 'घटत्व' के होने से कोई यह नहीं कह सकता कि इसमें 'पृथिवीत्व' अथवा 'द्रव्यत्व' धर्म नहीं है। सो अपह्नुति और उत्प्रेक्षा में निषेध और संभावना को देखकर कोई यह नहीं कह सकता कि यहाँ अभेद नहीं है। और यदि अभेद है तो उनमें आपको रूपक भी मानना पड़ेगा; क्योंकि आपके लक्षणानुसार जहाँ उपमान और उपमेय का अभेद होगा वहाँ रूपक होगा ही। अतः इस लक्षण में अतिव्याप्ति दोष है।

आप कहेंगे—उत्प्रेक्षा तो संभावनारूप है और रूपक है अभेदरूप; फिर 'अभेद होना' जो रूपक का लक्षण है उसकी उत्प्रेक्षा में अतिव्याप्ति होगी कैसे? वे तो बिलकुल जुदी जुदी चीजें हैं। हम कहते हैं—जब उत्प्रेक्षा में संभावना और अभेद दोनों पाए जाते हैं तो जैसे आप अभेद से युक्त संभावना को उत्प्रेक्षा कहते हैं वैसे, हम संभावना से युक्त अभेद को उत्प्रेक्षा कहेंगे। इसमें कोई प्रमाण तो है नहीं कि संभावना को ही प्रधान माना जाय और अभेद को गौण।

दूसरे, रूपक का ऐसा लक्षण बनाने से आपको एक आपत्ति और उठानी पड़ेगी। उत्प्रेक्षा में उपमेय के अभेद के हिसाब से रूपक का और संभावना के हिसाब से उत्प्रेक्षा का—इस तरह दो अलंकारों का व्यवहार होने लगेगा।

क्योंकि आप दोनों में से एक का भी व्यवहार हटा नहीं सकते।

अब यदि आप कहें कि—हम अभेद के साथ "निश्चित किया जानेवाला" विशेषण और लगा देंगे, अतः संभावना आदि वाला अभेद रूपक न कहा जा सकेगा, तो जो कुछ हम कह रहे हैं आखिर आप भी वहीं आ पहुँचे। बस, खतम मामला।

रूपक के भेद

रूपक के प्रथमतः तीन भेद हैं—**सावयव**, **निरवयव और परंपरित**। सावयव रूपक दो प्रकार का है—समस्त-वस्तु-विषय और एकदेशविवर्त्ती। निरवयव रूपक भी दो प्रकार का है—केवल रूपक और माला रूपक। परंपरित रूपक चार प्रकार का है—केवल श्लिष्ट परंपरित, मालारूप श्लिष्ट परंपरित, केवल शुद्ध परंपरित और मालारूप शुद्ध परंपरित। इस तरह रूपक आठ प्रकार का कहा जाता है।

१—सावयव रूपक

लक्षण

जिन रूपकों के सिद्ध करने में एक दूसरे की अपेक्षा हो—ऐसे रूपकों के समूह का नाम 'सावयव रूपक' है।

समस्त-वस्तु-विषय का लक्षण

जिस सावयव रूपक में सब उपमान शब्द द्वारा प्रतिपादित हों—किसी को अर्थतः आक्षिप्त न करना पड़े—वह समस्त-वस्तु-विषय कहलाता है।

एकदेशविवर्त्ती का लक्षण

जिस सावयव रूपक में, किसी अवयव में उपमान शब्दतः प्रतिपादित हो और कहीं अर्थ के सामर्थ्य से आक्षिप्त होता हो, वह 'एकदेशविवर्त्ती' कहलाता है।

यह रूपक एकदेश—अर्थात् जहाँ उपमान का शब्दतः ग्रहण न हो उस अवयवभूत रूपक—में अपने स्वरूप को छिपाए रहता है; अतः उसकी स्थिति अन्यथा—अर्थात् जिनमें शब्दतः उपमान लिखा गया हो उनसे भिन्न—होती है, अथवा यों कहिए कि—यह रूपक एक देश में—अर्थात् जहाँ शब्दतः उपमान का ग्रहण हो वहाँ—विशेष रूप से स्पष्टतया वर्त्तमान रहता है—अन्यत्र अस्पष्ट रूप से, अतः इसे 'एकदेशविवर्त्ती' कहा जाता है।

उदाहरण

समस्त-वस्तु-विषय सावयव रूपक; जैसे—

सुविमलमौक्तिकतारे धवलांशुकचन्द्रिकाचमत्कारे।
वदनपरिपूर्णचन्द्रे सुन्दरि राकाऽसि नाऽत्र संदेहः॥

हे सुंदरि ! तू पूरे चंद्रमावाली पूर्णिमा है—इसमें कोई संदेह नहीं। क्योंकि तेरे अंदर अत्यंत निर्मल मोती तारे हैं, सफेद साड़ी चाँदनी का चमत्कार है और मुख परिपूर्ण चंद्रमा है।

रूपक की विधेयता और अनुवाद्यता

सावयव रूपक समूह-रूप होता है। यद्यपि उसके सभी अवयवों का परस्पर समर्थित होना अथवा समर्थित करना समान होता है; क्योंकि सभी को एक-दूसरे की अपेक्षा रहती है; अतः उनमें से किसी को समर्थ्य और किसी को समर्थक नहीं कहा जा सकता। तथापि इस पद्य में कवि को 'पूरे चंद्रमावाली पूर्णिमा' के रूपक का ही समर्थ्य होना अभिप्रेत है—अर्थात् अन्य रूपकों द्वारा कवि इसी रूपक का समर्थन करना चाहता है। सो, इस दृष्टि से, इस पद्य में पूर्णिमा का रूपक समर्थ्य—अर्थात् प्रधान—है और अन्य रूपक समर्थक—अर्थात् अंगभूत—हैं।

ऐसी दशा में, समर्थक रूपकों के अनुवाद्य होने पर भी, क्योंकि उनके उपमान-उपमेयों में पृथक् विभक्तियाँ नहीं सुनाई देतीं, समर्थ्य रूपक के विधेय होने के कारण, क्योंकि वहाँ उपमान-उपमेयों में पृथक् विभक्तियाँ सुनाई देती हैं, समर्थ्य रूपक को लेकर समूह-रूप सावयव रूपक को भी यहाँ विधेय माना जाता है। जैसे योद्धाओं के समूह के

अंतर्गत किसी मुख्य योद्धा के जय अथवा पराजय द्वारा योद्धाओं के समूह का जय अथवा पराजय समझ लिया जाता है। सारांश यह कि—यदि समर्थ्य रूपक विधेय हो तो समग्र सावयव रूपक को विधेय माना जाता है, और उसके अंग रूप रूपकों के अनुवाद्य होने की कोई परवा नहीं की जाती।

"व्योमाङ्गणे सरसि नीलिमदिव्यतोये
तारावलीमुकुलमण्डलमण्डितेऽस्मिन्।
आभाति षोडशकलादलमङ्कभृङ्गं
सूराभिमुख्यविकचं शशिपुण्डरीकम्।

गगनांगण सरोवर है। इसमें नीलापन दिव्य जल है। यह सरोवर तारावली-रूपी (कमलों की) डोड़ियों से सुशोभित है और इसमें सूर्य के सम्मुख होने के कारण खिला हुआ चंद्रमा-रूपी श्वेत-कमल शोभित हो रहा है, जिसकी सोलह कलाएँ पँखुड़ियाँ हैं और कलंक भौंरा है।

यह सावयव रूपक अनुवाद्य ही है; क्योंकि यहाँ समर्थ्य रूपक 'शशिपुंडरीक' में भी उपमान-उपमेयों में पृथक् विभक्तियाँ नहीं हैं। इस पद्य में वर्णनीय पूर्ण-चंद्रमा का सूर्य के सम्मुख होना—अर्थात् पूर्णिमा के दिन सूर्य के सामने आना—ज्यौतिषशास्त्र से सिद्ध है; अतः यह शंका न करिएगा कि सूर्य के सम्मुख रहने पर चंद्रमा का विकास कैसे होगा?

एकदेशविवर्त्ती सावयव रूपक; जैसे—

भवग्रीष्मप्रौढातपनिवहसंतप्तवपुषो
बलादुन्मील्य द्राङ् निगडमविवेकव्यतिकरम् ।
विशुद्धेऽस्मिन्नात्मामृतसरसि नैराश्य-शिशिरे
विगाहन्ते दूरीकृतकलुषजालाः सुकृतिनः ॥

संसार उष्णकाल की तेज धूप है। उससे शरीर को तपाए हुए पुण्यवान् पुरुष, अविवेक के बखेड़े रूपी बेड़ी को, बलात्, तत्काल तोड़कर, आशा-रहितता के कारण शीतल और अत्यंत शुद्ध इस आत्मारूपी अमृत-सरोवर में पाप-समूह को नष्ट करते हुए गोते लगाते हैं।

यहाँ 'बेड़ी' आदि साथी रूपकों द्वारा सुकृतियों में गज का रूपक आक्षिप्त किया जाता है। (गज का रूपक यहाँ शब्दतः प्रतिपादित नहीं है—अर्थाक्षिप्त है, अतः यह रूपक एकदेशविवर्त्ती है।)

अथवा जैसे—

रूप-जला चलनयना नाभ्यावर्त्ता कचावलि-भुजङ्गा ।
मज्जन्ति यत्र सन्तः सेयं तरुणी तरङ्गिणी विषमा ॥

यह युवती वह विषम नदी है, जिसमें सज्जन डूब जाते हैं। इसमें रूप जल है, चंचल नेत्र हैं, नाभि आवर्त्त है और केशों की पंक्ति सर्प है।

पहले पद्य में जिसे कवि समर्थ्य मानता है उस गज के रूपक का आक्षेप है; और इस पद्य में समर्थक माने हुए चंचल नेत्रों में मीन-रूपक का आक्षेप है। तात्पर्य यह कि—समर्थ्य अथवा समर्थक दोनों रूपकों में से किसी भी प्रकार के रूपक का आक्षेप होने पर एकदेशविवर्त्ती रूपक होता है—उनमें से समर्थ्य के आक्षेपवाले रूपक का उदाहरण है प्रथम पद्य और समर्थक के आक्षेप का उदाहरण है दूसरा पद्य।

रूपकों का समूह भी रूपकालंकार कहला सकता है

यद्यपि सावयव रूपक रूपकों का समूह रूप है, तथापि, उसमें एक विशेष प्रकार का चमत्कार होने के कारण, उसे रूपकालंकार के भेदों की गिनती में (अर्थात् एक पृथक् भेद) गिना जाता है। जैसे यदि कोई मोती के गहने गिनने बैठे तो वह जैसे नक-बेसर के एक मोती को एक गहना गिनता है वैसे ही 'मौक्तिक-मञ्जरी' आदि मोतियों के समूह-रूप गहनों को भी मोती का गहना गिनेगा। अन्यथा 'मालोपमा' आदि को भी उपमा के भेद गिनते समय न गिना जा सकेगा; क्योंकि वे भी समूह-रूप हैं। अतः जो यह शंका की जाती है कि—"जैसे गायों के भेद—कपिला आदि—के गिनते समय गायों का झुंड उनकी गिनती में नहीं गिना जाता, वैसे ही रूपकों के भेदों की गणना प्रस्तुत होने पर

रूपक के समूह रूप 'सावयव रूपक' को गिनना उचित नहीं"
सो उड़ गई।

सावयव रूपक और माला रूपक का भेद

इसी तरह सावयव रूपक भी समूह रूप है और माला रूपक भी, अतः इस रूप से इनमें विशेषता न होने पर भी, माला रूपक के सब रूपकों का विषय (उपमेय) एक होता है और वे रूपक परस्पर की अपेक्षा नहीं रखते। पर सावयव रूपक के रूपकों के विषय (उपमेय) भिन्न भिन्न होते हैं और वे एक दूसरे की अपेक्षा (समर्थ्य-समर्थकता) रखते हैं, अतः बड़ा भारी भेद है।

२—निरवयव रूपक

निरवयव केवल रूपक, जैसे—

बुद्धिर्दीपकला लोके यया सर्वं प्रकाशते।
अबुद्धिस्तामसी रात्रिर्यया किञ्चिन्न भासते॥

संसार में ज्ञान दीपक की लौ है, जिसके द्वारा सब प्रकाशित होता है और अज्ञान अँधेरी रात है, जिसके कारण कुछ नहीं सूझ पाता।

यहाँ दो रूपक हैं—'ज्ञान का दीपक की लौ होना' और 'अज्ञान का अँधेरी रात होना'। दोनों 'परस्पर सापेक्ष रूपकों के समूह रूप' न होने से **निरवयव** हैं और मालारूप (अर्थात् एक उपमेय में अनेक रूपक) न होने से **केवल** हैं।

निरवयव मालारूपक; जैसे—

धर्मस्याऽऽत्मा भागधेयं क्षमायाः
सारः सृष्टेर्जीवितं शारदायाः।
आज्ञा साक्षाद् ब्रह्मणो वेदमूर्त्ते-
राकल्पान्तं राजतामेष राजा॥

यह राजा धर्म का आत्मा है, क्षमा का भाग्य है, सृष्टि का सार है, सरस्वती का जीवन है और वेद-स्वरूपी साक्षात् ब्रह्म (अर्थात् सर्वनियन्ता) की आज्ञा है। यह राजा प्रलय तक विराजमान रहे।

यह रूपक एक उपमेय में अनेक पदार्थों का आरोपरूप है—अर्थात् इस रूपक में एक उपमेय (राजा) पर अनेक उपमान आरोपित किए गए हैं, अतः यह **मालारूप** है। और वे रूपक एक-दूसरे की अपेक्षा नहीं रखते, अतः **निरवयव** हैं।

३—परंपरित रूपक

लक्षण

जहाँ आरोप ही अन्य आरोप का निमित्त हो—अर्थात् एक आरोप को सिद्ध करने के लिये अन्य आरोप किया गया हो, वह 'परम्परित रूपक' होता है।

श्लिष्ट परम्परित और शुद्ध परम्परित

परंपरित रूपक में भी—जिस रूपक को कवि समर्थक के रूप में कहना चाहे, वह यदि श्लेष (अनेकार्थ) मूलक हो तो 'श्लिष्ट परंपरित' होता है (अन्यथा 'शुद्ध परंपरित')।

उदाहरण

श्लिष्ट परंपरित केवल रूपक ; जैसे—

अहितापकरणभेषज नरनाथ ! भवान् करस्थितो यस्य।
तस्य कुतो-हि-भयं स्यादखिलामपि मेदिनीं चरतः॥

हे नरनाथ ! आप 'अहितापकरण भेषज' (शत्रुओं का अपकार करना ही साँपों को ताप पैदा करना है उसके औषध) हैं। आप जिसके हाथ में स्थित हैं—पक्ष में हैं, उसे समग्र पृथिवी में फिरते हुए भी '(ऽ) हि भयम्' (साँपों का भयरूप निश्चय ही भय) कैसे हो सकता है ?

यहाँ 'शत्रुओं के अपकार करने' में 'साँपों के ताप उत्पन्न करने' का और 'राजा' में 'औषध' का—इस तरह दो आरोप किए गए हैं। यद्यपि ये दोनों ही आरोप वस्तुतः एक दूसरे के समर्थक हो सकते हैं, अर्थात् जब 'शत्रुओं के अपकार करने' में 'साँपों को ताप उत्पन्न करने' का आरोप किया जाय तब 'राजा' में 'औषध' का आरोप किया जा सकता है, और जब 'राजा' में 'औषध'

का आरोप किया जाय तब 'शत्रुओं के अपकार करने' में 'साँपों को ताप उत्पन्न करने' का आरोप किया जा सकता है; अतः इनमें से किसी एक को समर्थ्य अथवा समर्थक नहीं कह सकते, तथापि श्लेष के कारण 'शत्रुओं के अपकार करने' में 'साँपों को ताप उत्पन्न करने' के आरोप द्वारा 'राजा' में 'औषध' का आरोप कवि को अभिप्रेत है, न कि राजा में औषध के आरोप द्वारा पूर्वोक्त श्लेष-मूलक आरोप का समर्थन। अतएव भंगश्लेष द्वारा सिद्ध किया गया ('कुतो हि भयं स्यात्' इस वाक्य से प्रतिपादित) भय का अभाव संगत हो सकता है। अन्यथा यदि 'शत्रुओं के अपकार करने' में 'साँपों को ताप उत्पन्न करने' का समर्थन ही कवि को अभिप्रेत होता तो यहाँ भंगश्लेष द्वारा 'भय का अभाव' लिखने की आवश्यकता न रहती।

श्लिष्ट परंपरित मालारूपक; जैसे—

कमलावासकासारः क्ष्माधृतिफणीश्वरः।
अयं कुवलयस्येन्दुरानन्दयति मानवान्॥

यह (राजा) 'कमलावास' (कमलों के निवास; वस्तुतः—कमला=लक्ष्मी के निवास) के कारण सरोवर है; 'क्ष्मा' (पृथ्वी; वस्तुतः—क्षमा) के धारण करने के कारण शेषनाग है और 'कुवलय' (रात्रिविकासी कमलों; वस्तुतः—भूमण्डल) का चंद्रमा है। (अतः) मनुष्यों को आनंदित कर रहा है।

शुद्ध परंपरित केवलरूपक; जैसे—

देवाः के पूर्वदेवाः समिति मम नरः सन्ति के वा पुरस्ता-
देवं जल्पन्ति तावत् प्रतिभटपृतनावर्त्तिनः क्षत्रवीराः ।
यावन्नायाति राजन् ! नयनविषयतामन्तकत्रासिमूर्त्ते !
मुग्धारिप्राणदुग्धाशनमसृणरुचिस्त्वत्कृपाणो भुजङ्गः ॥

हे राजन् ! हे काल-सदृश भयंकर स्वरूपवाले ! आपके शत्रु की सेना में रहनेवाले क्षत्रिय वीर, जब तक, भोले शत्रुओं के **प्राणरूपी दूध** के पीने से चिकनी चमक वाला आपका **खड्गरूपी भुजंग** आँखों के सामने नहीं आता, तब तक यों कहते रहते हैं कि—मेरे सामने युद्ध में देवता कौन हैं, दैत्य कौन हैं और मनुष्य कौन हैं—क्या कोई मेरे सामने टिक सकता है ? (पर जहाँ आपके खड्ग को देखा कि सिट्टी गुम !)

यहाँ भी कवि को, खड्ग में भुजंग के आरोप का, प्राणों में दूध के आरोप द्वारा, समर्थन अभीष्ट है ।

शुद्ध परंपरित मालारूपक; जैसे—

प्राची सन्ध्या समुद्यन्महिमदिनमणेर्मानमाणिक्यकान्ति-
र्ज्वालामाला कराला कवलितजगतः क्रोधकालानलस्य ।
आज्ञा-कान्ता-पदाम्भोरुह-तल-विगलन्मञ्जुलाक्षारसाभा
क्षोणीन्द्रा ! संगरे ते लसति नयनयोरुद्गटा शोणिमश्रीः ॥

हे भूमिचंद्र ! जो उदय हो रहे (आपके) प्रताप-सूर्य की पहली संध्या (प्रातःकाल) है, जो अभिमानरूपी माणिक्य

की कांति है, जो जगत् के खा जानेवाले क्रोधरूपी प्रलयानल की भयंकर ज्वाला-पंक्ति है और जिसकी कांति आज्ञारूपी कामिनी के चरण-कमल से गिरते लाक्षा-रस की कांति के सदृश है, वह आपके नेत्रों की अरुणता की उद्भट शोभा, युद्ध में, शोभित हो रही है।

सावयव रूपक और शुद्ध परंपरित रूपक में क्या भेद है ?

यद्यपि सावयव रूपक में भी एक आरोप अन्य आरोप का उपाय-रूप (समर्थक) होता है, तथापि वहाँ आरोप के बिना (केवल) कवि-समय-सिद्ध सादृश्य द्वारा भी अन्य आरोप की सिद्धि हो सकती है—अर्थात् यदि अन्य आरोप रहे तब भी ठीक और न रहे तब भी काम चल सकता है। जैसे पूर्वोक्त "सुन्दरि राकाऽसि नाऽत्र संदेहः" यहाँ मोती आदि में यदि तारा आदि का आरोप न किया जाय तथापि उज्ज्वलता-मात्र के कारण भी सुंदरी में पूर्णिमा का आरोप सिद्ध हो सकता है। पर उपर्युक्त पद्य में ऐसा नहीं है, वहाँ तो नेत्रों की अरुणता में ज्वाला आदि का आरोप (क्रोध आदि में) अग्नि के आरोप को नियत रूप से चाहता है ! बिना उस आरोप के इस आरोप का काम ही नहीं चल सकता।

इसी तरह "**कारुण्यकुसुमाकाशः खलः**—अर्थात् दुष्ट पुरुष दयारूपी पुष्प का आकाश है; जैसे आकाश में पुष्प नहीं वैसे दुष्ट में दया नहीं।" यहाँ आकाश और दुष्ट पुरुष

में सादृश्य अप्रसिद्ध है—कोई नहीं जानता कि उनमें क्या समानता है। अतः दुष्ट पुरुष में आकाश का आरोप करने के लिये दया में पुष्प का आरोप ही उपाय है, अन्यथा यह रूपक बन ही नहीं सकता। पर सावयव रूपक में यह बात नहीं। बस, यही इन दोनों में विलक्षणता है।

किसी ने सावयव रूपक से शुद्ध परंपरित रूपक के भेद का कारण यह बताया है कि—"सावयव रूपक में अनेक आरोप होते हैं—अर्थात् एक समर्थ्य के अनेक समर्थक होते हैं, पर शुद्ध परंपरित में दो ही आरोप होते हैं—अर्थात् एक समर्थ्य का एक ही समर्थक होता है।" पर जब इनमें उपर्युक्त रीति से स्पष्ट भेद दिखाई देता है, तब एक और अनेक की कल्पना व्यर्थ है; अतः यह पक्ष ठीक नहीं।

उपमान एक हो और उपमेय अनेक हों तो मालारूपक क्यों नहीं माना जाता ?

काव्यं सुधा रसज्ञानां कामिनां कामिनी सुधा।
धनं सुधा सलोभानां शान्तिः संन्यासिनां सुधा॥

रसज्ञों के लिये काव्य अमृत है, कामियों के लिये कामिनी अमृत है, लोभियों के लिये धन अमृत है और संन्यासियों के लिये शांति अमृत है।

यहाँ (उपमान 'अमृत' एक है और) उपमेयों ('काव्य' आदि) की माला है; पर इस माला के कारण कोई विशेष

प्रकार का चमत्कार उत्पन्न नहीं होता, अतः ऐसी माला रूपक के भेदों की गणना में पृथक् नहीं गिनी जाती। उपमानों की माला में तो एक विशेष प्रकार का चमत्कार रहता है, अतः उसे पृथक् गिनना ही पड़ता है।

परंपरित रूपक के विषय में विचार

(क) श्लिष्ट परंपरित

अच्छा, अब यह सोचिए कि—"कमलावासकासारः" इत्यादि श्लिष्ट परंपरित रूपक में एक (कमलों के निवास में 'कमला के निवास' का) आरोप अन्य ('राजा' में 'सरोवर' के) आरोप का उपाय (समर्थक) माना जाता है सो कैसे बन सकता है ? कारण, यहाँ श्लेष द्वारा 'कमलों के आवास' और 'कमला के वास' का केवल अभेद ही प्रतीत होता है, एक अर्थ का दूसरे अर्थ में आरोप नहीं। क्योंकि आरोप के लिये उपमेय का स्वतंत्र रूप से निर्देश अपेक्षित है—अर्थात् जहाँ उपमेय को स्वतंत्र लिखकर उपमान पृथक् लिखा गया हो वहाँ उपमान का उपमेय में आरोप प्रतीत होता है, अन्यथा नहीं। सारांश यह कि "कमलावासकासारः" आदि में एक शब्द से दो अर्थों का एक साथ ग्रहण होने के कारण उन दोनों अर्थों का अभेद प्रतीत होने पर भी उनमें से एक अर्थ का दूसरे अर्थ पर आरोप नहीं प्रतीत होता।

और आप यह तो कह सकते नहीं कि—अभेद के ज्ञान को ही आरोप कहते हैं, क्योंकि अतिशयोक्ति में भी, जहाँ कि

उपमान से ही उपमेय का काम लिया जाता है, आरोप का व्यवहार होने लगेगा। दूसरे, केवल अभेद-ज्ञान से यहाँ काम चल भी नहीं सकता। कारण, "जिसके संबंधी में जिसके संबंधी का अभेद हो उसमें उसका अभेद होता है" इस न्याय के अनुसार राजा में सरोवर का आरोप तभी समर्थित हो सकता है, जब कि राजा से संबंध रखनेवाले 'कमला के निवास' में सरोवर से संबंध रखनेवाले 'कमलों के निवास' का अभेद संबंध से आरोप हो। अर्थात् जब तक 'कमला के वास' में 'कमलों के आवास' का आरोप न किया जाय तब तक राजा में सरोवर का आरोप नहीं हो सकता। पर श्लेष के द्वारा तो 'कमला के निवास' में 'कमलों के निवास' का अभिन्नतया ज्ञान होने के कारण इस अभिन्न धर्म को मूल मानकर राजा और सरोवर का अभेद-ज्ञान होगा, न कि राजा-रूपी उपमेय में सरोवर-रूपी उपमान के प्रस्तुत आरोप की सिद्धि। केवल अभेद का आकार है "ये दोनों अभिन्न हैं" यह, सो वह यहाँ प्रस्तुत है नहीं, किंतु "यह एतद्रूप है" इस रूप में होनेवाला पूर्वोक्त आरोप अपेक्षित है। अतः पूर्वोक्त ("जिसमें जिसके संबंधी का अभेद हो......" इत्यादि न्याय से सिद्ध) आरोप ढूँढ़ना है और वह श्लेष से सिद्ध हो नहीं सकता। यह एक प्रश्न है।

इसका उत्तर यह है कि—आपका कथन ठीक है। पर श्लेष से केवल अभेद की प्रतीति हो चुकने पर प्रस्तुत आरोप

का समर्थन करने के लिये, मध्य में, राजा से संबंध रखनेवाले 'कमला के निवास' में सरोवर से संबंध रखनेवाले 'कमलों के निवास' का आरोप मन द्वारा कर लिया जाता है—अर्थात् शब्दतः केवल अभेद की प्रतीति होने पर भी आरोप की मानस प्रतीति हो जाती है। ऐसी कल्पना कर लेने से कोई गड़बड़ नहीं रहती।

(ख) शुद्ध परंपरित

आप कहेंगे—(इस तरह) "सौजन्यचन्द्रिकाचन्द्रो राजा (यह राजा सौजन्य-रूपी चाँदनी के कारण चंद्रमा है)" इत्यादि शुद्ध परंपरित रूपक में (राजा में चंद्रमा का) अभेद संबंध से आरोप हो जाने पर भी आरोप के सादृश्य-मूलक न होने के कारण उसे रूपक क्यों कहा जाता है; क्योंकि पहले कहा जा चुका है कि—"सादृश्यमूलक अभेद को ही रूपक कहते हैं"। पर यह कथन कुछ नहीं। कारण, समर्थक आरोप—अर्थात् चंद्रिका में सौजन्य के आरोप—द्वारा राजा और सरोवर के धर्म को एक मान लेने से—अर्थात् इस आरोप को राजा और सरोवर का समान धर्म मान लेने से सादृश्य में कोई विघ्न नहीं रहता। सारांश यह कि—समानधर्म ज्ञात न होने के कारण आप यह शंका करते थे, पर ऐसे स्थानों में समर्थक आरोप को ही समान धर्मरूप मान लिया जाता है, अतः यह शंका नहीं टिक सकती।

अभेद के विषय में विचार

इतने पर भी यह पूर्वपक्ष हो सकता है कि—

उपर्युक्त "सौजन्यचन्द्रिकाचन्द्र" इस शुद्ध परंपरित रूपक के उदाहरण में दो समास हैं; 'सौजन्यचन्द्रिका' शब्द में 'कर्मधारय' और इस शब्द को 'चन्द्र' शब्द के साथ जोड़ने में 'तत्पुरुष'। सो तत्पुरुष का अंग-रूप होकर जो 'कर्मधारय' आया है उसमें— अर्थात् 'सौजन्य-चंद्रिका' इस पद में— 'सौजन्य' पदार्थ 'चंद्रिका' पदार्थ का अभेद संबंध द्वारा विशेषण होता है। सारांश यह कि—'सौजन्य' विशेषण है और 'चंद्रिका' विशेष्य। अतः 'चंद्रिका' में 'सौजन्य' का अभेद प्रतीत होता है, न कि 'सौजन्य' में 'चंद्रिका' का। वह अभेद 'राजा' में 'चंद्र' के अभेद रूपी रूपक का समर्थन नहीं कर सकता, किंतु 'चंद्र' में 'राजा' के अभेद का समर्थन कर सकता है। क्योंकि जब समर्थक रूपक में उपमेय (सौजन्य) का उपमान (चंद्रिका) में अभेद प्रतीत होता है तो समर्थ्य रूपक (राजा और चंद्र) में भी वैसा ही होना चाहिए। वह अपने से विपरीत रूपक का कैसे समर्थन कर सकता है? और पूर्वोक्त न्याय भी यही कहता है कि— जिसके संबंधी में जिसके संबंधी का अभेद हो उसमें उसका अभेद होता है।" तो फिर राजा के संबंधी सौजन्य का चंद्रिका में अभेद, चंद्रिका के संबंधी चंद्र में राजा के अभेद का ही समर्थन कर सकता है, राजा में चंद्र के अभेद का

नहीं। सारांश यह कि—'सौजन्य' राजा का संबंधी है और 'चंद्रिका' चंद्र की संबंधिनी; इन दोनों में से जिसका जिसमें आरोप प्रतीत होगा, उनके संबंधियों में भी वह आरोप उसी क्रम से प्रतीत होगा। यहाँ कर्मधारय समास के अनुसार सौजन्य के विशेषण और चंद्रिका के विशेष्य होने के कारण सौजन्य का चंद्रिका में अभेद प्रतीत होता है—अर्थात् सौजन्य का उपमान होना और चंद्रिका का उपमेय होना प्रतीत होता है। इस हिसाब से समर्थ्य रूपक में भी राजा का उपमान होना और चंद्र का उपमेय होना समर्थित होने लगेगा, जो कि सरासर विपरीत है। वह सुलटा तब हो सकता है जब कि चंद्रिका का सौजन्य में अभेद प्रतीत हो; जैसे कि "सौजन्यं ते धराधीश ! चन्द्रिका, त्वं सुधानिधिः—अर्थात् हे राजन् आपका सौजन्य चंद्रिका है और आप चंद्रमा हैं।" इस वाक्य में प्रतीत होता है; क्योंकि यहाँ 'चंद्रिका' का (विधेय) विशेषण होना और सौजन्य का विशेष्य होना स्पष्ट प्रतीत होता है। सो यह बात 'कर्मधारय' में हो नहीं सकती; क्योंकि वहाँ पूर्वपद का विशेषण होना और उत्तर पद का विशेष्य होना स्पष्ट है।

यदि कहा जाय कि—सौजन्य का चंद्रिका के साथ अभेद अथवा चंद्रिका का सौजन्य के साथ अभेद, दोनों अभेद, समझे तो जाते हैं एक ही प्रकार के ज्ञान से; अतः कोई अनुपपत्ति नहीं। तो इसका उत्तर यह है कि—यह बात

प्रत्यक्ष-जन्य ज्ञान के विषय में कही जा सकती है; क्योंकि वहाँ दोनों बोधों की सामग्री एक होती है—जिस इंद्रिय आदि से आप 'चंद्रिका के अभेद' का बोध प्राप्त करते हैं उसी इंद्रिय से 'चंद्रिका के साथ अभेद' का। अत: वहाँ कोई फेर नहीं। पर शाब्दबोध में ऐसा नहीं होता—वह ज्ञान तो व्युत्पत्ति की विचित्रता से जकड़ा हुआ है। एक ही बात को आप जरा दूसरी तरह बोले कि उसका बोध दूसरा हुआ। सारांश यह कि—शाब्दबोध में तो शब्द बदला कि अर्थ बदला। अत: आपकी यह युक्ति यहाँ नहीं चल सकती।

ऐसी दशा में केवल यही नहीं, किंतु समासांतर्गत अन्य शुद्ध परंपरित रूपकों में भी दो आरोपों का परस्पर समर्थ्य-समर्थक होना कैसे बन सकता है?

इस स्थिति में "शशि-पुंडरीक" इत्यादि में कमल का रूपक (ताद्रूप्य) कैसे कहा जा सकता है? क्योंकि कमल के ताद्रूप्य का अर्थ है कमल का ('शशी' से) अभेद; सो वह तो पूर्वोक्तरीत्या "शशि-पुंडरीक" (इस कर्मधारय समास) में प्रतीत होता नहीं; किंतु चंद्रमा का कमल से अभेद प्रतीत होता है। अत: जैसे "कमल चंद्रमा है" इस जगह चंद्रमा का रूपक कहा जाता है वैसे ही "शशि-पुंडरीक" में भी चंद्रमा का रूपक कहना उचित है, कमल का नहीं।

इसी तरह "नीलिम-दिव्यतोय", "तारावली-मुकुल", "षोडश-कला-दल" "अंक-भृंग" इन सब में भी उत्तर पदों ("दिव्य-तोय" आदि) के अर्थों के साथ पूर्व पदों ("नीलिमा" आदि) के अर्थों का ही रूपक प्राप्त होगा, न कि उत्तर पदों के अर्थों का पूर्व पदों के अर्थों के साथ। एवं—

सुविमलमौक्तिक-तारे धवलांशुकचन्द्रिकाचमत्कारे।
वदन-परिपूर्णचन्द्रे सुन्दरि राकाऽसि नाऽत्र संदेहः॥

इस पूर्वोक्त पद्य में, उपमेयरूप 'सुंदरी' में 'पूर्णिमा' का अभेद प्रतीत होता है, अतः पूर्णिमा का रूपक यद्यपि स्पष्ट ही है; तथापि (पद्य के) तीन चरणों के रूपक, पूर्णिमा के रूपक की अनुकूलता के लिये लिखे जाने पर भी, उसकी अनुकूलता नहीं करते। कारण 'तारा', 'चाँदनी' और 'पूर्ण चंद्र' का क्रमशः मोती, सफेद साड़ी और मुख के साथ अभेद सिद्ध होने पर भी, सुंदरी में पूर्णिमा का ताद्रूप्य (आरोप) सिद्ध नहीं हो सकता, प्रत्युत विपरीततया पूर्णिमा में सुंदरी का ताद्रूप्य सिद्ध हो सकता है; क्योंकि वे (अभेद के अनुयोगी रूप में प्रतीत होनेवाले 'तारा' आदि) पूर्णिमा से संबंध रखते हैं, सुंदरी से नहीं। अतः सब गड़बड़ है। यह है पूर्व पक्ष।

इसके उत्तर में कहा जाता है कि—अभेद विशेषण का संसर्ग (दो पदार्थों को अन्वित करनेवाला संबंध) होता है—

यह नियम-सिद्ध है। अर्थात् समानाधिकरण विशेषण का विशेष्य के साथ सदा अभेद संबंध होता है। वह अभेद जैसे 'मुख चंद्रमा है' इस वाक्यगत रूपक में अपने प्रतियोगी चंद्रमा का, अपने अनुयोगी मुख में, विशेषण होना निभा देता है वैसे ही 'मुख-चंद्र' आदि समास-गत रूपक में अपने अनुयोगी मुख का, अपने प्रतियोगी चंद्रमा में, विशेषण होना निभा देता है। सारांश यह कि—वाक्य और समास में विशेषण-विशेष्य होना बदलता है, अनुयोगी-प्रतियोगी होना नहीं। सो इस तरह दोनों जगह (वाक्य में तथा समास में) वस्तुतः 'चंद्रमा का अभेद' (अर्थात् चंद्रमा जिसका प्रतियोगी है वह अभेद) ही संसर्गरूप होता है, मुख का अभेद नहीं। यह एक दूसरी बात है कि—कहीं अनुयोगी पहले होता है कहीं प्रतियोगी। इस पहले-पीछे होने का कारण है विशेषण-विशेष्य होने की विचित्रता—अर्थात् यह नियत नहीं कि अनुयोगी ही विशेषण हो अथवा प्रतियोगी ही, दोनों में से कोई भी विशेषण अथवा विशेष्य हो सकता है। इस विचित्रता के कारण कभी अनुयोगी विशेषण हो जाता है कभी प्रतियोगी। इससे आप यह न समझिए कि—'मुख-चंद्र' में मुख का अभेद संसर्ग रूप से आया है, चंद्र का नहीं। क्योंकि यदि ऐसा हो तो ऐसी जगह चंद्र-रूपक न होकर मुख-रूपक होने लगेगा—अर्थात् मुख में चंद्रमा का आरोप न होकर चंद्रमा में मुख का आरोप होने लगेगा। यदि आप कहें

कि—जिसका विशेषण प्रतियोगी हो वही अभेद विशेषण के संसर्गरूप में आ सकता है, न कि जिसका विशेषण अनुयोगी हो वह अभेद—अर्थात् विशेषण सदा अभेद का प्रतियोगी ही हो सकता है, अनुयोगी नहीं; तो यह आपका दुराग्रह है। क्योंकि इसमें कोई प्रमाण नहीं।

इस तरह यह सिद्ध हुआ कि—"सौजन्य-चंद्रिका" आदि रूपक में "चंद्रिका के विशेषणरूप सौजन्य" का संसर्ग 'सौजन्य का अभेद' नहीं, किंतु चंद्रिका का अभेद' है—अर्थात् उस अभेद का प्रतियोगी सौजन्य नहीं, किंतु चंद्रिका है। ऐसी दशा में अंतत: "चंद्रिका सौजन्य में रहनेवाले अभेद की प्रतियोगिनी है" यह अर्थ सिद्ध हो जाने पर (विग्रह के ढंग से न सही, किंतु) दूसरे ढंग से सौजन्य में चंद्रिका का अभेद सिद्ध हो जाता है और उसके सिद्ध होने पर राजा में चंद्रमा का अभेद भी सिद्ध हो जाता है। अत: परंपरित रूपक में कुछ अनुपपत्ति नहीं।

"शशि-पुण्डरीक" आदि में भी अंतत: 'चंद्रमा में रहने वाले अभेद का प्रतियोगी कमल' यह अर्थ सिद्ध हो जाने पर कमल का अभेद ही प्रतीत होता है; अत: कमल का रूपक मानने में कोई अड़चन नहीं। यही बात अन्य अवयव रूपकों में भी समझिए—अर्थात् "नीलिम-दिव्यतोय" आदि में भी यही बात है।

इसी तरह "सुविमल-मौक्तिकतारे" इत्यादि में भी मोती आदि में तारा आदि का अभेद ही तारा आदि विशेषणों का संसर्ग होता हुआ 'पूर्णिमा' के रूपक का संसर्गरूप होता है। अतः सब ठीक है।

हाँ, इतना अवश्य समझ लीजिए कि—यह अभेद, जहाँ अनुयोगी पहले हो ऐसा हो (जैसे "मुख चंद्रमा है" इत्यादि वाक्यों में) वहाँ रूपक विधेय होता है, और जहाँ प्रतियोगी पहले हो वहाँ रूपक अनुवाद्य होता है। यह है इस सब का संक्षेप।

परंपरित रूपक के अन्य प्रकार

परंपरित रूपक के भेदों में (समर्थ्य रूपक और समर्थक रूपक के) उपमानों और उपमेयों के परस्पर अनुकूल होने पर समर्थ्य-समर्थक होना "प्राची •संध्या समुद्यन्महिमदिनमणे" इस पद्य में दिखाया जा चुका है।

प्रतिकूल होने पर उदाहरण; जैसे—

आनन्दमृगदावाग्निः शीलशाखिमदद्विपः।
ज्ञानदीपमहावायुरयं खलसमागमः॥

यह दुष्टों का समागम आनंदरूपी हरिण के लिये दावानल है, सदाचाररूपी वृक्ष के लिये मत्त हाथी है और ज्ञानरूपी दीपक के लिये महावायु रूप है।

अथवा जैसे—

कारुण्यकुसुमाकाशः शान्तिशैत्यहुताशनः ।
यशःसौरभ्यलशुनः पिशुनः केन वर्ण्यते ?

चुगलखोर पुरुष दयारूपी पुष्प के लिये आकाश, शांति-रूपी शीतलता के लिये अग्नि और यशरूपी सुगंध के लिये लहसुन है। इसका वर्णन किससे किया जा(सक)ता है ?

इन दो उदाहरणों में से प्रथम उदाहरण में एक (समर्थक रूपकवाला) उपमान ('मृग' आदि) नष्ट करने योग्य है और दूसरा (समर्थ्य रूपकवाला) उपमान ('दावानल' आदि) नाशक है और यही हालत उपमेयों ('आनंद' आदि तथा 'दुष्टों के समागम') की है और दूसरे उदाहरण में समर्थक रूपक के उपमान कुसुम आदि का समर्थ्य रूपक के उपमान आकाश आदि में अत्यन्ताभाव है। इसी प्रकार उपमेय कारुण्य आदि का पिशुन में भी त्रैकालिक अभाव है। अतः दोनों उदा-हरणों में समर्थ्य रूपक और समर्थक रूपक के उपमानों की एवं उपमेयों की परस्पर प्रतिकूलता है। रहा समर्थ्य-समर्थक होना, सो वह वैसा ही है जैसा कि अनुकूल होने पर होता है।

इसी तरह

अयं सज्जनकार्पासरक्षणैकहुताशनः ।
परदुःखाग्निशमनमारुतः केन वर्ण्यते ?

अपकारी पुरुष के विषय में कोई कहता है—यह सज्जन-रूपी कपास की रक्षा करने के लिये केवल अग्नि है और

दूसरों के दु:खरूपी अग्नि को शांत करने के लिये वायु है। इसका वर्णन किससे किया जा(सक)ता है ?

यहाँ 'रक्षा करना' और 'शांत करना' ये पद विरोधि-लक्षणा द्वारा विपरीत अर्थ 'नष्ट करने' और 'बढ़ाने' का बोध करवाते हैं, अत: यहाँ भी प्रतिकूलता है।

इस तरह पदार्थ रूपक का अंशत: निरूपण किया गया है।

वाक्यार्थ रूपक

लक्षण

एक वाक्य का अर्थ उपमेय हो और उसमें अन्य वाक्य का उपमानरूप अर्थ आरोपित किया जाय तो 'वाक्यार्थ रूपक' होता है।

जैसे विशेषण-युक्त उपमा में विशेषणों का उपमान-उपमेय होना अर्थप्राप्त होता है; क्योंकि वहाँ विशेषणों के सादृश्य के लिये कोई 'इव' आदि सादृश्य-वाचक शब्द नहीं होता, वैसे ही वाक्यार्थ रूपक में भी वाक्यार्थ के बनानेवाले (अर्थात् जिनके समुदाय से वाक्यार्थ बनता है उन) पदार्थों का रूपक अर्थत: ज्ञेय होता है।

उदाहरण

आत्मनोऽस्य तपोदानैर्निर्मलीकरणं हि यत्।
क्षालनं भास्करस्येदं सारसैः सलिलोत्करैः ॥

इस आत्मा का जो तप और दानों से निर्मल करना है यह, सूर्य का सरोवर के सलिल-समूह से धोना है।

यहाँ विशेषणों सहित 'निर्मल करना' उपमेय है और वैसा ही 'धोना' उपमान। 'आत्मा' और 'तप-दान' उपमेय के विशेषण होने के कारण बिंबरूप हैं; उनमें, उपमान के विशेषण होने के कारण प्रतिबिंब रूप बने हुए 'सूर्य' और 'जल-समूह' आदि का रूपक (आरोप) प्रतीत होता है। यह रूपक, पूर्वोक्त प्रधान रूप में आए विशिष्ट रूपक का अंग है।

अप्पयदीक्षित का खंडन

अपने को अलंकारों का ज्ञाता समझनेवाले किसी ('अलङ्कारसर्वस्वकार') के धोखे में आए हुए दीर्घश्रवा* (यशस्वी) द्रविड़ (अप्पयदीक्षित) का यह कथन कि "यह रूपक नहीं है और रूपक में बिंब-प्रतिबिंब-भाव नहीं होता" श्रद्धा करने योग्य नहीं है। कारण, जिनमें 'इव' आदि शब्दों का प्रयोग करने पर उपमा होती है, उनमें यदि एक का दूसरे पर आरोप हो तो रूपक होता है—यह नियम है। यदि आप यहाँ (इस पद्य में) रूपक नहीं मानते तो फिर इसी पद्य में 'इव' अथवा 'यथा' आदि शब्दों का प्रयोग करने पर उपमा भी न मानिए। इसी तरह यदि आप

---

* 'दीर्घश्रवा' का एक अर्थ 'लम्बकर्ण' भी होता है, जिससे 'गधा' अर्थ व्यक्त होता है।

"त्वयि कोपो महीपाल ! सुधांशाविव पावकः ।

हे राजन् ! आप में कोप चंद्रमा में आग की तरह है ।"

यहाँ कवि के कल्पित विशेषणयुक्त धर्मी ('अग्नियुक्त चंद्रमा') के साथ ('कोपयुक्त राजा' का) सादृश्य प्रतीत होता है, इस कारण उपमा कहते हैं, तो उसमें से जब 'इव' निकाल दें तब

"त्वयि कोपो महीपाल ! सुधांशौ हव्यवाहनः ।

हे राजन् ! आपमें कोप चंद्रमा में आग है ।"

यहाँ रूपक भी कहिए। यहाँ आपको क्यों संकोच होता है ? अतः यह सिद्ध हुआ कि रूपक में भी बिंब-प्रतिबिंब-भावापन्न समान धर्म होता है ।

वाक्यार्थ रूपक का एक अन्य उदाहरण

कुङ्कुमद्रवलिप्ताङ्गः काषायवसनो यतिः ।
कोमलातपबालाभ्रसन्ध्याकालो न संशयः ॥

केसर को शरीर में पोते भगवा-वस्त्र-धारी संन्यासी, कोमल धूप और छोटे बादलोंवाला संध्या-समय है, इसमें संदेह नहीं ।

इत्यादिक में भी विशिष्ट रूपक (वाक्यार्थ रूपक) समझना चाहिए। "त्वयि कोपः......" इस पूर्वोक्त पद्य में उपमान के कवि की बुद्धि द्वारा कल्पित होने के कारण

'कल्पित विशिष्ट रूपक' है और यहाँ कल्पित नहीं है—शुद्ध है—इतना उस उदाहरण और इस उदाहरण में अन्तर है।

ऐसे रूपकों में 'गम्योत्प्रेक्षा' ही क्यों नहीं मान ली जाती है ?

आप कहेंगे—ऐसे ऐसे स्थलों में 'गम्योत्प्रेक्षा' ही क्यों नहीं मान लेते ? हम कहते हैं—ऐसा नहीं हो सकता। क्योंकि यहाँ "संदेह नहीं" इत्यादि द्वारा अभेद का निश्चय किया जा रहा है। यदि उत्प्रेक्षा होती तो यहाँ अभेद की संभावना होती, निश्चय नहीं। अन्यथा "मुख चंद्रमा है" इत्यादि में भी 'गम्योत्प्रेक्षा' ही होने लगेगी और रूपक का विलोप हो जायगा—उसके लिये संसार में कहीं जगह न रहेगी।

रूपक का शाब्दबोध

१—प्राचीनों का मत

अब रूपक के शाब्दबोध का विचार किया जाता है। इस विषय में प्राचीन विद्वान् कहते हैं—

उपमानवाचक पद ('चंद्र' आदि) से, सारोपा लक्षणा द्वारा, उपमान में रहनेवाले गुणों (कांति आदि) से युक्त, इस अर्थ की उपस्थिति होती है, और तब इस अर्थ का अभेद-संबंध द्वारा विशेषण रूप से उपमेय में अन्वय होता है।

इस तरह

'मुख चंद्र (है)' इस वाक्य का

शाब्दबोध—'चंद्रमा में रहनेवाले गुणों से युक्त से अभिन्न मुख, यह होता है। जिसे

सरल शब्दों में—'चंद्रमा के (कांति आदि) गुणों से युक्त मुख' यों कहा जा सकता है। अतएव अलंकार-भाष्यकार ने कहा है कि—"रूपक में लक्षणा का होना आवश्यक है। अर्थात् लक्षणा के बिना रूपक का बोध नहीं हो सकता।"

आप कहेंगे—ऐसा बोध मानने पर "चंद्र-सदृश मुख" इस उपमा से रूपक का क्या भेद हुआ? क्योंकि बोध में विलक्षणता न होने से चमत्कार में विलक्षणता न होगी और जब तक चमत्कार में विलक्षणता न हो तब तक अलग अलंकार माना जा नहीं सकता। यदि आप यह उत्तर दें कि—बोध तो एक ही है, पर उपमा में वह अभिधा द्वारा सिद्ध होता है और रूपक में लक्षणा द्वारा; अतः वृत्ति के भेद के कारण उपमा और रूपक में भेद हो जायगा। सो यह कोई बात नहीं। क्योंकि केवल वृत्ति के भेद से अलंकार का भेद सिद्ध नहीं होता (जैसा कि पहले लिखा जा चुका है)।

इसका उत्तर यह है—लक्षणा द्वारा बोध होने के अनंतर, लक्षणा के प्रयोजनरूप से प्रतीत होनेवाले अभेद के बोध द्वारा, उपमा से रूपक में विलक्षणता हो जाती है। अर्थात् उपमा

में (केवल) अभेद की प्रतीति नहीं होती और रूपक में वह होती है—यह है इन दोनों में परस्पर भेद। क्योंकि रूढ़ लक्षणा के अतिरिक्त अन्य लक्षणाओं में प्रयोजन होना ही चाहिए—यह नियम है। आप कहेंगे—चंद्रमा और मुख कभी अभिन्न नहीं देखे गए, अत: इस बोध का बाध हो जाता है—अर्थात् अभेद का बोध कोई वस्तु नहीं। तो उसका उत्तर यह है कि—अभेद का बोध व्यंजना के ज्ञान द्वारा होता है, अभिधा के ज्ञान द्वारा नहीं, और बाध का अभाव अभिधा में ही अपेक्षित है, व्यंजना में नहीं। अत: इस बाध के ज्ञान से अभेद का बोध नहीं रोका जा सकता।

२—नवीनों का मत

नवीन विद्वानों का तो मत है कि—दो प्रातिपदिकों के अर्थों का अभेद-संबंध से अन्वय व्युत्पत्ति-सिद्ध है—उसे सिद्ध करने के लिये किसी युक्ति की आवश्यकता नहीं। अत:

'मुख चंद्र (है)' इस वाक्य का

शाब्दबोध—'चंद्र से अभिन्न मुख' यह होता है।

यहाँ लक्षणा की कोई आवश्यकता नहीं। क्योंकि जिस अभेद को आप लक्षणा का प्रयोजन मानते हैं वह जब अन्य प्रकार (आकांक्षा आदि) से (स्वत:) सिद्ध हो

जाता है तब लक्षणा की कल्पना न्यायानुकूल नहीं कही जा सकती।

दूसरे, लक्षणा मानने में कई-एक दोष भी हैं। रूपक में लक्षणा हो तो—

१—"मुख-चंद्र" इस जगह 'उपमित समास' और 'विशेषण-समास' दोनों समास हो सकते हैं और आपके हिसाब से दोनों समासों में उत्तर पद लाक्षणिक होता है। इस लाक्षणिक होने की समानता होने पर भी उसी शब्द में एक जगह (उपमित-समास में) उपमा मानना और अन्यत्र (विशेषण समास में) रूपक मानना—इसमें व्याघात होगा। और

२—"मुख चंद्र-सदृश नहीं है, किंतु चंद्र है" इत्यादिक स्थलों में, जहाँ रूपक में सादृश्य का निषेध (सादृश्य की अपेक्षा अधिकता) सम्मिलित हो, वहाँ लक्षणाद्वारा उत्पन्न होनेवाला सादृश्य का बोध नहीं हो सकता; क्योंकि वहाँ ऐसा होना वक्ता को अभीष्ट नहीं, अतएव तो वक्ता ने सादृश्य का निषेध किया है। इसी तरह—

३—"देवदत्त का मुख चंद्रमा ही है, यज्ञदत्त का मुख तो वैसा नहीं है, किंतु चंद्रमा के सदृश है" इत्यादिक में लक्षणा द्वारा 'चंद्रमा' का अर्थ होगा 'चंद्रमा के सदृश' और उसमें 'नहीं' शब्द के अर्थ का अन्वय होगा। तब इस वाक्य के बोध

की "..........यज्ञदत्त का मुख तो चंद्रमा के सदृश नहीं है, किंतु चंद्रमा के सदृश है" इस तरह मट्टी पलीद होगी।

यदि आप लक्षणा के प्रयोजनरूप ज्ञान में आनेवाले (व्यंग्य) अभेद के साथ 'चंद्र' शब्द का अन्वय करना चाहें—अर्थात् उस वाक्य का यह अर्थ करें कि 'देवदत्त का मुख चंद्र से अभिन्न है और यज्ञदत्त का मुख वैसा नहीं, किंतु चंद्र-सदृश है'; तो यह हो नहीं सकता। कारण, व्यंग्य अभेद की उपस्थिति, इस (लाक्षणिक अर्थ के) अन्वय के समय, नहीं हो सकती। प्रयोजन तो इस अन्वय के हो चुकने के अनंतर प्रतीत होता है।

आप कहेंगे—आपके मत में भी अभेद का बोध कैसे होगा? क्योंकि मुख का चंद्र होना बाधित है। तो यह ठीक नहीं। कारण, जैसा अभेद का बोध हम मानते हैं वह आहार्य (बाधज्ञान-कालीन इच्छाजन्य) है—जानबूझकर वैसा किया जाता है, अतः वह बोध बाध की बुद्धि—अर्थात् 'मुख चंद्रमा नहीं है' इस ज्ञान से रुक नहीं सकता। क्योंकि योग्यता के अभाव (बाधित होने) का बोध सच्चे ज्ञान को ही रोकता है, आहार्य ज्ञान को नहीं।

अथवा हम अभेद के बोध को आहार्य भी क्यों मानें, शब्द-जन्य ही मानेंगे। और जैसे बाध के निश्चय द्वारा रुकने योग्य ज्ञानों में "आहार्य से भिन्न" यह निवेश किया जाता है वैसे "शब्द-जन्य ज्ञान से भिन्न" इतना और बढ़ा देंगे।

तात्पर्य यह कि—अब तक जो यह कहा जाता था कि "आहार्य ज्ञान से भिन्न ज्ञान बाध का निश्चय होने पर रुक जाते हैं" उसके स्थान पर यों कहेंगे कि "आहार्य और शब्द-जन्य ज्ञान से भिन्न ज्ञान बाध का निश्चय होने पर रुक जाते हैं।"

आप कहेंगे—यदि ऐसा मानोगे तो बाध का निश्चय (योग्यता का अभाव) होने पर जो शाब्दबोध का न होना माना जाता है वह न बन सकेगा। तो इसका उत्तर यह है कि—बाध का निश्चय होने पर उस धर्म (जैसे मुख में मुखत्व) से युक्त होने का शाब्दबोध नहीं उत्पन्न होता*---यह बात ठीक है;

---

* इस विषय में नागेश भट्ट कहते हैं, और बहुत सुंदर कहते हैं, कि—"बाध का निश्चय होने पर शाब्दबोध नहीं होता" यह धारणा भ्रांति-पूर्ण है। शाब्दबोध तो होता ही है। अतएव तो "आग से सींचता है" यह कहनेवाले की हँसी उड़ाना बन सकता है कि—जनाब! आग क्या तरल पदार्थ है जो आप उससे सींचना कह रहे हैं। यदि बोध ही न होता तो जैसे इसी अर्थवाला द्रविड़ भाषा का वाक्य सुनकर पश्चिम-भारतीय चुप हो जाता है वैसे चुप हो जाता, हँसी कैसे उड़ाता। आप कहेंगे—ऐसा सुनने से शब्द द्वारा (वाक्यार्थ का) बोध नहीं होता, किंतु पदों के अर्थ याद आ जाते हैं, अतः हँसी उड़ाई जाती है, तो हम कहते हैं—इस श्रद्धा-जड़ता में क्या धरा है—पदों के अर्थ समझ पड़ते हैं और उनके समूह रूप वाक्य का अर्थ नहीं समझ पड़ता—यह तो निरी अन्ध श्रद्धा है। अतः यह मानना चाहिए कि—बाध के ज्ञान आदि बाधित अर्थवाले वाक्य से बोधित अर्थ में प्रवृत्ति रोकते

क्योंकि वहाँ योग्यता का ज्ञान नहीं रहता। पर जहाँ आहार्य योग्यता ज्ञान हो वहाँ शाब्दबोध होना अभीष्ट है—अर्थात् मिथ्या योग्यताज्ञान से भी शाब्दबोध हो जाता है। सो रूपक में वास्तविक योग्यताज्ञान न होने पर भी आहार्य योग्यताज्ञान के द्वारा शाब्दबोध होने में कोई आपत्ति नहीं। अतएव तो बाध के निश्चय द्वारा हटाया हुआ भी योग्यताज्ञान शाब्दबोध का कारण हो जाता है। अत: यह सिद्ध हुआ कि—या तो अभेदज्ञान को आहार्य मानकर अथवा योग्यता ज्ञान को आहार्य मान कर—दोनों प्रकारों में से किसी भी प्रकार से, काव्य में, सर्वत्र बोध बन सकता है। अत: बाधित होने का ज्ञान आपत्तिजनक नहीं।

४—लक्षणा मानने में एक यह भी दोष है कि—तत्सादृश्य का अर्थ है 'उस वस्तु में रहनेवाले धर्म से युक्त होना', इस बोध का फल 'उसके अभेद का बोध' कैसे हो सकता है? कहीं भी ऐसा नहीं देखा जाता कि—साधारण धर्मों से युक्त के अभेद का ज्ञान उन-उन वस्तुओं के असाधारण धर्म से युक्त के अभेदज्ञान का कारण होता हो। हम देखते हैं कि—घट और वस्त्र में 'द्रव्यत्व'रूपी साधारण धर्म के

हैं, न कि शाब्दबोध। और योग्यताज्ञान तो शाब्दबोध का कारण ही नहीं है—अर्थात् शाब्दबोध होने के लिये योग्यताज्ञान की कोई आवश्यकता नहीं। यही मार्ग सुन्दर है।

कारण अभेदज्ञान होने पर भी 'घटत्व' और 'पटत्व' के द्वारा हमें उनका भेदज्ञान भी होता ही है। हाँ, उलटा यह हो सकता है कि—उससे अभिन्न समझने का फल उसके धर्मों का ज्ञान हो, जैसे कि "गंगा पर गाँव है" इस वाक्य में गंगा के तट को गंगा के प्रवाह से अभिन्न मानने का फल है गाँव में (गंगा के धर्मों) शीतलता-पवित्रता आदि का ज्ञान। सारांश यह कि—अभेदज्ञान का फल सादृश्यज्ञान हो सकता है, न कि सादृश्यज्ञान का फल अभेदज्ञान। अतः प्राचीनों का मत उचित नहीं।

रूपक में अभेदज्ञान ही होता है, सादृश्यज्ञान नहीं; अतएव

"कृपया सुधया सिञ्च हरे ! मां तापमूर्च्छितम्।
जगज्जीवन ! तेनाऽहं जीविष्यामि न संशयः॥

हे हरि ! मैं ताप से मूर्च्छित हूँ। मुझे कृपारूपी सुधा (अमृत) से सींचो। हे जगत् के जीवन ! उससे मैं जी उठूँगा—इसमें संदेह नहीं।"

इत्यादिक में, कृपा का अमृत से अभिन्न होने का बोध होने पर ही उसका, करण-रूप से, 'सींचने' में अन्वय होता है—अर्थात् कृपा को अमृत से अभिन्न न मानकर अमृत-सदृश मानने पर वह सींचने का करण कैसे हो सकती है ? और अभिन्न मानने पर ही वैसा 'सींचना' जीवन का हेतु हो

सकता है—अर्थात् कृपा जब तक अमृतरूप न हो तब तक उसका 'सींचना' जीवन का हेतु नहीं हो सकता। यह नवीनों के मत का संक्षेप।

तृतीयांत साधारण धर्मवाले रूपक का शाब्दबोध

अच्छा अब यह बताइए कि—

"गाम्भीर्येण समुद्रोऽयं सौन्दर्येण च मन्मथः।

यह (राजा) गंभीरता से समुद्र और सुंदरता से कामदेव है।"

यहाँ कैसा शाब्दबोध होगा ? सुनिए—

१—**प्राचीनों** के मत से ऐसी जगह साधारण धर्म (गंभीरता) के आगे की तृतीया ('से') का अर्थ होता है 'प्रयोज्यता' अथवा 'अभेद'। उसका लक्षणा से बोधित 'सदृश' (सादृश्य युक्त) के एक देश 'सादृश्य' में अन्वय होगा। अतः

"यह गंभीरता से समुद्र है" इस वाक्य का

शाब्दबोध—"गंभीरता द्वारा सिद्ध किए जानेवाले समुद्र के सादृश्य से युक्त से अभिन्न यह (राजा)" ऐसा अथवा

"गंभीरता से अभिन्न समुद्र के धर्म (सादृश्य) से युक्त से अभिन्न यह (राजा)" ऐसा होगा। इन शाब्दबोधों को क्रमशः

सरल शब्दों में "यह गंभीरता के कारण समुद्र के सादृश्य से युक्त है" और "यह गंभीरतारूपी समुद्र के सादृश्य से युक्त है" इस तरह कहा जा सकता है।

और जो लोग बिना लक्षणा के ही अभेद संबंध द्वारा अन्वय मानते हैं उन (अर्थात् **नवीनों**) **के मत से** यह बात है कि—कवि 'मुखचंद्र' आदि ऐसे पदार्थ वर्णन करता है जो केवल अपनी इच्छा से कल्पित होते हैं। वे (संसार में) न होने पर भी अंत:करण के परिणाम रूप होते हैं—अर्थात् वे कवि की मानस सृष्टि के पदार्थ हैं, इस संसार के नहीं। ऐसी स्थिति में भी उनमें साधारण धर्मों की प्रयोजकता है ही, क्योंकि उनका निर्माण साधारण धर्मों के अधीन है—यदि 'मुख' और 'चंद्र' में कोई साधारण धर्म न होता तो मुख को चंद्र-रूप कैसे माना जाता ? अंत:करण भी कल्पना करेगा तो किसी मूल पर ही। अत:

"यह गंभीरता से समुद्र है" इस वाक्य का

शाब्दबोध—"गंभीरता द्वारा सिद्ध किए जानेवाले (प्रयोज्य) समुद्र से अभिन्न यह" इस रूप में निर्विघ्नतया हो जाता है।

अथवा तृतीया ('से') का अर्थ है 'ज्ञान से उत्पन्न ज्ञान का विशेषण होना'। क्योंकि नैयायिकों ने "वह्निमान् धूमात्" इत्यादिक में इसी रूप में पञ्चमी के अर्थ की कल्पना की है। इस हिसाब से

"यह गंभीरता से समुद्र है" इस वाक्य का

शाब्दबोध—"गंभीरता के ज्ञान से उत्पन्न ज्ञान के विशेषण समुद्र से अभिन्न यह" इस रूप में हो सकता है।

अभेद के तीन स्थल

यह रूपक (अभेद) काव्य में तीन प्रकार से आया करता है—संसर्ग रूप से, विशेष्य रूप से और विशेषण रूप से। जहाँ उपमान और उपमेय एक विभक्ति में आवें (जैसे दोनों प्रथमांत हों) वहाँ अभेद, किसी पद का अर्थ न होने के कारण, **संसर्गरूप** होता है। जैसे "बुद्धिर्दीपकला......" इत्यादि पूर्वोदाहृत पद्य में।

जहाँ उपमान-उपमेय भिन्न भिन्न विभक्तियों में होते हैं वहाँ कहीं **विशेष्यरूप** होता है। जैसे—

कैशोरे वयसि क्रमेण तनुतामायाति तन्व्यास्तना-
वागामिन्यखिलेश्वरे रतिपतौ तत्कालमस्याऽऽज्ञया।
आस्ये पूर्णशशाङ्कता नयनयोस्तादात्म्यमम्भोरुहां
किं चाऽऽसीदमृतस्य भेदविगमः साचिस्मिते तात्त्विकः॥

किशोरावस्था के क्रमशः क्षीण होते समय कृशांगी के शरीर में अखिलेश्वर (सार्वभौम) कामदेव आनेवाला था; अतः उसकी आज्ञा से, तत्काल, (कृशांगी के) मुख में पूर्णचंद्रता, आँखों में कमलों का तादूप्य और बाँकी मुसकयान में अमृत का वास्तविक अभेद हो गया।

यहाँ 'चंद्रता', 'ताद्रूप्य' और 'अभेद' शब्दों से रूपक (अभेद) का वर्णन किया गया है। यह रूपक जो लोग (शाब्दबोध में) प्रथमांत पद के अर्थ को विशेष्य मानते हैं उनके (नैयायिकों के) मत से विशेष्य है। और जो लोग (शाब्दबोध में) क्रिया को विशेष्य मानते हैं उन (वैयाकरणादिकों) के मत से इसी श्लोक में कुछ फेर-फार करके 'क्त' अथवा 'क्तवतु' प्रत्ययांत क्रिया रख देने से—अर्थात् "किं चासीदमृतस्य" के स्थान पर "संपन्नो ह्यमृतस्य" पाठ कर देने से—विशेष्य हो सकता है। क्योंकि उस दशा में तिङंत क्रियापद न रहने से मतभेद मिट जाता है।

कहीं **विशेषणरूप** होता है; जैसे—

अविचिंत्यशक्तिविभवेन सुन्दरि !
प्रथितस्य शम्बररिपोः प्रभावतः।
विधुभावमञ्चतितमां तवाऽऽननं
नयनं सरोजदलनिर्विशेषताम् ॥

अचिंतनीय शक्तियों की संपत्ति के कारण विख्यात कामदेव के प्रभाव से तेरा मुँह चंद्रता को और नेत्र कमल की पँखुरी की एकता को पूर्णतया प्राप्त हो रहे हैं।

यहाँ 'चंद्र' और 'कमल की पँखुड़ी' के अभेद रूप में 'चंद्रता' और 'एकता' शब्द लाए गए हैं और अतएव रूपक रूप हैं। वे द्वितीया विभक्ति के अर्थ 'कर्म' के विशेषण हैं।

समास-गत रूपक का शाब्दबोध

एवं 'मुख-चंद्र' इत्यादि समस्त शब्दों में 'उपमित समास' होने पर उपमा ही होती है और 'विशेषण-समास' हो तो रूपक होता है। ऐसे रूपकों का शाब्दबोध "शशि-पुंडरीक" आदि में पहले प्रतिपादित की गई रीति से समझना चाहिए।

व्यधिकरण रूपक का शाब्दबोध

मीनवती नयनाभ्यां कर-चरणाभ्यां प्रफुल्लकमलवती।
शैवालिनी च केशैः सुरसेयं सुन्दरी सरसी॥

यह सुंदरी अच्छे रस (प्रेम + जल) वाली तलैया है जो नेत्रों से मछलियोंवाली, हाथ-पैरों से खिले कमलोंवाली और केशों से सेवारवाली है।

इत्यादिक में 'तृतीया ('से')' का अर्थ अभेद होता है। यद्यपि अभेद में प्रतियोगी* की प्रधानता होती है—उसका पहले प्रयोग होता है—तथापि अर्थ के अधीन होकर—अर्थात् यहाँ प्रधान रूपक (सुंदरीरूपी तलैया) में 'तलैया' अभेद की प्रतियोगिनी है, अतः—

---

* अभेद कहीं अनुयोगित्वमुख और कहीं प्रतियोगित्वमुख होता है। जैसे 'मुखं चन्द्रः' इस वाक्य का 'चन्द्र प्रतियोगिकाभेदानुयोगिताश्रयमुख' अर्थ है, यहाँ अभेद के आगे (मुख में) अनुयोगिता है अतः यह अभेद अनुयोगित्वमुख और विधेय है। 'मुख-चन्द्रः' समास में 'मुखनिष्ठाभेदप्रतियोगिताश्रयमुख' अर्थ है। यहाँ अभेद प्रतियोगित्व मुख और उद्देश्य कोटिस्थ है। सं०

"नेत्रों से मछलियोंवाली" इस वाक्य का

शाब्दबोध—"नेत्रों में रहनेवाले अभेद की प्रतियोगिनी मछलियोंवाली" यह होता है। और सुंदरी का 'मछलियोंवाली होना' है मछलियों से अभिन्न नेत्रों **द्वारा**—अर्थात् सुंदरी मछलियोंवाली तभी समझी जा सकती है जब कि नेत्रों को मछलियों से अभिन्न समझा जाय। इस 'द्वारा' को समझाने के लिये ही मूल में "नयनाभ्याम्" यह तृतीया लिखी गई है। अत: अंतत: "नेत्रों से मछलियोंवाली" का अर्थ होता है "मछलियों से अभिन्न—अर्थात् मछलीरूप—नेत्रोंवाली"। यह सब बात इसलिये करनी पड़ती है कि—यदि नेत्रों का अभेद मछलियों में ग्रहण किया जाय तो सुंदरी में तलैया का रूपक समर्थित नहीं होता; किंतु उलटा तलैया में सुंदरी का रूपक समर्थित होने लगता है, जैसा कि पहले कहा जा चुका है।

साधारण धर्म

रूपक में भी साधारणधर्म, उपमा की तरह, कहीं **अनुगामी,** कहीं **बिंब-प्रतिबिंब-भावापन्न,** कहीं **उपचरित** (लाक्षणिक) और कहीं **केवल शब्दरूप** होता है। और ऐसा धर्म भी कहीं शब्द द्वारा **उपात्त** (वर्णित) होता है और कहीं, अर्थात्प्रतीत होने के कारण, **अनुपात्त** (अवर्णित) होता है। अत: प्रत्येक पुन: दो प्रकार का हो जाता है।

उपात्त अनुगामी समान धर्म; जैसे—

जडानन्धान् पङ्गून् प्रकृतिबधिरानुक्तिविकलान्
ग्रहग्रस्तानस्ताखिलदुरितनिस्तारसरणीन् ।
निलिम्पैर्निर्मुक्तानथ च निरयान्तर्निपततो
नरानम्ब त्रातुं त्वमिह परमं भेषजमसि ॥

गंगा की स्तुति है। भक्त कहता है—हे जननि! जो लोग जड़, अंधे, लूले, जन्म से बहरे, गूँगे और ग्रहों के चक्कर में आए तथा पाप पार करने के सब रास्ते छोड़ बैठे हैं, और अतएव देवताओं द्वारा त्यागे गए हैं, एवं नरक के अंदर गिर रहे हैं उन मनुष्यों की रक्षा करने के लिये तू इस संसार में महान् औषध है।

यहाँ मूल में "त्रातुम्" इस 'तुमुन्'-प्रत्ययांत शब्द द्वारा वर्णित 'जड़-अंध आदि लोगों की रक्षा' औषध और गंगा का समान धर्म है।

अनुपात्त अनुगामी समान धर्म; जैसे—

समृद्धं सौभाग्यं सकलवसुधायाः किमपि त-
न्महैश्वर्यं लीलाजनितजगतः खण्डपरशोः ।
श्रुतीनां सर्वस्वं सुकृतमथ मूर्त्तं सुमनसां
सुधा-साम्राज्यं ते सलिलमशिवं नः शमयतु ॥

हे गंगे! वह आपका जल हमारा अशुभ निवृत्त करे, जो समग्र पृथ्वी का समृद्ध और अनिर्वचनीय सौभाग्य है, जो लीला से जगत् के उत्पन्न करनेवाले शिवजी का महान्

ऐश्वर्य है और जो श्रुतियों का सर्वस्व, देवताओं का मूर्त्तिमान् सुकृत एवम् अमृत का साम्राज्य है।

यहाँ 'सौभाग्य' और 'गंगा-जल' में 'जहाँ जहाँ वह न हो वहाँ वहाँ व्याप्त रहनेवाली 'भाग्यहीनता' और 'परम उत्कर्ष उत्पन्न करना' आदि व्यंग्य समान धर्म अनुपात्त है—उसका यहाँ शब्द द्वारा वर्णन नहीं है। इसी तरह 'ऐश्वर्य' और 'गंगाजल' में 'ईश्वर का असाधारण धर्म होना', 'श्रुतियों के सर्वस्व' और 'गंगाजल' में 'परम गोपनीय होना', 'सुकृत' और 'गंगा-जल' में 'सर्वाधिक सुख उत्पन्न करना' और 'अमृत' के 'साम्राज्य' और 'गंगाजल' में 'नीच से भी नीच से लेकर यावन्मात्र प्राणियों के जरा-मृत्यु का हरण कर सकना' आदि धर्म अनुगामी हैं (जो सब अनुपात्त हैं)।

बिंब-प्रतिबिंब-भावापन्न समान धर्म का विशिष्ट (वाक्यार्थ) रूपक के प्रसंग में निरूपण हो चुका है।

उपचरित समानधर्म; जैसे—

अविरतं परकार्यकृतां सतां मधुरिमातिशयेन वचोऽमृतम्।
अपि च मानसमम्बुनिधिर्यशो विमलशारदचन्द्रिरचन्द्रिका॥

जो निरंतर परोपकार करते हैं उन सज्जनों का वचन माधुर्य की अधिकता के कारण अमृत, चित्त समुद्र और यश शरद् के चंद्रमा की निर्मल चाँदनी होता है।

यहाँ 'अमृत' के रूपक में, उपमेय में उपचरित समानधर्म 'माधुर्य की अधिकता' शब्द द्वारा वर्णित है और 'समुद्र'

आदि के रूपक में 'गंभीरता' आदि उपचरित समानधर्म अनुपात्त है।

केवल शब्दात्मक समान धर्म; जैसे—

अङ्कितान्यक्षसंघातैः सरोगाणि सदैव हि।
शरीरिणां शरीराणि कमलानि न संशयः॥

'अक्ष-संघातों' से (शरीर—इंद्रियसमूहों से; कमल—कमलगट्टों से) चिह्नित और सदैव 'सरोग' (शरीर—रोगों से युक्त; कमल—सरोवर में रहनेवाले) देहधारियों के शरीर कमल ही हैं, इसमें संदेह नहीं।

यहाँ 'सरोग' आदि शब्दरूप समान धर्म शब्द द्वारा वर्णित ही प्रतीत होता है, अनुपात्त नहीं। यहाँ शब्दरूप दो धर्म हैं—उनमें से प्रथम धर्म में दो अर्थों के लिये पदों के अलग अलग टुकड़े नहीं करने पड़ते—अर्थात् 'अभंगश्लेष' है और दूसरे में करने पड़ते हैं—अर्थात् 'सभंगश्लेष' है।

हेतुरूपक

यही साधारण धर्म जहाँ हेतुरूप में रखा जाता है वहाँ 'हेतुरूपक' होता है। जैसे—

पञ्चशाखः प्रभो ! यस्ते शाखा सुरतरोरसौ।
अन्यथाऽनेन पूर्यन्ते कथं सर्वे मनोरथाः ?

हे प्रभो ! जो आपका हाथ है वह कल्पवृक्ष की शाखा है। अन्यथा इसके द्वारा सबके मनोरथ कैसे पूर्ण किए जाते हैं ?

द्विरूपक

इसी तरह

प्राणेशविरहक्लान्तः कपोलस्तव सुन्दरि ! ।
मनोभवव्याधिमत्वान्मृगाङ्कः खलु निर्मलः ॥

हे सुंदरी ! प्राणनाथ के विरह से ग्लानि को प्राप्त हुआ तेरा कपोल 'मनोभवव्याधिमत्त्व' (कपोल के पक्ष में—कामजन्य विशेष आधि—मनोव्यथा—से युक्त होने; मृगांकरस के पक्ष में—मन में उत्पन्न होनेवाले रोग—क्षय—का मथन करने; और चंद्रमा के पक्ष में—कामदेव के रोग—राजयक्ष्मा—से युक्त होने) के कारण निर्मल 'मृगांक' (एक प्रकार का औषध और चंद्रमा) है।

यहाँ श्लेष द्वारा मृगांक-रस और चंद्रमा दोनों का कपोल में अभेद प्रतीत होता है, अतः निरवयव 'द्विरूपक' है। क्योंकि सुंदरी में साथ ही साथ दो रूपक बताए गए हैं। 'मनोभवव्याधिमत्त्व' रूपी हेतु तो तीनों (कपोल, मृगांक-रस और चंद्रमा) में श्लिष्ट है—उसके तीन अर्थ तीनों पक्षों में लग जाते हैं।

इसी तरह अन्य प्रकार भी समझो।

यहाँ रूपक नहीं है

"उल्लासः फुल्लपङ्केरुहपटलपतन्मत्तपुष्पन्धयाना
निस्तारः शोकदावानलविकलहृदां कोकसीमन्तिनीनाम् ।

उत्पातस्तामसानामुपहतमहसां चक्षुषां पक्षपातः
संघातः कोऽपि धाम्नामयमुदयगिरिप्रान्ततः प्रादुरासीत् ॥

खिले कमलों के समूह के ऊपर गिरते (नित्य के मधु-पान करके) मत्त भ्रमरों का उल्लास (आनंददाता), शोकरूपी दावानल से जिनका हृदय विकल हो रहा था उन चक्रवाकियों का निस्तार (दुःख मिटानेवाला), जिन्होंने तेज को नष्ट कर दिया था उन अंधकार के समूहों का उत्पात (नष्ट करनेवाला) और नेत्रों का पक्षपात (सहायक) एक तेज का पुंज उदयाचल के प्रांत से प्रकट हुआ।"

इस पद्य में उपमेय में उपमान का आरोप नहीं है, किंतु कारण में कार्य का आरोप है, अतः रूपक नहीं होता यह प्राचीनों का कथन है। हमने भी इसी मत के अनुसार लक्षण बनाया है, अतः हमारे लक्षण के अनुसार भी यहाँ रूपक नहीं होता। पर उच्छृंखल लोग सभी आरोपों को—फिर वह उपमेय में उपमान का हो, कार्य में कारण का हो अथवा अन्य कोई—रूपक कहते हुए इस पद्य में भी रूपक कहते हैं; यह पहले ही विवेचन के साथ कहा जा चुका है।

निम्नलिखित उदाहरण में क्या साधारण धर्म है ?

आप कहेंगे—

यशःसौरभ्यलशुनः शान्तिशैत्यहुताशनः।
कारुण्यकुसुमाकाशः पिशुनः केन वर्ण्यते ?

चुगलखोर पुरुष यशरूपी सुगंध के लिये लहसुन, शांति-रूपी शीतलता के लिये अग्नि और दयारूपी पुष्प के लिये आकाश है। इसका वर्णन किससे किया जा(सक)ता है?

इस पद्य में लहसुन, अग्नि और आकाश के साथ चुगल-खोर का क्या समान धर्म है जिसे लेकर यहाँ रूपक कहा जाता है? तो इसका उत्तर यह है कि—यश और सुगंध, शांति और शीतलता तथा दया और पुष्प का अभेद शब्द द्वारा उपस्थित कर दिए जाने पर, बाद में, "यशरूपी सुगंध आदि के अभाव से युक्त होना" (अर्थात् जैसे लशुन सुगंध के अभाव वाला होता है—कोई सुगंध उसके पास नहीं आ सकता, वैसे ही चुगलखोर यश के अभाववाला है, किसी का यश उसके पास नहीं आता, निंदा ही आती है) यही समान धर्म है।

अन्योन्याश्रय क्यों नहीं होता?

ऐसा मानने पर भी यदि आप यह शंका करें कि—जब लहसुन और चुगलखोर का ताद्रूप्य सिद्ध होगा तब 'लहसुन-रूपी चुगलखोर' में न रहने के कारण यश और सुगंध का ताद्रूप्य सिद्ध होगा और जब यश और सुगंध का ताद्रूप्य सिद्ध होगा तब यशरूपी सुगंध से शून्य होने के कारण लहसुन और चुगलखोर का ताद्रूप्य सिद्ध होगा, इस तरह अन्योन्याश्रय होगा—अर्थात् बिना उस ताद्रूप्य के यह ताद्रूप्य सिद्ध न होगा और बिना इस ताद्रूप्य के वह ताद्रूप्य।

तो इसका समाधान यह है कि—काव्य में सब बातों की सिद्धि कल्पनामय है और कल्पना है कवि की प्रतिभा के अधीन। अतः प्रतिभा द्वारा दोनों में से किसी भी ताद्रूप्य का पहले अथवा पीछे निर्माण किया जा सकता है और जब इस तरह एक ताद्रूप्य बन गया तो अन्य ताद्रूप्य बनने में तो कोई बाधा है नहीं। अतः ऐसी जगह अन्योन्याश्रय नहीं चल सकता। न केवल कल्पना में ही किंतु लोक में भी—कारीगर लोग केवल एक-दूसरे के सहारे खड़ी रहनेवाले ईंट-पत्थरों से विशेष प्रकार के घर बनाते पाए जाते हैं। यदि आपका अन्योन्याश्रय नवीन निर्माण की जानेवाली वस्तुओं में लगे तो उनका कारोबार ही बंद हो जाय। अतः यह समझिए कि अन्योन्याश्रय वहीं दोष होता है जहाँ उसके कारण वैसा होना असंभव हो, संभव होने पर नहीं।

रूपक-ध्वनि

अच्छा, अब रूपक की ध्वनि सुनिए। उनमें से पहले—

शब्दशक्तिमूलक रूपकध्वनि; जैसे—

विज्ञत्वं विदुषां गणे, सुकविता सामाजिकानां कुले,
माङ्गल्यं स्वजनेषु, गौरवमथो लोकेषु सर्वेष्वपि।
दुर्वृत्ते शनितां, नृलोकवलये राजत्वमव्याहतम्,
मित्रत्वं च वहन्नकिञ्चनजने देव! त्वमेको भुवि॥

कवि राजा से कहता है—हे देव ! विद्वानों के समूह में विज्ञता (व्यंग्य अर्थ—बुधत्व) को, सभ्य-समूह (साहित्यज्ञों) में सुंदर कवित्व (व्यंग्य अर्थ—शुक्रत्व) को, स्वजनों में मंगलरूप होने (व्यंग्य अर्थ—मंगलत्व) को, सब लोगों में गौरव (व्यंग्य अर्थ—गुरुत्व) को, दुश्चरित्र के विषय में (अशनिता =) बज्रत्व (व्यंग्य अर्थ—शनित्व) को, भूमंडल में राजत्व (व्यंग्य अर्थ—चंद्रत्व) को और दीनजनों में मित्रता (व्यंग्य अर्थ—सूर्यत्व) को धारण करनेवाले आप पृथ्वी पर एक हैं—आपकी बराबरी का अन्य कोई नहीं ।

यहाँ प्रकरणवशात् शब्द-शक्ति (अभिधा) के नियंत्रित हो जाने पर भी 'बुधत्व' 'शुक्रत्व' आदि, जो बुध आदि ग्रहों के अभेदरूप हैं और अतएव जिन्हें रूपक कहना चाहिए, अभिव्यक्त होते हैं ।

अथवा जैसे—

अविरलविगलद्दानोदकधारासारसिक्तधरणितलः ।
धनदाग्रमहितमूर्त्तिर्देव ! त्वं सार्वभौमोऽसि ॥

राजा का वर्णन है—हे देव ! आप सार्वभौम (उत्तर दिशा का दिग्गज) हैं । आपने निरंतर गिरती दान-जल (हाथी के पक्ष में मद-जल) की धारा के गिराने से पृथ्वी-तल को सींच दिया है और आप 'धनदाग्रमहितमूर्त्ति' (राजा के पक्ष में—धन देनेवालों में प्रथम प्रशस्त स्वरूपवाले; दिग्गज के पक्ष में—कुबेर के आगे प्रशस्त स्वरूपवाला) हो ।

यहाँ दूसरा अर्थ शब्दशक्ति द्वारा व्यंग्य है ।

अर्थशक्ति-मूलक रूपक-ध्वनि; जैसे—

कस्तूरिकातिलकमालि ! विधाय सायं
स्मेरानना सपदि शीलय सौधमौलिम् ।
प्रौढिं भजन्तु कुमुदानि मुदामुदारा-
मुल्लासयन्तु परितो हरितो मुखानि ॥

सखी नायिका से कहती है—हे सखी ! तू साँझ के समय कस्तूरी का तिलक लगाकर, तत्काल, महल की छत का परिशीलन कर, जिससे कि कुमुद आनंद की अत्यंत अधिकता को प्राप्त हो जायँ—अर्थात् पूर्णतया खिल उठें और दिशाएँ अपने मुखों को पूर्णतया उल्लासयुक्त बना लें—अर्थात् उनके प्रारंभिक भाग अच्छी तरह प्रकाशित हो जायँ ।

यहाँ "तुम्हारा मुख कलंक और चाँदनी से युक्त चंद्रमा से अभिन्न है" यह रूपक 'कुमुदों के विकास' आदि से ध्वनित होता है, न कि 'भ्रांतिमान्' । कारण, कुमुद और दिशाएँ जड़ हैं और भ्रांति चेतन को ही हो सकती है; जड़ को नहीं । यदि आप कहें कि—जड़ों में 'मुद् (आनंद)' भी नहीं हो सकती, अतः कुमुदादिकों में अवश्यमेव चेतन होने का आरोप किया जाना चाहिए, और तब 'भ्रांति' सिद्ध हो जाती है, तो यह कुछ नहीं । कारण, मूल का 'मुत्'

पद लाक्षणिक है, अतः उसका अर्थ 'विकास' होता है 'आनंद' नहीं।

अथवा यह पृथक् (अर्थात् जिसमें भ्रांति की शंका ही नहीं ऐसा) उदाहरण लीजिए—

तिमिरं हरन्ति हरितां पुरः स्थितं
तिरयन्ति तापमथ तापशालिनाम्।
वदनत्विषस्तव चकोरलोचने !
परिमुद्रयन्ति सरसीरुहश्रियः ॥

हे चकोरलोचने ! तुम्हारे मुख की कांतियाँ दिशाओं के आगे आए अंधकार को हरण कर रही हैं, संतप्तों के ताप को हटा रही हैं और कमलों की शोभाओं को मूँद रही हैं।

यहाँ भी "मुख चंद्रमा है" यह रूपक ध्वनित होता है।

'आनन्दवर्धनाचार्य' की रूपकध्वनि पर विचार

आनंदवर्धनाचार्य ने तो लिखा है—

"प्राप्तश्रीरेष कस्मात्पुनरपि मयि तं मन्थखेदं विदध्या-
न्निद्रामप्यस्य पूर्वामनलसमनसो नैव संभावयामि।
सेतुं बध्नाति भूयः किमिति च सकलद्वीपनाथानुयात-
स्त्वय्यायाते विकल्पानिति दधत इवाऽऽभाति कम्पः पयोधेः॥

कवि राजा से कहता है—हे देव ! आपके (समुद्र-तट पर) आने पर (आपको विष्णु समझ कर) मानो इन विकल्पों

को धारण करनेवाले समुद्र का कंप प्रतीत होता है। वह सोचता है—इन्हें लक्ष्मी मिल चुकी है, ये (जिसका भयंकर अनुभव पहले हो चुका है) उस मंथन का मुझमें खेद फिर से क्यों करेंगे ? पहलेवाली (प्रलय-समय की) निद्रा की भी मैं संभावना नहीं करता; क्योंकि इस समय (पालन का अवसर होने के कारण) इनके मन में आलस्य नहीं है। फिर से सेतु बाँध रहे हों, पर यह भी क्यों ? इस समय तो सब द्वीपों के स्वामी इनके अनुगामी हैं (रावण आदि कोई द्वीपांतरवर्त्ती प्रतिद्वंद्वी है नहीं)।

यहाँ रूपक के सहारे काव्य की सुंदरता व्यवस्थित की गई है, अतः रूपकध्वनि है।"

पर यह लेख विचारणीय है। कारण, इस पद्य में समुद्र के कंप के हेतुरूप में तीन विकल्पों की कल्पना की जा रही है। और वे तीनों विकल्प, प्रस्तुत प्रसंग में, जिसका राजा विशेष्य है ऐसी और समुद्र को होनेवाली, आहार्य नहीं किंतु विष्णु के सत्य अभेद-ज्ञान रूपी, भ्रांति का ही आक्षेप करते हैं, न कि रूपक का। क्योंकि रूपक का जीवनदाता जो विष्णु का आहार्य (मिथ्या समझते हुए इच्छा से कल्पित) अभेद-निश्चय है वह कंप उत्पन्न नहीं कर सकता। समुद्र को भ्रम हो तभी वह कंपित हो सकता है, अपने आप झूठी कल्पना करके नहीं। आहार्य निश्चय है भी तो कवि को है (क्योंकि कवि की इच्छा से समुद्र

का कंप कल्पित किया गया है, न कि समुद्र की इच्छा से); अतः जो (समुद्र) विकल्प कर रहा है उसे आहार्य निश्चय नहीं है और जिसे (कवि को) आहार्य निश्चय है वह विकल्प नहीं कर रहा है। आप कहेंगे—यह सब तो कवि की बुद्धि की ही बात है; समुद्र को तो विष्णु के तादूप्य का न भ्रम है न निश्चय। अतः कवि की बुद्धि के अनुसार यहाँ आहार्य निश्चय मानकर रूपक मानना उचित है। तो यह ठीक नहीं। क्योंकि ऐसा अज्ञात ही (अर्थात् जिसे समुद्र जरा भी नहीं जानता ऐसा) विष्णु का केवल तादूप्य समुद्र के कंपित करने में अनुपयोगी ही है—किसी वस्तु के अज्ञात रहते हुए उससे डरकर कभी किसी को कंप हुआ है? अतः आपको समुद्र में भ्रांति माननी ही पड़ेगी। इस पद्य में चमत्कारिणी भी भ्रांति ही है, सो यहाँ भ्रांति की ध्वनि ही योग्य है, रूपक की नहीं।

दोष

कवि-संप्रदाय से विरुद्ध होने के कारण चमत्कार में न्यूनता कर देनेवाले 'लिंगभेद' (उपमान-उपमेय का भिन्न-भिन्न लिंगों में होना) आदि दोष रूपक में भी हो सकते हैं। जैसे—

बुद्धिरब्धिर्महीपाल ! यशस्ते सुरनिम्नगा।
कृतयस्तु शरत्काल चारुचंदिरचंद्रिका।

(लिंगभेद) हे राजन् ! आपकी बुद्धि समुद्र है। (उपमेय स्त्रीलिंग है उपमान पुल्लिंग) (लिंगभेद) आपका यश गंगा है। (उपमेय नपुंसक है उपमान स्त्री०) (वचनभेद) और कृतियाँ शरदृऋतु के सुंदर चंद्रमा की चाँदनी है। (उपमेय बहुवचन है उपमान एकवचन)।

यहाँ उपमेय-उपमान में लिंगादिक द्वारा की गई विलक्षणता उनके तादूप्य-ज्ञान के प्रतिकूल होती है—उसके कारण तादूप्य समझने में गड़बड़ होती है।

दोषों की निर्दोषता

जहाँ कहीं कवि-संप्रदाय-सिद्ध होने के कारण चमत्कार की हानि न होती हो वहाँ, ये (लिंगभेदादिक) दोषरूप नहीं होते। जैसे—

संतापशान्तिकारित्वाद्वदनं तव चंद्रमाः।

अर्थात् संताप को शांत करनेवाला होने के कारण तुम्हारा मुख चंद्रमा है।

इत्यादिक हेतुरूपक में यद्यपि 'मुख' नपुंसकलिंग और 'चंद्रमा' पुंल्लिंग है तथापि दोष नहीं। क्योंकि मुख को चंद्रमा कहना कवि-संप्रदाय-सिद्ध है।

इति रूपक समाप्त।

अथ परिणामालंकार

लक्षण

जहाँ उपमान उपमेयरूप से ही प्रस्तुत में उपयोगी हो, स्वतंत्रतया नहीं, वह 'परिणाम' होता है।

रूपक से परिणाम का भेद

परिणाम में उपमेय का अभेद उपमान के लिये उपयुक्त होता है—अर्थात् उपमान को बिना उपमेय से अभिन्न माने उसकी प्रस्तुत अर्थ में संगति नहीं होती। पर रूपक में ऐसा नहीं होता; किंतु उपमान का अभेद उपमेय के लिए उपयोगी होता है। यही रूपक से परिणाम का भेद है।

उदाहरण

अपारे संसारे विषमविषयारण्यसरणौ
मम भ्रामं भ्रामं विगलितविरामं जडमतेः।
परिश्रांतस्याऽयं तरणितनयातीरनिलयः
समन्तात् सन्तापं हरिनवतमालस्तिरयतु ॥

मैं जड़बुद्धि, अपार संसार में, विषम विषयरूपी जंगली रास्ते में घूम घूमकर थक गया हूँ। मेरे चौतरफ के संताप को, यमुनाजी के तट का निवासी यह हरिरूपी तमाल-वृक्ष, निवृत्त करे। (यह मेरी प्रार्थना है।)

यहाँ तमाल वृक्ष, संसार के संताप को, भगवद्रूप होने पर ही निवृत्त कर सकता है, अन्यथा नहीं। तमाल वृक्ष मार्ग से थके मनुष्यों का संताप हरण करता है और रमणीय शोभा का आधार होता है, अतः उसे 'हरि' का उपमान बनाया गया है। यह परिणाम **समानाधिकरण** (उपमान-उपमेय में एक विभक्तिवाला) और **वाक्यगत*** है।

समासगत परिणाम; जैसे—

महर्षेर्व्यासपुत्रस्य श्रावं-श्रावं-वचः-सुधाम् ।
अभिमन्युसुतो राजा परां मुदमवाप्तवान् ॥

अभिमन्यु के पुत्र—राजा परीक्षित्—ने व्यासजी के पुत्र महर्षि—शुकदेवजी—के वचनामृत सुन सुनकर परम आनंद प्राप्त किया।

यहाँ भी अमृत अपने रूप में 'सुनना' क्रिया का कर्म नहीं हो सकता; क्योंकि अमृत सुना नहीं पिया जाता है;

---

* 'तिरयतु' क्रिया के समासगत न होने के कारण इस परिणाम को वाक्यगत बताया गया है; क्योंकि परिणाम के लक्षण में प्रस्तुत कार्य का भी प्रवेश है। कहीं कहीं 'हरिरिह' पाठ है, वहाँ तो वाक्य-गत होने में कोई संदेह ही नहीं। क्योंकि वहाँ समास हो नहीं है। अतः जब तक प्रस्तुत कार्य भी समस्त पद के अंतर्गत न हो तब तक उसे पदगत परिणाम नहीं कहा जा सकता।

† 'श्रावं-श्रावं-वचः-सुधाम्' इति विशिष्टं समस्तमेकं पदम्, मयूर-व्यंसकादित्वात्। स्नात्वा—कालक इतिवत्। प्रकृतकार्योपयोगित्वपर्य-न्तस्य परिणामशरीरत्वात्।—गुरुमर्मप्रकाशः।

किंतु वचन रूप बनकर 'सुनने' का कर्म होता है, अतः 'परिणाम' है।

व्यधिकरण (भिन्न विभक्तिवाला) **परिणाम**; जैसे—

अहीनचन्द्रा लसताऽऽननेन
ज्योत्स्नावती चाऽपि शुचिस्मितेन।
एषा हि योषा सितपक्षदोषा
तोषाय केषां न महीतले स्यात्॥

सुंदर मुख द्वारा पूर्ण चंद्रमावाली और शुद्ध मंदहास द्वारा चाँदनीवाली यह शुक्ल पक्ष की रात्रिरूपी युवती पृथिवी-तल पर किसे संतुष्ट नहीं कर सकती ? अर्थात् सभी को संतुष्ट कर सकती है।

यहाँ 'सभी को संतुष्ट कर सकती है' इससे 'विरही लोगों को संतुष्ट कर सकती है' यह भी प्राप्त होता है। यह बात आरोपित की जानेवाली 'शुक्ल पक्ष की रात्रि' के लिये अपने रूप में बाधित है और यदि 'शुक्ल पक्ष की रात्रि' को युवतीरूप माना जाय तो संगत हो जाती है, अतः यहाँ भी 'परिणाम' होता है। और वह परिणाम परस्पर की अपेक्षा रखनेवाले बहुतेरे परिणामों का समूहरूप होने से 'सावयव' है। उनमें से पूर्वार्ध में आए हुए दो अवयव व्यधिकरण हैं, क्योंकि वहाँ उपमान और उपमेय भिन्न विभक्तियों में आए हैं; और उत्तरार्ध का एक परिणाम समानाधिकरण है।

अप्पयदीक्षित का खंडन

अप्पयदीक्षित ने व्यधिकरण परिणाम का उदाहरण यों दिया है—

"तारानायकशेखराय जगदाधाराय धाराधर-
छायाधारककन्धराय गिरिजासङ्गैकशृङ्गारिणे ।
नद्या शेखरिणे दृशा तिलकिने नारायणेनाऽस्त्रिणे
नागैः कङ्कणिने नगेन गृहिणे नाथाय सेयं नतिः ॥

चंद्रमा जिनका शिरोभूषण है, जो जगत् के आधार हैं, जिनकी ग्रीवा मेघ की कांति को धारण करती है और पार्वती का साथ ही जिनका एक शृंगार है ऐसे नदी (गंगा) द्वारा शिरोभूषणवाले, भाल-नेत्र द्वारा तिलकवाले, नारायण द्वारा अस्त्रोंवाले, साँपों द्वारा कंकणवाले और पर्वत द्वारा घरवाले (हमारे) स्वामी के लिये यह नमस्कार है।

अथवा जैसे—

द्विर्भावः पुष्पकेतोर्विबुधविटपिनां पौनरुक्त्यं, विकल्प-
श्चिंतारत्नस्य, वीप्सा तपनतनुभुवो, वासवस्य द्विरुक्तिः ।
द्वैतं देवस्य दैत्याधिपमथनकलाकेलिकारस्य कुर्व-
न्नानंदं कोविदानां जगति विजयते श्रीनृसिंहक्षितींद्रः ॥

जो कामदेव का दुहराना है, कल्पवृक्षों की पुनरुक्ति है, चिंतामणि का विकल्प है, (राजा) कर्ण का बार बार कथन

है, इंद्र की दुबारा उक्ति है और दैत्य-राजों के नाश की लीला करनेवाले देव (विष्णु) का भेदरूप है वह श्रीनृसिंह नरेश, विद्वानों को आनंद उपजाता हुआ, जगत् में उत्कर्ष को प्राप्त हो रहा है।"

इन उदाहरणों पर विचार किया जाता है—

"तारानायकशेखराय ...." इस पद्य में "पार्वती का साथ ही जिनका एक शृंगार है" उन भगवान् शिव के विषय में कवि द्वारा नमस्कार उक्त है। और यह शृंगार शिरोभूषण आदि आभूषणों की अपेक्षा रखता है, अत: 'नदी' का आरोपित किए जानेवाले शिरोभूषण के रूप में ही उपयोग है, न कि नदी के रूप में। इसी तरह नेत्र का भी तिलक के रूप में ही उपयोग है, अत: शुद्ध रूपक ही होना चाहिए, परिणाम नहीं।

आप कहेंगे—"परिणाम में उपमान उपमेय से अभिन्न होकर रहता है" यह कहा जा चुका है। और प्रस्तुत पद्य में उपमेयवाचक नदी आदि शब्दों के आगे की तृतीया विभक्ति का अर्थ अभेद है और उस अभेद के साथ 'सेहरा = शिर का भूषण' आदि का अन्वय होता है। अत: 'नदी द्वारा सेहरेवाले' का अर्थ होगा 'नदी से अभिन्न सेहरेवाले—अर्थात् नदीरूपी सेहरावाले'। ऐसी दशा में नदी का अभेद सेहरे में होता है, न कि सेहरे का अभेद नदी में। फिर यहाँ परिणाम कैसे नहीं ? तो इसका उत्तर यह है कि—यद्यपि

इस पद्य में उपमेय से अभिन्न उपमान (नदीरूप सेहरे) की (शब्दतः) प्रतीति होती है, तथापि प्रस्तुत विषय में उसका उपयोग उस रूप में नहीं होता, किंतु मानसिक रूप में प्रतीत 'नदीरूपी सेहरे' के रूप में होता है। अतः आपकी यह शंका उचित नहीं।

"द्विर्भावः पुष्पकेतोः......" इस पद्य में भी राजा नृसिंह के विषय में "विद्वानों को आनंद उत्पन्न करना" और "जगत् में उत्कृष्ट होना" ये दो बातें कही जा रही हैं। उनमें से "विद्वानों को आनंद उत्पन्न करना" भी जैसा आरोपित किए जानेवाले "दूसरे कामदेव" आदि के रूप में बन सकता है वैसा केवल अपने रूप में नहीं बन सकता। देखिए, "ओह! हमारे नेत्रों की सफलता कि (इनके द्वारा) इस दूसरे कामदेव को हम देख रहे हैं" यह माननेवाले विद्वानों के नेत्रों के लिये आनंद 'कामदेव' द्वारा ही सिद्ध किया जा रहा है, न कि राजा द्वारा। इसी तरह यह निराला कल्पवृक्ष और चिंतामणि है, दूसरा कर्ण है और पृथ्वी पर आया हुआ अन्य इंद्र है—यह हमारी दरिद्रता हर लेगा। यह हरि है, अतः हमारा संसार निवृत्त कर देगा—इस अभिमान से उत्पन्न होनेवाला आनंद भी 'कल्पवृक्ष' आदि के द्वारा ही बन सकता है, राजा द्वारा नहीं। अतः यहाँ उपमान का उपमेय के रूप में उपयोग नहीं है, किंतु उपमान के रूप में ही है। फिर यहाँ परिणाम कहाँ है?

'अलङ्कारसर्वस्व'-कार का खंडन

'अलंकारसर्वस्व'-कार ने तो

"आरोप्यमाणस्य प्रकृतोपयोगित्वे परिणामः।

अर्थात् आरोपित किया जानेवाला प्रकृतोपयोगी हो तब 'परिणाम' होता है।"

यह सूत्र बनाकर इसकी व्याख्या यों की है—"रूपक में आरोपित किया जानेवाला प्रकृत में उपयोगी नहीं होता—उसका प्रस्तुत कार्य विषय के साथ कोई संबंध नहीं होता; अतः केवल प्रकृत का उपरंजन (जानते हुए भी झूठे तादूप्य के निश्चय) करने के कारण ही उसका प्रस्तुत में अन्वय होता है। पर परिणाम में तो आरोपित किए जानेवाले का प्रकृत (उपमेय) के रूप में उपयोग होता है, अतः प्रकृत आरोपित किए जानेवाले (उपमान) के रूप में परिणत होता है।"

इस विषय में भी विचार किया जाता है—"आरोपित किए जानेवाले का जब प्रकृत में उपयोग हो" इस आपके सूत्र के आंशिक के अभिप्राय के विषय में हम आपसे पूछते हैं कि—"प्रकृत में उपयोग" इसका क्या अर्थ है? 'प्रकृत कार्य में उपयोग' अथवा 'प्रकृत—उपमेय—के रूप में उपयोग'? यदि आप प्रथम अर्थ करें—अर्थात् कहें कि 'प्रकृत कार्य में उपयोग' यह अर्थ अभीष्ट है—तो यह नहीं बन सकता। कारण,

"दासे कृतागसि भवत्युचितः प्रभूणां
पादप्रहार इति सुन्दरि ! नाऽस्मि दूये ।
उद्यत्कठोरपुलकाङ्कुरकण्टकाग्रै-
र्यत् खिद्यते तव पदं ननु सा व्यथा मे ॥

नायक मानिनी नायिका से कहता है—हे सुंदरि ! दास यदि अपराध करे तो उस पर स्वामियों का लात मारना उचित होता है—ऐसा करने में कोई अनुचितता नहीं । अतः मैं दुःखित नहीं हूँ । पर तुम्हारा पैर, उठते हुए कठोर रोमांचों के अंकुररूपी काँटों की नोंकों से, खिन्न हो रहा है; बस, यही मुझे दुःख है ।"

इस आपके उदाहृत रूपक के उदाहरण में आरोपित किए जानेवाले 'काँटों' का, प्रकृत कार्य (नायिका के) खेद से (नायक के) दुःख में होता है; अतः इस रूपक में आप के लक्षण की अतिव्याप्ति हो जायगी ।

अब यदि दूसरा अर्थ करें—अर्थात् कहें कि 'आरोपित किए जानेवाले का उपमेय के रूप में उपयोग' यह अर्थ अभीष्ट है, तो यह भी नहीं हो सकता । कारण,

"अथ पक्त्रिमतामुपेयिवद्भिः
सरसैर्वक्त्रपथाश्रितैर्वचोभिः ।
क्षितिभर्त्तुरुपायनं चकार
प्रथमं तत्परतस्तुरङ्गमाद्यैः ॥

उसने पहले मुखरूपी पथ के पथिक और परिपक्व, अतएव सरस, वचनों द्वारा राजा की 'नजर' (भेंट) की, बाद में घोड़ा आदि द्वारा।"

इस पद्य में आपका कहा हुआ 'व्यधिकरण परिणाम' का उदाहरण असंगत हो जायगा। क्योंकि राजा की मुलाकात में, आरोपित की जानेवाली 'नजर' का 'नजर' के रूप से ही उपयोग है, न कि वचनरूपी उपमेय के रूप से। प्रत्युत उपमेयरूप में आए 'वचनों' का 'नजर' के रूप में उपयोग होता है, अत: यह उदाहरण आपके लिये विपरीत हो जाता है। (सो या तो अपने लक्षण का यह अर्थ न करिए अथवा उदाहरण को असंगत मानिए; पर है वस्तुत: आपके लक्षण का यही अर्थ) अत: हमारा दिया हुआ ही व्यधिकरण परिणाम का उदाहरण ठीक है। आपका उदाहरण तो 'व्यधिकरण रूपक' का हो सकता है। रही तृतीया विभक्ति ('वचोभि:' आदि) के अर्थ—अभेद—की बात, सो उसका अनुयोगी जैसे "मीनवती नयनाभ्याम्..." इत्यादि पूर्वोक्त उदाहरणों में प्रकृति के अर्थ ('मीन' आदि) को माना गया है वैसे यहाँ भी 'वचन' आदि को उसका अनुयोगी मानना चाहिए। यह समझ रखिए।

कुछ विद्वानों का मत

'परिणाम' 'रूपक' से अतिरिक्त नहीं है।

कुछ लोगों का कथन है कि—"परिणाम दो प्रकार से होता है। कहीं केवल उपमेय अपने रूप से प्रस्तुत में उपयोगी नहीं होता, अतः उसे आरोपित किए जानेवाले से अभिन्न होकर रहना पड़ता है। ऐसी जगह प्रस्तुत का आरोपित किए जानेवाले के रूप में—अर्थात् उपमेय का उपमान के रूप में—परिणाम होता है। जैसे

वद्नेनेन्दुना तन्वी शिशिरीकुरुते दृशौ।

अर्थात् कृशांगी चंद्ररूपी मुख से नेत्रों को शीतल कर रही है।

यहाँ मुख को चंद्रमा से अभिन्न होकर रहना पड़ता है; क्योंकि केवल मुख आँखें ठंडी नहीं कर सकता।

और कहीं आरोपित किया जानेवाला अपने रूप से प्रस्तुत कार्य में उपयोगी नहीं होता, अतः उसे उपमेय से अभिन्न होकर रहना पड़ता है। ऐसी जगह उपमान का उपमेय के रूप में परिणाम होता है। जैसे—

वद्नेनेन्दुना तन्वी स्मरतापं विलुम्पति

अर्थात् कृशांगी मुखरूपी चंद्र से काम-संताप को निवृत्त कर रही है।

यहाँ चंद्रमा को मुख से अभिन्न होकर रहना पड़ता है; क्योंकि केवल चंद्रमा काम-संताप नहीं मिटा सकता।

इस तरह इन दोनों परिणामों के रूप में रूपक ही होना उचित है। कारण, हमारे हिसाब से रूपक का लक्षण यह

होना चाहिए कि—उपमेयतावच्छेदक ('मुखत्व' आदि) अथवा उपमानतावच्छेदक ('चंद्रत्व' आदि) दोनों में से किसी एक को आगे रखकर निश्चित की जानेवाली उपमान-रूपता अथवा उपमेयरूपता दोनों में से किसी को भी रूपक कहा जा सकता है। अतएव तो मम्मटभट्ट ने कहा है कि

'तद्रूपकमभेदो य उपमानोपमेययोः।

अर्थात् उपमान-उपमेय का जो अभेद होता है (उन दोनों में से चाहे कोई किसी के रूप में परिणत हो) वह रूपक कहलाता है।'

अत: रूपक से परिणाम अतिरिक्त अलंकार नहीं है*।"

शाब्दबोध

१—**वाक्य**—'हरि-नवतमाल' का

शाब्दबोध—'हरि से अभिन्न नव तमाल' यह होता है। इस विषय में किसी को कोई आपत्ति है ही नहीं। इस शाब्दबोध को।

सरल शब्दों में—'हरिरूपी नव तमाल' कह सकते हैं।

---

* इस मत में अरुचि यह है कि—चमत्कार के मूल कारण का भिन्न होना ही अलंकार के भिन्न होने का कारण है। रूपक में उपमान का चमत्कार होता है और परिणाम में उपमेय का। अतः अन्य अलंकारों की तरह इन्हें भी भिन्न मानना ही उचित है।

२—**वाक्य**—'श्रावं श्रावं वचः सुधाम्—वचनामृत सुन सुनकर' का

शाब्दबोध—'वचन से अभिन्न अमृत' होता है। इस शाब्दबोध को

सरल शब्दों में—'वचनरूपी अमृत' यों कहा जा सकता है।

यहाँ 'वचनामृत' शब्द 'विशेषण-समास' में आया है, अतः ऐसा शाब्दबोध होता है। और "पायं पायं वचः सुधाम्—वचनामृत पी पीकर" इस रूपक में तो ('मयूर-व्यंसकादि' समास होने के कारण) "वचन में रहनेवाले अभेद का प्रतियोगी अमृत (अर्थात् अमृत से अभिन्न वचन = अमृतरूपी वचन)" यह बोध होता है।

३—और इस तरह

"वदनेनेन्दुना तन्वी स्मरतापं विलुम्पति"

इस वाक्यगत परिणाम में और

"वदनेनेन्दुना तन्वी शिशिरीकुरुते दृशौ"

इस वाक्यगत रूपक में शाब्दबोधों की विलक्षणता हो जाती है।

कारण, पूर्वोक्तरीत्या परिणाम में "मुख से अभिन्न चंद्र" यह बोध होता है और रूपक में "चंद्र से अभिन्न मुख" यह बोध होता है।

वैसे ही—

"शान्तिमिच्छसि चेदाशु सतां वागमृतं शृणु ।
हृदये धारणाद्यस्य न पुनः खेदसंभवः ॥

यदि तू शांति चाहता है तो शीघ्र ही सज्जनों का वचनामृत सुन जिसके हृदय में धारण करने से फिर खेद की उत्पत्ति नहीं होती ।"

इस परिणाम में, और इसी श्लोक में 'शृणु' के स्थान पर 'पिब' पाठ कर देने से रूपक बन जाने पर, एवम्

"विद्धा मर्मणि वाग्बाणैर्घूर्णन्ते साधवः खलैः ।
सद्भिर्वचोऽमृतैः सिक्ताः पुनः स्वस्था भवन्ति ते ॥

दुष्टों द्वारा वचन-बाणों से मर्मस्थल में घायल किए गए सत्पुरुष चक्कर खाने लगते हैं और वे ही सत्पुरुषों द्वारा वचनामृत से सींचे गए पुनः स्वस्थ हो जाते हैं ।"

इस रूपक में बोधों की व्यवस्था हो जाती है । अर्थात् जितना भेद पूर्वोक्त परिणाम और रूपक के शाब्दबोधों में है उतना ही भेद इनमें भी है । तथा

"अहीनचन्द्रा लसताऽऽननेन
ज्योत्स्नावती चाऽपि शुचिस्मितेन ।

सुंदर मुख द्वारा पूर्ण चंद्रमावाली और शुद्ध मंदहास द्वारा चाँदनीवाली" इस 'व्यधिकरण परिणाम' में तृतीया ('द्वारा') का अर्थ अभेद होता है, अतः

"सुंदर मुख द्वारा पूर्ण चंद्रमावाली" इस वाक्य का

शाब्दबोध—"सुंदर मुख से अभिन्न पूर्ण चंद्रमावाली" यह होता है।

"मीनवती नयनाभ्याम्..." इत्यादि पूर्वोक्त (व्यधिकरण) रूपक में तो, प्रथमत: सुंदरी में सरसी का ताद्रूप्य तो बाधक के अभाव के कारण सिद्ध है—उसमें तो किसी तरह की बाधा है नहीं। पर उसका समर्थन, 'मछलियों में नेत्रों के अभेदारोप' द्वारा, न हो सकने के कारण 'नेत्रों में मछलियों का अभेदारोप' ढूँढ़ना पड़ता है। यह अर्थ तृतीया को अपनी प्रकृति (नेत्र आदि) के अभेद के अर्थ में आई हुई मानने पर नहीं बन सकता; अत: किसी भी तरह (अर्थात् पूर्वोक्त रीत्या मानस रूप में), तृतीया का अर्थ होना चाहिए 'प्रकृति के अर्थ (नेत्र आदि) में रहनेवाले अभेद की प्रतियोगिता'। और वैसा मान लेने पर "मीनवती नयनाभ्याम्" का शाब्दबोध "नेत्रों में रहनेवाले अभेद की प्रतियोगिनी मछलियोंवाली—अर्थात् नेत्रों से अभिन्न मछलियोंवाली" यह होता है। सो इस तरह वहाँ आरोपित किए जानेवाले (उपमान—'मछली' आदि) में उपमेय ('नेत्र' आदि) का अभेद प्रतीत नहीं होता, किंतु उपमेय में उपमान का अभेद प्रतीत होता है, अत: वहाँ 'परिणाम' नहीं, किंतु रूपक होता है।

यही पद्धति "नद्या शेखरिणो दृशा तिलकिने" इत्यादि अप्पयदीक्षित के उदाहरण में और "वचोभिरुपायनं चकार"

इस अलंकारसर्वस्वकार के उदाहरण में समझनी चाहिए। अर्थात् इन पद्यों में परिणामालंकार नहीं, किंतु रूपकालंकार है, अतः उनका शाब्दबोध रूपक का-सा होना चाहिए।

यदि आप कहें कि—किसी भी प्रकार से उपमेय के अभेद की प्रतीति का नाम ही परिणाम है, उसका प्रकृत में उपयोग हो या नहीं। तो फिर

"कुरङ्गीवाऽङ्गानि स्तिमितयति गीतध्वनिषु यत्
सखीं कान्तोदन्तं श्रुतमपि पुनः प्रश्नयति यत्।
अनिद्रं यच्चान्तः स्वपिति तदहो! वेद्म्यभिनवां
प्रवृत्तोऽस्याः सेक्तुं हृदि मनसिजः प्रेमलतिकाम्॥

सखी नायिका के विषय में सखो से कह रही है—ओह! मैं समझती हूँ कि—इसके हृदय में कामदेव नवीन प्रेम-लता को सींचने में प्रवृत्त हो गया है। क्योंकि यह संगीत की ध्वनियों के समय अंगों को हरिणी की तरह निश्चल कर देती है, प्रियतम के सुने हुए वृत्तांत को भी सखी से पुनः पूछती है और अंदर से बिना निद्रा के ही सोती है—रहता है इसे उजागरा, पर दिखाने को सो जाती है।"

यहाँ 'प्रेम-लतिका' में अप्पयदीक्षित का उदाहृत रूपक भी परिणाम होने लगेगा। कारण, 'प्रेम-लतिका' इस समस्त पद में उपमेय प्रेम, अभेद संबंध द्वारा, आरोपित की जानेवाली (उपमान) 'लतिका' का विशेषण बन रहा है। ऐसी

दशा में हमारी प्रक्रिया न मानने पर प्रेम का अभेद लता में प्रतीत होगा, न कि लता का अभेद प्रेम में; और तब यहाँ रूपक नहीं किंतु परिणाम होने लगेगा। अतः कृपा कर "नद्या शेखरिणे" आदि उदाहरणों में रूपक ही मानिए, परिणाम नहीं।

यह है शाब्दबोध का संक्षेप।

परिणाम की ध्वनि

अप्पयदीक्षित का खंडन

अप्पयदीक्षित ने प्रथम तो विद्याधर के कहे ध्वनि के उदाहरण में दोष दिखाए हैं। वे कहते हैं—

"नरसिंह धरानाथ ! के वयं तव वर्णने।
अपि राजानमाक्रम्य यशो यस्य विजृम्भते॥

हे भूमिपति नरसिंह ! हम तेरे वर्णन करने में कौन हैं ? जिसका यश राजा (वस्तुतः—चंद्र) का भी आक्रमण करके विजृंभित हो रहा है।

इस पद्य में 'राजा' पद से 'चंद्रमा'रूपी उपमेय शब्दतः वर्णित है। उसमें आरोपित किए जानेवाले ('राजा' शब्द के द्वितीय अर्थ) 'नरेश' की, जो आक्रमण करनेरूपी कार्य में उपयोगी है, प्रतीति हो रही है। अतः परिणाम ध्वनित होता है। यह विद्याधर ने लिखा है सो उचित नहीं। क्योंकि आक्रमण में (चंद्रमा पर) आरोपित किए जानेवाले

नरेश का नरेश (उपमान) के रूप में ही उपयोग है, चंद्रमा (उपमेय) के रूप में नहीं। सो यहाँ उपमेय के रूप में उपमान के परिणत न होने के कारण परिणाम की ध्वनि नहीं मानी जा सकती।"

यह अप्पयदीक्षित का कथन ठीक नहीं। कारण, यहाँ 'विजृंभित होने' का अर्थ कवि को केवल "धृष्टता से फैलना" मात्र अभीष्ट नहीं है कि जिसके कारण यश द्वारा किए जाने-वाले आक्रमण में 'नरेश' का 'नरेश' के रूप में ही—आक्रमण क्रिया का कर्म होना रूपी—उपयोग हो; किंतु 'विजृंभित होने' का अर्थ कवि को अभीष्ट है "सर्वाधिक निर्मलतारूपी गुण से युक्त होने रूपी विषय में अपने अन्य सजातीय के अभाव द्वारा सिद्ध होनेवाला एक प्रकार का उत्कर्ष"। और आक्रमण का अर्थ तो "नीचा करना" है ही। सो ऐसे 'विजृंभित होने' में वही 'आक्रमण' क्रिया उपयुक्त हो सकती है, जिसका कर्म चंद्रमा हो, न कि जिसका कर्म नरेश हो वह। (क्योंकि यश का सजातीय चंद्रमा है, नरेश नहीं।) सो यद्यपि 'राजा' शब्द से उपमान रूप में 'नरेश' अर्थ ध्वनित होता है, तथापि आक्रमण में उसका उपयोग चंद्ररूप से ही होता है। अतः विद्याधर का कहा हुआ "परिणाम-ध्वनि" का उदाहरण सुंदर ही है—उसमें दोष दिखाने की चेष्टा व्यर्थ है*।

---

* नागेश कहते हैं—'राजा' और 'विजृंभित होना' शब्द अनेका-र्थक हैं और यहाँ प्रकरणादिक शक्ति का संकोच करते नहीं। अतः

यह तो हुई विद्याधर (विद्यानाथ) के उदाहरण की बात। अब स्वयं अप्पयदीक्षित को लीजिए। उन्होंने अन्य के उदाहरण में दोष दिखाकर स्वयं परिणाम के ध्वनित होने के विषय में कहा है—

"चिराद्विषहसे तापं चित्त! चिन्तां परित्यज।
नन्वस्ति शीतलः शौरेः पादाब्जनखचन्द्रमाः॥

हे चित्त! तू बहुत समय से संताप सह रहा है। तू चिंता छोड़ दे। श्रीकृष्ण के चरण-कमल का नखरूपी शीतल चंद्रमा निश्चय ही विद्यमान है।

यहाँ बहुत समय से संताप-पीड़ित अपने चित्त के प्रति 'श्रीकृष्ण के चरणारविंद का नख विद्यमान है' यह दिखाने से

यहाँ, प्रथम तो, श्लेष ही मानना उचित है। यदि उस दशा में 'राजा' शब्द में द्विवचन होने की आपत्ति और उसके उत्तर में क्लिष्ट कल्पना दिखाई दे तो आरोप मान लीजिए। पर तब भी 'नरेश' अर्थ को ही उपमान और 'चंद्र' अर्थ को ही उपमेय माना जाय इसमें कोई प्रमाण नहीं। इसी अभिप्राय से अप्पयदीक्षित ने इस उदाहरण का खंडन भी किया है। इतने पर भी यदि पंडितराज का यह दावा हो कि कवि का तात्पर्य जिस प्रकृत कार्य (अर्थात् हमारे लिखे 'विजृंभित होने' के अर्थ) में है उसमें वैसा मानना अनुपयोगी होगा, तो हम कहते हैं कि—'प्रकृत कार्य वही है' इसमें क्या प्रमाण है? पर नागेश इस बात को भूल जाते हैं कि—विद्यानाथ ने अपना पद्य पंडितराज के बताए तात्पर्य के अनुसार ही लिखा है, अन्यथा वे उसे 'परिणाम-ध्वनि' का उदाहरण क्यों बनाते?—अनुवादक।

परिणाम ध्वनित होता है कि—तू उसी का सेवन कर, उसके सेवन से यह तेरा ताप शांत हो जायगा।"

यह कथन निस्सार है। कारण, अप्पयदीक्षित ने स्वयं ही लिखा है कि—"आरोप्यमाणस्य विषयात्मकत्वेन प्रकृत-कार्योपयोगे परिणामः—अर्थात् जब उपमान का, प्रस्तुत कार्य में, उपमेय के रूप से उपयोग हो तब परिणाम होता है।" इस लक्षण में केवल प्रस्तुत कार्य में उपयोग ही परिणाम का स्वरूप नहीं है, किंतु उपमान में रहनेवाली प्रस्तुत कार्य की उपयोगिता का अवच्छेदक—अर्थात् उपयोगिता को विलक्षण सिद्ध करनेवाला—उपमेय का ताद्रूप्य ही परिणाम का स्वरूप है। सारांश यह कि—परिणाम उप-योगिता का नाम नहीं, किंतु उपयोगिता के अवच्छेदक ताद्रूप्य का नाम है। ऐसी दशा में इस पद्य में "नख-चंद्र की विद्यमानता" दिखाने द्वारा "उसके सेवन से तेरा यह ताप शांत हो जायगा" इस तरह (उपमान की उपमेय के रूप से) प्रस्तुत कार्य में उपयोगिता व्यंग्य होने पर भी, उस उपयोगिता के अवच्छेदक रूप "उपमान में उपमेय के ताद्रूप्य" के, जिसका नाम परिणाम है, (वैयाकरणों के मत से) वाक्य द्वारा वाच्य होने के कारण, अथवा (नैयायिकों के मत से) शक्यार्थ के संसर्गरूप से भासित होने के कारण, यहाँ परिणाम की व्यंग्यता कहना सर्वथा ही अनुचित है।

उदाहरण

परिणामध्वनि का यह उदाहरण उचित है—

इन्दुना पर-सौन्दर्य-सिन्धुना बन्धुना विना।
ममाऽयं विषमस्तापः केन वा शमयिष्यते॥

परम सुंदरता के समुद्र (मेरे) बंधु चंद्रमा के बिना यह मेरा विषम ताप और किससे दूर किया जा सकता है?

यहाँ वक्ता विरही है। अतः ध्वनित होनेवाले सुंदरी के वदन से अभिन्न रूप में चंद्रमा अभीष्ट है—अर्थात् उसे सुंदरी का मुखरूपा चंद्रमा चाहिए, अन्य नहीं। क्योंकि प्रस्तुत विरह-ताप के शांत करने का हेतु मुख ही है, केवल चंद्रमा नहीं।

आप कहेंगे—इस पद्य में परिणाम व्यंग्य नहीं है, किंतु अतिशयोक्ति है; क्योंकि यहाँ उपमान (चंद्र) के द्वारा उपमेय (मुख) का निगरण है—'मुख' पद के स्थान पर ही 'चंद्र' पद आया है। पर यह ठीक नहीं। कारण, अतिशयोक्ति में उपमेय की प्रतीति उपमान से अभिन्न रूप में होती है। जैसे "कनक-लता में कमल" यहाँ "कनक-लता से अभिन्न कामिनी में कमल से अभिन्न मुख" यह प्रतीति होती है। अब इधर आइए, यहाँ मुख के चंद्रमा से अभिन्न रूप में प्रतीति होने पर तो 'विरह-ताप की शांति' रूपी प्रस्तुत कार्य की सिद्धि हो नहीं सकती, अतः आरोपित किए जाने-

वाले चंद्रमा का मुखरूपी उपमेय से अभिन्न होना ढूँढ़ने की आवश्यकता है। सारांश यह कि—यहाँ चंद्रमा का अभेद मुख में होने से काम नहीं चल सकता, किंतु मुख का अभेद चंद्रमा में होना चाहिए। सो यह बात 'मुख के ताद्रूप्य' के व्यंग्य होने पर ही हो सकती है। अतः यह परिणाम की ध्वनि है, अतिशयोक्ति नहीं। यह **ध्वनि अर्थ-शक्ति-मूलक** है।

शब्द-शक्ति-मूलक परिणाम की ध्वनि; जैसे—

पान्थ मन्दमते ! किं वा संतापमनुविन्दसि ।
पयोधरं समाशास्व येन शान्तिमवाप्नुयाः ॥

हे मन्दबुद्धि पथिक ! तू क्यों संताप पा रहा है ? झट से (पयोधर मेघ; वस्तुतः—स्तन) की चाहना कर, जिससे कि शांति मिले।

यहाँ प्रथमतः ताप-शांति का हेतु होने के कारण 'पयो-धर' शब्द का मेघरूप अर्थ उपस्थित होता है। पर बाद में (बुद्धि के विशेषण) 'मंद' शब्द द्वारा जानने योग्य—अर्थात् विरह-निवृत्ति का उपाय न सोच सकने के कारण जिसकी बुद्धि को 'मंद' कहा गया है वह—(विरही) जिसका विशेष्य है उस काम-संताप से युक्त होने का बोध होने पर सहृदय को, मेघ में, वैसे (विरहजन्य) ताप को शांत करनेवाले सुंदरी के स्तनरूपी उपमेय के ताद्रूप्य का ज्ञान होता है। अतः यहाँ परिणाम की ध्वनि है।

दोष

परिणामालंकार में दोषों को तर्कना रूपकवत् कर लेनी चाहिए।

इति परिणाम समाप्त

अथ स-संदेहालंकार

लक्षण

सादृश्य के कारण होनेवाला एवं जिनमें परस्पर विरोध भासित होता हो ऐसी समान बलवाली अनेक कोटियों का अवगाहन करनेवाला ज्ञान, सुंदर होने पर, 'स-संदेह' अलंकार कहलाता है।

लक्षण का विवेचन

"अधिरोप्य हरस्य हन्त ! चापं
परितापं प्रशमय्य बान्धवानाम्।
परिणेष्यति वा न वा युवाऽयं
निरपायं मिथिलाधिराजपुत्रीम् ॥

हाय ! शिवजी के धनुष को चढ़ा के और बांधवों का संताप शांत करके यह युवक (भगवान् राम) जनक-नंदिनी को निर्विघ्न व्याहेगा अथवा नहीं !"

मिथिलापुरी के निवासियों की इस उक्ति में, उनकी चिंता के अभिव्यक्त करनेवाले संदेह में अतिव्याप्ति न होने के लिये लक्षण में "सादृश्य के कारण होनेवाला" यह लिखा गया है; जिसका अर्थ है "सादृश्य के ज्ञानरूपी दोष से उत्पन्न होनेवाला"। ऐसा अर्थ करने का फल यह है कि "सिंहवत् प्रान्तरं गच्छ गृहं सेवस्व वा श्ववत्—अर्थात् या तो सिंह की तरह निर्जन वन में चला जा या कुत्ते की तरह घर की सेवा करता रह।" इस उपमा के विकल्प में स्थित 'या' पद द्वारा जिनमें विरोध प्रतीत हो रहा है उन "निर्जन वन में जाने" और "घर की सेवा करने" रूपी अनेक कोटियों के अवगाहन करनेवाले, सादृश्य के विषय में हुए भी, संदेह में अतिव्याप्ति नहीं होती। क्योंकि यह संदेह "सादृश्य के ज्ञानरूपी दोष से उत्पन्न नहीं है, किंतु सादृश्य के विषय में हुआ है।"

'मालारूपक' में भी समान बलवाली सादृश्यमूलक अनेक कोटियों का ज्ञान होता है। उसमें अतिव्याप्ति न होने के लिये "जिनमें परस्पर विरोध भासित होता हो" यह लिखा गया है।

उत्प्रेक्षा में अतिव्याप्ति न होने के लिये "समान बल-वाली" यह लिखा गया है, जिसका अर्थ है "जिनमें भासित करने की सामग्री समान रूप में हों ऐसी।" उत्प्रेक्षा में विधेय कोटि में भासित करनेवाली सामग्री प्रबल या

अधिक होती है, अतः उसमें इस लक्षण की अतिव्याप्ति नहीं होती।

"जिनमें परस्पर विरोध भासित होता हो" और "समान बलवाली" इन्हीं दोनों विशेषणों से प्राप्त हुई कोटियों की अनेकता को स्पष्ट करने के लिये "अनेक" यह विशेषण दिया गया है।

"ठूँठ है अथवा मनुष्य है" इस लौकिक संदेह की निवृत्ति के लिये लक्षण में "सुंदर होने पर" यह लिखा गया है, जिसका अर्थ है "चमत्कार-युक्त।" यह विशेषण सामान्य अलंकार-लक्षण से प्राप्त ही है—अर्थात् जो सुंदरता सब अलंकारों में होती है वह इसमें भी होनी चाहिए यही इसका अर्थ है। इसी तरह "सुशोभित करनेवाला" यह विशेषण भी समझ लीजिए।

ये दोनों विशेषण यदि न हों और सादृश्य के कारण उत्पन्न न हुआ हो तो वह संदेहालंकार नहीं, किंतु केवल संदेह होता है, अर्थात् उसे अलंकार नहीं कहा जा सकता।

दूसरा लक्षण

यदि आप कहें कि—संदेह में विरोध भासित नहीं होता, क्योंकि ऐसा होने में कोई प्रमाण नहीं; किंतु संदेह का अर्थ है—"ऐसी अनेक कोटियोंवाला ज्ञान जो कोटियाँ अविरोधी होने के ज्ञान से रहित हों—अर्थात् वे वास्तव में

विरोधी हों या न हों पर उनके विषय में हमें विरोधी न होने का ज्ञान न होना चाहिए"। तो संदेहालंकार का लक्षण यह समझिए—

सादृश्य के कारण होनेवाला और निश्चय तथा संभावना इन दोनों में से किसी भी एक के रूप में न होनेवाला बोध, सुंदर होने पर, 'संदेहालंकार' कहलाता है।

भेद और उदाहरण

'स-संदेहालंकार' शुद्ध (केवल संदेह), निश्चयगर्भ (जिस संदेह के अंदर निश्चय हो) और निश्चयांत (जिस संदेह के अंत में निश्चय हो) इस तरह तीन प्रकार का होता है।

शुद्ध स-संदेह; जैसे—

मरकतमणिमेदिनीधरो वा तरुणतरस्तरुरेष वा तमालः।
रघुपतिमवलोक्य तत्र दूराद्दषिनिकरैरिति संशयः प्रपेदे॥

भगवान् राम का वन-गमन-वर्णन है—रामचंद्र को दूर से देखकर ऋषि-समूहों को वहाँ यह संदेह हुआ कि—यह मरकत मणियों (पन्नों) का पहाड़ है अथवा अत्यंत यौवन-युक्त तमाल का वृक्ष है।

निश्चयगर्भ स-संदेह; जैसे—

तरणितनया किं स्यादेषा न तोयमयी हि सा।
मरकतमणिज्योत्स्ना वा स्यान्न सा मधुरा कुतः?

इति रघुपतेः कायच्छायाविलोकनकौतुकै-
र्वनवसतिभिः कैः कैरादौ न सन्दिदिहे जनैः ॥

रामचंद्र की शरीर-कांति देखने में कौतुकयुक्त किन-किन वनवासियों को, प्रथमतः, यह संदेह नहीं हुआ कि—क्या यह यमुना होगी; नहीं; वह तो जलमयी है। तो क्या मरकतमणियों की कान्ति होगी; नहीं; वह मधुर कैसे हो सकती है—उसमें ऐसी मधुरता कहाँ से आवेगी ?

निश्चयांत स-संदेह; जैसे—

चपला जलदाच्च्युता लता वा तरुमुख्यादिति संशये निमग्नः।
गुरुनिःश्वसितैः कपिर्मनीषी निरणैवीदथ तां वियोगिनीति ॥

हनुमान् ने जब अशोकवाटिका में सीता को देखा तो वे इस संदेह में डूब गए कि—यह या तो मेघ से गिरी हुई बिजली है या किसी प्रधान वृक्ष से गिरी हुई लता है। तदनंतर बुद्धिमान् हनुमान् ने बड़े-बड़े निसासों द्वारा निर्णय किया कि यह (न बिजली है, न लता, किंतु) वियोगिनी है—रामचंद्र से वियुक्त जानकी है।

इन संदेहों को मंजूषा आदि में रक्खे हुए कंकण आदि की तरह (क्योंकि वर्त्तमान अवस्था में उनके किसी को शोभित करनेवाले न होने पर भी उनमें शोभित करने की योग्यता है, अतः) अलंकार कहा जाता है।

प्रत्युदाहरण

इस तरह यह सिद्ध हुआ कि—

तं दृष्टवान् प्रथममद्भुतधैर्यवीर्य-
गाम्भीर्यमक्षणविमुक्तसमीपजानिम् ।
वीक्ष्याऽथ दीनमबलाविरहव्यथार्त्तं
रामो न वाऽयमिति संशयमाप लोकः ॥

सीता-विरह में राम का वर्णन है। लोगों ने, पहले, राम को अद्भुत धैर्य, वीर्य और गम्भीरता से युक्त एवं क्षण भर के लिये भी (अपने) समीप से सीता को न छोड़नेवाला देखा था। अब उन्हें दीन और सीता की विरह-व्यथा से पीड़ित देखकर लोगों को संदेह हुआ कि—यह राम हैं अथवा नहीं।

इस पद्य में यद्यपि संदेह का चमत्कार है, तथापि सादृश्य के कारण नहीं; अतः इस संदेह को अलंकार नहीं कह सकते।

संदेहालंकार अध्यवसान-मूलक नहीं होता

इस तरह यह आरोपमूलक संदेहालंकार हुआ। अध्यवसानमूलक संदेहालंकार भी देखा जाता है। जैसे—

सिन्दूरैः परिपूरितं किमथवा लाक्षारसैः क्षालितं
लिप्तं वा किमु कुङ्कुमद्रवभरैरेतन्महीमण्डलम् ।
संदेहं जनयन्नृणामिति परित्रातत्रिलोकस्त्विषां
व्रातः प्रातरुपातनोतु भवतां भव्यानि भासां निधेः ॥

यह पृथ्वी-मंडल क्या सिंदूर से परिपूर्ण है, अथवा अलते (लाक्षा) के पानी से धोया हुआ है, किंवा केसर के रस-समूह से पोत दिया गया है। मनुष्यों को ऐसे संदेह उत्पन्न करता हुआ सूर्य का प्रात:कालीन कांति-समूह, जिसने त्रिलोकी की रक्षा की है, आपका कल्याण करे।

यह संदेह सूर्य के विषय में कवि के प्रेम को परिपुष्ट करनेवाला होने के कारण कामिनी के हाथ में पहने कंकण की तरह मुख्यतया अलंकार कहने के योग्य है। यहाँ, वक्ता के अभीष्ट का विवेचन करने पर अंतत: किरण-समूह में 'सिंदूरता' आदि कोटियोंवाला संदेह सिद्ध होता है। वह संदेह सारोप—आरोपमूलक—नहीं है। क्योंकि यहाँ उपमान उपमेय में आरोप के अनुकूल विभक्ति का अभाव है—यदि आरोप होता तो उपमान-उपमेय में समान विभक्तियाँ होतीं। अत: "सिंदूरता" आदि के द्वारा संशय के धर्मी—अर्थात् जिसके विषय में संदेह किया जा रहा है उस—किरण-समूह का अध्यवसान है। तात्पर्य यह कि—यहाँ सिंदूर आदि (उपमानवाचक) शब्दों से ही किरण-समूह (उपमेय) का ग्रहण मानना पड़ता है और वह इस संदेह का मूल है, अत: यह संदेह अध्यवसानमूलक है। यह कहा जाता है।

इस विषय पर विचार करिए। "सिंदूरै: परिपूरितम्..." इस उपर्युक्त पद्य में, प्रथमत:, पृथ्वी-मण्डल-रूपी आधार में 'सिंदूर आदि द्वारा परिपूर्ण होने आदि' कोटियोंवाला संदेह,

शब्द द्वारा, प्रतीत होता है। उस संदेह में सूर्य-किरण-रूपी आधार में होनेवाला "क्या यह सिंदूर का रज है अथवा अलते का पानी है किंवा केसर का रस है" यह दूसरा संदेह अनुकूलता उत्पन्न करता है। अर्थात् इस संदेह से पूर्वोक्त संदेह सिद्ध होता है। जैसे कि सामने खड़े घोड़े के विषय में (घोड़े का जरा भी बोध न होकर) 'यह खंभा है अथवा पुरुष' यह संदेह 'यह पृथ्वीतल खंभे से युक्त है अथवा पुरुष से' इस दूसरे संदेह में उपयोगी होता है, क्योंकि बिना पहले संदेह के दूसरा संदेह बन ही नहीं सकता; वही बात यहाँ भी है। इस तरह यह सिद्ध हुआ कि सूर्य-किरण-रूपी आधार में होनेवाला (दूसरा) अप्रधान संदेह व्यंजनावृत्ति से प्रतीत होने के कारण उपमान-उपमेय में आरोप के अनुकूल विभक्ति (समान विभक्ति) की अपेक्षा नहीं रखता; पर यदि वही साक्षात् शब्दों द्वारा प्रतीत होता (जैसा कि पहला संदेह है) तो समान विभक्ति की अपेक्षा रखता। अतः यहाँ संदेह की अध्यवसानमूलकता कहाँ है? तात्पर्य यह कि वाच्य आरोप में उपमान-उपमेय एक विभक्तिवाले होते हैं, व्यंग्य में नहीं; ऐसी दशा में ऐसे संदेहों को अध्यवसान-मूलक मानना उचित नहीं। अतः संदेह को अध्यवसान-मूलक माननेवाले 'विमर्शिनी(अलंकार-सर्वस्व की टीका)कार' का कथन परास्त हो जाता है। सारांश यह कि संदेहा-लंकार आरोपमूलक ही होता है, अध्यवसानमूलक नहीं।

अप्पयदीक्षित का खंडन

(१)

अप्पयदीक्षित तो कहते हैं—

"अस्याः सर्गविधौ प्रजापतिरभूच्चन्द्रो नु कांतिप्रदः
श्रृङ्गारैकरसः स्वयं नु मदनो मासो नु पुष्पाकरः।
वेदाभ्यासजडः कथं स विषयव्यावृत्तकौतूहलो
निर्मातुं प्रभवेन्मनोहरमिदं रूपं पुराणो मुनिः॥

'विक्रमोर्वशी' नाटक के प्रथम अंक में उर्वशी का वर्णन है। पुरूरवा उर्वशी को देखकर कहता है—इसकी सृष्टि करने में कौन प्रजापति (उत्पादक) हुआ होगा ? कांति का दाता चंद्रमा, अथवा शृंगार-रस का एकमात्र रसिक वह स्वयं कामदेव, किंवा कुसुमाकर मास (चैत्र = वसंत) ? क्योंकि वेद पढ़ने के कारण जड़ और विषयों से जिसका कौतूहल निवृत्त हो चुका है वह पुराना मुनि (ब्रह्मा) भला इस मनोहर रूप को कैसे बना सकता है ?

इस जगह केवल संदेह के आधार (प्रजापति) ही अनेक हैं, कोटि तो है 'वर्णन की जानेवाली कामिनी का उत्पन्न करना (प्रजापतित्व)' जो कि एक ही है। अतः अनेक कोटियाँ न होने के कारण यहाँ संदेह के लक्षण की अव्याप्ति है—वह यहाँ घटित नहीं होता। क्योंकि संदेह का लक्षण है 'विरोध के कारण परस्पर हटानेवाली के रूप में वर्णित

अनेक कोटियों के विषय में होनेवाला ज्ञान'। अतः इस पद्य में स-संदेहालंकार मानना उचित नहीं।"

पर यह कथन ठीक नहीं। यहाँ संदेह का आकार है "इसकी सृष्टि करने में जो प्रजापति बना वह चंद्रमा है, अथवा कामदेव है, किंवा वसंत है" यह। इस संदेह का आधार है 'प्रजापति'। उसमें 'चंद्रत्व' आदि अनेक कोटियाँ हैं ही। अतः संदेह के लक्षण की अव्याप्ति कहाँ है? और जो आप 'चंद्रादिक' को संदेह का आधार और 'प्रजापतित्व' को संदेह की कोटि मान रहे हैं, सो वैसा संदेह यहाँ कहा भी नहीं जा सकता। क्योंकि यदि ऐसा ही होता तो 'प्रजापति' का प्रयोग पहले नहीं होता, किंतु 'चंद्र' आदि का होता। जब 'प्रजापति' शब्द पहले लिखा गया है तो आपको अवश्यमेव मानना पड़ेगा कि—कवि 'प्रजापति' में 'वह चंद्रमा होना चाहिए या काम' इत्यादि संदेह कर रहा है, न कि चंद्र आदि में 'प्रजापति होने' का।

२

और जो उन्हों ने

"साम्यादप्रकृतार्थस्य या धीरनवधारणा

अर्थात् सादृश्य के कारण होनेवाले अप्रस्तुत अर्थ के अवधारणा-रहित बोध को ('ससंदेह' कहते हैं)।"

इस प्राचीनों के लक्षण को बड़े प्रबंध द्वारा दूषित किया है, सो भी ठीक नहीं। कारण, उस पद्य का "निश्चय और संभावना दोनों में से किसी एक के रूप में न होनेवाला सादृश्यमूलक बोध (संदेह कहलाता है)" यह अर्थ कर लेने से—अर्थात् 'अवधारण' शब्द का अर्थ निश्चय और संभावना ये दोनों मान लेने से—दोष नहीं रहता। रही यह बात कि—संदेह का ऐसा लक्षण बनाने से 'निश्चय से भिन्न संदेह' और 'संदेह से भिन्न निश्चय' इस तरह अपने अपने लक्षण में परस्पर की अपेक्षा रखने के कारण अन्योन्याश्रय होगा। सो यह कुछ है नहीं। कारण, आपको एक का लक्षण तो ऐसा बनाना ही होगा कि जिसके अंदर दूसरे का प्रवेश न हो; अतः निश्चय का लक्षण ऐसा बनाइए कि जिसके अंदर संदेह का प्रवेश न हो। बस, झगड़ा निवृत्त।

लक्ष्य ससंदेह

उक्त उदाहरणों में यह ससंदेहालंकार अपने वाचक शब्दों से प्रतीत होता है, अतः वाच्य है।

लक्ष्य ससंदेह; जैसे—

साम्राज्यलक्ष्मीरियमृष्यकेतोः सौन्दर्यसृष्टेरधिदेवता वा।
रामस्य रामामवलोक्य लोकैरिति स्म दोलाऽऽरुरुहे तदानीम् ॥

उस समय (विवाह के अनंतर) रामचंद्र की रमणी (सीता) को देखकर लोग 'यह काम की साम्राज्य-लक्ष्मी

है अथवा सुंदरता की सृष्टि की अधिदेवता है' इस तरह झूले पर आरूढ़ हुए।

'क्रम से दोनों कोटियों (छोरों) का आलंबन करने' के कारण संदेह में झूले की समानता है, अत: यहाँ 'झूला' शब्द से संदेह लक्षित होता है।

ससंदेह की ध्वनि

व्यंग्य ससंदेह; जैसे—

तीरे तरुण्या वदनं सहासं नीरे सरोजं च मिलद्विकासम्।
आलोक्य धावत्युभयत्र मुग्धा मरन्दलुब्धाऽलिकिशोरमाला ॥

तीर पर हास-सहित युवती के मुख को और जल में विकास-सहित कमल को देखकर मकरंद की लोभिनी छोटे छोटे भौंरों की पंक्ति दोनों तरफ दौड़ रही है।

यहाँ कमलरूपी आधार में, अभेद संबंध द्वारा, आगे स्थित दो व्यक्ति (एक युवती का मुख, दूसरा कमल पुष्प) जिसकी कोटियाँ हैं ऐसा 'कमल यह है अथवा यह' इस आकारवाला भौंरों में रहनेवाला संदेह व्यंग्य है। आप कहेंगे—कमलरूपी आधार में 'यह' का अभेद निरर्थक है। कारण, भौंरे जो दोनों वस्तुओं की तरफ दौड़ रहे हैं सो 'कमल में यह' के संदेह से नहीं, किंतु 'यह' में कमल के संदेह से दौड़ रहे हैं। अत: उपर्युक्त आकारवाला संदेह यहाँ किसी काम का नहीं। पर यह आपका कथन उचित

नहीं। कारण, एक पदार्थ में अन्य पदार्थ का अभेदज्ञान अन्य पदार्थ में एक पदार्थ के अभेदज्ञान का निमित्त हुआ करता है। सारांश यह कि—यदि 'कमल में यह का अभेद' मानोगे तो 'यह का कमल में अभेद' अपने-आप ही सिद्ध हो जाता है। अतः अंततोगत्वा इस संदेह का आकार यह हो जाता है कि 'कमलत्व इसमें रहता है अथवा उसमें'। सो आपकी शंका को अवकाश नहीं रहता। यह है 'ससंदेह' की ध्वनि।

ध्वनि का प्रत्युदाहरण

आज्ञा सुमेषोरविलङ्घनीया किंवा तदीया नवचापयष्टिः।
वनस्थिता किं वनदेवता वा शकुन्तला वा मुनिकन्यकेयम् ॥

सीता को देखकर ऋषियों की उक्ति है—यह कामदेव की अनुल्लंघनीय आज्ञा है, अथवा उसके नवीन धनुष की डाँड़ी है, किंवा वनवासिनी वनदेवता है, अथवा मुनि-कन्या शकुंतला है!

यद्यपि इस पद्य में भी संदेह-वाचक कोई शब्द नहीं है—अर्थात् 'ऋषियों को यह संदेह हुआ' यह बात नहीं लिखी है; अतः संदेह का व्यंग्य होना उचित है; तथापि सीता में जिन विषयों का संदेह किया जा रहा है उनका निरूपण होने के कारण संदेह स्पष्टतया उक्त हो गया है। अतः यह व्यंग्य संदेह इस काव्य के 'ध्वनि' कहे जाने का कारण नहीं

हो सकता; किंतु (अगूढ़ होने के कारण) 'गुणीभूत व्यंग्य' कहे जाने का कारण हो सकता है।

इस पद्य के संदेहों में प्रत्येक भेद के साथ अनुगामी धर्म भिन्न भिन्न रूप में शब्द द्वारा वर्णित हैं; जैसे 'आज्ञा' के संदेह में 'अनुल्लंघनीयता' आदि।

अप्पयदीक्षित की 'संदेहध्वनि' का खंडन

अप्पयदीक्षित ने 'संदेहध्वनि' के उदाहरण के प्रसंग में लिखा है—

"काञ्चित्* काञ्चनगौराङ्गीं वीक्ष्य साक्षादिव श्रियम्।
वरदः संशयापन्नो वक्षस्थलमवैक्षत॥

वरदराज†, मानो साक्षात् लक्ष्मी हो ऐसी, सोने-सरीखे गौर शरीरवाली किसी (कामिनी) को देखकर संदेहयुक्त हुए और वक्षस्थल देखने लगे।"

यद्यपि यहाँ 'संदेह' का ग्रहण शब्द द्वारा हुआ है, तथापि केवल उतने भाग के अलंकाररूप न होने के कारण, किंतु संदेहालंकार का सिद्ध करनेवाला 'वक्षस्थल में स्थित ही लक्ष्मी वहाँ से उतरकर सामने खड़ी है' यह संदेह का आकार

---

* यह पद्य अप्पयदीक्षित के मूलपुरुष 'वक्षःस्थलाचार्य' के बनाए 'वरदराज-वसन्तोत्सव' का है।

† 'कांजीवरम् (मद्रास)' में भगवान् विष्णु की 'वरदराज' नामक मूर्त्ति है।

'वक्षस्थल को देखने लगे' इस उक्ति द्वारा व्यंग्य होने के कारण यहाँ 'संदेहालंकार की ध्वनि' है। जैसे कि—

दर्पणे च परिभोगदर्शिनी पृष्ठतः प्रणयिनो निषेदुषः।
वीक्ष्य बिम्बमनु बिम्बमात्मनः कानि कानि न चकार लज्जया॥

कुमारसंभव में पार्वती का सुरत-वर्णन है। पार्वती दर्पण में संभोग के चिह्न (नखक्षतादि) देख रही थी। उसने, (अपने) पीछे बैठे प्रणयी (शिव) का प्रतिबिंब अपने प्रतिबिंब के पीछे की तरफ देखा। फिर तो उसने लज्जा के मारे जाने क्या क्या न किया।

यहाँ 'क्या क्या' इस तरह सामान्य रूप में वर्णित विशेष अनुभावों की प्रतीति के लिये 'लज्जा' शब्द का प्रयोग करने पर भी, अपने विभावों और अनुभावों द्वारा, लज्जा की रस के अनुकूल अभिव्यक्ति रूपी ध्वनि है—अर्थात् यहाँ अनुभावों की विशेष रूप में प्रतीति करवाने के लिये 'लज्जा' शब्द के आने पर भी रस का पोषण करनेवाली लज्जारूप चित्तवृत्ति व्यंग्य ही है।

अप्पयदीक्षित का यह कथन 'ध्वनि' का तथ्य समझने-वालों के उपहास के योग्य ही है। कारण यह है कि—पूर्वोक्त उदाहरण के "संदेहयुक्त होकर" इस वाक्य में 'संदेह' पद द्वारा "एक पदार्थ में, परस्पर विरोधी अनेक पदार्थों के संबंध में होनेवाला ज्ञान (जिसे आप व्यंग्य संदेह कह रहे

हैं)" साक्षात् ही निवेदन किया जा रहा है, उस वाक्य का अर्थ ही यह है कि—वरदराज को कोई ऐसा ज्ञान हुआ है जो एक पदार्थ में परस्पर-विरोधी विविध कोटियों का ग्रहण कर रहा है। तदनंतर 'वह विरोधी विविध पदार्थ (जो कोटि रूप हैं) कौन है' इस तरह विशेष की आकांक्षा होने पर "वक्षस्थल देखने लगे" इस वाक्य द्वारा, व्यंजना वृत्ति से, यह अर्थ समझ में आया (जिसे आपने व्यंग्य संदेह का आकार बताया है) कि "वक्षस्थल में स्थित ही लक्ष्मी वहाँ से उतरकर सामने आ खड़ी हुई है।" यह व्यंग्य अर्थ, अंततोगत्वा, अभिधा द्वारा प्रतिपादित 'संदेह' शब्द के अर्थ रूप पूर्वोक्त ज्ञान के विशेषण बने हुए 'परस्पर विरोधी अनेक पदार्थ' रूपी सामान्य अर्थ से अभिन्न हो जाता है—अर्थात् जिसे आप व्यंग्य संदेह कह रहे हैं वह अर्थ 'संदेह' शब्द के वाच्य सामान्य अर्थ के एक अंश का विवरण मात्र है, न कि उससे भिन्न कोई वस्तु।

इस तरह यह सिद्ध हुआ कि—आपके उदाहृत पद्य में 'केवल संदेह' का बोध अभिधा द्वारा हुआ है, इस कारण (उसके एक अंश का विवरण रूप) "वक्षस्थल में स्थित ही लक्ष्मी वहाँ से उतरकर सामने खड़ी है" यह विषयभाग भी 'विरोधी अनेक पदार्थ' रूप होने के कारण, सामान्य रूप से अभिधा द्वारा आक्रांत है। ऐसी दशा में अभिधा का ग्रास बन जाने के कारण इस अर्थ को स्वतंत्रतया व्यंग्य नहीं कहा

जा सकता। और इस आपके व्यंग्य अर्थ की समाप्ति भी वाच्य-अर्थ संदेह में ही जाकर होती है। अतः सारांश यह निकला कि—यहाँ कोई बात ऐसी नहीं है जो इस काव्य को 'ध्वनि (उत्तमोत्तम)' बना सके। कारण, 'ध्वनि' का मार्ग प्रवृत्त करनेवालों का यही सिद्धांत है कि—जिसमें अभिधावृत्ति का बिलकुल स्पर्श न हो वही व्यंग्य काव्य को ध्वनि बना सकता है। देखिए, "ध्वन्यालोक" के द्वितीय 'उद्योत' में "आनंदवर्धनाचार्य" ने

"शब्दार्थशक्त्याऽऽक्षिप्तोऽपि व्यंग्योऽर्थः कविना पुनः।
यत्राऽऽविष्क्रियते स्वोक्त्या साऽन्यैवाऽलंकृतिर्ध्वनेः॥

शब्द-शक्ति अथवा अर्थ-शक्ति द्वारा आक्षिप्त भी व्यंग्य अर्थ, जहाँ कवि द्वारा अपनी उक्ति से पुनः प्रकट कर दिया जाता है, वह 'ध्वनि' से भिन्न ही अलंकार है—अर्थात् ऐसी जगह 'ध्वनि' नहीं, किंतु अलंकार माना जाना चाहिए।"

यह सूत्र बनाकर कहा है कि—

"संकेतकालमनसं विटं ज्ञात्वा विदग्धया।
हसन्नेत्रार्पिताकूतं लीलापद्मं निमीलितम्॥

चतुर नायिका ने जार का चित्त संकेत के समय (जानने) में जानकर हँसते नेत्रों से अभिप्राय समझाते हुए लीला-कमल मूँद दिया।"

यहाँ 'जार का चित्त संकेत के समय में समझकर लीला-कमल को मूँद दिया' यह कहते हुए कवि ने 'लीला-कमल

के मूँदने' का 'सायंकाल का ध्वनित करनेवाला होना' अपनी उक्ति द्वारा ही प्रकट कर दिया (यदि 'संकेत का समय जानने' की बात स्पष्ट शब्दों में न लिखता तो यह अर्थ व्यंग्य रह जाता)। अतः यह मार्ग ध्वनि के मार्ग से भिन्न ही है और गुणीभूत व्यंग्य का मार्ग है। अर्थात् ऐसे काव्यों को ध्वनि नहीं किंतु गुणीभूत व्यंग्य कहा जाना चाहिए।

अथवा जैसे—

"अम्बा शेतेऽत्र वृद्धा परिणतवयसामग्रणीरत्र तातो
निःशेषागारकर्मश्रमशिथिलतनुः कुम्भदासी तथाऽत्र।
अस्मिन् पापाऽहमेका कतिपयदिवसप्रोषितप्राणनाथा
पान्थायेत्थं तरुण्या कथितमवसरव्याहृतिव्याजपूर्वम्॥

'यहाँ बूढ़ी माँ सोती है, यहाँ बुड्ढों के अगुआ पिता सोते हैं तथा यहाँ सारे घर के काम के परिश्रम से शिथिल शरीरवाली 'कुंभदासी' सोती है; और इस जगह, थोड़े दिनों से प्राणनाथ परदेश चले गए हैं अतः अकेली, मैं पापिनी सोती हूँ।' इस तरह युवती ने, अवसर कहने के कपट को आगे रखते हुए, पथिक से, कहा।"

यहाँ यद्यपि 'निःशंक होकर रमण करने आओ' यह अर्थ श्लोक के तीन चरणों से व्यंग्य है, तथापि कवि ने 'अवसर दिखाने' को कपटरूप कहते हुए व्यंग्य अर्थ को अपनी उक्ति से स्पष्ट निवेदन कर दिया। अतः यह भी 'ध्वनि' का मार्ग नहीं है।

यह तो हुई आनंदवर्धनाचार्य की बात। इसके अतिरिक्त 'ध्वन्यालोक' के व्याख्याकार अभिनवगुप्ताचार्य ने भी 'ध्वन्यालोक' के तृतीय उद्योत में आनंदवर्धनाचार्य की युक्ति का विवेचन करते हुए लिखा है—

"व्यंग्य अर्थ का यदि उक्ति द्वारा प्रकाशन हो गया तो उसका अप्रधान होना ही शोभित होता है—अर्थात् उक्ति द्वारा प्रकाशित होने पर व्यंग्य को प्रधान कहना उचित नहीं। अतः जहाँ बिना ही उक्ति के व्यंग्य अर्थ तात्पर्यतः प्रकाशित होता है, वहाँ उसकी प्रधानता होने के कारण काव्य को 'ध्वनि' माना जाता है (अन्यत्र नहीं)।"

सो इस तरह यह सिद्ध हुआ कि—ऐसे विषयों में व्यंजक अथवा व्यंग्य में उक्ति के किंचित् भी स्पर्श से 'ध्वनित्व' का निषेध करनेवाले (ध्वनि के आचार्य) "कांचित् कांचनगौरांगीम्......" इस पूर्वोक्त आपके उदाहरण में, जहाँ कि व्यंग्य अर्थ शब्दतः उच्चारित है, 'ध्वनि होना' कैसे स्वीकार कर सकते हैं ?

इसी से "दर्पणे च परिभोगदर्शिनी......" इस पूर्वोक्त 'कुमारसंभव' के पद्य में जो दीक्षितजी ने 'ध्वनि होना' बताया है, वह भी हटा दिया गया। सारांश यह कि—न 'कुमारसंभव' का पद्य ही ध्वनि-रूप है, न दीक्षितजी का उदाहरण ही। यह है इसका संक्षेप।

साधारण धर्म

इस संदेहालंकार में कहीं अनेक कोटियों में एक ही समान धर्म होता है और कहीं पृथक्। वह धर्म भी कहीं अनुगामी, कहीं बिंब-प्रतिबिंब-भावापन्न, कहीं अनुक्त और कहीं उक्त होता है।

इनमें से "मरकतमणिमेदिनीधरो वा……" इस पूर्वोदाहृत पद्य में, धर्मी राम तथा तमाल और मरकत-मणि का पर्वत इन दोनों कोटियों में 'श्यामसुंदरता' रूपी **एक** ही **अनुगामी धर्म** है, जो कि प्रतीत हो रहा है, अतः **अनुक्त** है।

उक्त एक अनुगामी धर्म; जैसे—

> नेत्राभिरामं रामाया वदनं वीक्ष्य तत्क्षणम्।
> सरोजं चन्द्रबिंबं वेत्यखिलाः समशेरत ॥

सुंदरी के नयन-मनोहर मुख को देखकर सब लोग, उसी समय, कमल है अथवा चंद्रमा का बिंब है—इस तरह संदेह करने लगे।

यहाँ सुंदरी के मुख, कमल और चंद्रबिंब तीनों में एक ही अनुगामी समान धर्म (नयनसुंदरत्व) शब्द द्वारा प्रतिपादित है।

उक्त पृथक् अनुगामी धर्म; जैसे पूर्वोदाहृत "आज्ञा सुमेषोः……" इत्यादि पद्य में। अथवा जैसे—

> संपश्यतां तामतिमात्रतन्वीं शोभाभिराभासितसर्वलोकाम्।
> सौदामिनी वा सितयामिनी वेत्येवं जनानां हृदि संशयोऽभूत्॥

अत्यंत दुबली तथा शोभाओं से सब भुवनों को प्रकाशित करनेवाली उस (कामिनी) के देखनेवालों को बिजली है अथवा शुक्लपक्ष की रात्रि है—यह संदेह हुआ।

यहाँ "अत्यंत दुबली होना" बिजली के साथ और "शोभाओं से सब भुवनों को प्रकाशित करना" शुक्लपक्ष की रात्रि के साथ—इस तरह एक ही कामिनी के अनुगामी समान धर्म पृथक् पृथक् बताए गए हैं। इसी पद्य में यदि पूर्वार्ध के दोनों धर्मवाचक विशेषणों को छोड़ दो तो यह पद्य **अनुक्त पृथक् अनुगामी समान धर्म** का उदाहरण हो जायगा।

(उक्त) **बिंब-प्रतिबिंब-भावापन्न समान धर्म**; जैसे "तीरे तरुण्या वदनं सहासम्......" इत्यादि पूर्वोक्त पद्य में। अथवा जैसे—

सपल्लवा किं नु विभाति वल्लरी
सफुल्लपद्मा किमियं नु पद्मिनी।
समुल्लसत्पाणिपदां स्मिताननां-
मितीक्षमाणैः समलम्भि संशयः॥

यह क्या पल्लवों सहित लता सुशोभित हो रही है अथवा खिले कमल-युक्त पद्मिनी? इस तरह विलासयुक्त हाथ पैर-वाली और मन्दहासयुक्त मुखवाली उस कामिनी के देखनेवालों को संदेह प्राप्त हुआ।

यहाँ हाथ-पैर के प्रतिबिंब 'पल्लव' और मुख का प्रतिबिंब 'खिला कमल' लता और पद्मिनी रूपी दोनों कोटियों में पृथक् पृथक् बताए गए हैं।

लुप्त बिंब-प्रतिबिंब-भावापन्न धर्म; जैसे—

इदमुदधेरुदरं वा नयनं वाऽत्रेरुतेश्वरस्य मनः।
दशरथगृहे तदानीमेवं संशेरते स्म कवयोऽपि॥

(राम-जन्म के समय) दशरथ के घर के विषय में कवि भी इस तरह संदेह करते थे कि—यह समुद्र का मध्यभाग है अथवा अत्रि ऋषि का नेत्र है किंवा परमेश्वर का मन है* !

इस पद्य में (राम-जन्म के समयरूपी) प्रकरण की सहायता के अधीन होकर धर्मी (संदेह की कोटियों के आधार) 'दशरथ के घर' द्वारा आक्षिप्त तत्काल उत्पन्न भगवान् राम का 'समुद्र के मध्यभाग' आदि तीन कोटियों से आक्षिप्त—समान धर्मरूप—चंद्रमा प्रतिबिंब है। यहाँ 'राम' और 'चंद्रमा' दोनों ही—बिंब और प्रतिबिंब—अनुक्त हैं और प्रतीत हो रहे हैं। वे 'दशरथ के घर' की 'समुद्र के मध्यभाग आदि से समानता सिद्ध कर रहे हैं। कारण, दशरथ के घर को उन तीनों रूपों में तभी कहा जा सकता है, जब 'चंद्रमा' को 'राम' का प्रतिबिंब मानें। इस उदाहरण द्वारा

---

* पुराणों में चंद्रमा की उत्पत्ति तीन स्थानों से वर्णित है—समुद्र के मध्य से, अत्रि के नेत्र से और परमेश्वर के मन से।

जो लोग कहते हैं कि—"अनुगामी धर्म ही लुप्त होता है, प्रतिबिंबित धर्म नहीं" वे परास्त हो जाते हैं। यह है संक्षेप।

आहार्य संदेहालंकार

यह संदेह कहीं वास्तविक माना जाता है और कहीं आहार्य—अर्थात् मिथ्या समझते हुए कल्पित। जहाँ कवि अन्य किसी में संदेह लिखता है वहाँ प्राय: संदेह वास्तविक माना जाता है। जैसे "तीरे तरुण्या वदनं सहासम्......" और "मरकतमणिमेदिनीधरो वा......" इत्यादि पूर्वोदाहृत पद्यों में। क्योंकि वहाँ संदेहकर्त्ता—भौंरे आदि—को ज्ञेय वस्तु का निश्चय न होना माना जाता है। और जहाँ कवि अपने आप ही संदेह करता है वहाँ संदेह आहार्य होता है। जैसे—

अलिर्मृगो वा नेत्रं वा यत्र किञ्चिद्विभासते।
अरविन्दं मृगाङ्को वा मुखं वेद मृगीदृशः॥

जिसमें भौंरा, मृग अथवा नेत्र कुछ भासित हो रहा है—यह कमल है, चंद्रमा है अथवा मृगनयनी का मुख है?

यहाँ वक्ता—कवि—वास्तविक बात जानता है, अत: कमल और चंद्रमा के संदेह आहार्य हैं।

संदेहालङ्कार (रूपक की तरह) परंपरित भी हो सकता है; जैसे—

विद्वद्दैन्यतमस्त्रिमूर्त्तिरथवा वैरीन्द्रवंशाटवी-
दावाग्निः, किमहो महोज्ज्वलयशःशीतांशुदुग्धाम्बुधिः।
किंवाऽनङ्गभुजङ्गदष्टवनिताजीवातुरेवं नृणां
केषामेष नराधिपो न जनयत्यल्पेतराः कल्पनाः ॥

यह राजा विद्वानों के दारिद्र्य-रूपी अंधकार के लिये सूर्य है, अथवा शत्रु-राजाओं के वंशरूपी वन के लिये दावानल है, या महानिर्मल यशरूपी चंद्रमा के लिये क्षीर-समुद्र है, किंवा कामरूपी सर्प से डँसी हुई कामिनियों के लिये जीवनौषध है; इस तरह यह नरेश किन्हें अनेक कल्पनाएँ उत्पन्न नहीं करता—अर्थात् सभी के हृदय में इसे देखकर ऐसी कल्पनाएँ जग उठती हैं।

यहाँ भी संदेह आहार्य है।

कहीं कहीं अन्य किसी में लिखा हुआ संदेह भी आहार्य होता है; जैसे—

गगनाद्गलितो गभस्तिमानुत वाऽयं शिशिरो विभावसुः।
मुनिरेवमरुन्धतीपतिः सकलज्ञः समशेत राघवे ॥

सर्वज्ञ वसिष्ठ मुनि (जातकर्म के समय), रामचंद्र के विषय में, यह आकाश से गिरा हुआ सूर्य है अथवा शीतल अग्नि है—इस तरह संदेह करने लगे।

यहाँ सर्वज्ञ रूप में वर्णित वसिष्ठ मुनि का संदेह आहार्य है। अन्यथा उनकी सर्वज्ञता का भंग होगा। यद्यपि यहाँ "मुनीनां च मतिभ्रमः—मुनियों को भी बुद्धिभ्रम हो जाता

है" इस उक्ति के अनुसार वसिष्ठजी को वास्तविक ही संदेह हुआ यह कहा जा सकता है; तथापि इस संदेह की अग्नि और सूर्य-रूप दोनों कोटियों में कोटितावच्छेदक (अर्थात् उन दोनों में अन्यूनातिरिक्त रूप से रहनेवाले) "ठंडेपन" और "आकाश से गिरने" के बोध को तो आहार्यबोध कहे बिना गुजारा नहीं। ऐसी दशा में श्रीराम में जो दोनों कोटियों का अभेदांश है, उसमें भी आहार्यबोध ही उचित है, वास्तविक बोध नहीं।

यहाँ संदेह के आधार श्रीराम में सादृश्य की दृढ़ता के लिये अग्नि और सूर्य रूपी दोनों कोटियों में, वक्ता द्वारा, 'उष्ण होने' और 'आकाश में रहने' रूपी भिन्नता के निवृत्त करनेवाले "ठंडापन" और "आकाश से गिरना"-रूपी दो धर्म आरोपित किए जा रहे हैं।

इस तरह के अन्य भेद भी सुबुद्धि लोगों को स्वयं सोच लेने चाहिएँ।

इति ससंदेह समाप्त।

अथ भ्रांतिमान् अलंकार

लक्षण

सादृश्ययुक्त धर्मी में, अभेद संबंध से, अन्य किसी धर्मी का, वास्तविक समझा हुआ और

सादृश्य द्वारा सिद्ध होनेवाला निश्चय, चमत्कार-युक्त होने पर, अलंकार प्रकरण में, 'भ्रांति' कहा जाता है। और पशु-पक्षी आदि में रहनेवाली वह भ्रांति जिस वचन-संदर्भ में आती है वह संदर्भ 'भ्रांतिमान्' कहलाता है।

लक्षण का विवेचन

इनमें से केवल 'भ्रांति' ही अलंकार है। अलंकार को 'भ्रांतिमान्' के नाम से व्यवहृत करना तो लाक्षणिक है। तात्पर्य यह कि भ्रांति जिस वाक्य में रहती है उस वाक्य को भी भ्रांति-संबंधी होने के कारण अलंकार-रूप मानकर लोग ऐसा कह देते हैं, पर वास्तव में ऐसा है नहीं, किंतु केवल भ्रांति ही अलंकार-रूप है। और यही कहते भी हैं—

"प्रमात्रन्तरधीर्भ्रान्तिरूपा यस्मिन्ननूद्यते।
स भ्रान्तिमानिति ख्यातोऽलङ्कारे त्वौपचारिकः॥

अर्थात् जिस संदर्भ में जानकार से अतिरिक्त—अर्थात् कवि से भिन्न का भ्रांतिरूपी बोध का अनुवाद किया जाता है, वह संदर्भ 'भ्रांतिमान्' कहलाता है। अलंकार में यह शब्द लाक्षणिक है।"

मीलित, सामान्य और तद्गुण अलंकारों में अतिव्याप्ति न होने के लिये लक्षण में "धर्मी" पद का दो बार ग्रहण है।

उन अलंकारों में एक धर्मी में अन्य धर्मी का निश्चय नहीं होता, किंतु धर्मों का होता है।

रूपक के बोध में अतिव्याप्ति न होने के लिये "वास्तविक समझा हुआ" अथवा "कवि से भिन्न रहनेवाला" (जैसा कि श्लोकवाले लक्षण में है) लिखा गया है; क्योंकि रूपक में अभेद का बोध वास्तविक नहीं, किंतु आहार्य होता है।

संदेह में अतिव्याप्ति न होने के लिये लक्षण में "निश्चय" पद कहा गया है।

"यह चाँदी है" इस जगह जो राँगे में चाँदी का बोध होता है—इस भ्रम में अतिव्याप्ति न होने के लिये लक्षण में "चमत्कारी" पद दिया गया है—जिसका अर्थ है 'कवि की प्रतिभा से तैयार किया हुआ'। 'राँगा चाँदी रूप है' यह बुद्धि लौकिक है, वह 'कवि की प्रतिभा से तैयार की हुई' नहीं है, अतः वहाँ अतिव्याप्ति नहीं होती।

अकरुणहृदय प्रियतम मुञ्चामि त्वामितः परं नाऽहम्।
इत्यालपति कराम्बुजमादायाऽऽलीजनस्य विकला सा॥

वह सखी का हाथ पकड़कर "हे निर्दय हृदयवाले प्रियतम! मैं (जो छोड़ चुकी सो छोड़ चुकी) अब इसके बाद छोड़ती ही नहीं।" इस तरह विकल होकर बातें करती रहती है।

इस नायिका का संदेश लानेवाले की उक्ति में जो 'उन्माद' अभिव्यक्त होता है उसमें अतिव्याप्ति न होने

के लिये लक्षण में "सादृश्य द्वारा सिद्ध होनेवाला" यह कथन है।

आप कहेंगे—इस कथन की आवश्यकता नहीं। कारण, उपर्युक्त पद्य में 'उन्माद-भाव' प्रधान-व्यंग्य के रूप में आया है, अतः उसका यावन्मात्र अलंकारों में आनेवाले "उपस्कारक होना" रूपी विशेषण से ही निवारण हो जाता है—वह उन्माद किसी का उपस्कारक नहीं, किंतु उपस्कार्य है। पर यह ठीक नहीं। कारण, यह उन्माद भी अंततः अभिव्यक्त होनेवाले 'विप्रलंभ शृंगार' का उपस्कारक है। इतने पर भी यदि आप कहें कि—यह उन्माद विप्रलंभ से उत्पन्न होनेवाला है, अतः उसका उपस्कारक कैसे हो सकता है? तो हम कहते हैं—"अकरुणहृदय······" इत्यादि उपर्युक्त वाक्य नायिका के संदेशवाहक का नहीं, किंतु संदेशवाहक से संदेश सुन चुकने के अनंतर नायक का, अपने मित्र के समीप में, कथन है। ऐसी दशा में इस पद्य में "सा=वह" पद से अभिव्यक्त होनेवाली '(नायिका की) स्मृति' प्रधान हो जाती है और पूर्वोक्त उन्माद उसका उपस्कारक हो जाता है, अतः पुनरपि ऐसे उन्माद में अतिव्याप्ति न होने के लिये "सादृश्य द्वारा सिद्ध होनेवाला" यह विशेषण आवश्यक है।

लक्षण में "निश्चय" का एक होना अभीष्ट है—अर्थात् एक ही निश्चय को भ्रांति कहते हैं, भिन्न भिन्न अनेक निश्चयों को नहीं। अन्यथा जिन भ्रांतियों में अनेक ज्ञाता तथा

अनेक विशेषण हों और एक विशेष्य हो ऐसी भ्रांतियों के समूहरूप आगे कहे जानेवाले 'उल्लेखालंकार' में लक्षण की अतिव्याप्ति होगी। अतएव "निश्चय" पद में एकवचन लिखना सार्थक है।

उदाहरण

कनकद्रवकान्तिकान्तया मिलितं राममुदीक्ष्य रामया।
चपलायुतवारिदभ्रमान्ननृते चातकपोतकैर्वने॥

सोने के पानी की-सी कांति से कमनीय कामिनी से युक्त रामचंद्र को देखकर, जंगल में, चातकों के बच्चे, बिजली से युक्त मेघ के भ्रम से नाचने लगे।

यहाँ चातकों में रहनेवाले हर्ष को उपस्कृत (सुशोभित) करनेवाली होने के कारण चातकों की भ्रांति अलंकार है। इसी पद्य का उत्तरार्द्ध यदि

"परिफुल्लपतत्रपल्लवैर्ननृते चातकपोतकैर्वने।

अर्थात् पल्लवों के समान खिले हुए पंखोंवाले चातकों के बच्चे, जंगल में, प्रसन्न होने लगे।"

यों बना दिया जाय तो यही पद्य **भ्रांति-ध्वनि** का उदाहरण हो सकता है।

अप्पयदीक्षित का खंडन

१

अप्पयदीक्षित ने "भ्रांतिमान्" अलंकार का लक्षण यों लिखा है—

"कवि-संमत-सादृश्याद् विषये पिहितात्मनि ।
आरोप्यमाणानुभवो यत्र स 'भ्रान्तिमान्' मतः ॥"

इस लक्षण में "कवियों के अभिमत सादृश्य द्वारा सिद्ध होनेवाला उपमेय में उपमान का अनुभव जिस वाक्य-संदर्भ में हो वह वाक्य-संदर्भ 'भ्रांतिमान्' माना गया है" इस तरह 'भ्रांतिमान्' का लक्षण बनाकर रूपक में अतिव्याप्ति न होने के लिये उपमेय को "पिहितात्मनि (जिसका स्वरूप छिपा दिया गया हो)" यह विशेषण दिया गया है। (इस विशेषण से यह सिद्ध होता है कि—पूर्वोक्त अनुभव कवि की प्रतिभा से कल्पित होना चाहिए; क्योंकि वैसा न होने पर उसके द्वारा उपमेय का छिपाना नहीं बन सकता—अर्थात् उपमेय को उपमानरूप मानना रूपी भ्रम नहीं हो सकता ।) यह है अप्पयदीक्षित के कथन का सारांश ।

पर यह उचित नहीं। कारण, आपका लक्षण 'भ्रांतिमान् (भ्रांतिवाले वाक्य)' का है, अतः उसकी अतिव्याप्ति रूपक के वाक्य में ही होगी, रूपक में नहीं। और यदि यों माना जाय तो रूपक के वाक्य में उपमान के अनुभव (बोध) का वर्णन होता नहीं, किंतु उपमान का वर्णन होता है; उपमान का अनुभव तो उस वाक्य से उत्पन्न होता है; अतः आपके लक्षण की रूपक के वाक्य में अतिव्याप्ति होती ही नहीं, फिर "पिहितात्मनि" यह विशेषण किस मर्ज की दवा है ?

अब यदि आप कहें कि—इस लक्षण वाक्य में "......अनुभव" शब्द तक का भाग 'भ्रांति' का लक्षण है और आगे का 'भ्रांतिमान् (भ्रांतिवाले वाक्य)' का। उनमें से 'भ्रांति' के लक्षण की रूपक में अतिव्याप्ति न होने के लिये उपमेय को "पिहितात्मनि" विशेषण दिया गया है; क्योंकि रूपक में कवि उपमेय को नहीं छिपाता—स्पष्ट शब्दों में लिखता है, किंतु भ्रांति में उसे छिपाता है। तो यह भी ठीक नहीं। कारण, भ्रांति का लक्षण है अनुभव 'तादृश' उसकी अनुभव में आनेवाले अभेदरूपी रूपक में किसी तरह प्रवृत्ति नहीं होती। सारांश यह कि—भ्रांति है अनुभव का नाम और रूपक है अनुभव में आनेवाले अभेद का नाम; फिर इन दोनों जुदी जुदी वस्तुओं की परस्पर अतिव्याप्ति कैसे हो सकती है ?

अब यदि आप यह कहकर कि—यहाँ 'रूपक' पद से हमने 'रूपक का बोध' अर्थ लिया है, और उसके अनुभवरूप होने से उसमें लक्षण की अतिव्याप्ति न होने के लिये "पिहितात्मनि" यह विशेषण दिया है—इस तरह ग्रंथ को किसी प्रकार बैठावें, तथापि "मरकतमणिमेदिनीधरो वा तरुणतरस्तरुरेष वा तमालः" इत्यादि पूर्वोक्त, विषयतावच्छेदक (रामत्व आदि) का अवगाहन न करनेवाले—अर्थात् 'शुद्ध', संदेह में अतिव्याप्ति होगी; क्योंकि वहाँ भी 'जिसका स्वरूप छिपाया गया है ऐसे उपमेय में उपमान का अनुभव होता है।'

आप कहेंगे—हम इस लक्षण का यह अर्थ करेंगे कि 'जहाँ केवल उपमेय का ही स्वरूप छिपाया गया हो वहाँ भ्रांति होती है', अतः संदेह में अतिव्याप्ति नहीं होती; क्योंकि वहाँ कोटियों को भी छिपाया जाता है—उनमें से भी किसी एक का निश्चय नहीं किया जाता। पर ऐसा मानने पर भी "तेरे मुँह को भौंरे कमल और चकोर चंद्रमा समझकर पीछे पीछे दौड़ते हैं" इस भ्रांतियों के समूहरूप उल्लेखालंकार में अतिव्याप्ति रहेगी। यदि आप कहें कि—यह उल्लेख है ही भ्रांति से मिश्रित, अतः यदि उसमें भ्रांति के लक्षण की अतिव्याप्ति हुई तो क्या बुराई है। पर ऐसा कह देने मात्र से उल्लेख में भ्रांति के लक्षण की अतिव्याप्ति कोई दोष नहीं यह नहीं कहा जा सकता। कारण, दूध के हिस्से और जल के हिस्से मिले रहते हैं, अतः दूध का लक्षण ऐसा नहीं बनाया जा सकता, जिसकी जल के हिस्से में अतिव्याप्ति हो जाय। सो अप्पयदीक्षित का यह लक्षण गड़बड़ ही है।

२

और जो अप्पयदीक्षित ने भिन्न भिन्न कर्त्ताओंवाली और एक के बाद दूसरे को होनेवाली 'भ्रांति' का यह उदाहरण दिया है—

"शिञ्जानैर्मञ्जरीति स्तन-कलशयुगं चुम्बितं चञ्चरीकै-
स्तत्त्रासोल्लासलीलाः किसलयमनसा पाणयः कीरदष्टाः।

तल्लोपायाऽऽलपन्त्यः पिकनिनदधिया ताडिताः काकलोकै-
रित्थं चोलेन्द्रसिंह ! त्वदरिमृगदृशां नाऽप्यरण्यंश रण्यम् ॥

गुंजारते भौंरों ने मंजरी समझकर कलशरूपी स्तन-युगल पर मुँह लगाया। भौंरों से भय उत्पन्न होने के कारण हाथ उसकी चेष्टा करने लगे, उन्हें पल्लव समझकर तोतों ने काट खाया। तोतों के हटाने के लिये बोलने लगीं तो कोयलों के नाद समझकर कौओं ने ताड़न करना शुरू किया। हे चोल-नरेशों में सिंह ! तुम्हारे शत्रुओं की मृग-नयनियों की रक्षा करने में वन भी उपकारक नहीं होता।"

इस पर विचार किया जाता है। प्रथम तो कलशरूपी स्तन-युगल में मंजरी का सादृश्य कवि-संप्रदाय-सिद्ध नहीं है कि उसे लेकर भौंरों की भ्रांति का वर्णन किया जाय। और यदि अन्य किसी दोष के कारण भौंरों को मंजरी की भ्रांति हुई हो तो वैसी भ्रांति अलंकाररूप होती नहीं—यह बात अभी थोड़े ही पहले निरूपण की जा चुकी है। स्तनरूपी धर्मी में कलश के रूपक का अनुवाद करके मंजरी की भ्रांति के रूप में लिखा गया अन्य अलंकार भी सहृदयों को उद्वेजित करनेवाला ही है। कारण, सादृश्यमूलक एक अलंकार में सादृश्यमूलक अन्य अलंकार शोभित नहीं होता; जैसे कि "मुख-कमलं तव चन्द्रवत् प्रतीमः—तेरे मुख-कमल को हम चंद्र-सा समझते हैं" इत्यादि में। यह बात पहले ही निवेदन की जा चुकी है। प्रत्युत कलश के रूपक द्वारा मंजरी के

सादृश्य का तिरस्कार हो जाता है—अर्थात् कलश के समान मानो तो मंजरी के समान कैसे कह सकते हो ?

यह तो हुई पहले चरण की बात। अब दूसरा चरण लीजिए। दूसरे चरण में "कीरदष्टा:" पद में 'विधेयाविमर्श' दोष है, अत: अन्य किसी विधेय की आकांक्षा होती है। वस्तुत: यहाँ "कीरैर्दष्टा:" ऐसा होना चाहिए। यदि "कीरदष्टा:" के साथ "जाता:" पद का अध्याहार करें तब भी जिस "काट खाने" का विधान करना चाहते हो वह विधेय नहीं रहेगा और जिसे विधान नहीं करना चाहते वह "जाता:" पद का अर्थ विधेय हो जायगा।

इसी तरह तीसरे चरण में—प्रथम तो "कोयलों के नाद" कौओं के ताड़न करने योग्य नहीं—क्या कोई नादों की भी ताड़ना कर सकता है कि जिससे उनकी समझ के कारण बोलनेवालियों को पीटा जाय ? और न बोलनेवालियों में कोयलों के नाद का भ्रम ही हो सकता है; क्योंकि नाद करनेवाली और नाद एक वस्तु नहीं। यदि किसी दोष के कारण ऐसा भ्रम मान भी लो तो वह सादृश्यमूलक नहीं हो सकता और तब उसे भ्रांति-अलंकार नहीं कहा जा सकता। वास्तव में यहाँ "**पिकनिकरधिया** (कोयलों का झुंड समझ-कर)" पाठ होना चाहिए। आप कहेंगे—स्त्रियों के बोलने में कोयलों के नाद के ज्ञान का भी, स्त्रियों में कोयलों का ज्ञान उत्पन्न करने द्वारा, ताड़ना में उपयोग हो सकता है। इस

कारण "पिकनिनदधिया" यहाँ जो तृतीया विभक्ति है उसका अर्थ करेंगे "प्रयोज्यता (सिद्ध होना)" और तब उस वाक्य का "कोयलों के नाद का ज्ञान जिसका निमित्त है ऐसी कौओं द्वारा की जानेवाली ताड़ना का कर्म बोलनेवाली" यह अर्थ सहज में ही प्रतिपादन किया जा सकता है, अतः कोई बाधा नहीं। पर ऐसा न कहिए; क्योंकि ऐसी प्रतीति सिद्ध नहीं हो सकती। कारण, "**चोरबुद्ध्या हतः साधुः**—चोर समझकर साधु मार डाला गया" इत्यादि में 'चोर का समझना' और 'मार डालना' इन दोनों के एक आधार में रहने के कारण यह व्युत्पत्ति माननी पड़ती है कि इन दोनों का कार्य-कारणभाव है। तात्पर्य यह कि 'जिसे चोर समझा गया उसे मारा गया' इस तरह इन दोनों बातों के एक आधार में होने के कारण पूर्वोक्त वाक्य की यह व्युत्पत्ति समझ पड़ती है कि 'चोर समझना' मारने का कारण है और 'मारना' चोर समझने का कार्य। इसी तरह "दन्तिबुद्ध्या हतः शूरैर्वराहो वनगोचरः—वीरों ने जंगली सूअर को हाथी समझकर मार डाला" इस वाक्य में भी 'सूअर में रहनेवाली हाथी (होने) की समझ' 'सूअर में रहनेवाले मारे जाने (सूअर के मारे जाने)' का कारण है—यह समझा जा सकता है। परंतु आपके हिसाब से तो "दन्तिबुद्ध्या" की जगह "दन्तबुद्ध्या (दाँत समझकर)" कर देने से बेचारे बोध की मट्टी पलीद होगी। सारांश यह कि—धर्मी (कोयल आदि) के विषय

में भ्रम होने के लिये धर्म (नाद आदि) का बोध शाब्दबोध की प्रक्रिया के अनुसार कार्य-कारण-भाव को नहीं समझा सकता। अतः "पिकनिनदधिया" यह हेतु ताड़न करने में असंगत ही है।

इसके अतिरिक्त एक बात और है—कोयलों का शब्द "कूजित = कूजना" आदि शब्दों से वर्णन किया जाता है "निनद = नाद" आदि शब्दों से नहीं, जो कि सिंह और नगाड़े आदि के शब्दों के लिये प्रयोग करने योग्य है।

वैसे ही प्रथम और द्वितीय चरण में आए "स्तनों" और "हाथों" के साथ, दूर होने पर भी तथा दूसरे शब्द (शरण्यम्) के साथ अन्वित हो चुकने पर भी, (चतुर्थ चरण का) "मृग-दृशाम्" यह षष्ठ्यंतपद अन्वित हो सकता है; पर तीसरे चरण में आए "आलपन्त्यः" इस प्रथमांत विशेषण के साथ विशेष्यरूप से उस पद का अन्वय नहीं हो सकता। अतः इस विशेषण के साथ 'मृगनयनियों' की तटस्थता ही हो जाती है—वह उनके साथ किसी तरह नहीं जुड़ सकता। इतने पर भी यदि आप विभक्ति बदलकर अन्वय कर भी दें, तथापि 'प्रक्रमभंग (दो पादों में विशेषणों का षष्ठ्यंत होना और एक में प्रथमांत होना)' एवं ऊदड़खादड़पन फिर भी रह ही जाता है। अतः यह पद्य किसी अव्युत्पन्न का बनाया हुआ ही है। दीक्षितजी ने 'भ्रांति-अलंकार' के अंशमात्र को लेकर इसे उदाहरण में रख दिया है। (पर वास्तव में ऐसे व्युत्पन्न

मनुष्य के लिये ऐसा उदाहरण देना उचित नहीं था—इति भाव:) ।

अलंकार-सर्वस्वकार का खंडन

'अलंकार-सर्वस्वकार' ने "भ्रांतिमान्" का लक्षण लिखा है—

"सादृश्याद्वस्त्वन्तरप्रतीतिर्भ्रान्तिमान् ।

अर्थात् सादृश्य के कारण अन्य वस्तु की प्रतीति 'भ्रांतिमान्' अलंकार कहलाता है ।"

सो यह लक्षण नहीं हो सकता । कारण, इस लक्षण की, पूर्वोक्त 'संदेहालंकार' और आगे वर्णन की जानेवाली 'उत्प्रेक्षा' में अतिव्याप्ति होती है, क्योंकि प्रतीतिरूप तो संदेह और संभावना भी है । यदि आप कहें कि—"प्रतीति शब्द का अर्थ यहाँ 'निश्चय' है—केवल ज्ञान नहीं, अत: यह दोष नहीं रहता; तथापि रूपक के बोध में अतिव्याप्ति होगी । आप कहेंगे—इस अतिव्याप्ति की निवृत्ति के लिये 'निश्चय' के साथ "विषयतावच्छेदक (मुखत्व आदि) का ग्रहण न करनेवाला" यह विशेषण लगावेंगे, तो लगाइए, पर तब भी अतिशयोक्ति के बोध में तो अतिव्याप्ति को कोई निवारण कर नहीं सकता । अब यदि आप 'निश्चय' के साथ "अनाहार्य" विशेषण लगावें तो फिर हमारे ही लक्षण में जाकर आपके लक्षण की

भी समाप्ति होती है। सो अलंकारसर्वस्वकार के लक्षण में इतनी न्यूनता है ही।

और इतना सब करने पर भी यह लक्षण "भ्रांतिमान्" का नहीं, किंतु "भ्रांति" का हुआ, अतः "मतुब् (मान्)" का अर्थ फिर भी असंगत ही रहा।

समान धर्म के विषय में विचार

'भ्रांतिमान्' में भी समान धर्म पूर्ववत् ही अनेक प्रकार का रहता है। उनमें से "कनकद्रवकान्तिकान्तया......" इस उदाहरण में "सीता" और "बिजली" में **बिंब-प्रतिबिंब-भाव** है और "युत" तथा "मिलित" में शुद्ध सामान्यरूपता (अर्थात् **वस्तुप्रतिवस्तुभाव**) है।

रामं स्निग्धतरश्यामं विलोक्य वनमण्डले।
धाराधरधिया धीरं नृत्यन्ति स्म शिखावलाः॥

अत्यंत स्निग्ध श्यामवर्णवाले रामचंद्र को देखकर, वनप्रदेश में, मोर, मेघ समझने के कारण, मंद मंद नाचने लगे। यहाँ "स्निग्धता" और "श्यामता" दो धर्म अनुगामी हैं।

इति भ्रांतिमान् समाप्त।

अथ उल्लेखालंकार

उल्लेख नं० १

लक्षण

एक वस्तु का, निमित्तों के अधीन होकर, अनेक ज्ञाताओं द्वारा अनेक प्रकार का ज्ञान 'उल्लेख' कहलाता है।

लक्षण का विवेचन

अधरं बिम्बमाज्ञाय मुखं पद्मं च तन्वि ! ते।
कीराश्च चञ्चरीकाश्च विन्दन्ति परमां मुदम् ॥

हे कृशांगि ! तुम्हारे अधर को बिंबफल और मुख को कमल समझकर तोते और भौंरे परम आनंद को प्राप्त हो रहे हैं।

इस पद्य में प्रतिपादित, तोतों और भौंरों द्वारा अधर और मुख के 'बिंबफल' और 'पद्म' समझने रूपो, भ्रांति में अतिव्याप्ति न होने के लिये लक्षण में "एक वस्तु का" यह भाग लिखा गया है।

"धर्मस्याऽऽत्मा भागधेयं क्षमायाः......(यह राजा धर्म का आत्मा है, क्षमा का भाग्य है)" इत्यादि पूर्वोक्त मालारूपक में अतिव्याप्ति न होने के लिये लक्षण में "अनेक ज्ञाताओं

द्वारा" यह भाग लिखा गया है। पर यहाँ बहुवचन कहना अभीष्ट नहीं—अर्थात् दो ज्ञाता* हों तब भी उल्लेख हो सकता है।

नृत्यत्त्वद्वाजिराजिप्रखरखुरपुटप्रोद्धतैर्धूलिजालै-
रालोकालोकभूमीधरमतुलनिरालोकभावं प्रयाते।
विश्रान्तिं कामयन्ते रजनिरितिधिया भूतले सर्वलोकाः
कोकाः क्रन्दन्ति शोकानलविकलतया किञ्च नन्दन्त्युलूकाः॥

(हे राजन्!) आपके घोड़ों की कतार के कठोर खुर-पुटों से उड़ते रज-समूहों द्वारा, 'लोकालोक' पर्वत पर्यंत (अर्थात् सारे जगत् में), ऐसा प्रकाश का अभाव हो गया कि जिसकी तुलना नहीं हो सकती। अतः रात है—यह समझ-कर पृथ्वी-तल पर सब लोग विश्राम चाह रहे हैं, शोकानल से विकल होने के कारण चकवे कराह रहे हैं और उल्लू प्रसन्न हो रहे हैं।

यहाँ रज-समूह-रूपी एक वस्तु का अनेकों—लोग, चकोर और उल्लुओं द्वारा एक ही—रात्रित्व-रूपी—प्रकार से ग्रहण (ज्ञान) है। इसमें अतिव्याप्ति न होने के लिये लक्षण में "अनेक प्रकार का" यह ज्ञान का विशेषण दिया गया है।

"ज्ञान" शब्द से लक्षण में 'ज्ञान का समुदाय' कहना अभीष्ट है; क्योंकि अनेक ज्ञाताओं द्वारा एक ज्ञान प्रसिद्ध नहीं

* याद रखिए, संस्कृत में तीन से कम के लिये बहुवचन नहीं आता।

है—उपाधिभेद से ज्ञान का भेद होना ही चाहिए। आप कहेंगे—तब फिर 'ज्ञान' शब्द में एकवचन क्यों लिखा गया? तो इसका उत्तर यह है कि—एक जाति की अनेक वस्तुओं के लिये एकवचन का व्याकरण में विधान है, वही एकवचन यहाँ है। अतः इस एकवचन द्वारा दो अथवा दो से अधिक ज्ञानों का ग्रहण हो सकता है।

"निमित्तों के अधीन होकर" यह लक्षण का भाग तो केवल वस्तु-कथन है—अर्थात् यह विशेषण अतिव्याप्ति अव्याप्ति मिटाने के लिये नहीं, किंतु ज्ञान का स्वरूप समझाकर उसे स्पष्ट कर देने के लिये है।

उदाहरण

नरैर्वरगतिप्रदेत्यथ सुरैः स्वकीयापगे-
त्युदारतरसिद्धिदेत्यखिलसिद्धसंघैरपि।
हरेस्तनुरिति श्रिता मुनिभिरस्तसंगैरियं
तनोतु मम शन्तनोः सपदि शन्तनोरङ्गना॥

मनुष्यों द्वारा उत्तम गति देनेवाली समझकर, देवताओं द्वारा अपनी नदी समझकर, सभी सिद्ध-समूहों द्वारा बड़ी भारी सिद्धि देनेवाली समझकर और आसक्तिरहित मुनियों द्वारा भगवान् का स्वरूप समझकर आश्रय की हुई यह शांतनु की पत्नी (श्री गंगा) मेरे शरीर का कल्याण करे।

यहाँ "लाभ की इच्छा" और "रुचि" इन दो निमित्तों से, अनेक ज्ञाताओं द्वारा किया गया "उत्तम गति देनेवाली होना" आदि अनेक प्रकार के ज्ञान को समुदाय, गंगाजी के विषय में होनेवाले प्रेमरूपी भाव का सुशोभित करनेवाला है। इस उदाहरण में यह उल्लेखालंकार शुद्ध (अन्य अलंकार से अमिश्रित) ही है; कारण, यहाँ रूपक आदि का मिश्रण नहीं है।

मिश्रित उल्लेखालंकार भी देखा जाता है; जैसे—

आलोक्य सुन्दरि ! मुखं तव मन्दहासं
नन्दन्त्यमन्दमरविन्दधिया मिलिन्दाः ।
किञ्चाऽऽलि ! पूर्णमृगलाञ्छनसंभ्रमेण
चञ्चूपुटं चपलयन्ति चिरं चकोराः ॥

हे सुंदरि ! तुम्हारे मंदहास-युक्त मुख को देखकर भौंरे कमल समझकर अत्यंत प्रसन्न होते हैं; और हे सखि ! चकोर, पूर्ण चंद्रमा के भ्रम से, बहुत समय तक चोंचें चंचल करते रहते हैं।

यहाँ एक एक ज्ञान के रूप में 'भ्रांति' है। उस भ्रांति से ऐसे ज्ञानों का समुदाय रूप उल्लेखालंकार मिश्रित है। तात्पर्य यह कि इस उल्लेख में 'भ्रांतिमान्' का मिश्रण है।

वनितेति वदन्त्येतां लोकाः सर्वे वदन्तु ते ।
यूनां परिणता सेयं तपस्येति मतं मम ॥

इसे सब लोग 'स्त्री' कहते हैं। वे भले ही कहें, पर मेरा मत तो यह है कि—युवकों की तपस्या इस रूप में परिणत हुई है।

यहाँ उपमेयतावच्छेदक (स्रोत्व) को दूसरों का माना हुआ बताने के कारण उसका उपन्यास निषेध करने के लिये हुआ है, अत: यह उल्लेख अपह्नुति से मिश्रित है।

अप्पय दीक्षित का खंडन

अप्पयदीक्षित तो कहते हैं—"यदि ऐसा करने पर भी

'कान्त्या चन्द्रं विदुः केचित्सौरभेणाम्बुजं परे।
वक्त्रं तव वयं ब्रूमस्तपसैक्यं गतं द्वयम्॥

नायक नायिका से कहता है—तुम्हारे मुख को कुछ लोग कांति के कारण चंद्रमा कहते हैं, दूसरे लोग सुगंध के के कारण कमल कहते हैं; पर हम तो कहते हैं कि—तप करके दोनों एकता को प्राप्त हो गए हैं—अत: तुम्हारा मुख उन दोनों का मिश्रण रूप है।'

इस अपह्नुति के उदाहरण में अतिव्याप्ति की शंका होती हो तो "अनेक प्रकार के उल्लेखन (ज्ञान)" के साथ (लक्षण में) "निषेध से स्पर्श न किया हुआ" यह विशेषण और लगा देना चाहिए। इस पद्य में पहले दो 'उल्लेखनों' का दूसरे के मत के रूप में उपन्यास होने के सामर्थ्य से निषेध अभिव्यक्त होता है। सो वैसा कर देने से यहाँ अतिव्याप्ति न होगी।"

पर यह ठीक नहीं। क्योंकि आपने स्वयं ही "यह उल्लेख दो प्रकार का है—शुद्ध और अन्य अलंकारों से

मिश्रित" यह कहकर लिखा है कि—"श्रीकंठ देश के वर्णन में 'जिसे मुनि लोग तपोवन समझते थे' इत्यादि में शुद्ध उल्लेख है और 'शत्रु लोग यमराज का नगर समझते थे, शरणागत वज्र का पिंजरा समझते थे' इत्यादि में भ्रांति, रूपक आदि से मिश्रित है।" ऐसी दशा में उपर्युक्त पद्य में अपह्नुति से मिश्रित उल्लेख अनायास ही कहा जा सकता है—यह कहाँ का न्याय है कि उल्लेख अन्य अलंकारों से मिश्रित होने पर भी केवल अपह्नुति से मिश्रित नहीं हो सकता। अतः यह सब कथन मिथ्या है।

और यदि आप ऐसी अपह्नुति के निवारण के लिये "निषेध से स्पर्श न किया हुआ" विशेषण लगाते हैं तो

"कपाले मार्जारः पय इति कराँल्लेढि शशिन-
स्तरुच्छिद्रप्रोतान् बिसमिति करी संकलयति।
रतान्ते तल्पस्थान् हरति वनिताऽप्यंशुकमिति
प्रभामत्तश्चन्द्रो जगदिदमहो विभ्रमयति॥

कपाल में स्थित चंद्र-किरणों को दूध समझकर बिलाव चाट रहा है, वृक्ष के छिद्रों में पुही हुई उन्हें मृणाल समझकर हाथी इकट्ठी कर रहा है और शय्या पर गिरी हुई उनको साड़ी समझकर, सुरत के अंत में, कामिनी भी उठा रही है। ओह! प्रभा से मत्त चंद्रमा इस जगत् को भ्रांत बना रहा है।"

इस आपकी उदाहृत भ्रांति में उल्लेख की अतिव्याप्ति कैसे मिटाई जा सकती है? कारण, बिलाव आदि अनेक ज्ञाताओं द्वारा अनेक प्रकार का उल्लेखन यहाँ भी है, और अपने अपने प्रिय आहार (आदि) के लाभ की इच्छा रूप निमित्त का भेद भी है। (आश्चर्य है कि—मिश्रित भ्रांति को तो आपने भ्रांति का प्रधान उदाहरण बताया है और मिश्रित उल्लेख के निवारण के लिये प्रयास कर रहे हैं।) सो मिश्रित उल्लेख के निवारण का प्रयत्न व्यर्थ ही है—जब उल्लेख मिश्रित होता ही है तो फिर उसे हटाने की क्या आवश्यकता है?

संदेह से मिश्रित उल्लेख; जैसे—

भानुरग्निर्यमो वाऽयं बलिः कर्णोऽथवा शिबिः।
प्रत्यर्थिनश्चार्थिनश्च विकल्पन्त इति त्वयि॥

(हे राजन्!) आपके विषय में शत्रु इस तरह के विकल्प करते हैं कि—यह सूर्य है, अग्नि है अथवा यम है। और याचक इस तरह के विकल्प करते हैं कि—यह बलि* है, कर्ण है अथवा शिबि है।

यहाँ दो ज्ञानों (शत्रुओं और मित्रों के) में से प्रत्येक संदेह रूप है (क्योंकि प्रत्येक में परस्पर विरुद्ध अनेक कोटियाँ वर्णित हैं) और समुदाय तो उल्लेखरूप है।

---

* ये तीनों राजा बड़े दानी हो गए हैं।

उल्लेख के अन्य भेद

जब किसी वस्तु के केवल स्वरूपमात्र का उल्लेख हो तब **स्वरूपोल्लेख** होता है, जो कि पहले ही निरूपण किया जा चुका है।

जब फलों (प्रयोजनों) का उल्लेख हो तब **फलोल्लेख** होता है; जैसे—

अर्थिनो दातुमेवेति त्रातुमेवेति कातराः।
जातोऽयं हन्तुमेवेति वीरास्त्वां देव ! जानते ॥

हे देव ! याचक लोग जानते हैं कि आप देने ही के लिये उत्पन्न हुए हैं, कायर लोग जानते हैं कि आप रक्षा करने ही के लिये उत्पन्न हुए हैं, और वीर लोग जानते हैं कि आप मारने ही के लिये उत्पन्न हुए हैं।

हेतुओं का उल्लेख होने पर **हेतूल्लेख** होता है; जैसे—

हरिचरणनखरसंगादेके हरमूर्धसंस्थितेरन्ये।
त्वां प्राहुः पुण्यतमामपरे सुरतटिनि ! वस्तुमाहात्म्यात् ॥

हे गंगे ! आपको कुछ लोग भगवान् के चरण-नख के संग के कारण, दूसरे लोग शिवजी के शिर पर रहने के कारण और अन्य लोग वस्तु के माहात्म्य के—अर्थात् आप हैं ही ऐसी वस्तु, इस—कारण अत्यन्त पवित्र कहते हैं।

उल्लेख नं० २

लक्षण

'उल्लेख' एक अन्य प्रकार से भी देखने में आता है। वह वहाँ होता है—

जहाँ ज्ञाताओं के अनेक न होने पर भी विषय, आश्रय अथवा साथ रहनेवाले आदि संबंधियों में से किसी की अनेकता के कारण एक वस्तु के अनेक प्रकार हों।

यह उल्लेख भी दो प्रकार का है—शुद्ध और अन्य अलंकार से मिश्रित। **शुद्ध उल्लेख** (नं० २); जैसे—

दीनव्राते दयार्द्रा सकलरिपुकुले निर्दया, किञ्च मृद्वी
काव्यालापेषु, तर्कप्रतिवचनविधौ कर्कशत्वं दधाना।
लुब्धा धर्मेष्वलुब्धा वसुनि, परविपद्दर्शने कान्दिशीका
राजन्नाजन्मरम्या स्फुरति बहुविधा तावकी चित्तवृत्तिः॥

हे राजन्! दीनों के समूह पर दया से भीनी, समग्र शत्रु-समूह पर निर्दय, काव्यों की बातचीत में कोमल, तर्कों के उत्तर देने में कठोरता धारण करनेवाली, धर्म में लोभयुक्त, द्रव्य में लोभरहित और अन्य की आपत्ति देखने में अति भीरु आपकी सहज-सुंदर चित्तवृत्ति अनेक प्रकार से स्फुरित हो रही है।

यहाँ "दीनों के समूह" आदि **विषयों के अनेक होने** से (एक ही) चित्तवृत्ति अनेक प्रकार की हो गई है। यह उल्लेखालंकार राजा के विषय में कवि के प्रेमरूपी भाव को शोभित करनेवाला है। यद्यपि चित्तवृत्तियों के विभिन्न होने के कारण उनकी व्यक्तिगत रूप से एकता नहीं है, तथापि चित्त-वृत्तित्वरूपी सामान्य धर्म को लेकर उन्हें एक कहना अभीष्ट है।

अथवा जैसे—

कातराः परदुःखेषु निजदुःखेष्वकातराः।
अर्थेष्वलोभा यशसि सलोभाः सन्ति साधवः॥

दूसरों के दुःखों में कायर और अपने दुःखों में निडर, द्रव्य में लोभरहित और यश में लोभसहित ऐसे सत्पुरुष (आज भी) हैं।

'सत्पुरुष हैं' इस वाक्य के द्वारा यह बात अभिव्यक्त होती है कि—'वे मर गए तब भी नहीं मरे और अन्य नहीं मरे तब भी मरे ही हैं' और इस अभिव्यक्त वस्तु द्वारा सत्पुरुषों का एक प्रकार का उत्कर्ष अभिव्यक्त होता है। यहाँ भी उल्लेख उस उत्कर्ष का परिपोष करनेवाला है, अतः अलंकार-रूप है।

अथवा जैसे—

तुषारास्तापसव्राते तामसेषु च तापिनः।
दृगन्तास्ताडकाशत्रोर्भूयासुर्मम भूतये॥

तपस्वियों के समूह पर शीतल और तामस लोगों को तपानेवाले ऐसे श्रीरामचंद्र के कटाक्ष मेरे अभ्युदय के लिये हों।

पूर्वोक्त दोनों पद्यों में विषयों की अनेकता के कारण वस्तु अनेक प्रकार की हुई है और इस पद्य में **आश्रय की अनेकता** के कारण कटाक्ष अनेक प्रकार के हुए हैं।

विद्वत्सु विमलज्ञाना विरक्ता यतिषु स्थिताः।
स्वीयेषु तु गरोद्गारा नानाकाराः क्षितौ खलाः॥

विद्वानों में निर्मल ज्ञानवाले, संन्यासियों में विरक्त और स्वजनों में जहर उगलनेवाले, इस तरह, पृथ्वी पर, दुष्ट लोग अनेक आकार धारण किये हुए हैं।

यहाँ विद्वान् आदि सहचरों के भेद के कारण खल अनेक प्रकार के बताए गए हैं। इसी तरह अन्य संबंधियों के भेद में भी तर्कना कर लेनी चाहिए।

मिश्रित उल्लेख (नं० २); जैसे—

गगने चन्द्रिकायन्ते हिमायन्ते हिमाचले।
पृथिव्यां सागरायन्ते भूपाल ! तव कीर्त्तयः॥

हे राजन् ! आपकी कीर्त्तियाँ आकाश में चन्द्रिका सी, हिमालय में बरफ सी और पृथ्वी पर समुद्र सी हो रही हैं।

यहाँ ऊपर से प्रतीत होनेवाली उपमा, पर अंततः सिद्ध होनेवाली उत्प्रेक्षा, से उल्लेख मिश्रित है।

उपरि करवालधाराकाराः क्रूरा भुजङ्गमपुङ्गवात्* ।
अन्तः साक्षाद् द्राक्षादीक्षागुरवो जयन्ति केऽपि जनाः ॥

ऊपर से तलवार की धार के से आकारवाले तथा सर्पराज से भी क्रूर, पर अंदर साक्षात् अंगूरों को भी दीक्षा देनेवाले गुरु (अत्यंत मधुर और कोमल) ऐसे कुछ पुरुष सर्वोत्कृष्ट हैं।

यहाँ **उपमा** ('धार के से आकारवाले'), **व्यतिरेक** ('सर्पराज से भी क्रूर'), इन दोनों के **समुच्चय** और (गम्य) **उत्प्रेक्षा** इतने अलंकारों से मिश्रित उल्लेख है।

यमः प्रतिमहीभृतां हुतवहोऽसि तन्नीवृतां
सतां खलु युधिष्ठिरो धनपतिर्धनाकाङ्क्षिणाम् ।
गृहं शरणमिच्छतां कुलिशकोटिभिर्निर्मितं
त्वमेक इह भूतले बहुविधो विधात्रा कृतः ॥

हे राजन् ! शत्रु-राजाओं के लिये यम, उनके देशों के लिये अग्नि, सत्पुरुषों के लिये युधिष्ठिर, धन चाहनेवालों के लिये कुबेर और रक्षा चाहनेवालों के लिये वज्र की नोकों से बनाया हुआ भवन; इस तरह एक ही तुझे विधाता ने पृथ्वी-तल पर अनेक प्रकार का बनाया है।

---

* आर्या छंद के विषमस्थानों में जगण नहीं होता, पर यहाँ सप्तम स्थान में जगण है; अतः यह आर्या का पूर्वार्द्ध छंदोभंग से दूषित है।
—काव्यमालासंपादक।

इस पद्य में कवि ने अपने स्वरूप में विद्यमान राजा को 'यम' आदि रूपों में बताया है अतः **रूपक** से, शत्रु-राजा आदि को इसके आने पर 'यम' आदि की भ्रांति का भी संभव है अतः ***भ्रांतिमान्** से, और शत्रु-राजा आदि अनेक ज्ञाताओं द्वारा 'यम होने' आदि अनेक धर्मों से उल्लेखन (ज्ञान) होने के कारण **उल्लेख*** (नं० १) के (प्रथम) भेद से—इतने अलंकारों से—मिश्रित उल्लेख है, जिसमें कि "प्रतिमहीभृताम्" आदि षष्ठ्यंत संबंधियों के (क्योंकि षष्ठी विभक्ति संबंध-अर्थ में होती है) भेद के कारण वर्णनीय राजा का अनेक प्रकार से होना वर्णित है।

---

* नागेश कहते हैं—इस भेद को 'भ्रांतिमान्' और उल्लेख नं० १ के प्रथम भेद से मिश्रित बताना उचित नहीं। कारण, एक तो यम आदि की भ्रांति राजा के उत्कर्ष के विरुद्ध है, दूसरे यहाँ उल्लेख (नं० १) भी नहीं; क्योंकि उसके लक्षण में ज्ञान-पर्यंत का समावेश होने के कारण 'यम' आदि के ज्ञान का वर्णन होने पर ही वह उल्लेख हो सकता है। अतः शब्द द्वारा, और नियमतः अभिव्यक्त करनेवाली सामग्री के अभाव के कारण अर्थ द्वारा भी वैसे उल्लेख का बोध संभव नहीं। इससे यह भी सिद्ध हुआ कि— भ्रांति भी एक प्रकार का ज्ञान ही है, अतः शब्द द्वारा अथवा अर्थ द्वारा ज्ञान का वर्णन न होने के कारण भी भ्रांति का संभव नहीं।

परंतु शत्रु-राजा आदि को प्रकृत राजा में यम आदि की भ्रांति होना कैसे उत्कर्षक नहीं है, यह नागेश ही जानें। —सं०।

दोनों उल्लेखों का पृथक्करण

यहाँ यह बात समझ लेने की है—

पहले निरूपण किए गए 'उल्लेख' के भेद (नं० १) जैसे—

"जिसे वैष्णव महाविष्णु कहते हैं, याज्ञिक यज्ञपुरुष कहते हैं, चार्वाक स्वभाव कहते हैं, वेदांती ब्रह्म कहते हैं वह आदिपुरुष हरि यह है।"

इत्यादिक में उन उन ज्ञाताओं द्वारा उस उस प्रकार के ज्ञान-समूह का चमत्कार उत्पन्न करना अनुभव-सिद्ध है। अत: ज्ञान-समूह अलंकार रूप है। और उल्लेख के दूसरे भेद (नं० २) जैसे—

"जो शिष्टों के लिये दयायुक्त है, दुष्टों के लिये भयंकर है।"

इत्यादि में उन उन विषयों के भेद से भिन्न होनेवाला केवल प्रकारों का समूह ही अलंकार रूप है। ज्ञान का अंश यद्यपि विद्यमान है तथापि वह अलंकार नहीं कहा जा सकता; कारण, उसका चमत्कारी रूप में अनुभव नहीं होता। और यह बात तो सिद्ध ही है कि—उपमा आदि का अलंकार होना केवल चमत्कार के कारण है, जो चमत्कारी न हो उसे अलंकार नहीं माना जा सकता। सारांश यह कि—उल्लेख नं० १ में ज्ञान-समूह को अलंकार माना गया है और उल्लेख नं० २ में प्रकार-समूह को। अतएव हमने दूसरे उल्लेख का लक्षण "विषय आदि में से किसी एक की अनेकता के कारण एक वस्तु के अनेक प्रकार होना" यों बनाया है।

इस बात को सिद्धांत मानकर यह कहा जाता है कि—उल्लेख के सामान्य लक्षण का अवच्छेदक धर्म है "इन दोनों लक्षणों में से कोई भी एक होना"। सारांश यह कि—इन दोनों लक्षणों में से किसी भी एक लक्षण के होने पर "उल्लेख" कहा जा सकता है।

पर अन्य विद्वान् कहते हैं—यह गड़बड़ ठीक नहीं। दोनों ही भेदों में "वर्णनीय के अंदर रहनेवाले के रूप में भासित होनेवाला प्रकारों का समूह ही उल्लेख है"। अत: अलग अलग दो लक्षणों की आवश्यकता नहीं। सारांश यह कि—पहले भेद में भी प्रकार-समूह को ही 'उल्लेख' मानना चाहिए, ज्ञान-समूह को नहीं।

उल्लेख की ध्वनि

अनल्पतापाः कृतकोटिपापा गदैकशीर्णा भवदुःखजीर्णाः।
विलोक्य गङ्गां विचलत्तरङ्गाममी समस्ताः सुखिनो भवन्ति॥

अत्यंत तापवाले, करोड़ों पाप करनेवाले, प्रधान रोगों से पीड़ित और संसार के दु:ख से जर्जरित, ये सब के सब—लहराती हुई गंगा को देखकर सुखी होते हैं।

यहाँ पूर्वार्ध में लिखे चारों देखनेवालों का 'सुखी होना' कहने से 'ताप, पाप, रोग और संसार का नाश करनेवाली होने' रूपी प्रकारों (विशेषणों) से युक्त ज्ञानों का आक्षेप होता है। अत: यह **शुद्ध उल्लेख (नं० १) की ध्वनि है।**

मिश्रित उल्लेख (नं० १) की ध्वनि; जैसे—

स्मयमानाननां तत्र तां विलोक्य विलासिनीम् ।
चकोराश्चञ्चरीकाश्च मुदं परतरां ययुः ॥

वहाँ मंदहासयुक्त मुखवाली उस विलासिनी को देखकर चकोर और भौंरे परम आनंद को प्राप्त हुए।

यहाँ एक एक ज्ञान के रूप में 'भ्रांति' ध्वनित होती है और उससे मिश्रित है उन दोनों भ्रांतियों का समूहरूप उल्लेख। आप कहेंगे—इस पद्य में तो भ्रांति का ही चमत्कार है, अतः उल्लेख छिपाया जा सकता है। पर ऐसा नहीं हो सकता। कारण, अनेक कर्ताओं द्वारा अनेक प्रकार का ज्ञान (अर्थात् उल्लेख), जिसका विषय अन्य अलंकारों से पृथक् है—अर्थात् जिसे उल्लेख के अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं कहा जा सकता, उसका चमत्कार यहाँ भी है।

उल्लेख (नं० २) की ध्वनि; जैसे—

भासयति व्योमगता जगदखिलं कुमुदिनीर्विकासयति ।
कीर्त्तिस्तव धरणिगता सगरसुतायासमफलतां नयति ॥

हे राजन्! आपकी कीर्त्ति आकाश में गई हुई सब जगत् को प्रकाशित कर रही है एवं कुमुदिनियों को विकसित कर रही है और पृथ्वी पर गई हुई सगर राजा के पुत्रों के परिश्रम को निष्फल कर रही है।

यहाँ आधार के भेद के कारण एक ही कीर्त्ति में "चाँदनी-पन" तथा "समुद्रपन" रूपी अनेक प्रकारवाली होना, रूपक से मिश्रित होकर ध्वनित होता है।

इति उल्लेख समाप्त

अथ अपह्नुति अलंकार

लक्षण

उपमेयतावच्छेदक ('मुखत्व' आदि) के निषेध को साथ रखते हुए आरोपित किया जानेवाला उपमान का ताद्रूप्य 'अपह्नुति' कहलाता है।

लक्षण का विवेचन

इस लक्षण में "......साथ रखते हुए" तक का भाग रूपक में अतिव्याप्ति न होने के लिये है। अपह्नुति में उपमेयतावच्छेदक का निषेध होता है, अतः उपमेयतावच्छेदक (मुखत्व आदि) और उपमानतावच्छेदक का विरोध प्रतीत होता है। और रूपक में तो उपमेयतावच्छेदक और उपमानतावच्छेदक के एक साथ रहने का बोध होता है, अतः विरोध निवृत्त हो जाता है।

उदाहरण

स्मितं नैतत् किन्तु प्रकृतिरमणीयं विकसितं
मुखं ब्रूते मूढः कुसुममिदमुद्यत्परिमलम्।

स्तनद्वन्द्वं मिथ्या कनकनिभमेतत् फलयुगं
लता रम्या सेयं भ्रमरकुलनम्या न रमणी ॥

यह मंदहास नहीं, किंतु स्वभाव-सुंदर विकास है। मूर्ख कहता है कि—मुख है; यह तो जिसमें से महक उठ रही है ऐसा पुष्प है। स्तनों की जोड़ी झूँठी है, यह तो सोने सी कांतिवाला फल-युगल है। अतः यह भ्रमर-समूह से नमाई जानेवाली सुंदर लता है, रमणी नहीं।

यह अपह्नुति समर्थ्य-समर्थक रूप में आए अवयवों का समूह होने के कारण **सावयव** है।

निरवयव अपह्नुति; जैसे—

श्यामं सितं च सुदृशो न दृशोः स्वरूपं
किन्तु स्फुटं गरलमेतदथाऽमृतं च।
नो चेत्कथं निपतनादनयोस्तदैव
मोहं मुदं च नितरां दधते युवानः ॥

श्याम और श्वेत सुनयनी के नयनों का स्वरूप नहीं है, किंतु स्पष्ट है कि यह जहर और अमृत है। क्योंकि यदि ऐसा न हो तो इनके गिरने से तत्काल ही युवा लोग मोह और आनंद को कैसे प्राप्त होते हैं ? क्योंकि यह विष तथा अमृत का ही काम है।

यहाँ प्रतिज्ञापूर्वक कहे पदार्थ से विपरीत मानने में बाधक (हेतु) बताया गया है, अतः यह **हेत्वपह्नुति** है।

अपह्नुति के भेद

अपह्नुति में 'नञ् (नहीं)' आदि के द्वारा साक्षात्, अथवा 'दूसरे के मत से सिद्ध होने' आदि के द्वारा कुछ व्यवधान से जब उपमेय का निषेध समझाया जाता है तब प्राय: वाक्य-भेद होता है—अर्थात् एक वाक्य में उपमेय का निषेध रहता है, दूसरे वाक्य में उपमान का ताद्रूप्य। और जब वही निषेध मिष, छल, छद्म, कपट, व्याज, वपु, आत्मा आदि शब्दों से समझाया जाता है तो दोनों बातें एक ही वाक्य में आ जाती है। इसके अतिरिक्त कहीं निषेध पहले रहता है, कहीं आरोप पहले। कहीं उपमान का ताद्रूप्य और उपमेय का निषेध इन दोनों में से एक शब्द द्वारा वर्णित होता है, दूसरा अर्थप्राप्त। कहीं दोनों शब्द द्वारा वर्णित होते हैं, कहीं अर्थप्राप्त। कहीं दोनों विधेय होते हैं, कहीं दोनों अनुवाद्य। इस तरह अनेक प्रकार हो सकते हैं। परंतु वे किसी खास विचित्रता को नहीं रखते अत: गिनने योग्य नहीं हैं।

इतने पर भी उनका केवल ढंग दिखाया जाता है। उदाहरण के लिये पूर्वोक्त 'सावयव अपह्नुति' के उदाहरण "स्मितं नैतत्........." को लीजिए। उसमें चार अवयव हैं। उनमें से पहले अवयव में निषेध पहले है (और आरोप पीछे) एवं निषेध और ताद्रूप्य दोनों शब्द द्वारा वर्णित और विधेय हैं तथा वाक्य-भेद है।

दूसरे अवयव में 'वक्ता में रहनेवाली मूर्खता' के कथन से प्रथमतः वक्ता के भ्रम का बोध होता है और इस व्यवधान को रखकर निषेध का बोध होता है, अतः निषेध अर्थप्राप्त है और ताद्रूप्य शब्द द्वारा वर्णित। विधेयता, वाक्य-भेद और निषेध का प्रथम होना—ये सब पहले अवयव की तरह हैं। (तीसरे अवयव में सब बातें दूसरे अवयव के समान हैं)।

चौथे अवयव में आरोप पहले है और निषेध पीछे। और निषेध-आरोप दोनों का शब्द द्वारा वर्णित होना, विधेय होना और वाक्यभेद ये सब पहले अवयव के समान ही हैं।

एक उदाहरण और लीजिए—

वदने विनिवेशिता भुजङ्गी पिशुनानां रसनामिषेण धात्रा।
अनया कथमन्यथाऽवलीढा न हि जीवन्ति जना मनागमन्त्राः॥

विधाता ने जीभ के मिष से चुगलखोरों के मुँह में सर्पिणी रख दी है। अन्यथा इसके चक्कर में आए लोग मंत्र (बचने के साधन) से रहित होकर जरा भी क्यों नहीं जीते।

यहाँ 'जीभ (उपमेय)' का निषेध और 'सर्पिणी (उपमान) का ताद्रूप्य एक वाक्य में आए हैं। दोनों अर्थप्राप्त और अनुवाद्य हैं। अनुवाद्य इसलिये कि न यहाँ निषेध विधेय है न ताद्रूप्य, किंतु "रखना" विधेय है। इसी तरह अन्य बातें भी सोच लीजिए।

प्रत्युदाहरण

अपह्नुति के लक्षण में "आरोपित किया जानेवाला" शब्द का अर्थ है 'आहार्य निश्चय का विषय किया जाना'—अर्थात् वह पदार्थ ऐसा होना चाहिए जिसके विषय में झूठा समझते हुए भी कल्पित निश्चय कर लिया गया हो। इससे यह सिद्ध हुआ कि—

संग्रामाङ्गणसंमुखाहतकियाद्विश्वम्भराधीश्वर-
व्यादीर्णीकृतमध्यभागविवरोन्मीलन्नभोनीलिमा।
अङ्गारप्रखरैः करैः कवलयन् सद्यो जगन्मण्डलं
मार्त्तण्डोऽयमुदेति केन पशुना लोके शशाङ्कीकृतः॥

रणांगण में सम्मुख मारे गए कितने ही राजाओं द्वारा विदीर्ण हुए मध्यभाग के छिद्र से आकाश की नीलिमा प्रकट हो रही है। उस नीलिमा से युक्त यह सूर्य अंगारों के समान कठोर किरणों से भुवन-मंडल को तत्काल भस्मसात् करता हुआ उदय हो रहा है। किस पशु ने इसे चंद्रमा न होते हुए भी जगत् में चंद्रमा कर दिया?

इस विरही के वाक्य में "यह चंद्रमा नहीं, किंतु छिद्र-सहित सूर्य है" यह तो अपह्नुति की छायामात्र है—अर्थात् अपह्नुति सा दिखाई देता है, अपह्नुति अलंकार नहीं है। कारण, यह ज्ञान एक प्रकार के दोष (विरह) से उत्पन्न

हुआ है, अतः 'आहार्य निश्चय' नहीं है। किंतु वक्ता को वैसा ही बोध हो रहा है, अतः 'भ्रांति अलंकार' ही है।

अलिर्मृगो वा नेत्रं वा यत्र किञ्चिद्विभासते।
अरविन्दं मृगाङ्को वा मुखं वेदं मृगीदृशः॥

जिसमें भौंरा, मृग अथवा नेत्र—कुछ दिखाई दे रहा है, यह कमल, चंद्रमा अथवा मृगनयनी का मुख है।

यहाँ "मुख है अथवा कमल ?" इस कवि में रहनेवाले आहार्य संदेह में मुख के निषेध के साथ जो कमल का ताद्रूप्य समझ में आता है वह निश्चय का विषय नहीं है (किंतु संदेह का है) अतः उसका संग्रह इस लक्षण से नहीं होता। आप कहेंगे—यहाँ उपमेय का निषेध किसी पद का अर्थ तो है नहीं—श्लोक के किसी पद से तो वैसा अर्थ निकलता नहीं। पर यह ठीक नहीं। यहाँ "वा" शब्द का अर्थ निषेध है—यदि कवि को मुख का निषेध अभीष्ट न होता (निश्चय अभीष्ट होता) तो 'अथवा' करके उसे लिखने की क्या आवश्यकता थी ?

पर्यस्तापह्नुति अपह्नुति नहीं है।

अप्पयदीक्षित का खंडन

अप्पयदीक्षित ने "कुवलयानंद" नामक ग्रंथ में अपह्नुति के भेद कहने के प्रसंग में "पर्यस्तापह्नुति" नामक भेद का निरूपण करते हुए कहा है।

"अन्यत्र तस्यारोपार्थः पर्यस्तापह्नुतिस्तु सः।
नाऽयं सुधांशुः किं तर्हि सुधांशुः प्रेयसीमुखम् ॥

उपमेय में उपमान का आरोप करने के लिये (उपमान के) अपह्नव को "पर्यस्तापह्नुति" कहते हैं; जैसे यह (आकाश में स्थित चंद्रमा) चंद्रमा नहीं है, तो फिर चंद्रमा क्या है ? प्रियतमा का मुख।"

इस पर विचार किया जाता है। इसे अपह्नुति का भेद कहना उचित नहीं। कारण, यह भेद अपह्नुति के सामान्य-लक्षण में नहीं आता। देखिए—

"प्रकृतं यन्निषिध्याऽन्यत्
साध्यते सा त्वपह्नुतिः।

(उपमेयमसत्यं कृत्वा उपमानं सत्यतया यत् स्थाप्यते साऽपह्नुतिः।)

अर्थात् उपमेय को झूठा करके जो उपमान को सच्चे रूप में स्थापित किया जाता है वह 'अपह्नुति' कहलाती है।"

इस 'काव्यप्रकाश' के लक्षण से यह भेद बाहर जाता है (क्योंकि इस भेद में उपमेय को नहीं, किंतु उपमान को झूठा ठहराया जा रहा है) यह तो स्पष्ट ही है।

इसी तरह "विषयापह्नवे वस्त्वंतरप्रतीतावपह्नुतिः—अर्थात् उपमेय के छिपाने पर अन्य वस्तु की प्रतीति को अपह्नुति कहते हैं।" यह 'अलंकार-सर्वस्व' में कहा लक्षण भी यहाँ प्रवृत्त नहीं होता। और—

"प्रकृतस्य निषेधेन यदन्यत्वप्रकल्पनम् ।
साम्यादपह्नुतिर्वाक्यभेदाभेदवती द्विधा ॥

उपमेय का निषेध करके, सादृश्य के कारण, अन्य होने की कल्पना को 'अपह्नुति' कहते हैं। वह वाक्य के भिन्न होने और एक होने द्वारा दो प्रकार की है।"

यह 'चित्र-मीमांसा' में लिखा हुआ उन (अप्पयदीक्षित) का लक्षण भी वैसा ही है—अर्थात् यहाँ प्रवृत्त नहीं होता।

अतः "नायं सुधांशुः किं तर्हि सुधांशुः प्रेयसीमुखम्" इस जगह दृढारोप रूपक ही होना उचित है, अपह्नुति नहीं। कारण, यहाँ उपमेयतावच्छेदक और उपमानतावच्छेक दोनों के एक साथ रहने का, बिना किसी गड़बड़ के, भान होता है—अर्थात् उपमान-उपमेय में विरोध नहीं भासित होता। यही बात "विमर्शिनी" में लिखी भी है—

"न विषं विषमित्याहुर्ब्रह्मस्वं विषमुच्यते ।
अत्र विषस्य निषेधपूर्वं ब्रह्मस्वविषये आरोप्यमाणत्वाद् दृढारोपं रूपकमेव, नाऽपह्नुतिः ।

अर्थात् 'जहर को जहर नहीं कहते, किंतु ब्राह्मण के धन को जहर कहते हैं' यहाँ प्रथमतः विष का निषेध कर अनंतर उसका 'ब्रह्मस्व'रूपी उपमेय में आरोप किया जा रहा है, अतः यहाँ **दृढारोप** (जिसमें आरोप दृढ़ कर दिया गया हो ऐसा) **रूपक** ही होना चाहिए, अपह्नुति नहीं।"

किंतु यदि आप कहें कि—'अलंकाररत्नाकर' की तरह मैंने भी प्राचीन मत की उपेक्षा करके इस भेद को अपह्नुति में ही गिना है, तो हम कहते हैं कि—आहार्य ताद्रूप्य का निश्चय तो अपह्नुति में भी वैसा ही है, अतः "अपह्नुति भी रूपक का ही भेद है" यह भी कह डालिए और प्राचीनों के संकोच का त्याग करिए—कह दीजिए कि वे इस विषय में कुछ समझे ही नहीं। पर ऐसा मान लेने पर भी 'चित्र-मीमांसा' में लिखे आपके अपह्नुति-लक्षण की तो इस उदाहरण में अव्याप्ति ज्यों की त्यों रही—उसका उत्तर तो आपके पास कुछ है नहीं।

और यदि "नायं सुधांशुः किं तर्हि सुधांशुः प्रेयसी-मुखम्" इस जगह 'पर्यस्तापह्नुति' कही जाती है तो उसी अपह्नुति में आपके बनाए 'चित्रमीमांसा'वाले

"बिम्बाविशिष्टे निर्दिष्टे विषये यद्यनिह्नुते।
उपरञ्जकतामेति विषयी रूपकं तदा॥"

(अर्थ लिखा जा चुका है।)

इस रूपक के लक्षण की अतिव्याप्ति वज्रलेप के समान हो जायगी। कारण, लक्षण में "अनिह्नुति (नहीं छिपाया हुआ)" यह विशेषण उपमेय का है, और प्रकृत उदाहरण में छिपाया गया है उपमान, न कि उपमेय, अतः रूपक के लक्षण को यहाँ से हटाने का कोई उपाय नहीं।

इतने पर भी "चित्र-मीमांसा में प्राचीनों के मत के अनुसार लक्षण है और कुवलयानंद में रत्नाकर आदि के अनुसार इस भेद को अपह्नुति कहा गया है इस तरह किसी प्रकार समाधान किया जा सकता है*··· ।"·········
·····················करना चाहिए। यह है संक्षेप।

अन्य भेद

अनल्पजाम्बूनददानवर्षं तथैव हर्षं जनयञ्जनेषु।
दारिद्र्यघर्मक्षपणक्षमोऽयं धाराधरो नैव धराधिनाथः॥

मनुष्यों में अत्यधिक सुवर्ण-दानरूपी वृष्टि एवं हर्ष उत्पन्न करनेवाला यह, दरिद्रता-रूपी गरमी के क्षय करने में समर्थ मेघ है, राजा नहीं।

यह अपह्नुति सावयव आरोपोंवाली है।

केवल आरोप ही अपह्नुति का साधक हो तो यह **अपह्नुति परंपरित** भी हो सकती है। जैसे—

मनुष्य इति मूढेन खलः केन निगद्यते।
अयं तु सज्जनाम्भोजवनमत्तमतङ्गजः॥

कौन मूर्ख 'दुष्ट' को मनुष्य कहता है। यह तो सज्जन-रूपी कमल-वन के लिये मत्त हाथी है—जो उसे तोड़-मरोड़-कर विनष्ट कर देता है।

---

* नागेश कहते हैं—इसके आगे कुछ भाग छूट गया है वह सभी पुस्तकों में दुर्लभ है

अपह्नुति की ध्वनि

दयिते ! रदनत्विषां मिषादयि! तेऽमी विलसन्ति केसराः ।
अपि चाऽलकवेषधारिणो मकरन्दस्पृहयालवोऽलयः ॥

अयि प्रिये ! तुम्हारी दंत-कांतियों के मिष से ये केसरे सुशोभित हो रहे हैं और अलकों का वेष धारण करनेवाले मकरंद के लोभी भौंरे सुशोभित हैं।

यहाँ "ये दंत की कांतियाँ नहीं हैं, किंतु केसरों की पंक्तियाँ हैं" और "ये अलक नहीं हैं, किंतु भौंरे हैं" ये दो अपह्नुतियाँ तो क्रमशः पूर्वार्ध और उत्तरार्ध द्वारा प्रकटतया निवेदन कर ही दी गई हैं। इन दोनों अपह्नुतियों द्वारा "तू स्त्री नहीं, किंतु कमलिनी है" यह तीसरी अपह्नुति, व्यंजना वृत्ति से, प्रधानतया निवेदन की जा रही है—अर्थात् ध्वनित हो रही है। कारण, "उस वस्तु से संबंध रखनेवाली वस्तुओं का निषेध और आरोप उस वस्तु के निषेध और आरोप का निवेदन-कर्त्ता होता है" यह बात न्यायप्राप्त है। आप कहेंगे—यहाँ* प्रस्तुत (उपमेय) और अप्रस्तुत (उपमान) का, पूर्वार्ध में, 'सुशोभित होना' रूपी क्रिया और, उत्तरार्ध

---

* यहाँ नागेश के अक्षर के अनुसार तुल्ययोगिता अलंकार का समन्वय करना ठीक नहीं। वह अत्यंत अशुद्ध है। प्रकृतमात्र अथवा अप्रकृतमात्र का एक धर्म में अन्वय तुल्ययोगिता कहा जाता है। अतः सुशोभित होने रूपी क्रिया में केसर और भ्रमर का अन्वय होने से तुल्ययोगिता मानना चाहिए। —सं०।

में, "लोभी होना" रूपी गुण इस तरह, एक एक समान धर्म हैं और उनमें प्रस्तुत अप्रस्तुत दोनों का अन्वय होता है; अतः यहाँ "तुल्ययोगिता अलंकार" होना चाहिए। तो आपका यह कहना ठीक है; पर वह तुल्ययोगिता यहाँ गौण रूप में है—उसका यहाँ प्रधानतया चमत्कार नहीं।

अप्पयदीक्षित के उदाहरण का खंडन

अप्पयदीक्षित ने अपह्नुति की ध्वनि के विषय में कहा है—

"त्वदालेख्ये कौतूहलतरलतन्वीविरचिते
विधायैका चक्रं रचयति सुपर्णीसुतमपि।
अपि स्विद्यत्पाणिस्त्वरितमपमृज्यैतदपरा
करे पौष्यं चापं मकरमुपरिष्टाच्च लिखति॥

किसी नायक का वर्णन है। कवि कहता है—कौतूहल से चंचल कृशांगी (नायिका) ने आपका चित्र बनाया। उस पर दूसरी (सखी) चक्र बनाकर गरुड़ बना रही है। (ऐसे ही समय) तीसरी, जिसके हाथ में प्रस्वेद आ रहे थे, झट से चक्र और गरुड़ को मिटाकर हाथ में पुष्पमय धनुष और ऊपर मगर लिख रही है।

इत्यादिक में अपह्नुति की ध्वनि का उदाहरण देना चाहिए। कारण, यहाँ किसी (अर्थात् दूसरी युवती) ने चक्र और गरुड़ लिखकर यह अभिव्यक्त किया कि 'यह साधारण पुरुष नहीं किंतु विष्णु है'। पर अन्य (अर्थात्

तीसरी) युवती ने 'विष्णु का भी ऐसा रूप नहीं हो सकता' इस अभिप्राय से चक्र और गरुड़ दोनों मिटाकर पुष्पमय धनुष और मगर-रूपी ध्वजा लिखने द्वारा यह अभिव्यक्त किया कि 'यह विष्णु भी नहीं, किंतु कामदेव है।"

यह अप्पयदीक्षित का कथन ऊपर से सुहावना है—गहरे पैठने पर इसमें कुछ तत्त्व नहीं। देखिए, यहाँ प्रथमतः कहा जा रहा है कि "किसी ने चक्र और गरुड़ लिखकर यह अभिव्यक्त किया कि—यह साधारण पुरुष नहीं, किंतु विष्णु है"। इस विषय में हमारा कहना है कि—अपह्नुति के दो भाग हैं—उपमेय का निषेध और उपमान का आरोप। उनमें से उपमान का आरोपरूपी भाग, जिसका आकार है 'यह विष्णु है', वह चक्र और गरुड़ के लिखने से अभिव्यक्त हो सकता है; क्योंकि चक्र और गरुड़ विष्णु से संबंध रखते हैं। पर 'यह साधारण पुरुष नहीं है' यह उपमेय के निषेधवाला भाग भी इससे अभिव्यक्त होता है—यह नहीं कहा जा सकता। कारण, यहाँ व्यंजक (अर्थात् चक्र और गरुड़ का लिखना) केवल आरोप के अभिव्यक्त करने में समर्थ है, पूर्वोक्त निषेध के अभिव्यक्त करने में उसका सामर्थ्य नहीं। और न ऐसी अभिव्यक्ति अनुभव-सिद्ध ही है कि जिसे लेकर उसे अभिव्यक्त करने के लिये उपाय ढूँढ़ना पड़े। ढूँढ़ने पर भी उसे अभिव्यक्त करने का उपायरूप शब्द अथवा अर्थ (इस पद्य में) मिलता नहीं कि जिससे अनुभव के विषय में विवाद भी हो।

आप कहेंगे—बात यह है कि साधारण पुरुष का निषेध किए बिना विष्णु के ताद्रूप्य का आरोप दुर्घट है, अतः वह भी अभिव्यक्त होता है। तो हम कहेंगे कि—ऐसा मानने से रूपक का उच्छेद हो जायगा—दुनिया में उसके लिये कोई जगह ही न रहेगी। कारण, ऐसी दशा में 'मुख चंद्र है' इत्यादिक में मुख का निषेध किए बिना मुख में चंद्रत्व का आरोप कठिन है—यह भी सहज में कहा जा सकेगा। यदि वहाँ भी मुख का निषेध मान लिया जाय तो अपह्नुति का विजय हुआ और सचमुच ही रूपक उड़ गया।

अब यदि आप कहें कि—"मुख चंद्र है" इस रूपक में मुखत्व को साथ रखकर चंद्रमा के ताद्रूप्य का आरोप किया जाता है अतः मुख के निषेध की अपेक्षा नहीं है; क्योंकि यदि निषेध किया जाय तो दोनों साथ साथ कैसे रह सकते हैं? तो हम कहते हैं—प्रस्तुत में भी पूर्वोक्त साधारण पुरुषत्व के साथ साथ विष्णु के ताद्रूप्य का आरोप रूपी रूपक ही हो सकता है, जिसका "यह राजा विष्णु है" यह आकार है, न कि अपह्नुति, जिसका आकार होना चाहिए "यह राजा नहीं, किंतु विष्णु है।" यह तो हुई एक बात।

दूसरी बात कही जा रही है—"यह विष्णु नहीं है, किंतु कामदेव है" इत्यादि। तो इस भाग में यद्यपि चक्र और गरुड़ के हटाने द्वारा "यह विष्णु नहीं है" यह निषेध, और पुष्पमय धनुष तथा ध्वजा में स्थित मगर के लिखने द्वारा

"यह कामदेव है" यह उपमान का आरोप—इस तरह दोनों भाग व्यंग्य हो सकते हैं। तथापि यह अपह्नुति नहीं है; क्योंकि

"प्रकृतस्य निषेधेन यदन्यत्वप्रकल्पनम् ।

प्रस्तुत के निषेध द्वारा अन्य की कल्पना (अपह्नुति कहलाती है)।" यह तुम्हारा बनाया लक्षण भी यहाँ नहीं घट सकता—दूसरों की तो बात ही क्या है! कारण, यहाँ जिनका निषेध किया जा रहा है वे भगवान् विष्णु वर्णनीय नहीं हैं, किंतु राजा वर्णनीय है। अतः विष्णु के अप्रस्तुत होने के कारण यहाँ प्रस्तुत का निषेध नहीं है।

आप कहेंगे—वाह! विष्णु प्रस्तुत क्यों नहीं हैं? पहले आरोप में राजा को विष्णु मान लिया जाने के कारण विष्णु प्रस्तुत हो गए। पर यह उत्तर ठीक नहीं। पहले आरोपित हो जाने मात्र से विष्णु को प्रस्तुत नहीं कहा जा सकता। कारण, वहाँ (चित्रमीमांसा में) आपने ही "निषिध्य विषयम्......" इत्यादि ग्रंथ से ('निषिध्य' पद में आए) "क्त्वा" प्रत्यय का फल कहते हुए 'प्रकृत' पद का अर्थ 'आरोप का विषय—अर्थात् उपमेय' होता है—इस तरह स्पष्ट किया है। और काव्यप्रकाशकार ने भी

"प्रकृतं यन्निषिध्यान्यत्साध्यते सा त्वपह्नुतिः ।

इस सूत्र की व्याख्या करते हुए "उपमेय को झूठा करके......" इत्यादि कथन द्वारा 'प्रकृत' पद की उपमेय-अर्थ में ही व्याख्या की है।

आप कहेंगे—यह अपह्नुति प्राचीनों के मत से सिद्ध है (क्योंकि दंडी ने लिखा है कि—"अपह्नुतिरपह्नुत्य किंचिदन्यार्थसूचनम्—अर्थात् किसी वस्तु का निषेध करके अन्य वस्तु का सूचित करना अपह्नुति कहलाता है।") उसी को हम यहाँ व्यंग्य कह रहे हैं। सो यह भी 'डूबते को तिनके का सहारा' ही है। कारण, "प्रकृतस्य निषेधेन......" इत्यादिक पूर्वोक्त लक्षण बनाते हुए आपने ही उस अपह्नुति का बहिष्कार कर दिया है—यदि आप ध्वनि में वैसी अपह्नुति को व्यंग्य मानते हैं तो लक्षण भी उसी के अनुसार बनाना चाहिए था।

इतने पर भी यदि आप पूछें कि—उक्त पद्य में कौन अलंकार व्यंग्य है? तो इसका उत्तर यह है कि—यदि इसमें अपह्नुति के चमत्कार की अपेक्षा विलक्षण प्रकार का चमत्कार है (इस बात को आपका हृदय मान ले) तो अन्य अलंकार (अर्थात् रूपक) मानिए, अन्यथा अपह्नुति मानिए। आप कहेंगे—तब "प्रकृतस्य निषेधेन......" आदि पूर्वोक्त लक्षण यहाँ कैसे घटित होंगे? तो इसका उत्तर यह है कि—जब आपको यहाँ अपह्नुति ही मानना है तो अपह्नुति का लक्षण (दंडी-आदि की तरह) यह मान लीजिए कि—

"चाहे किसी भी वस्तु के निषेध के साथ किया जानेवाला अन्य वस्तु का आरोप अपह्नुति कहलाता है ।"

(सारांश यह कि) इन सब गड़बड़ों के कारण यह सब कथन सहृदयों के लिये अहृदयङ्गम ही है—इससे सहृदयों के हृदय को संतोष नहीं हो सकता* ।

अपह्नुति समाप्त

---

* नागेश कहते हैं—पंडितराज का यह कथन विचारणीय है। कारण, दीक्षितजी ने "दंडी ने तो 'अपह्नुति के सादृश्यमूलक होने' के नियम का अनादर करके 'अपह्नुतिरपह्नुत्य किञ्चिदन्यार्थसूचनम्' यह लक्षण बताकर उदाहरण दिया है 'न पञ्चेषुः स्मरस्तस्य सहस्रं पत्रिणां यतः। चंदनं चन्द्रिका चन्द्रो गन्धवाहश्च दक्षिणः। (अर्थात् काम पंचबाण नहीं है; क्योंकि उसके हजारों बाण हैं; चंदन, चाँदनी, चंद्रमा और मलयानिल आदि)" इत्यादि आरंभ करके "त्वदालेख्ये ......" आदि पूर्वोक्त उदाहरण दिया है। अतः यह ध्वनि उसी के अनुसार होने के कारण इसे अहृदयंगम कहना ठीक नहीं। (पर नागेश यह भूल जाते हैं कि—दीक्षितजी ने लक्षण तो दंडी का माना नहीं और ध्वनि का उदाहरण उनके अनुसार क्यों दिया—इस बात का भी कोई उत्तर है या नहीं—अनुवादक)। दूसरे, जो 'प्रकाश' का विरोध बताया जा रहा है सो भी नहीं। कारण, प्रकाश-कार का 'उपमेय' पद 'पदार्थ' का उपलक्षण है—अर्थात् 'उपमेय' शब्द से उन्हें कोई भी पदार्थ अर्थ लेना अभीष्ट है। अन्यथा

"केसेसु बलामोडिअ तेण अ समरम्मि जअसिरी गहिआ।
जह कन्दराहिँ विहुरा तस्स दढं कंठअम्मि संठविआ॥

उत्प्रेक्षालंकार

लक्षण

जिसका जिस पदार्थ से भिन्न होना यथार्थतया ज्ञात हो, उस पदार्थ की वैसे—भिन्न पदार्थ—के रूप में की जानेवाली ऐसी संभावना, जो उन दोनों पदार्थों में रहनेवाले किसी सुंदर धर्म को निमित्त मानकर की गई हो;

अथवा

जिसका जिस धर्म के अभाव से युक्त होना यथार्थतया ज्ञात हो, उस पदार्थ में वैसे धर्म से युक्त होने की ऐसी संभावना, जो उस धर्म के साथ

(एक राजा का वर्णन है—उसने संग्राम में बलात्कार से जयलक्ष्मी को वैसे ग्रहण कर लिया, जैसे कि गुफाओं ने उसके विधुर (स्त्री-रहित) वैरियों को अपने कंठ (अंदर के हिस्से) में दृढ़तया स्थापित कर लिया।)"

इस उदाहरण में "वैरी (*अपने-आप) भागकर नहीं गए, किंतु गुफाएँ उससे पराजय की संभावना करके उन्हें नहीं छोड़तीं—यह अपह्नुति अभिव्यक्त होती है" यह प्रकाशकार का ग्रंथ असंगत हो जायगा। (क्योंकि यहाँ उपमेय का अपह्नव नहीं है)।

---

* काव्यप्रकाश में (स्वयम् = अपने आप) शब्द नहीं है—अनुवादक।

रहनेवाले किसी सुंदर धर्म को निमित्त मानकर की गई हो; 'उत्प्रेक्षा' कहलाती है।

लक्षण का विवेचन

"लोकोत्तरप्रभावं त्वां मन्ये नारायणं परम्।

(हे राजन् !) आपका प्रभाव अलौकिक है, अतः मैं आपको सर्वोत्कृष्ट नारायण (ईश्वर) मानता हूँ।"

इस स्थल पर वैसे प्रभाव की नारायण से अतिरिक्त में न रहने की संभावना है (निश्चय नहीं)। ऐसी दशा में (अनुमान की) सामग्री (*व्याप्ति के निश्चय आदि) के अभाव के कारण अनुमान का उदय न होने से "प्रायः यह नारायण होना चाहिए" यह संभावना उत्पन्न होती है। इस संभावना में अतिव्याप्ति न होने के लिये लक्षण में "जिसका जिस पदार्थ से भिन्न होना यथार्थतया ज्ञात हो" यह अंश लिखा गया है। इस अंश से प्रकृत संभावना का आहार्य होना बोधित होता है। इस आहार्य होने का फल यह हुआ कि—

"रामं स्निग्धतरश्यामं विलोक्य वनमण्डले।
प्रायो धाराधरोऽयं स्यादिति नृत्यन्ति केकिनः॥

अत्यंत चिकने श्याम वर्णवाले राम को देखकर, 'संभव है यह मेघ हो' यह समझकर, वनप्रदेश में, मोर नाच रहे हैं।

---

* धूआँ देखकर आग का अनुमान करने में "जहाँ जहाँ धूआँ हो वहाँ अग्नि होता है" इस बात का ज्ञान 'व्याप्ति का ज्ञान' कहलाता है।

इस संभावना में, एवं (इसी पद्य का उत्तरार्ध)

"धाराधरधिया धीरं नृत्यन्ति स्म शिखावलाः।

मेघ समझकर मोर मंद-मंद नाचते रहते थे।"

(यों बदल दें तो) इस भ्रांति में अतिव्याप्ति नहीं हुई।

"वदन-कमलेन बाले ! स्मितसुषमालेशमावहसि यदा।

जगदिह तदैव जाने दशार्धबाणेन विजितमिति ॥

हे बाले ! जब तू मुख-कमल द्वारा मंदहास की शोभा का एक लेश धारण करती है, मैं उसी समय जान लेता हूँ कि—इस जगह, जगत् को कामदेव ने जीत लिया—यहाँ जो कोई आवेगा उसे किस्त खानी ही पड़ेगी।"

इस पद्य में जो जगत् के जय की संभावना है उसमें अति-व्याप्ति न होने के लिये लक्षण में "उन दोनों पदार्थों में रहने-वाले किसी सुंदर धर्म को निमित्त मानकर" यह अंश लिखा गया है। यहाँ यद्यपि मंदहास रूपी धर्म संभावना को उठाता है तथापि वह 'जगत्' रूपी संभावना के विषय और 'जीत लिया' रूपी संभावना के विषयी (आरोपित किए जानेवाले पदार्थ) दोनों में साधारणरूप से रहनेवाला धर्म नहीं है, अतः यहाँ लक्षण की अतिव्याप्ति नहीं होती।

इसी से—

"प्रायः पतेद् द्यौः शकली भवेद् ग्लौः

सहाऽचलैरम्बुधिभिः स्खलेद् गौः।

नूनं ज्वलिष्यन्ति दिशः समस्ता
यद् द्रौपदी रोदिति हा हतेति ॥

संभव है, स्वर्ग गिर पड़े, चंद्रमा के टुकड़े हो जायँ, पहाड़ों और समुद्रों-सहित पृथ्वी विचलित हो जाय और यह तो बहुत संभव है कि समस्त दिशाएँ जल उठेंगी; क्योंकि द्रौपदी 'हाय ! मरी !!' कहकर रो रही है।"

यहाँ भी रोने के कारण-रूप 'केश पकड़ने' आदि से उत्पन्न पाप को निमित्त मानकर उठाई हुई 'स्वर्ग गिरने' आदि की संभावना में लक्षण की अतिव्याप्ति नहीं होती। कारण, पापरूपी निमित्त, स्वर्गरूपी विषय और 'गिरने'रूपी विषयी— इन दोनों में, समान रूप से रहनेवाला धर्म नहीं है।

"प्राय: यह ठूँठ होना चाहिए", "बहुधा यह पुरुष हो सकता है" और "दूर खड़ा यह देवदत्त-सा प्रतीत होता है" इत्यादि में क्रमश:, निश्चलता, चंचलता और एक विशेष प्रकार के आकाररूपी समान धर्म को निमित्त मानकर होनेवाली संभावना में लक्षण की अतिव्याप्ति हो सकती है, अत: निमित्त-धर्म को 'सुंदर' विशेषण दिया गया है। इन संभावनाओं का निमित्त-धर्म सुंदर (अर्थात् कवि की प्रतिभा से निर्मित) नहीं है, अत: इन्हें उत्प्रेक्षा नहीं कहा जा सकता।

रूपक के बोध में अतिव्याप्ति न होने के लिये लक्षण में 'संभावना' पद लिखा गया है। रूपक का बोध संभावना-रूप नहीं, किंतु निश्चयरूप होता है।

उत्प्रेक्षा दो प्रकार की है—एक **धर्म्युत्प्रेक्षा**, जिसमें किसी पदार्थ की किसी अन्य पदार्थ के रूप में उत्प्रेक्षा की जाती है; और दूसरी **धर्मोत्प्रेक्षा**, जिसमें किसी धर्म की किसी ऐसे धर्मी में उत्प्रेक्षा की जाती है जिस धर्मी का उस धर्म के साथ कोई संबंध न हो। धर्म्युत्प्रेक्षा तादात्म्य (अभेद) संबंध द्वारा होती है और धर्मोत्प्रेक्षा अन्य संबंध (सामानाधिकरण्य = साथ रहने) द्वारा। इन दोनों उत्प्रेक्षाओं के संग्रह के लिये पृथक् पृथक् दो लक्षण लिखे गए हैं। उनमें से पहला लक्षण धर्म्युत्प्रेक्षा का है और दूसरा धर्मोत्प्रेक्षा का।

उत्प्रेक्षा के भेद

वह उत्प्रेक्षा दो प्रकार की है—वाच्या और प्रतीयमाना (अथवा गम्या)। जहाँ उत्प्रेक्षा की सामग्री (संस्कृत में) इव, नूनम्, मन्ये, जाने, अवैमि, ऊहे, तर्कयामि, शंके, उत्प्रेक्षे इत्यादिक और क्यङ्, आचारक्विप् आदि (एवं हिंदी में मानो, मनहु, मनु, सा सी से, निहचै आदि) उत्प्रेक्षा-प्रतिपादक शब्दों सहित हो वहाँ **वाच्योत्प्रेक्षा** कहलाती है। और जहाँ प्रतिपादक शब्द न हों, किंतु केवल सामग्री मात्र हो वहाँ **प्रतीयमाना उत्प्रेक्षा** (अथवा **गम्योत्प्रेक्षा**) कहलाती है।

जहाँ सामग्री न हो और केवल उत्प्रेक्षा प्रतिपादक शब्द हों, वहाँ केवल 'संभावना' मानी जाती है, उत्प्रेक्षा नहीं।

ये दोनों उत्प्रेक्षाएँ प्रत्येक तीन-तीन प्रकार की हैं—स्वरूपोत्प्रेक्षा, हेतूत्प्रेक्षा और फलोत्प्रेक्षा।

संसार के सब पदार्थ जाति, गुण, क्रिया और द्रव्यरूप तथा इन चारों के अभावरूप हैं। इन पदार्थों की, अभेद संबंध द्वारा अथवा अन्य किसी संबंध द्वारा, जाति, गुण, क्रिया और द्रव्यरूप—जुदे जुदे अथवा इकट्ठे, शब्द द्वारा वर्णित अथवा अवर्णित और सिद्ध अथवा साध्य—धर्मों को निमित्त मानकर, यथासंभव, जाति, गुण, क्रिया और द्रव्य-रूपी विषयों में, उत्प्रेक्षा करना **स्वरूपोत्प्रेक्षा** कहलाती है।

पूर्वोक्त प्रकार के पदार्थों की, पूर्वोक्त प्रकार के पदार्थों में, पूर्वोक्त प्रकार के निमित्तों द्वारा, यथासंभव, हेतुरूप से अथवा फलरूप से संभावना की जाय तो, क्रमशः, **हेतूत्प्रेक्षा** और **फलोत्प्रेक्षा** कहलाती है।

इन उत्प्रेक्षाओं का शरीर कहीं सिद्ध होता है और कहीं साध्य—अर्थात् सिद्ध करना पड़ता है; इस तरह ऐसे बहुतेरे विकल्प बन सकते हैं। तथापि यहाँ उनका दिग्दर्शन मात्र कराया जाता है।

उदाहरण

स्वरूपोत्प्रेक्षा

जात्यवच्छिन्न स्वरूपोत्प्रेक्षा (आख्यायिका में); जैसे—

तनयमैनाकगवेषणलंबीकृतजलधिजठरप्रविष्ट-हिमगिरिभुजायमानाया भगवत्या भागीरथ्याः सखी।

(यह यमुना) उस भगवती गंगा की सखी है, जो, मानो, अपने पुत्र मैनाक को ढूँढ़ने के लिये लंबी की हुई और समुद्र के उदर में घुसी हुई, हिमालय पर्वत की भुजा है।

यहाँ यदि गंगा-शब्द को एक व्यक्ति-वाचक माना जाय तो गंगारूपी द्रव्य में, और यदि कल्प-भेद से अनेक व्यक्तियों का वाचक माना जाय तो जाति में हिमाचल से संबंध रखने वाले 'भुजत्व' जाति से अवच्छिन्न (विशिष्ट) पदार्थ (अर्थात् 'भुजा') की, अभेद संबंध द्वारा, उत्प्रेक्षा की जा रही है।

इस उत्प्रेक्षा में, गंगा में रहनेवाले—श्वेतता, शीतलता, लंबा होना और समुद्र के उदर में प्रविष्ट होना रूपी—चार धर्मों को, निमित्त बनाने के लिये उनका हिमालय की भुजा रूपी विषयी में रहना सिद्ध करना आवश्यक है; (क्योंकि जो धर्म विषय-विषयी दोनों में न रहता हो वह उत्प्रेक्षा का निमित्त नहीं बन सकता—यह बात पहले लिखी जा चुकी

है)। उनमें से श्वेतता और शीतलतारूपी अनुपात्त (शब्द द्वारा अवर्णित) धर्म तो हिमाचल से संबंध रखते ही हैं क्योंकि ये दोनों बातें हिमाचल में स्वभावसिद्ध हैं) अत: उनका तो भुजा में रहना स्वत: सिद्ध हो जाता है (क्योंकि जिसके जैसे अन्य अंग होंगे वैसी ही भुजा भी होगी)।

अब रहे दो धर्म—लंबा होना और समुद्र के उदर में प्रविष्ट होना। उनका भी भुजा में रहना सिद्ध करने के लिये '(अपने) पुत्र मैनाक के ढूँढ़ने' रूपी फल की उत्प्रेक्षा की गई है; कारण, (भुजा) ढूँढ़ने का साधन है—इस बात का ज्ञान (भुजा के) लंबे करने और समुद्र के उदर में प्रविष्ट होने के अनुकूल प्रयत्न का उत्पन्न करनेवाला है—अर्थात् यह समझ लेने से कि—हाथ ढूँढ़ने का साधन है, उसका (ढूँढ़ने के के लिये) लंबा करना और समुद्र के उदर में घुसना सिद्ध हो जाते हैं। इस तरह सिद्ध हुए विषयी (हिमालय की भुजा) में रहनेवाले 'लंबे होने' और 'समुद्र में प्रविष्ट होने' रूपी धर्मों के साथ विषय (गंगा) में रहनेवाले स्वभावसिद्ध 'लंबे होने' और 'समुद्र के उदर में प्रविष्ट होने' का अभेद मान लिया जाता है, जो कि अतिशयोक्ति रूप है। इस तरह अतिशयोक्ति द्वारा वे धर्म साधारण सिद्ध हो जाते हैं और तब वे उत्प्रेक्षा के निमित्त बन जाते हैं।

आप कहेंगे—इस पद्य में स्वरूपोत्प्रेक्षा क्यों बताई जा रही है? यहाँ फल ('ढूँढ़ने') की भी तो उत्प्रेक्षा है, अत: फलो-

त्प्रेक्षा क्यों नहीं मानी जाती ? इसका उत्तर यह है कि—फलोत्प्रेक्षा न मानने के दो कारण हैं। एक तो उत्प्रेक्षित किए जानेवाले फल (ढूँढ़ने) द्वारा सिद्ध किए गए निमित्त (लंबे होने और समुद्र के उदर में घुसने) से उठाई गई 'स्वरूपोत्प्रेक्षा' ही यहाँ विधेय है, अतः चमत्कार का विश्राम वहीं जाकर होता है, फलोत्प्रेक्षा में नहीं। दूसरे, उत्प्रेक्षा के प्रतिपादक ('भुजायमान' शब्द के अंतर्गत) प्रत्यय (क्यङ्) का फल के साथ अन्वय नहीं है, किंतु भुजा के साथ अन्वय है (और यह नियम है कि जहाँ उत्प्रेक्षावाचक का अन्वय फल के साथ हो वहाँ फलोत्प्रेक्षा और जहाँ स्वरूप के साथ हो वहाँ स्वरूपोत्प्रेक्षा होती है)। अतः यहाँ स्वरूपोत्प्रेक्षा कहना ही उचित है, क्योंकि उत्प्रेक्षावाचक का अन्वय जातिरूप पदार्थ—भुजा—के साथ है, ढूँढ़नेरूपी फल के साथ नहीं।

इस जात्युत्प्रेक्षा में विषय का निगरण (अध्यवसान) नहीं है, क्योंकि विषयवाचक पद (गंगा) पृथक् विद्यमान है; और उपात्त (लंबा करना और समुद्र के उदर में घुसना) तथा अनुपात्त (श्वेतता और शीतलता) दोनों प्रकार के गुणरूप (श्वेतता और शीतलता) और क्रियारूप (लंबा करना और घुसना) धर्म निमित्त हैं। इस उत्प्रेक्षा का विशेषणों सहित शरीर साध्य (कवि-कल्पित) है; कारण, वस्तुतः पहाड़ के कोई ऐसी भुजा नहीं होती।

अभेद संबंध से **गुणस्वरूपोत्प्रेक्षा**; जैसे—

अम्भोजिनीबान्धवनंदनायां कूजन् बकानां समजो विरेजे।
रूपांतराक्रान्तगृहः समन्तात् पुञ्जीभवन् शुक्ल इवाऽऽश्रयार्थी॥

(क)

सूर्य-नंदिनी (यमुना) में कूजता हुआ बगुलों का झुंड ऐसा सुशोभित हुआ, मानो, घर (यमुना) दूसरे रंग (श्याम) से आक्रांत हो गया है, अतः सब तरफ से इकट्ठा हो रहा आश्रय की इच्छावाला शुक्लगुण (श्वेतवर्ण) हो।

यहाँ 'एकत्र स्थित' और 'कूजने' से युक्त बकत्व जाति से अवच्छिन्न (बगुलारूपी) विषय—अर्थात् जातिरूप पदार्थ—में इकट्ठे हो रहे शुक्ल गुण की अभेद संबंध से उत्प्रेक्षा है।

यहाँ बगुलों में कूजना, निर्मलता और इकट्ठे होना तीन धर्म हैं, ये धर्म जब तक शुक्ल गुण में न हों तब तक बगुलों और शुक्लगुण का अभेद सिद्ध होना कठिन है। इसलिये उनका विषयी (शुक्लगुण) में रहना सिद्ध करना अपेक्षित है। उनमें से निर्मलता अनुपात्त धर्म है, वह, किसी तरह, उत्प्रेक्षित किए जानेवाले विषयी (शुक्लगुण) में सिद्ध हो जाती है। अब रहे 'कूजना' और 'इकट्ठे होना' ये दो धर्म। इन दोनों धर्मों के सिद्ध करने के लिये 'घर के दूसरे रंग से आक्रांत होने' की और 'आश्रय की इच्छावाले होने' की हेतुरूप से उत्प्रेक्षा की गई है। यहाँ भी पूर्वोक्त उदाहरण की तरह स्वभावसिद्ध धर्मों का कल्पित धर्मों के साथ अभेद मान लेने

से ये दोनों धर्म साधारण हो जाते हैं। इसी तरह अन्यत्र भी तर्कना कर लेनी चाहिए। पहले उदाहरण में जैसे फल के उत्प्रेक्षित होने पर भी फलोत्प्रेक्षा नहीं मानी जाती, वैसे यहाँ भी हेतु के उत्प्रेक्षित होने पर भी हेतूत्प्रेक्षा नहीं मानी जाती; क्योंकि वह विधेय नहीं है।

(अभेद संबंध से) **क्रिया-स्वरूपोत्प्रेक्षा**; जैसे

कलिंदजानीरभरेऽर्धमग्ना बकाः प्रकामं कृतभूरिशब्दाः।
ध्वान्तेन वैराद्विनिगीर्यमाणाः क्रोशंति मन्ये शशिनः किशोराः॥

यमुना के जल-समूह में आधे डूबे और यथेष्ट कोलाहल करते बगुले (ऐसे प्रतीत होते हैं), मानों, वैर के कारण अंधकार द्वारा निगले जाते चंद्रमा के बच्चे चिल्ला रहे हों।

इस पद्य में, जो लोग (नैयायिकादिक) शाब्द बोध में प्रथमांत को विशेष्य मानते हैं उनके मत से—

'कालिंदी के जल में आधे डूबे' और 'कोलाहल करते' इन दो विशेषणों से अभेद संसर्ग द्वारा संबद्ध बगुले (उत्प्रेक्षा के) विषय हैं। उनमें, पहले, अंधकार जिसका कर्त्ता है और वैर जिसका कारण है ऐसी 'निगलना' क्रिया के कर्म से अभिन्न रूप में उत्प्रेक्षित (अर्थात् 'निगलना' क्रिया के कर्म रूप में माने हुए) 'चंद्रमा के बच्चों' की अभेदोत्प्रेक्षा होती है; और तदनंतर उनमें 'चिल्लाना क्रिया के कर्त्ता होने' रूपी धर्म की उत्प्रेक्षा की जा रही है। सारांश यह कि—इस पद्य में

दो उत्प्रेक्षाएँ हैं—एक 'बगुलों में चंद्रमा के बच्चों' की, दूसरी 'बगुलों से अभिन्न चंद्रमा के बच्चों में चिल्लाने' की। उनमें से पहली धर्म्युत्प्रेक्षा है और दूसरी है धर्मोत्प्रेक्षा।

अब यह नियम है कि—जहाँ अभेद संबंध द्वारा धर्म्युत्प्रेक्षा हो वहाँ विषय और विषयी दोनों में रहनेवाला साधारण धर्म उत्प्रेक्षा का निमित्त होता है; और जहाँ अभेद के अतिरिक्त अन्य किसी संबंध से उत्प्रेक्षा होती है वहाँ—अर्थात् धर्मोत्प्रेक्षा में, उस उत्प्रेक्षित धर्म के साथ रहनेवाला अन्य धर्म, जो विषय में रहता हो, निमित्त होता है। ऐसी दशा में, प्रस्तुत पद्य में, 'चिल्लाने' रूपी धर्म की उत्प्रेक्षा में, उसके साथ रहनेवाला धर्म है 'निगलना क्रिया का कर्म होना—अर्थात् निगला जाना'; इस धर्म को विषय (बगुलों) में रहनेवाला सिद्ध करना चाहिए (अन्यथा यह उत्प्रेक्षा का निमित्त नहीं बन सकता)। इस बात को सिद्ध करने के लिये अनुवाद्य रूप में (बगुलों की) चंद्रमा के बच्चों से अभिन्न होने की उत्प्रेक्षा की गई है। सारांश यह कि—यहाँ धर्मोत्प्रेक्षा प्रधान है, उसे सिद्ध करने के लिये धर्म्युत्प्रेक्षा लाई गई है।

इस धर्म्युत्प्रेक्षा का निमित्त-धर्म है अनुपात्त 'श्वेतता'—अर्थात् श्वेत होने के कारण बगुलों को चंद्रमा के बच्चों से अभिन्न मान लिया गया है। अब जैसे विशिष्टोपमा में उपमान-उपमेय के विशेषणों तथा उन विशेषणों के विशेषणों का

(शब्दत: न होने पर भी) अर्थत: सादृश्य मान लिया जाता है, ऐसे ही यहाँ भी बगुलारूपी विषय के विशेषण 'आधे डूबने' और उसके विशेषण 'यमुना-जल' का, मूल (अर्थात् निमित्तरूप) उत्प्रेक्षा के विषयी 'चंद्रमा के बच्चों' के विशेषण 'निगलने' और उसके विशेषण 'अंधकार' के साथ अर्थत: अभेद है—अर्थात् 'आधे डूबने' को 'निगलने' से और 'यमुना-जल' को 'अंधकार' से अभिन्न मान लिया गया है।

इस तरह बगुलों का 'अंधकार द्वारा किया जानेवाला निगलना' सिद्ध हो जाने पर मुख्य उत्प्रेक्षा 'चिल्लाने' का निर्वाह हो जाता है; क्योंकि जब बगुलों को चंद्रमा के बच्चे मानकर उनका अंधकार द्वारा निगला जाना मान लिया गया तो उनका 'चिल्लाना' बन जाता है। यहाँ 'चिल्लाने' और 'कोलाहल करने' का भी बिंब-प्रतिबिंब-भाव के कारण अभेद है—यह बात भी ध्यान में रखिए।

नैयायिकों के मत से शाब्द बोध

तब इस पद्य के **शाब्द बोध** का आकार यह हुआ कि—

कालिंदी के जल में आधे डूबे और कोलाहल करते—इन दोनों से अभिन्न बगुले, अँधेरे से निगले जा रहे और चंद्रमा के बच्चे—इन दोनों से अभिन्न (होकर) 'चिल्लाने' रूपी क्रिया के अनुकूल चेष्टा से युक्त हैं।

इस शाब्द बोध को **सरल शब्दों में**—

कालिंदी के जल में आधे डूबे और कोलाहल करते बगुले, मानो, अँधेरे से निगले जा रहे चंद्रमा के बच्चे हैं। अतएव वे, मानो, चिल्ला रहे हैं।

(ख)

यह तो हुई शाब्द बोध में प्रथमांत पद को विशेष्य माननेवालों—अर्थात् नैयायिकों—की बात। अब जो लोग 'तिङन्त' में 'भाव' (क्रिया) को प्रधान मानते हैं उन—अर्थात् वैयाकरणों—के मत की बात सुनिए। उनके विचार से यहाँ अभेद संबंध से 'चिल्लाने' रूपी क्रिया की उत्प्रेक्षा है। इस उत्प्रेक्षा में शाब्द बोध हो चुकने के बाद, शाब्द बोध में बगुलों के विशेषणरूप में आया हुआ भी 'कोलाहल करना' उत्प्रेक्षा के विषयरूप में उपस्थित होता है। और इस उपस्थिति का कारण है अध्यवसान। अर्थात् यद्यपि यहाँ शाब्द बोध के अनुसार 'चिल्लाने' रूपी विषयी का विषय 'कोलाहल करना' नहीं हो सकता, तथापि 'चिल्लाने' रूपी क्रिया में 'कोलाहल करना' भी प्रविष्ट मान लिया गया है; जैसे कि अतिशयोक्ति में उपमानवाचक शब्द से ही उपमेय भी ले लिया जाता है।

वैयाकरणों के मत से शाब्द बोध

इस मत के अनुसार 'चिल्लाने' रूपी क्रिया में पूर्वोक्त विशेषणों से युक्त बगुले विशेषण बनते हैं और वैसे बगुलों में

पूर्वोक्त विशेषण से युक्त चंद्रमा के बच्चे विशेषण रूप बनते हैं। इस शाब्द बोध में साक्षात् चंद्रमा के बच्चे ही क्रिया में विशेषण रूप से अन्वित नहीं हो सकते, किंतु बगुलों के विशेषण बनकर अन्वित होते हैं। क्योंकि यदि 'चंद्रमा के बच्चों' का क्रिया में साक्षात् अन्वय कर दें तो बगुलों का अन्वय (कहीं) नहीं हो सकता—वे लटकते ही रह जायँ। इसलिये प्रस्तुत—बगुलों—का क्रिया में अन्वय और अप्रस्तुत—चंद्रमा के बच्चों—का बगुलों में अन्वय माने बिना निर्वाह नहीं। अतः वैयाकरणों के मत से इस पद्य का

शाब्द बोध—"अँधेरे से निगले जा रहे और चंद्रमा के बच्चे—इन दोनों से अभिन्न एवं कालिंदी के जल में आधे डूबे और कोलाहल करते—इन दोनों से अभिन्न बगुले जिसके कर्त्ता हैं वह चिल्लाना" यह होता है। इस शाब्द बोध को

सरल शब्दों में—"अँधेरे से निगले जा रहे चंद्रमा के बच्चे रूपी, और कालिंदी के जल में आधे डूबे तथा कोलाहल करते, बगुलों का चिल्लाना" यों कह सकते हैं।

विषय और विषयी के विशेषणों का, इस मत में भी, पूर्वोक्त मत के अनुसार ही, बिंब-प्रतिबिंब-भाव द्वारा अभेद माना जाता है।

इसी तरह—

राज्याभिषेकमाज्ञाय शम्बरासुरवैरिणः।
सुधाभिर्जगतीमध्यं लिम्पतीव सुधाकरः॥

चाँदनी का वर्णन है—कामदेव का राज्यभिषेक समझ-कर, चंद्रमा, माना, सुधा (अमृत + आरास, कलई) द्वारा पृथ्वी के मध्यभाग को पोत रहा है।

यहाँ भी चंद्रमा उत्प्रेक्षा का विषय है, उसमें वैसे 'पोतने' के कर्त्तृत्व रूपी धर्म—अर्थात् 'पोतने'—की उत्प्रेक्षा की जा रही है—यह **एक सिद्धांत** है। और चंद्रमा की किरणों का व्याप्त होना विषय है, उसमें जिसका चंद्रमा कर्त्ता और सुधा करण है उस 'पोतने' की अभेद संबंध से उत्प्रेक्षा की जा रही है—यह **दूसरा सिद्धांत** है।

उनमें से—पहले मत के अनुसार 'श्वेत बनाने' रूपी निमित्त का इस पद्य में उपादान नहीं है अतः इस उत्प्रेक्षा में निमित्त अनुपात्त है और विषय (चंद्रमा) उपात्त; क्योंकि उसका पद्य में वर्णन है। दूसरे मत में भी निमित्त तो वही है, अतः अनुपात्त है ही, पर इस मत में विषय (चंद्र-किरणों का व्याप्त होना) भी अनुपात्त है; क्योंकि वह निगीर्ण है—उसका 'पोतने' द्वारा ही ग्रहण कर लिया गया है। बस, इतना भेद है।

अभेद संबंध द्वारा **द्रव्यस्वरूपोत्प्रेक्षा**; जैसे—

कलिन्दशैलादियमाप्रयागं केनाऽपि दीर्घा परिखा निखाता।
मन्ये तलस्पर्शविहीनमस्यामाकाशमानीलमिदं विभाति ॥

यमुना का वर्णन है। कवि कहता है—कलिंद पर्वत से लेकर प्रयाग पर्यंत, किसी ने, यह लंबी खाई खोद डाली है। माना,

इसमें (अगाध होने के कारण) नीचे के हिस्से के स्पर्श से रहित यह (यमुना-जल के रूप में) गहरा नीला आकाश प्रतीत हो रहा है।

यहाँ 'नीलेपन' और 'लंबेपन' को निमित्त मानकर यमुना में आकाश के अभेद की उत्प्रेक्षा की गई है। आकाश एक है, अतः 'आकाशत्व' आकाशरूप ही पदार्थ है, जातिरूप नहीं; कारण, अनेक में रहनेवाला धर्म ही जातिरूप हो सकता है, एक में रहनेवाला नहीं। सो आकाशस्वरूप आकाशत्व द्रव्यरूप होता है, अतः इस पद्य में 'द्रव्योत्प्रेक्षा' हुई। आप कहेंगे—आकाशत्व को आकाशरूप ही क्यों माना जाय ? 'शब्द का आश्रय होना' आकाशत्व का स्वरूप क्यों नहीं माना जाता ? हम कहते हैं—ऐसा मानना अनुभव-विरुद्ध है। आकाश शब्द का अर्थ 'शब्द के आश्रय' रूप में ही उपस्थित होता हो ऐसा नहीं है। 'शब्द का आश्रय' अर्थ न समझने पर भी आकाश शब्द से ही हमें आकाश पदार्थ का बोध हो जाता है—अतः आकाशत्व को शब्द का आश्रय होना रूप मानना उचित नहीं।

आकाश में 'नीलेपन' रूपी निमित्त-धर्म को सिद्ध करने के लिये इस पद्य का तीसरा चरण ('नीचे के हिस्से के स्पर्श से रहित' यह विशेषण) निर्माण किया गया है (क्योंकि आकाश के नीला दिखाई देने का कारण उसके पेंदे तक दृष्टि न पहुँचना है)। और आकाश में 'लंबेपन' रूपी निमित्तधर्म

के सिद्ध करने के लिये इस पद्य का पूर्वार्ध बनाया गया है। अर्थात् इतनी लंबी 'खाई खोदना' लिखा गया है (क्योंकि खड्डे के अनुसार ही उसके अंदर का आकाश होता है)।

जाति आदि के अभावों की उत्प्रेक्षा; जैसे—

बाहुजानां समस्तानामभाव इव मूर्त्तिमान्।
जयत्यतिबलो लोके जामदग्न्यः प्रतापवान्॥

समस्त क्षत्रियों का, मानो, मूर्त्तिमान् अभाव हो ऐसे महापराक्रमी प्रतापी परशुराम, संसार में, सब से उत्कृष्ट हैं।

इस पद्य में क्षत्रियत्व **जाति से अवच्छिन्न अभाव** (अत्यंताभाव) **की**, क्षत्रियत्व जाति के विरोधी होने को निमित्त मान कर, **उत्प्रेक्षा** की जा रही है। यदि इसी पद्य में 'अभाव इव' के स्थान पर 'विनाश इव' पाठ कर दिया जाय तो यही पद्य '**ध्वंसाभाव**' **की उत्प्रेक्षा** का उदाहरण हो जायगा।

और यदि इसी पद्य का पहला चरण "**समस्तलोक दुःखानाम्**—सब लोगों के दुःख के" इस तरह बना दिया जाय तो यही पद्य **गुणाभाव की उत्प्रेक्षा** का उदाहरण हो जायगा; क्योंकि 'दुःख' गुण है।

द्यौरञ्जनकालीभिर्जलदालीभिस्तथावव्रे।
जगदखिलमपि यथाऽऽसीन्निर्लोचनवर्गसर्गमिव॥

आकाश, काजल-सी काली मेघों की पंक्तियों से ऐसे घिर गया; जैसे, मानो, सारे संसार में नेत्रहीनों के थोकों की

सृष्टि हुई हो—अर्थात् मेघाडम्बर के मारे सब लोग अंधे हो गए, कोई किसी को दिखाई नहीं देता था।

यहाँ 'नेत्र-संबंधी ज्ञान से सर्वथा रहित होने' को निमित्त मानकर, अंततो गत्वा **क्रिया** (दिखाई देने) के **अभावरूप** धर्म **की** उत्प्रेक्षा की जा रही है।

इसी तरह **द्रव्याभाव की उत्प्रेक्षा** भी स्वयं सोच लेनी चाहिए।

मालोत्प्रेक्षा

उत्प्रेक्षा मालारूप भी हो सकती है; जैसे—

द्विनेत्र इव वासवः करयुगो विवस्वानिव
द्वितीय इव चन्द्रमाः श्रितवपुर्मनोभूरिव।
नराकृतिरिवाम्बुधिर्गुरुरिव क्षमामागतो
नुतो निखिलभूसुरैर्जयति कोऽपि भूमीपतिः॥

मानो दो आँखवाला इंद्र हो, मानो दो कर (हाथ + किरण) वाला सूर्य हो, मानो दूसरा चंद्रमा हो, मानो देह-धारी कामदेव हो, मानो मनुष्य के से आकारवाला समुद्र हो और मानो पृथ्वी पर आए बृहस्पति हों ऐसा, समस्त ब्राह्मणों से प्रशंसित एक (अनिर्वचनीय) राजा सर्वोत्कृष्ट है।

यहाँ राजा में रहनेवाले "दो आँखवालापन" आदि धर्म इंद्र आदि के साथ अभेद के विरोधी हैं—क्योंकि इंद्रादिक में वे बातें नहीं हैं; अत: विरोध मिटाने के लिये आरोपित किये

जानेवाले इंद्रादिक में भी उनका आरोप करके, उन धर्मों को साधारण कर दिया गया है।

आप कहेंगे—यहाँ उपमा ही क्यों नहीं मान लेते ? हम कहते हैं—यहाँ उपमा का निरूपण नहीं हो सकता। कारण, उपमा मानने पर इंद्रादिक को "दो आँखवाले" आदि कहना निरर्थक हो जायगा; क्योंकि उपमा तो बिना उन विशेषणों के भी हो सकती है। आप कहेंगे—"दो आँखवाला होने" आदि के रूप में की जानेवाली साधारणता उपमा सिद्ध करने के लिये है—अर्थात् ये तो उपमा के साधक समान धर्म हैं। तो यह ठीक नहीं। कारण इनके न होने पर भी व्यंग्य "परम ऐश्वर्य" आदि के द्वारा उपमा सिद्ध हो सकती है। दूसरे, ये धर्म सुंदर (चमत्कार-जनक) भी नहीं और कवि इन्हें उपमा के साधक मानता भी नहीं। यहाँ 'दो आँखवाला होने' आदि धर्मों से इंद्रादि की तुलना कवि को अभिप्रेत नहीं; क्योंकि 'दो आँखवाला होने के कारण यह राजा इंद्र के समान है' इस बात को मूर्ख भी मानने को तैयार नहीं (यदि ऐसा ही हो तो 'रामू' नाई और 'श्यामू' कुम्हार भी इंद्र के समान क्यों न कहे जायँ ?) इसी तरह 'दूसरा होने' आदि का चंद्रादिक में आरोप भी उपमा मानने पर निरर्थक हो जायगा; क्योंकि सदृश पदार्थ तो दूसरा होता ही है।

हाँ, अभेद-ज्ञान में ये सब विशेषण काम के हो सकते हैं; क्योंकि अभेद-ज्ञान में हमें ये बोध प्रतिकूल पड़ते हैं कि—इंद्र

हजार आँखोंवाला है, सूर्य सहस्र कर (किरण) वाला है, चंद्रमा विधाता की सृष्टि में एक है, कामदेव शरीर-रहित है, समुद्र जलरूप है एवं बृहस्पति स्वर्ग में रहता है; और राजा में ये बातें हैं नहीं; फिर उनके साथ प्रकृत राजा का अभेद कैसे हो सकता है ? उसे दूर करने में इन विशेषणों का उपयोग है। अत: यहाँ उत्प्रेक्षा ही है, उपमा नहीं।

एक समझने की बात

इसी पद्य में से यदि 'इव' शब्द हटा लिए जायँ तो यही पद्य **दृढ़ारोप रूपक** का, यदि ('इव' शब्द रहे और) उपमानों के विशेषण ('दो आँखवाले होना') आदि हटा लिए जायँ तो **उपमा** का और यदि 'इव' शब्द और पूर्वोक्त विशेषण दोनों ही हटा लिए जायँ तो **शुद्ध रूपक** का उदाहरण हो सकता है। यह समझ लेने की बात है।

इस तरह 'स्वरूपोत्प्रेक्षा' का संक्षेप दिखाया गया है।

हेतूत्प्रेक्षा

अब हेतूत्प्रेक्षा लीजिए। जाति-हेतूत्प्रेक्षा, जैसे—

त्वत्प्रतापमहादीपशिखाविपुलकज्जलैः ॥
नूनं नभस्तले नित्यं नीलिमा नूतनायते ॥

(हे राजन् !) मानो, आपके प्रतापरूपी महादीपक की लौ (शिखा) के विपुल काजलों से आकाश में 'नीलापन' नित नया सा होता रहता है।

इस पद्य में 'नीलेपन' के साथ उत्प्रेक्षित 'काजलों' की हेतुरूप में उत्प्रेक्षा की गई है। (अतः यह जाति-हेतूत्प्रेक्षा है।)

इस पद्य में यदि "विपुल-कज्जलैः" के स्थान में "कज्जल-लेपनैः" पाठ कर दिया जाय तो यही पद्य क्रिया-हेतूत्प्रेक्षा का उदाहरण हो जायगा।

गुण-हेतूत्प्रेक्षा; जैसे—

परस्परासङ्गसुखान्नतभ्रुवः पयोधरौ पीनतरौ बभूवतुः।
तयोरमृष्यन्नयमुन्नतिं परामवैमि मध्यस्तमिमानमञ्चति ॥

नतभ्रू के दोनों स्तन, मानो, परस्पर आसक्त होने—बढ़ बढ़कर मिल जाने—के सुख से अत्यंत पुष्ट हो गए हैं। मानो, उनकी अत्यंत उन्नति को न सहता हुआ मध्यभाग (कटि-प्रदेश) कृशता को प्राप्त हो रहा है।

यहाँ, पूर्वार्ध में, 'सुख'रूपी गुण का हेतु होना तो पंचमी विभक्ति ('सुखात् = सुख से') द्वारा ही बता दिया गया है। उत्तरार्ध में धर्मी (मध्यभाग) के विशेषणरूप में अनुवाद्यरूप से आए गुण ('सहन = क्षमा') के अभाव का हेतु होना अर्थप्राप्त है। जैसे "खानेवाला अथवा खा रहा (मनुष्य) तृप्त होता है" इत्यादि वाक्यों में 'खाने' आदि का तृप्ति आदि के हेतु होना अर्थतः प्राप्त हो जाता है—अर्थात् ऐसे वाक्यों में 'कारण' आदि शब्दों के न होने पर भी जैसे 'खाने के कारण तृप्त हो रहा है' इत्यादि, समझ में आ जाता है वही बात यहाँ भी है।

अथवा जैसे—

व्यागुञ्जन्मधुकरपुञ्जमञ्जुगीता-
माकर्ण्य स्तुतिमुदयत्रपातिरेकात् ।
आभूमीतलनतकन्धराणि मन्येऽ-
रण्येऽस्मिन्नवनिरुहां कुटुम्बकानि ॥

इस वन में, अच्छी तरह गुंजारते भौंरों के झुंडों द्वारा (अपनी) प्रशंसा सुनकर, मानो, उत्पन्न हुई लज्जा की अधिकता के कारण, वृक्ष-समूह, अपनी गरदनें पृथ्वीतल तक झुकाए हुए हैं ।

(यहाँ 'अधिकता' रूपी गुण के हेतु होने की उत्प्रेक्षा है ।)

क्रियाहेतूत्प्रेक्षा; जैसे—

महागुरुकलिन्दमहीधरोदरविदारणाविर्भवन्महापातकावलिर्वेल्लनादिव श्यामलिता ।

यमुना का वर्णन है—(जो यमुना) महागुरु (जन्मदाता) 'कलिंद' पर्वत का उदर विदीर्ण करने से उत्पन्न महापातकों की पंक्ति के मानो, प्राप्त हो जाने के कारण, काली हो गई है ।

द्रव्यहेतूत्प्रेक्षा; जैसे—

वराका यं राकारमण इति वल्गन्ति सहसा
सरः स्वच्छं मन्ये मिलदमृतमेतन्मखभुजाम् ।
अमुष्मिन् या काऽपि द्युतिरतिघना भाति मिषता-
मियं नीलच्छायादुपरि निरपायाद्गगनतः ॥

कवि कहता है—जिसकी, पामर लोग 'पूरी पूर्णिमा का पति (चंद्रमा) है' इस तरह प्रशंसा करते हैं इसे, मैं, अमृत-युक्त देवताओं का स्वच्छ सरोवर मानता हूँ। इसके अंदर देखनेवालों को जो अत्यंत गहरी (अतएव काली) चमक दिखाई देती है, यह चमक (उसके) ऊपरवाले नीलकांति-युक्त और प्रतिबंधरहित आकाश के कारण है।

यहाँ अमृत-सरोवर के रूप में उत्प्रेक्षित चंद्रमा में, नीलता के अंतःप्रविष्ट (नीलता द्वारा ग्रहण किए गए) 'कलंक' की (अमृत-सरोवर के) ऊपरवाले आकाश के कारण होने की उत्प्रेक्षा की जा रही है।

इस उदाहरण से प्राचीनों का यह प्रवाद (अफवाह) कि—द्रव्य की हेतुरूप में उत्प्रेक्षा नहीं होती, उड़ जाता है।

जाति आदि के ही अभावों की हेतूत्प्रेक्षा

जाति के अभाव की हेतूत्प्रेक्षा; जैसे—

नितान्तरमणीयानि वस्तूनि करुणोज्झितः।
कालः संहरते नित्यमभावादिव चक्षुषः॥

काल, अत्यंत सुंदर वस्तुओं को, मानो नेत्र न होने के कारण, निर्दय होकर नित्य संहार करता रहता है—यदि आँख होती तो उससे यह क्रूर कार्य न बन पड़ता।

यहाँ काल के स्वाभाविक संहार में 'नेत्रों के अभाव' की हेतुरूप में उत्प्रेक्षा की गई है।

निःसीमशोभासौभाग्यं नताङ्ग्या नयनद्वयम्।
अन्योन्यालोकनानन्दविरहादिव चञ्चलम्॥

सीमारहित शोभा के सौभाग्य रूप, नतांगी के दोनों नेत्र, मानो, परस्पर देखने के आनंद से रहित होने के कारण, चंचल हो रहे हैं।

यहाँ गुण ('आनंद') के अभाव की हेतुरूप में उत्प्रेक्षा की गई है।

जनमोहकरं तवाऽऽलि मन्ये चिकुराकारमिदं घनान्धकारम्।
वदनेन्दुरुचामिहाऽप्रचारादिव तन्वङ्गि! नितान्तकान्तिकान्तम्॥

सखी नायिका से कहती है—हे सखि! लोगों के मोहित करनेवाले तेरे केशों के आकार में, मैं, यह गहरा अंधकार मानती हूँ—अर्थात् यह केश नहीं किंतु अंधकार है। हे कृशांगि, मानो, यहाँ मुखरूपी चंद्रमा की कांति का प्रचार न होने के कारण यह अंधकार गहरी नीली कांति से मनोहर हो रहा है।

यहाँ, उत्तरार्ध में, क्रिया ('प्रचार') के अभाव की हेतुरूप में उत्प्रेक्षा की गई है; और पूर्वार्ध में तो (मीमांसकों के हिसाब से; क्योंकि वे अंधकार को पृथक् पदार्थ मानते हैं) जाति से अवच्छिन्न पदार्थ की, अथवा (नैयायिकों के हिसाब से;

क्योंकि वे अंधकार को तेज का अभावरूप मानते हैं) जाति से अवच्छिन्न अभाव की स्वरूपोत्प्रेक्षा ही है।

न नगाः काननगा यद्रुदतीषु तदरिभूप-सुदतीषु।
शकलीभवन्ति शतधा, शङ्के, श्रवणेन्द्रियाभावात्॥

कवि कहता है—(राजन्!) आपके शत्रु-राजाओं की सुंदरियों के रोने पर जंगल के वृक्षों (अथवा पहाड़ों) के जो सैकड़ो टुकड़े नहीं हो जाते, मानो, इसका कारण कर्णेंद्रिय का अभाव है।

यहाँ कर्णेंद्रिय जाति, गुण और क्रियाओं से भिन्न है—वह इन तीनों में से एक भी नहीं। विवेचन करने पर वह आकाशस्वरूप सिद्ध होती है, जो कि एक द्रव्य है। अतः आकाश का अभाव द्रव्याभाव हुआ, उस अभाव की यहाँ हेतुरूप में उत्प्रेक्षा की गई है। उत्प्रेक्षा का निमित्त है 'टुकड़े होने' रूपी क्रिया का अभाव।

यह है हेतूत्प्रेक्षा का संक्षेप।

फलोत्प्रेक्षा

जाति-फलोत्प्रेक्षा; जैसे—

दिवानिशं वारिणि कण्ठदघ्ने दिवाकराराधनमाचरन्ती।
वक्षोजतायै किमु पक्ष्मलाक्ष्यास्तपश्चरत्यम्बुजपंक्तिरेषा॥

कवि कहता है—दिन-रात गले भर पानी में सूर्य की आराधना करती हुई यह कमलों की पंक्ति, क्या सुनयनी के स्तनत्व के लिये तप कर रही है।

यहाँ 'स्तनत्व' एक अंग (स्तन) में रहनेवाला धर्म है। (मूल में) 'ता' (और भाषार्थ में 'त्व') प्रत्यय का अर्थ जाति है; कारण, 'त्व' और 'ता' प्रत्यय जिस शब्द से किए जाते हैं, उनका उस शब्द के अर्थ के प्रवृत्तिनिमित्तरूप भाव में विधान होता है (और प्रवृत्ति निमित्त जाति, गुण, क्रिया और द्रव्य—इस तरह कुल चार प्रकार के हैं. उनमें से 'स्तन' का प्रवृत्ति निमित्त जातिरूप है, अतः यहाँ 'त्व' अथवा 'ता' प्रत्यय का अर्थ जाति हुआ)। उसी जातिरूप अर्थ की, यहाँ, (कमलों के) स्वाभाविक धर्म—जल में रहने—से अभिन्न मानी हुई 'तप करने' रूपी क्रिया के फलरूप में उत्प्रेक्षा की जा रही है। अतः यह जाति-फलोत्प्रेक्षा है।

आप कहेंगे—यहाँ तप का फल 'स्तनत्व की प्राप्ति' है, स्तनत्व नहीं, सो बिना 'प्राप्ति' क्रिया के केवल जाति (स्तनत्व) फल-रूप नहीं हो सकती। तो फिर यहाँ 'स्तनत्व' न मान-कर 'स्तनत्व की प्राप्ति' रूपी क्रिया को ही फलरूप क्यों नहीं माना जाता? इसका उत्तर यह है कि 'प्राप्ति' क्रिया यहाँ 'संसर्ग' रूप से प्रतीत होती है—वह किसी शब्द का अर्थ नहीं; अतः उसे फलरूप नहीं माना जा सकता। हाँ, इसमें कोई संदेह नहीं कि उसके द्वारा ही जाति आदि का फलरूप होना बन सकता है। अन्यथा 'फल'रूपी अर्थ को सम-झानेवाली चतुर्थी विभक्ति ('वक्षोजतायै') बन नहीं सकती; क्योंकि 'स्तनत्व' स्तनों में बैठा बैठा थोड़े ही उस तपस्या का

फल बन सकता है, जब कमलों को उसकी प्राप्ति हो तभी वह फलरूप हो सकता है। अतएव तो "**ब्राह्मण्याय तपस्तेपे विश्वामित्रः सुदारुणम्**—विश्वामित्र ने ब्राह्मणत्व के लिये अत्यंत दारुण तप किया (वा० रा०)" इत्यादि प्रयोग होते हैं। सारांश यह कि—ऐसे सब प्रयोगों में 'जाति' फलरूप और प्राप्ति संसर्गरूप होती है, अन्यथा जातिवाचक शब्द से चतुर्थी न हो सके, अत: यहाँ जाति की ही फलरूप में उत्प्रेक्षा की गई है—यह मानना उचित है।

गुण-फलोत्प्रेक्षा; जैसे—

वियोगवह्निकुण्डेऽस्मिन् हृदये ते वियोगिनि ! ।
प्रियसंगसुखायेव मुक्ताहारस्तपस्यति ॥

हे वियोगिनी ! इस विरहाग्नि के कुंड रूप तेरे हृदय में मोतियों का हार-रूपी अनशन व्रती (उपवास करनेवाला), मानो, प्रियतम के संग के सुख के लिये तपस्या कर रहा है।

(यहाँ 'सुख'रूपी गुण की फल रूप में उत्प्रेक्षा स्पष्ट ही है।)

क्रिया-फलोत्पेक्षा; जैसे—

हालाहलकालानलकाकोदरसंगतिं करोति विधुः ।
अभ्यसितुमिव तदीयां विद्यामद्यापि हरशिरसि ॥

आज दिन भी महादेवजी के शिर पर स्थित चंद्रमा, विष, प्रलयानल और साँपों की संगति, मानो, उनकी विद्या (मार डालने) का अभ्यास करने के लिये, कर रहा है।

यहाँ विरही के वाक्य में 'अभ्यास करने' रूपी क्रिया का फलरूप होना (मूल में) 'तुमुन्' प्रत्यय द्वारा प्रतीत होता है (और भाषा में 'के लिये' प्रत्यय द्वारा)।

इसी तरह लक्ष्य के अनुसार यथासंभव अन्य उदाहरण भी दिए जा सकते हैं।

जाति आदि के कारण उत्प्रेक्षा के भेद निरर्थक हैं

यहाँ जाति आदि भेदों के उदाहरण अलंकारसर्वस्वकार आदि प्राचीन विद्वानों के अनुरोध से दे दिए गए हैं। वस्तुतः तो इनके चमत्कार में कोई विलक्षणता नहीं है, अतः इन उदाहरणों की कोई आवश्यकता नहीं। कारण, चमत्कार की विलक्षणता केवल हेतु, फल और स्वरूप—इन तीन भेदों में ही है। अर्थात् **वस्तुतः उत्प्रेक्षा के, हेतूत्प्रेक्षा, फलोत्प्रेक्षा और स्वरूपोत्प्रेक्षा ये ही तीन भेद होने चाहिए**, अन्य भेद निरर्थक हैं।

गम्योत्प्रेक्षा के उदाहरणों के विषय में

पूर्वोदाहृत पद्यों में ही 'इव' आदि उत्प्रेक्षावाचक शब्द छोड़ दिए जायँ तो प्रतीयमाना (गम्या) उत्प्रेक्षाएँ हो सकती हैं; क्योंकि वहाँ केवल अर्थ के बल पर, अंततः, उत्प्रेक्षा माननी पड़ती है। पर साथ ही इतना और समझ लीजिए कि यहाँ प्रतीयमाना अथवा गम्या का अर्थ व्यंग्य

नहीं है। ऐसा भ्रम उचित नहीं। कारण, प्रस्तुत में व्यंग्योत्प्रेक्षा का कोई प्रसंग नहीं—यहाँ तो सामग्री के प्रबल होने के कारण अर्थतः प्राप्त उत्प्रेक्षा का वर्णन है।

धर्मस्वरूपोत्प्रेक्षा

धर्मस्वरूपोत्प्रेक्षा; जैसे—

निधिं लावण्यानां तव खलु मुखं निर्मितवतो
महामोहं मन्ये सरसिरुहसूनोरुपचितम्।
उपेक्ष्य त्वां यस्माद्विधुमयमकस्मादिह कृती
कलाहीनं दीनं विकल इव राजानमतनोत्॥

सौंदर्य के निधिरूप तुम्हारा मुँह बना चुकने पर, मैं समझता हूँ, ब्रह्मा को महामोह उमड़ आया। क्योंकि इसने कुशल होते हुए भी, तुम्हारी उपेक्षा करके, कलाओं से हीन और दीन चंद्रमा को, घबराए की तरह, राजा* बना दिया—उसे सूझ ही न पड़ा कि राजा बनाने के योग्य तुम हो अथवा चंद्रमा।

इस पद्य के पूर्वार्ध में 'ब्रह्मा' रूपी धर्मी में 'मोह' रूपी धर्म की उत्प्रेक्षा की गई है। उस धर्म की सिद्धि के लिये, उत्तरार्ध में, उसके साथ रहनेवाले धर्म के रूप में 'बिना विचारे करने' का ग्रहण किया गया है। सारांश यह कि—इस

---

* चंद्रमा का संस्कृत में 'राजा' भी एक नाम है, उसे लेकर यह उत्प्रेक्षा की गई है।

उत्प्रेक्षा का निमित्त-धर्म है 'बिना विचारे करना', जो कि 'मोह' के साथ रहनेवाला धर्म है।

निमित्त-धर्म के विषय में कुछ विचार

उत्प्रेक्षा में जब स्वरूप विषयी होता है तब—अर्थात् जहाँ स्वरूपोत्प्रेक्षा होती है वहाँ, निमित्तरूप में आनेवाला धर्म, उपमा की ही तरह, बिंब-प्रतिबिंब-भाव आदि भेदों से युक्त होता है। वह धर्म कहीं उपात्त (शब्द द्वारा वर्णित) और कहीं अनुपात्त (अर्थत: प्राप्त) होता है।

किंतु जहाँ हेतु और फल विषयी होते हैं वहाँ—अर्थात् हेतूत्प्रेक्षा और फलोत्प्रेक्षा में तो उसी धर्म के प्रति हेतु और फल का निरूपण होता है। अत: वह धर्म कल्पित होने पर भी (स्वाभाविक भी हो सकता है), उत्प्रेक्षा के 'विषय' में रहनेवाले स्वाभाविक धर्म से अभिन्न माना जाता है और वही उत्प्रेक्षा का निमित्त होता है। अत: वह धर्म उपात्त ही होता है, अनुपात्त कभी नहीं। अन्यथा हेतु और फल का अन्वय होगा किसके साथ ?

सारांश यह कि—स्वरूपोत्प्रेक्षा में निमित्त-धर्म उपात्त और अनुपात्त दोनों रूपों में रह सकता है; पर हेतूत्प्रेक्षा और फलोत्प्रेक्षा में उसका उपात्त होना अनिवार्य है; क्योंकि वहाँ हेतु और फल उसी धर्म के सिद्ध करने के लिये वर्णन किए जाते हैं—उसके वर्णन के बिना हेतु और फल का वर्णन ही असंबद्ध हो जाय।

शाब्द बोध

शाब्द बोध के विषय में मतभेद

१

प्राचीनों का मत

उत्प्रेक्षा के विषय में प्राचीनों ने और आधुनिकों ने अनेक प्रकार के सिद्धांत स्थिर किए हैं। उनमें से प्राचीनों का सिद्धांत यों है—

विषयी की विषय में उत्प्रेक्षा सर्वत्र (चाहे विषय धर्मिरूप हो चाहे धर्मरूप) अभेद संबंध से ही होती है, अन्य किसी संबंध से नहीं। इस बात को वे यों सिद्ध करते हैं कि—'धर्मिस्वरूपोत्प्रेक्षा' के उदाहरण "मुख मानो चंद्रमा है" इत्यादिक में तो विषयी—चंद्रमा—का विषय—मुख—में अभेद स्पष्ट ही है। कारण, दो प्रातिपदिकार्थों का भेद-संबंध द्वारा साक्षात् अन्वय व्युत्पत्ति के विरुद्ध है। और यह उत्प्रेक्षा उपात्तविषया है; क्योंकि यहाँ विषय—मुख—शब्द द्वारा प्रतिपादित है। सो 'धर्मिस्वरूपोत्प्रेक्षा' में तो अभेद संबंध से उत्प्रेक्षा मानना निस्संदेह है ही। इसी तरह

"अस्यां मुनीनामपि मोहमूहे भृगुर्महान् यत् कुचशैलशीली।
नानारदाह्लादि मुखं श्रितोरुर्व्यासो महाभारतसर्गयोग्यः॥

दमयंती का वर्णन है। नल कहता है—दमयंती के विषय में मैं मुनियों के भी मोह की तर्कना करता हूँ—मैं सोचता हूँ कि इसे देखकर उन्हें भी अवश्यमेव मोह हो गया है। क्योंकि महान् (पूजनीय; वस्तुत:—बड़ा भारी 'भृगु') (एक ऋषि; वस्तुत:—बिना किनारे का ढलाव, जिसे 'भैंरूँ झाँप' कहते हैं) (इसके) कुचरूपी पहाड़ का सेवन कर रहा है। मुख 'नानारदाह्लादि' (नारद को संतुष्ट न करे ऐसा नहीं, किंतु अवश्य संतुष्ट करनेवाला; वस्तुत:—अनेक दाँतों के कारण आनंदजनक) है। और 'महाभारतसर्गयोग्य' (महाभारत बनाने की योग्यता रखनेवाला; वस्तुत:—'महाभा:' = महान् कांतिवाला और 'रतसर्गयोग्य:' = रति की सृष्टि के योग्य) 'व्यास' (कृष्ण द्वैपायन; वस्तुत:—विस्तार) ने इसकी जाँघों का आश्रय ले रखा है।"

इस 'नैषधकाव्य' के पद्य में जो 'धर्म-स्वरूपोत्प्रेक्षा (मोह की उत्प्रेक्षा) है, उसमें भी मुनियों से संबंध रखनेवाले अन्य किसी धर्म ('देखने' आदि) रूपी विषय में दमयंती-विषयक मोह (रूपी विषयी) की अभेद संबंध से ही उत्प्रेक्षा है। रही यह बात कि—फिर यहाँ विषय ('देखने' आदि) का वर्णन क्यों नहीं ? सो इसका उत्तर यह है कि—यह उत्प्रेक्षा साध्यवसाना है—यहाँ विषय विषयी के अंत:प्रविष्ट है, अत: उसका ग्रहण न करना संगत है—अर्थात् ऐसा करने में कोई असंगति नहीं। इस उत्प्रेक्षा का निमित्त धर्म है 'उन उन अंगों में मुनियों का आसक्त हो जाना'।

इसी तरह

"लिम्पतीव तमोऽङ्गानि वर्षतीवाऽञ्जनं नभः।

अंधकार, मानो, अंगों को (काले रंग से) पोत रहा है; आकाश, मानो, काजल बरस रहा है ।"

इत्यादि किसी कवि के पद्य में, प्रथमांत 'कर्त्ता' (अंधकार और आकाश) में 'पोतना' और 'बरसना' रूपी क्रियाओं के 'कर्त्तृत्व (कर्त्ता होने)' की उत्प्रेक्षा नहीं है। कारण, वह (कर्त्तृत्व) आख्यात (तिङ्='लिम्पति' आदि में 'ति' आदि प्रत्यय) के अर्थ (आश्रय) का विशेषण है; अतः वाक्य का प्रधान अंश नहीं, किंतु एक देश है। सो मुख्य न होने के कारण यहाँ 'कर्त्तृत्व' रूपी धर्म की उत्प्रेक्षा नहीं कही जा सकती। और न 'पोतने' आदि के कर्त्ता की अभेद संबंध द्वारा (अंधकार आदि में) उत्प्रेक्षा ही कही जा सकती है; क्योंकि 'कर्त्ता' भी क्रिया* का विशेषण है, अतः प्रधान नहीं है। किंतु यहाँ, जिसका 'अंधकार' कर्त्ता है और 'अंग' कर्म है उस 'पोतने' (रूपी क्रिया) की, तथा जिसका आकाश कर्त्ता है और काजल कर्म है उस 'बरसने' (रूपी क्रिया) की उत्प्रेक्षा की जा रही है। उन दोनों उत्प्रेक्षित किए जानेवालों—अर्थात् 'पोतने' और 'बरसने'—द्वारा,

---

* याद रखिए कि वैयाकरणों के मत से वाक्य भर में क्रिया ही प्रधान होती है और अन्य सब शब्दों के अर्थ उसके विशेषण होते हैं।

जिसका अंधकार कर्त्ता है वह 'व्याप्त होना' (रूपी क्रिया) जो इस उत्प्रेक्षा का विषय है, निगीर्ण (उदरस्थ) कर लिया गया है, अतः उस—व्याप्त होने—को यहाँ नहीं लिखा गया। तात्पर्य यह कि 'अंधकार व्याप्त हो रहा है' इस वाक्य के स्थान पर कवि कह रहा है कि—'अंधकार, मानो, अंगों को (काले रंग से) पोत रहा है' और 'आकाश, मानो, काजल बरस रहा है'; अतः वास्तविक 'व्याप्त होने' को उत्प्रेक्षा का विषय और 'पोतने' तथा 'बरसने' को विषयी माना जाना चाहिए और वह 'व्याप्त होना' इन्हीं शब्दों से सूचित हो जाता है, अतः उसे पृथक् नहीं लिखा गया है। अतएव ऐसे ऐसे स्थलों में यह (उत्प्रेक्षा) अनुपात्तविषया कहलाती है। इस उत्प्रेक्षा का निमित्त-धर्म है 'काले कर डालना' आदि; सो अनुपात्त है ही।

(सारांश यह कि—प्राचीनों के हिसाब से धर्मोत्प्रेक्षा भी अभेद संबंध से ही होती है और उसके विषय तथा निमित्त धर्म हमेशा अनुपात्त ही रहते हैं। धर्म प्रायः दो प्रकार के होते हैं—गुणरूप और क्रियारूप; उनमें से गुणरूप धर्म की उत्प्रेक्षा का उदाहरण है उपर्युक्त 'नैषध' का पद्य और क्रियारूप धर्म की उत्प्रेक्षा का उदाहरण है "लिम्पतीव तमोऽङ्गानि······" यह पद्य।)

अतएव मम्मट भट्ट ने

"सम्भावनमथोत्प्रेक्षा प्रकृतस्य समेन।

प्रस्तुत विषय की उसके सदृश के साथ संभावना को उत्प्रेक्षा कहते हैं ।"

यह लक्षण बनाकर "लिम्पतीव तमोऽङ्गानि......" इस उदाहरण के विषय में कहा है कि—"व्यापनादिलेपनादि-रूपतया संभावितम् = अर्थात् यहाँ 'व्याप्त होने' आदि की 'पोतने' आदि के रूप में संभावना की गई है ।"

इसी तरह

"उन्मेषं यो मम न सहते जातिवैरी निशाया-
मिन्दोरिन्दीवरदलदृशा तस्य सौन्दर्यदर्पः ।
नीतः शान्तिं प्रसभमनया वक्त्रकान्त्येति हर्षा-
ल्लग्ना मन्ये ललिततनु ! ते पादयोः पद्मलक्ष्मीः ॥

नायक नायिका से कहता है—(पद्म समझता है कि) 'जो रात्रि में मेरे विकास को सहन नहीं करता उस मेरे जन्म-वैरी चंद्रमा का सुंदरता-संबंधी अभिमान, इस कमलदलनयनी ने (अपनी) मुख-कांति द्वारा, बलात्, शांत कर दिया ।' मानो, इस हर्ष के कारण, हे ललिततनु, पद्म की शोभा तेरे पैरों में चिपट पड़ी है ।"

इत्यादिक प्राचीनों के पद्य में, जो हेतूत्प्रेक्षा है उसमें भी, "शोभा' रूपी विषय में केवल 'हर्ष'रूपी हेतु की उत्प्रेक्षा नहीं की जा रही है, किंतु 'हर्ष' जिसका हेतु है उस 'चिपटने' आदि विषयी की, अभेद संबंध द्वारा, स्वाभाविक 'चिपटने' आदि विषय में, उत्प्रेक्षा की जा रही है—अर्थात् पद्म की

शोभा पैरों में स्वभावतः चिपटी ही हुई है, न कि हर्ष के कारण; उस स्वभावतः चिपटने में 'हर्ष के कारण चिपटने' (जो कि कल्पित है) की उत्प्रेक्षा की जा रही है।

जो लोग (स्वाभाविक चिपटनेरूपी) कार्य को उत्प्रेक्षा का निमित्त मानते हैं, उनके विषय में प्राचीनों का कथन है कि—उन्हें भी यह अवश्य कहना पड़ेगा कि ('हर्ष के कारण चिपटने' का) विषय (पैरों) में रहनेवाले उसके सजातीय ('स्वाभाविक चिपटने') के साथ अभेद माना गया है। कारण, जब तक ये दोनों 'चिपटने' एक नहीं माने जायँगे तब तक 'चिपटना' उत्प्रेक्षा का निमित्त कैसे बन सकता है? क्योंकि निमित्त बननेवाला धर्म विषय और विषयी दोनों में अभिन्न रूप से अवश्यमेव रहना चाहिए। अन्यथा हेतुरूपी विषयी के धर्म के साथ रहनेवाले कार्य ('चिपटने') के विषय (पैरों) में न रहने के कारण उत्प्रेक्षा ही न हो सकेगी। अर्थात् उन्हें भी 'स्वाभाविक चिपटने' को और 'हर्ष के कारण चिपटने' के अंतःप्रविष्ट माने बिना तो गति है नहीं। अतः जो कुछ हमने बताया है वही प्रक्रिया उचित है।

इसी तरह

चोलस्य यद्भीतिपलायितस्य भालत्वचं कण्टकिनो वनान्ताः।
अद्यापि किंवाऽनुभविष्यतीति व्यपाटयन् द्रष्टुमिवाऽक्षराणि॥

राजा नृसिंहदेव का वर्णन है—जिसके डर से भगे हुए चोल-नरेश के ललाट की चमड़ी को, कँटीले वन-प्रदेशों ने,

अब भी 'न जाने यह क्या अनुभव करेगा' इस कारण, मानो, (विधाता के) अक्षर देखने के लिये, उधेड़ डाली।

इस किसी कवि के पद्य की फलोत्प्रेक्षा में, कँटीले वन-प्रदेश रूपी विषय में न केवल 'ललाट की चमड़ी उधेड़ना' जिसका निमित्त है उस 'विधाता के अक्षर देखने' की उत्प्रेक्षा की जा रही है, किंतु 'वह (अक्षर देखना) जिसका फल है उस ललाट की चमड़ी उधेड़ने' आदि विषयी की 'काँटों द्वारा किए गए उधेड़ने' आदि विषय में अभेद संबंध द्वारा उत्प्रेक्षा की जा रही है। तात्पर्य यह कि—इस पद्य में 'कँटीले वन-प्रदेश' उत्प्रेक्षा का विषय और 'विधाता के अक्षर देखना' विषयी नहीं हैं, किंतु 'काँटों द्वारा किया गया उधेड़ना' विषय और 'अक्षर देखना जिसका फल है वह ललाट की चमड़ी उधेड़ना' विषयी है।

सारांश यह कि—विषय में विषयी की उत्प्रेक्षा सर्वत्र (धर्मोत्प्रेक्षाओं में और हेतूत्प्रेक्षा तथा फलोत्प्रेक्षा में) अभेद संबंध से ही होती है—यह है प्राचीनों का सिद्धांत।

२

प्राचीनों के सिद्धांत पर विचार

इस सिद्धांत पर विचार किया जाता है—

सर्वत्र अभेद संबंध से ही उत्प्रेक्षा होती है—इस नियम में कोई प्रमाण नहीं। कारण, लक्ष्यों (उत्प्रेक्षा के उदाहरणों)

में भेद-संबंध से भी उत्प्रेक्षा देखी जाती है; जैसे "अस्यां मुनीनामपि मोहमूहे ......" इत्यादि में 'मोह' आदि की 'मुनि' आदि में उत्प्रेक्षा। यहाँ 'मुनि' और 'मोह' में अभेद संबंध थोड़े ही है ?

आप कहेंगे—(प्राचीनों के सिद्धांत में पहले ही लिखा जा चुका है कि) "वहाँ मुनियों से संबंध रखनेवाले किसी धर्म (देखने आदि) में मोह की, अभेद संबंध से, उत्प्रेक्षा है, न कि 'मुनियों में मोह' की। हम कहते हैं—जब भेद से उत्प्रेक्षा करने में कोई बाधक नहीं है तो ऐसी कल्पना व्यर्थ है। 'अभेद संबंध से ही उत्प्रेक्षा होती है' यह नियम कुछ वेद-बोधित नहीं है कि जिसके लिये ऐसा आग्रह किया जाय। लक्षणों का बनाना तो मनुष्य के अधीन है—वह जैसे लक्ष्य देखे वैसा लक्षण बना ले। यदि आपके लक्षण में केवल अभेद संबंध से ही उत्प्रेक्षा होना लिखा है तो आप उस कमी को पूरा कर दीजिए। अपने बनाए लक्षण की अपूर्णता पर मरहम-पट्टी करने के लिये झूठी कल्पनाएँ करना उचित नहीं। यह तो हुई आपके पहले उदाहरण की बात।

अब दूसरे उदाहरण "लिम्पतीव तमोऽगानि" को लीजिए। यहाँ भी 'अंधकार' आदि विषयों में 'पोतने' आदि के कर्तृत्व की ही उत्प्रेक्षा होती है—यही (मानना) उचित है। आप कहेंगे—'कर्तृत्व' तो 'अनुकूल चेष्टा (व्यापार)'* का नाम है

* "फलव्यापारयोर्धातुराश्रये तु तिङः स्मृताः" (वैयाकरणभूषणम्)

और वह होता है धातु का अर्थ। और यह नियम है कि 'धातु* का अर्थ प्रत्यय के अर्थ का विशेषण होता है और प्रत्यय का अर्थ प्रधान'। ऐसी दशा में अप्रधान रूप में आनेवाले 'कर्तृत्व' की उत्प्रेक्षा कैसे कही जा सकती है? हम कहते हैं—वह 'अनुकूल चेष्टा रूपी कर्तृत्व' ही प्रत्यय (तिङ्) का अर्थ है, और उसका प्रथमांत पद के साथ, जो कि वाक्य भर का विशेष्य होता है, अन्वय हुआ करता है। अतः कुछ भी दोष नहीं।

(इस बात को थोड़े से विस्तार से समझ लेना अच्छा होगा। बात यह है कि—प्रत्येक क्रियापद से प्रायः तीन अर्थों की प्रतीति होती है—फल, व्यापार (चेष्टा) और आश्रय। जैसे "लिंपतीव तमोंगानि = अंधकार अंगों को पोतता है" इस वाक्य के क्रियापद 'लिंपति = पोतता है' को लें तो इसमें तीन बातें दिखाई देती हैं—एक 'काला हो जाना' (जो पोतने का फल है), दूसरी एक प्रकार की (कर्त्ता की) चेष्टा (जिसे व्यापार कहते हैं) और तीसरा 'पोतनेवाले (कर्त्ता) के साथ उस चेष्टा का संबंध (जो 'आश्रयता' रूप है; क्योंकि पोतनेवाला उस चेष्टा का आश्रय होता है—वह चेष्टा उसके अंदर रहती है)। अतः "अंधकार अंगों को पोतता है" का अर्थ हमारी समझ में यह आता है कि—'अंधकार ऐसी चेष्टा का आश्रय बन रहा है जो अंगों के काले हो जाने के अनुकूल है'।

* "प्रकृतिप्रत्ययौ सहार्थं ब्रूतस्तयोः प्रत्ययार्थे प्रकृत्यर्थो विशेषणम्"।

वैयाकरणों के विचार से पूर्वोक्त तीन अर्थों में से दो अर्थ ('फल' और उसके अनुकूल 'व्यापार') धातु (संस्कृत में 'लिप्' और हिंदी में 'पोत') के अर्थ हैं और 'आश्रयता' प्रत्यय (संस्कृत में 'ति' और हिंदी में 'ता है') का अर्थ। अतः उनके हिसाब से 'अनुकूल चेष्टा' या 'कर्तृत्व' (क्योंकि यहाँ कर्तृत्व का अर्थ अनुकूल चेष्टा है) प्रत्यय के अर्थ 'आश्रयता' का विशेषण हो जाता है और अतएव वह 'लिंपति = पोतता है' पद के एक हिस्से (लिप् या 'पोत') का अर्थ होने के कारण प्रधान रूप में उत्प्रेक्षित नहीं किया जा सकता। यह है प्राचीनों की शंका। इसका समाधान पंडितराज यों करते हैं कि—धातु के फल और व्यापार ये दो अर्थ न मान कर केवल फल को धातु का अर्थ माना जाना चाहिए और 'अनुकूल चेष्टा (व्यापार)' को प्रत्यय का अर्थ मानना चाहिए। रही 'आश्रयता' सो वह किसी अंश का अर्थ नहीं, किंतु संसर्ग रूप है और जो कि 'अनुकूल चेष्टा' अथवा 'कर्तृत्व' रूपी प्रत्यय के अर्थ को प्रथमांत पद ('अंधकार' आदि) के साथ जोड़ देती है। सारांश यह कि—इस तरह यहाँ 'कर्तृत्व' ही क्रियापद का प्रधान अर्थ हो जाता है, वह एक देश का अर्थ नहीं रहता; अतः उसकी उत्प्रेक्षा होने में कोई बाधा नहीं।

आप कहेंगे—ऐसा मानने से "भावप्रधानमाख्यातम्" इस निरुक्त के वाक्य से विरोध होगा; क्योंकि उसमें लिखा

है कि—'आख्यात (तिङंत) में व्यापार प्रधान होता है' और आपके हिसाब से प्रथमांत पद प्रधान हो गया। सो कुछ है नहीं। कारण, "भावप्रधानमाख्यातम्" का अर्थ यों करिए कि—'आख्यात' (अर्थात् 'तिङ्' प्रत्यय) का 'प्रधान' (अर्थात् वाच्य) 'भाव' (अर्थात् व्यापार) होता है। आप कहेंगे—आपने 'प्रधान' शब्द का अर्थ 'वाच्य' कैसे कर लिया ? तो इसका उत्तर यह है कि (निरुक्त में ही) आगे के वाक्य "सत्त्वप्रधानानि नामानि = प्रातिपदिक द्रव्यवाची होते हैं" में 'प्रधान' शब्द का अर्थ वाच्य किया गया है, अतः यह कुछ हमारी नई कल्पना नहीं। जब आगे के वाक्य में वैसा अर्थ है ही तो फिर हमने यहाँ वैसा अर्थ करके क्या अनर्थ कर दिया ?

आप कहेंगे—यदि धातु का अर्थ केवल फल माना जाय, व्यापार नहीं; तो सकर्मक और अकर्मक धातुओं का विभाग कैसे हो सकेगा ? कारण, जहाँ फल और व्यापार भिन्न भिन्न आधारों में रहते हों वहाँ धातु सकर्मक होता है और जहाँ फल और व्यापार दोनों एक आधार में रहते हों वहाँ धातु अकर्मक होता* है। व्यापार को प्रत्यय का अर्थ मानने

---

* इसका सार यह है कि—सकर्मक धातुओं के स्थल में फल का आश्रय कर्म होता है; जैसे 'कुम्हार घड़ा बनाता है' यहाँ 'बनाने' का फल 'मट्टी का फैलना' घड़े में रहता है और चेष्टा कुम्हार में। और अकर्मक धातुओं के स्थल में फल और चेष्टा दोनों कर्त्ता में ही रहते

पर यह विभाग कैसे बन सकेगा ? इसका उत्तर यह है कि—धातु का अर्थ यद्यपि केवल फल है, तथापि उस फल के प्रत्यय के अर्थ (व्यापार) के साथ रहने अथवा भिन्न रहने द्वारा 'सकर्मक होने' और 'अकर्मक होने' का व्यवहार होता है। कहने का तात्पर्य यह कि—व्यापार चाहे धातु का अर्थ हो चाहे प्रत्यय का अर्थ; इस बात के साथ सकर्मकता अकर्मकता का कोई संबंध नहीं, किंतु उन दोनों के साथ रहने तथा भिन्न रहने के साथ है। अतः वे विभिन्न भागों के अर्थ होने पर भी जब एक आधार में रहते हों तब धातु को 'अकर्मक' कहा जाता है और जब भिन्न भिन्न आधारों में रहते हैं तब 'सकर्मक'। सकर्मकता और अकर्मकता के विभाग के लिये वे दोनों एक ही भाग (धातु) के अर्थ होने चाहिएँ—यह आवश्यक नहीं। अतः यह आपकी शंका व्यर्थ है।

आप कहेंगे—प्रत्यय का अर्थ 'व्यापार' और उसका 'आश्रयता' संबंध से 'प्रथमांत' में अन्वय माना जाय तो 'भाव (अर्थात् व्यापार)' अर्थ में जो कृत्-प्रत्यय ('घञ्' आदि) होते हैं, उनका भी अर्थ 'व्यापार' होने के कारण उनका भी 'आश्रयता' संबंध से क्यों न अन्वय हो जाय ? तात्पर्य यह कि 'अंधकारो लिम्पति' की तरह उसी अर्थ में

हैं; जैसे 'मैं नहाता हूँ' यहाँ चेष्टा 'गोता लगाना आदि' और फल 'सफाई आदि' एक ही नहानेवाले में रहते हैं।

'अंधकारो लेप:' प्रयोग होने में क्या बाधा रही ? तो इसका उत्तर यह है कि—कृत्प्रत्ययांत शब्द प्रातिपादिक होते हैं—उनकी "कृत्तद्धितसमासाश्च" (१।२।४६) इस पाणिनि-सूत्र से प्रातिपदिक संज्ञा होती है; और यह नियम है कि दो प्रातिपदिकार्थों का भेद-संबंध (अभेद के अतिरिक्त अन्य किसी संबंध) द्वारा अन्वय हो नहीं सकता; अत: भाववाची कृदंतों का प्रथमांत के साथ 'आश्रयता' संबंध से अन्वय नहीं होता।

अब आपकी एक शंका और रह जाती है। आप कहेंगे—"ल: कर्मणि च भावे चाऽकर्मकेभ्य:" (३।४।६९) इस सूत्र से तिङ्-प्रत्ययों का 'कर्त्ता' अर्थ में विधान है, और इस सूत्र में "कर्त्तरि कृत्" (३।४।६७) सूत्र से 'कर्त्तरि' पद की अनुवृत्ति आती है। यदि यहाँ 'कर्त्तृ' शब्द का अर्थ 'कर्त्तृत्व (व्यापार)' किया जाय तो फिर "कर्त्तरि कृत्" सूत्र में भी 'कर्तृ' शब्द का अर्थ वही करना पड़ेगा; क्योंकि एक ही शब्द के दो सूत्रों में दो अर्थ तो किए नहीं जा सकते और तब कृत्-प्रत्यय (ण्वुल्, तृच् आदि) भी 'कर्त्ता' अर्थ में न होकर 'व्यापार' अर्थ में होने लगेंगे। और वस्तुत: ऐसा होता नहीं, सो आपका सारा मंडान बिगड़ा जाता है। तो इसका उत्तर यह है कि—"कर्तरि कृत्" सूत्र में 'कर्तृ' शब्द का अर्थ 'व्यापार का आश्रय (कर्त्ता)' ही है, अतएव तो 'घञ्' आदि प्रत्ययों का 'व्यापार' अर्थ समझाने के लिये "भावे" (३।३।१८) सूत्र बनाना व्यर्थ नहीं होता। और

जो 'केवल व्यापार' अर्थ मानोगे तो वह सूत्र व्यर्थ हो जायगा। सारांश यह कि—यदि "कर्त्तरि कृत्" सूत्र में 'कर्तृ' शब्द का अर्थ व्यापार होता तो फिर 'घञ्' आदि प्रत्ययों के अर्थ के लिये "भावे" सूत्र क्यों बनाया जाता ? अत: उस सूत्र की व्यर्थता न हो इसलिये "कर्त्तरि कृत्" में 'कर्त्तृ' शब्द का अर्थ 'कर्त्ता' माना जाता है; पर "ल: कर्मणि च भावे चाकर्मकेभ्य:" इस सूत्र में ऐसी कोई अनुपपत्ति नहीं; अत: 'कर्तृ' शब्द का 'कर्त्तृत्व' अर्थ मानने में कोई अड़चन नहीं।

आप कहेंगे—यह तो आपने बड़ी गड़बड़ मचाई। "कर्त्तरि कृत्" सूत्र में 'कर्त्तृ' शब्द का अर्थ 'कर्त्ता' माना जाता है और उसी सूत्र से लिये गये उसी शब्द का अर्थ "ल: कर्मणि च भावे चाकर्मकेभ्य:" सूत्र में माना जाता है व्यापार; यह आपका परस्पर-विरोधी कथन कैसे बन सकता है ? तो इसका उत्तर यह है कि व्याकरण शास्त्र में शब्द की अनुवृत्ति भी कहीं कहीं मानी जाती है। शब्द वैसा का वैसा दूसरे सूत्र में जाता है—इसमें संदेह नहीं; पर दूसरे सूत्र में जाकर भी उस शब्द का वही अर्थ रहे, जो पहले सूत्र में हो, यह आवश्यक नहीं। अत: "कर्त्तरि कृत्" इस सूत्र में 'कर्त्तृ' शब्द धर्मिवाचक (व्यापाराश्रय=कर्त्ता का वाचक) होने पर भी "ल: कर्मणि......" सूत्र में उसे धर्मवाचक (केवल व्यापार=कर्त्तृत्व का वाचक) मानने में भी कुछ दोष नहीं। यह तो हुई एक बात।

पर यदि शब्दानुवृत्ति में गौरव समझें—आप कहें कि जहाँ तक शब्द-अर्थ दोनों की अनुवृत्ति हो सकती हो तहाँ तक केवल शब्द की अनुवृत्ति मानना उचित नहीं। तो दूसरी बात यह है कि—भले ही 'फल' और 'व्यापार' दोनों धातु के अर्थ और 'आश्रय' तिङ् (प्रत्यय) का अर्थ रहे। जैसा आप मानते हैं वही सही। सारांश यह कि 'तिङ्' का अर्थ 'कर्त्ता' मानने में भी हमें कोई आपत्ति नहीं। परंतु "देवदत्तः पचमानः=पकाता हुआ देवदत्त" इत्यादि की तरह "देवदत्तः पचति=देवदत्त पकाता है" इत्यादि में भी तिङ् के अर्थ 'कर्त्ता' का प्रथमांत के अर्थ 'देवदत्त' आदि में अभेद* संबंध से विशेषण होना ही उचित है, न कि भेद-संबंध से धातु के अर्थ व्यापार में। तात्पर्य यह कि—'तिङ्' का अर्थ 'कर्तृत्व' मानो या 'कर्त्ता'; पर उसका विशेष्य प्रथमांत पद का अर्थ होना चाहिए, न कि वैयाकरणों के मत के अनुसार 'व्यापार'। क्योंकि ऐसा न मानने से, एक तो, सब मनुष्यों को जो उत्प्रेक्षा में क्रियापद के अर्थ की विधेयता और प्रथमांत पद के अर्थ की उद्देश्यता प्रतीत होती है उसका भंग होता है। किसी को भी 'व्यापार' की विधेयता (विषयी होना) और उसके अंदर आए (अध्यवसित) अन्य

---

* 'कर्त्ता' शब्द सामान्यवाची है और प्रथमांत पद होता है उसका विशेषवाची; अतः उनका अभेद संबंध होना उचित है, जैसे 'वृक्ष' और 'आम' का।

धर्म की उद्देश्यता (विषय होने) की स्वतः प्रतीति नहीं होती; क्योंकि इस तरह अध्यवसितों का उद्देश्य-विधेय होना अनुभव-विरुद्ध है। दूसरे, जहाँ तक बन सके "प्रत्यय* के अर्थ में प्रकृति का अर्थ विशेषण होता है" इस नियम की भी अनुकूलता रखना ही न्याय प्राप्त है—गति होते हुए भी नियम का विरोध उचित नहीं। पर वैयाकरणों के मत में इस नियम का विरोध होता है; क्योंकि वहाँ प्रकृति—धातु—का अर्थ 'व्यापार' विशेष्य होता है और प्रत्यय—तिङ्—का अर्थ 'कर्त्ता' विशेषण। अतः 'व्यापार' को विशेष्य मानना और अन्य सब अर्थों को विशेषण यह मत ठीक नहीं, किंतु प्रथमांत पद को विशेष्य मानना ही युक्ति-संगत है।

रहा "भावप्रधानमाख्यातम्" इस पूर्वोक्त निरुक्त के वाक्य का विरोध। सो उसका अर्थ "धातु का अर्थ व्यापार होता है" यह कर लेने से (अर्थात् पहले आख्यात पद का अर्थ 'तिङ्' किया था अब 'धातु' कर लीजिए) कोई विरोध नहीं रहता।

आप कहेंगे—ऐसा मानने से वैयाकरणों के मत का विरोध होगा—यह भी तो एक दोष ही है। तो हम कहते हैं—यह कोई दोष नहीं। आलंकारिकों का सिद्धांत स्वतंत्र है, वे जो कुछ वैयाकरणों ने माना है वही मानें—यह कोई

---

* "प्रकृतिप्रत्ययौ सहार्थं ब्रूतस्तयोः प्रत्ययार्थस्य प्राधान्यम्।"

बात नहीं। इस बात को हम आगे* और भी विस्तृत करेंगे, अतः अब प्रस्तुत विषय की चर्चा करते हैं।

इस तरह यह सिद्ध हुआ कि—"लिम्पतीव........" इत्यादि तिङंत पदोंवाली उत्प्रेक्षा में चाहे (तिङ् का अर्थ 'कर्तृत्व' मानो तो) भेद संबंध ('आश्रयता') से, चाहे (तिङ् का अर्थ 'कर्त्ता' मानो तो) अभेद संबंध से तिङ् के अर्थ ('कर्तृत्व' अथवा 'कर्त्ता') की ही प्रथमांत पद के अर्थ (अंधकार आदि) में उत्प्रेक्षा की जा रही है, न कि अध्यवसित 'व्याप्त होने' आदि में। तात्पर्य यह कि—यहाँ उत्प्रेक्षा का विषय 'अंधकार' अथवा 'आकाश' है, न कि 'व्याप्त होना'। कारण, एक तो, 'इव' के अर्थ (संभावना) की (वस्तुतः संभावना के विषयी 'क्रियापद के अर्थ' की) विधेयता, जो कि यावन्मात्र मनुष्यों को प्रतीत होती है, वैयाकरणों के मत से, नहीं बन पाती। क्योंकि उद्देश्य-विधेय-भाव के लिये उद्देश्य और विधेय का पृथक् पृथक् पदों से प्रतिपादित होना अनिवार्य है। दूसरे, यदि प्राचीनों के मतानुसार 'पोतने' में व्याप्त होने का अध्यवसान मानकर उत्प्रेक्षा मानी जाय तो "तम का किया हुआ लेपन" इस वाक्य से, जिसमें कि उद्देश्य-

---

* संभव है, पंडितराज आलंकारिकों के स्वतंत्र सिद्धांतों के विषय में कोई अतिरिक्त प्रकरण लिखते, अतएव उन्होंने इस विषय को विस्तृत करने की प्रतिज्ञा की है; पर दुर्भाग्य से उपलब्ध रसगंगाधर में वह भाव नहीं आ सका।

बोधक कोई पद नहीं, उत्प्रेक्षा की प्रतीति होने लगेगी; क्योंकि वैसा अध्यवसान तो यहाँ भी माना जा सकता है।

आप कहेंगे—आपके मत से भी उत्प्रेक्षा का निमित्त धर्म तो है 'पोतना' आदि ही। और वह रहता है केवल विषयी (पोतनेवाले आदि) में। उसे जब तक विषय (अंधकार आदि) में रहनेवाले 'व्याप्त होने' आदि धर्म के साथ एक-रूप न माना जाय, तब तक वह निमित्त-रूप नहीं हो सकता; क्योंकि निमित्तरूप होने के लिये उस धर्म का विषय-विषयी दोनों में रहना आवश्यक है। अत: 'पोतने' का 'व्याप्त होने' के साथ अध्यवसान माने बिना तो आपका भी निर्वाह नहीं। फिर हमने यहाँ उत्प्रेक्षा के विषय और विषयी का अध्यवसान मान लिया तो क्या अपराध किया? तो हम कहते हैं—महोदय! आप हमारी बात को लेकर अपना दोषमार्जन नहीं कर सकते। आप तो इस अध्यवसान के कारण उत्प्रेक्षा को अनुपात्तविषया और अध्यवसानमूला कह रहे हैं और हम तो केवल निमित्त बनाने (अर्थात् साधारण करने) के लिये 'पोतने' द्वारा 'व्याप्त होने' को निगीर्ण मान रहे हैं। यदि आपके विचार से निमित्त के अनुपात्त होने और अध्यवसान-मूलक होने मात्र से विषय का अनुपात्त होना और अलंकार का अध्यवसानमूलक होना माना जाय तो 'मुख-चंद्र' आदि रूपक में भी विषय का अनुपात्त होना (क्योंकि वहाँ भी निमित्त धर्म अनुपात्त है और आपके विचार से निमित्त = साधारण धर्म

का नाम ही विषय है) मानिए और 'लोकान् हंति खलो विषम् = खल रूपी जहर लोगों को मारता है" इत्यादि में भी रूपक को अध्यवसानमूलक मानिए; क्योंकि वहाँ भी खल-संबंधी 'दु:ख देने' आदि के साथ जहर-संबंधी 'मारने' आदि का अध्यवसान है। अत: निमित्त भाग के अध्यवसान को लेकर उत्प्रेक्षा में विषय का अनुपात्त होना और अध्यवसान-मूलक होना मानना भ्रांति ही है।

सारांश यह कि—ऐसा निमित्तभाग का अध्यवसान तो अन्य अलंकारों में भी रहता है; अत: उस भाग में तो अति-शयोक्ति ही है—वहाँ उत्प्रेक्षा है ही नहीं। अत: यह सिद्ध हुआ कि— प्राचीनों ने जिनको धर्मोत्प्रेक्षा में विषय और विषयी माना है वे वस्तुत: विषय और विषयी में रहनेवाले धर्म हैं और एकरूप बनकर वे उत्प्रेक्षा के निमित्त बनते हैं। उस भाग में अध्यवसानमूलक अतिशयोक्ति अलंकार है, उत्प्रेक्षा नहीं। यह तो हुई धर्मोत्प्रेक्षा की बात।

अब हेतूत्प्रेक्षा को लीजिए। इसी तरह "उन्मेषं यो मम न सहते.........." इस हेतूत्प्रेक्षा के उदाहरण में भी "शोभा" उत्प्रेक्षा का विषय है और उसमें 'चिपटने के हेतु' रूप में 'हर्ष' (रूपी विषयी) की उत्प्रेक्षा की जा रही है। इस उत्प्रेक्षा का निमित्त है 'पैरों के साथ शोभा के स्वाभाविक संबंध (चिपटने)' से अध्यवसित (अंत:प्रविष्ट) 'हर्ष के कारण चिपटना'।

हेतूत्प्रेक्षा का एक उदाहरण और लीजिए—

सैषा स्थली यत्र विचिन्वता त्वां भ्रष्टं मया नूपुरमेकमुर्व्याम् ।
अदृश्यत त्वच्चरणारविंदविश्लेषदुःखादिव बद्धमौनम् ॥

रामचंद्र लंका से लौटते हुए सीता से कह रहे हैं—यह वह जगह है, जहाँ तुझे ढूँढ़ते हुए मैंने, पृथ्वी पर गिरा हुआ (तेरा) एक नूपुर, देखा था, जो, मानो तेरे चरण-कमल के वियोग के दुःख से मौन बाँधे हुए था—एकदम चुप हो रहा था।

यहाँ भी मौन के हेतुरूप में नूपुर के अंदर वियोग के दुःख की उत्प्रेक्षा की जा रही है। अर्थात् यहाँ उत्प्रेक्षा का विषय है 'नूपुर' और 'विषयी' है 'वियोग का दुःख' उसमें 'निश्चलता के कारण शब्द-रहित होने' को उदरस्थ किए हुए 'मौन' निमित्त है—अर्थात् 'दुःख के कारण चुप होने' और 'निश्चलता के कारण न बजने' को एक मानकर उन्हें उत्प्रेक्षा का निमित्त माना गया है। कारण, इस तरह एक रूप माना हुआ मौन ही वियोग के दुःख के साथ रहते हुए नूपुर में रह सकता है।

यहाँ प्राचीनों के हिसाब से यह समझना उचित नहीं कि—'निश्चलता के कारण शब्द-रहित होना' विषय है और उसमें 'वियोग के दुःख के कारण होनेवाले मौन' की, अभेद संबंध से, उत्प्रेक्षा की जा रही है। कारण, एक तो, उत्प्रेक्षा

में 'इव' शब्द का अन्वय जिसके साथ हो उसी की उत्प्रेक्षा होती है—यह नियमसिद्ध बात है। दूसरे, जब विषय को निगीर्ण मानते हैं तो विषयी विधेय नहीं हो सकता, जो कि अनुभव-विरुद्ध है। तीसरे, ऐसी स्थिति में अन्य किसी निमित्त को ढूँढ़ना पड़ता है, क्योंकि प्राचीनों के मत में ऐसे स्थलों पर निमित्त सदा अनुपात रहता है। यद्यपि यहाँ 'एक काल में उत्पन्न होना' आदि साधारण धर्म निमित्त है, तथापि वह चमत्कारी नहीं। अतः जैसे उपमा में ऐसे धर्मों को प्रयोजक नहीं माना जाता वैसे ही उत्प्रेक्षा में भी प्रयोजक नहीं माना जा सकता।

यही बात फलोत्प्रेक्षा में भी समझिए।

इस लेख से, द्रविडश्रेष्ठ (अप्पयदीक्षित) ने जो प्राचीनों के मत का अनुसरण करते हुए "अथवा हेतूत्प्रेक्षा, फलोत्प्रेक्षा और धर्मस्वरूपोत्प्रेक्षा के उदाहरणों में भी अभेद-संबंध से ही उत्प्रेक्षा होती है" यह लिखा है, सो भी परास्त हो जाता है।

३

आधुनिकों का मत

'अलंकार-सर्वस्व'-कार ने, प्रथमतः, उत्प्रेक्षा का लक्षण यों कहा है—

"विषय को अंतःप्रविष्ट कर लेने के कारण विषयी के अभेद-बोध को 'अध्यवसान' कहते हैं—अर्थात् जहाँ केवल

विषयी का प्रतिपादन हो और विषय को उसके अंत:प्रविष्ट समझकर विषयी से अभिन्न समझ लिया गया हो वहाँ 'अध्यवसान' होता है। वह अध्यवसान दो प्रकार का है—एक सिद्ध और दूसरा साध्य। उनमें से जहाँ अध्यवसान की साध्यता प्रतीत होती हो—वह सिद्ध न हुआ हो, किंतु सिद्ध हो रहा प्रतीत होता हो—और व्यापार (क्रिया) की प्रधानता हो वहाँ उत्प्रेक्षा होती है। इसका अर्थ यह है कि विषय के अंत:प्रविष्ट कर चुकने का नाम (अध्यवसान का) सिद्ध हो जाना है अर्थात् जहाँ विषयवाचक शब्द पृथक् न हो वहाँ अध्यवसान 'सिद्ध हुआ' समझा जाता है; और विषय का अंत: प्रविष्ट करना (अध्यवसान का) 'साध्य होना' कहलाता है। जहाँ अध्यवसान सिद्ध हो गया हो वहाँ विषय को उदरस्थ किए हुए विषयी की प्रधानता होती है; जैसे 'अतिशयोक्ति' आदि में। और जहाँ अध्यवसान सिद्ध हो रहा हो—अर्थात् साध्य हो—वहाँ विषय को उदरस्थ करने की क्रिया की प्रधानता होती है—अर्थात् वहाँ विषय वाचक शब्द के पृथक् होने पर भी विषय विषयी में प्रविष्ट होता दिखाई देता है; ऐसी जगह उत्प्रेक्षा होती है।"

इस तरह, जिसके अंदर अभेद आया हुआ है ऐसा उत्प्रेक्षा का लक्षण बनाकर—अर्थात् उत्प्रेक्षा केवल अभेद संबंध से ही होती है, यह मानकर, पीछे से, कहा है कि—

"सैषा स्थली यत्र......" इस (पूर्वोक्त) पद्य में, नूपुर में रहनेवाले 'मौनीपन' को हेतु बनाकर 'दु:ख' रूपी गुण की उत्प्रेक्षा की जा रही है। इस उत्प्रेक्षा का, नूपुर में रहनेवाले 'शब्दरहित होने' से अभिन्न माना हुआ 'मौनीपन' ही, निमित्त है।"

इसी तरह "जहाँ धर्म ही धर्मी में रहनेवाले के रूप में (उत्प्रेक्षित हो)" इत्यादि लिखकर 'धर्मोत्प्रेक्षा' के प्रसंग में कहा है कि—"'लिम्पतीव तमोङ्गानि' इस जगह लेपन क्रिया के कर्तृत्व की उत्प्रेक्षा है और उसमें 'व्याप्त होना' आदि निमित्त है।"

४

आधुनिकों के मत पर विचार

सो यह सब परस्पर विरोधी है। कारण, 'दु:ख' गुण की उत्प्रेक्षा में जिसके गर्भ में अभेद हो ऐसा अध्यवसान नहीं है (अत: तुम्हारा लक्षण यहाँ कैसे घट सकेगा ?)। हाँ, 'मौन' के अंश में अध्यवसान है; क्योंकि 'निश्चलता के कारण शब्द-रहित होने' को 'मौनीपन' के अंत: प्रविष्ट समझकर अभेद मान लिया गया है; पर वह सिद्ध अध्यवसान है, अत: अतिशयोक्ति का ही विषय हो सकता है, उत्प्रेक्षा का नहीं। और आपके मत में 'मौन' की उत्प्रेक्षा के निमित्त रूप से उत्प्रेक्षा भी नहीं की गई है। इसी तरह "लिम्पतीव

तमोङ्गानि" इस जगह 'लेपन' रूपी अंश का अध्यवसान भी अतिशयोक्ति का ही विषय है; क्योंकि 'व्याप्त होने' के रूप में स्थित उसी 'लेपन' को आपने 'कर्त्तृत्व' की उत्प्रेक्षा का निमित्त बताया है। अब जरा सोचिए कि—आप ही तो यह बाधक अड़ा रहे हैं कि—"यदि 'व्याप्त होने' आदि को उत्प्रेक्षा का विषय मानोगे तो निमित्त अन्य कोई ढूँढ़ना पड़ेगा—अतः 'व्याप्त होने' को उत्प्रेक्षा का विषय मानना उचित नहीं।" और आप ही अपना पूर्वोक्त लक्षण यहाँ घटित कर रहे हैं—यह क्या गड़बड़ है? सारांश यह कि—'दुःख' रूपी गुण की और 'कर्त्तृत्व' की उत्प्रेक्षा में तो अध्यवसान या अभेद है नहीं। अब यदि निमित्त भाग के अध्यवसान को लेकर उत्प्रेक्षा मानो तो ऐसा अध्यवसान तो उपमादिक में भी विद्यमान है—फिर वहाँ भी उत्प्रेक्षा मान लेनी पड़ेगी। अतः यह सब असंबद्ध है।

एक बात और लीजिए। यदि आप 'अध्यवसान' होने पर ही उत्प्रेक्षा मानते हैं तो हम आपसे पूछते हैं कि—"मुख मानो चंद्रमा है" इस उत्प्रेक्षा में अध्यवसान कहाँ है? क्योंकि यहाँ विषय (मुख) जीता-जागता सामने बैठा है—वह जब तक विषयी के अंतर्गत न हो जाय तब तक अध्यवसान कैसे माना जा सकता है? आप कहेंगे—जहाँ अध्यवसान सिद्ध हो चुकता है वहाँ विषय विषयी के उदर में रहता है; पर साध्य अध्यवसान में उसकी पृथक् प्राप्ति होती

है। पर हम कहते हैं—साध्य अध्यवसान में कुछ प्रमाण नहीं। यदि विषय के पृथक् रहते हुए भी अध्यवसान माना जाय तो रूपक आदि के अंदर भी अध्यवसान होने लगेगा—इसमें क्या प्रमाण है कि उत्प्रेक्षा में विषय के पृथक् रहते हुए भी अध्यवसान होता है और रूपक में नहीं।

दूसरी बात यह है कि—लक्षणा के 'सारोपा' और 'साध्यवसाना' ये दो भेद हैं, अतः अध्यवसान भी एक प्रकार की लक्षणा हुई; पर उत्प्रेक्षा के विधेय अंश में लक्षणा नहीं है। कारण, यहाँ अभेद आदि संसर्गों से आहार्य-बोध ही स्वीकार किया गया है—लक्षणा किसी ने नहीं मानी। अतः अलंकारसर्वस्वकार का यह विमर्श अस्त-व्यस्त ही है।

सो प्राचीनों और आधुनिकों—दोनों हो—की उक्तियाँ गंभीर विचार करने पर नहीं टिक सकतीं।

४

सिद्धांत

ऐसी दशा में हम कहते हैं—

पूर्वोक्त उत्प्रेक्षा के भेदों में से '**धर्म्युत्प्रेक्षा**' का निष्कर्ष तो प्राचीनों के मत पर विचार करते समय कर ही आए हैं—अर्थात् "मुख मानो चंद्रमा है" इत्यादि में तो अभेद संबंध से उत्प्रेक्षा होती ही है—इस विषय में तो किसी का कुछ मतभेद है नहीं।

(और **धर्मोत्प्रेक्षा** के दो प्रकार के उदाहरणों में से गुणरूप धर्म की उत्प्रेक्षा के उदाहरण "अस्यां मुनीनामपि मोहमूहे" आदि में भेद-संबंध से उत्प्रेक्षा स्पष्ट ही है—यह भी लिखा जा चुका है। रहा 'क्रियारूपो' धर्म की उत्प्रेक्षा "लिम्पतीव तमोङ्गानि" आदि के विषय में मतभेद। उस विषय का बड़ा भारी शास्त्रार्थ करके यह सिद्ध कर दिया गया है कि वहाँ भी प्रथमांत पद के अर्थ में, प्रकृत क्रिया के 'कर्तृत्व' की 'आश्रयता' संबंध से, 'कर्ता' की अभेद संबंध से, उत्प्रेक्षा मानना ही उचित है।)

हेतूत्प्रेक्षा में पंचमी विभक्ति का अर्थ 'हेतु' होता है और प्रकृति (जिस शब्द से पंचमी की गई हो उस) के तथा प्रत्यय (पंचमी) के अर्थ का संबंध होता है 'अभेद'। यह एक पक्ष है। इस पक्ष में "वियोग के दुःख से" इस पद का अर्थ होता है 'वियोग के दुःख से अभिन्न हेतु'। इस अर्थ की 'प्रयोज्यता' संबंध से उत्प्रेक्षा 'इव' आदि द्वारा समझाई जाती है।

दूसरे पक्ष के लोग पंचमी का अर्थ 'प्रयोज्यता' मानते हैं। उनके हिसाब से प्रकृति के अर्थ और प्रत्यय के अर्थ का संबंध होता है 'निरूपितता' और उत्प्रेक्षा होती है 'आश्रयता' संबंध से।

तात्पर्य यह कि—"मानो दुःख से मौनयुक्त" इस वाक्य का **शाब्दबोध** (पहले मत के अनुसार)

'मौनयुक्त (पदार्थ) दुःख से अभिन्न (अर्थात् दुःखरूप) हेतु से सिद्ध की जानेवाली उत्प्रेक्षा का विषय है।'

यह होता है। और दूसरे मत के अनुसार

'मौनयुक्त (पदार्थ) दुःख से निरूपित प्रयोज्यता के आश्रय (रूप) उत्प्रेक्षा का विषय है।' यह होता है।

दोनों ही पक्षों में पंचमी के अर्थ की ही उत्प्रेक्षा होती है; क्योंकि 'इव' आदि के अर्थ का उसी के साथ अन्वय होता है।

इस उत्प्रेक्षा का निमित्त होता है, जिसकी उत्प्रेक्षा की जा रही है उस (अर्थात् 'हेतु') के साथ रहनेवाला धर्म, और उसका हेतु के साथ वही संबंध होता है जो हेतु का उत्प्रेक्षा के साथ होता है (अर्थात् पहले पक्ष में 'प्रयोज्यता' और दूसरे पक्ष में 'आश्रयता')। यहाँ वह धर्म है अतिशयोक्ति द्वारा 'मौन' से अभिन्नरूप में माना हुआ 'निश्चलता के कारण शब्दरहित होना'। और इस उत्प्रेक्षा का विषय है 'मौन-युक्त' पदार्थ। इस तरह यहाँ प्रथमतः 'दुःख' रूपी हेतु द्वारा 'मौन' की उत्प्रेक्षा की जाती है, और फिर 'मौन' के कारण 'मौनयुक्त' के सिद्ध होने की संभावना की जाती है।

इस तरह यह सिद्ध हुआ कि—जिसका धर्म उत्प्रेक्षा का प्रयोज्य हो (उत्प्रेक्षा द्वारा सिद्ध होता हो) ऐसे धर्मी में सभी जगह पंचमी के अर्थ का अन्वय धर्म के द्वारा ही होता है। तात्पर्य यह कि—जिस हेतूत्प्रेक्षा में धर्मी पदार्थ का (जैसे 'मौनयुक्त') का वर्णन हो और हेतु द्वारा उसका धर्म

(जैसे 'मौन') सिद्ध किया जाता हो वहाँ पंचमी के अर्थ (हेतु) का धर्मी में स्वतंत्र रूप से नहीं, किंतु धर्म के द्वारा अन्वय होता है। अर्थात् हेतु का अन्वय धर्म में होता है और धर्म का अन्वय धर्मी में। यह तो हुई जिसमें धर्मी विषयरूप हो उस हेतूत्प्रेक्षा की बात।

अब उस उत्प्रेक्षा की बात सुनिए, जहाँ साक्षात् धर्म ही किसी धर्म के साथ अभिन्न माना जाकर उत्प्रेक्षा का विषय हो। वहाँ उस धर्म का अवच्छेदक धर्म निमित्तरूप हुआ करता है; जैसे "विश्लेषदु:खादिव बद्धमौनम्" के स्थान पर "विश्लेषदु:खादिव मौनमस्य अर्थात् इसका मौन, मानो, वियोग के दु:ख से है" यों बना दिया जाय तो 'मौन' का अवच्छेदक धर्म 'मौनत्व' उत्प्रेक्षा का निमित्त होगा।

यही बात 'हेतूत्प्रेक्षा' में जहाँ पंचमी के स्थान पर 'तृतीया' विभक्ति आई हो, वहाँ तृतीया के अर्थ के विषय में भी समझो। सारांश यह कि वहाँ भी इसी तरह शाब्द-बोध होता है।

फलोत्प्रेक्षा में (संस्कृत में) 'तुमुन्' प्रत्यय (और हिंदी में 'के लिये') आदि का अर्थ होता है 'फल'। हेतूत्प्रेक्षा के प्रथम पक्ष की तरह प्रकृति (जिस शब्द से 'तुमुन्' आदि किए गए हों) और प्रत्यय ('तुमुन्' आदि) के अर्थ (फल) का 'अभेद' संबंध होता है। और 'इव' (हिंदी में 'मानो') आदि उत्प्रेक्षावाचक शब्दों के साथ फल का

अन्वय 'साधनता' संबंध से होता है; अत: वहाँ उसी संबंध से उत्प्रेक्षा मानी जाती है। अर्थात् फलोत्प्रेक्षा सदा 'साधनता' संबंध से होती है। सारांश यह कि—"वन प्रदेशों ने ललाट की चमड़ी को, मानो, अक्षर देखने के लिये उधेड़ डाला" इस वाक्य का

शाब्द बोध—"अक्षर देखने से अभिन्न (अर्थात् अक्षर देखने रूपी) फल की साधनरूप उत्प्रेक्षा का विषय हैं ललाट की चमड़ी उधेड़नेवाले वनप्रदेश" यह होता है।

जिस अंश में फल की उत्प्रेक्षा की जाती है वह अंश फलोत्प्रेक्षा का विषय होता है। उस विषय के विशेषण रूप में भासित होनेवाला धर्म फलोत्प्रेक्षा का निमित्त होता है; जैसे उपर्युक्त फलोत्प्रेक्षा में 'वनप्रदेश' रूपी विषय का विशेषण 'ललाट की चमड़ी का उधेड़ना' निमित्त है।

फलोत्प्रेक्षा में भी, हेतूत्प्रेक्षा की तरह, धर्मी और धर्म दोनों विषय हो सकते हैं। जहाँ विषय धर्मी हो वहाँ विषयी के धर्म से अभिन्न समझा हुआ विषय का (पूर्वोक्त) धर्म निमित्त होता है। जैसे प्रकृत उत्प्रेक्षा में 'वनप्रदेश' विषय है, वह धर्मी है, और विषयी है 'अक्षर देखना'। 'वनप्रदेश' का धर्म है 'ललाट की चमड़ी का साधारण (बिना किसी फल के) उधेड़ना और 'अक्षर देखने का' धर्म है 'अक्षर देखना जिसका फल हो वह''''''उधेड़ना'। यहाँ द्वितीय 'उधेड़ने'

को प्रथम 'उधेड़ने' से अभिन्न मान लिया गया है और वह इस फलोत्प्रेक्षा का निमित्त है।

और जहाँ फलोत्प्रेक्षा का विषय धर्म रूप हो वहाँ उस धर्म के विशेषण रूप में रहनेवाला अन्य धर्म—अर्थात् अव-च्छेदक धर्म (जैसा कि हेतूत्प्रेक्षा में समझा आए हैं)—निमित्त होता है।

विषय के प्रधान न होने पर शाब्दबोध

इस तरह यह सिद्ध हुआ कि—जहाँ विषय समास अथवा प्रत्यय द्वारा गौण हो गया हो—अर्थात् समासादि के कारण अन्य पद का अथवा प्रत्यय का अर्थ प्रधान हो और विषयवाचक शब्द का अर्थ उनका एक देश बन गया हो, अतः हेतु और फल का विषय के साथ साक्षात् अन्वय न हो सकता हो, वहाँ प्रधान को ही उत्प्रेक्षा का विषय माना जाना चाहिए। और 'विषय' होने की योग्यता रखनेवाले विशेषण को द्वार मानकर 'प्रयोज्यता' और 'प्रयोजकता' संबंधों से, क्रमशः, हेतु की और फल की उत्प्रेक्षा समझनी चाहिए। अर्थात् जैसे उपर्युक्त धर्मी-वाली हेतूत्प्रेक्षा में धर्म के द्वारा हेतु का धर्मी रूपी विषय में अन्वय होता है, वैसे ही यहाँ विषय होने की योग्यता रखनेवाले विशेषण द्वारा हेतु और फल का प्रधान-अर्थ रूपी विषय में अन्वय होना चाहिए।

यद्यपि विशेषण में भी, किसी न किसी तरह, हेतु और फल का अन्वय हो जाने से विशेषण का विषय होना उचित है; तथापि उत्प्रेक्षा में जो विषय के उद्देश्य होने और विषयी के विधेय होने की प्रतीति होती है, उसके अनुरोध से यह मार्ग स्वीकार करना पड़ा है; क्योंकि एक देश को उद्देश्य नहीं बनाया जा सकता। हाँ, यदि उद्देश्य-विधेय-भाव का अनुरोध न हो तो प्राचीनों का सिद्धांत ही सुंदर हो सकता है। पर, दुःख है कि एक तो अनुभव इस बात का विरोध करता है। दूसरे, प्राचीनों का सिद्धांत मानने पर हेतूत्प्रेक्षा के स्थल में विषयी से निगीर्ण (अध्यवसित) विषय में (जो वहाँ लिखा हो) उस हेतुवाले कार्य के, और फलोत्प्रेक्षा के स्थल में उस (जो वहाँ लिखा हो) फलवाले कारण के, स्वरूप की ही उत्प्रेक्षा में पर्यवसान होता है, हेतु और फल की उत्प्रेक्षा में नहीं। अर्थात् प्राचीनों का सिद्धांत मानें तो हेतूत्प्रेक्षा और फलोत्प्रेक्षा को भी स्वरूपोत्प्रेक्षा ही कहा जा सकता है; क्योंकि उनके हिसाब से हेतु और फल का तो उत्प्रेक्षा के साथ अन्वय होता नहीं। और इस तरह प्राचीनों का किया हुआ विभाग उड़ जा सकता है। अर्थात् प्राचीनों के हिसाब से तीन प्रकार की उत्प्रेक्षा न रहकर केवल स्वरूपोत्प्रेक्षा ही रह जाती है।

यदि आप कहें कि—तीनों उत्प्रेक्षाओं में स्वरूपतः कोई विशेषता न होने पर भी जिस उत्प्रेक्षा में हेतु और फल

विशेषण रूप में न आए हों वह शुद्ध स्वरूपोत्प्रेक्षा कहलाती है और जिसका हेतु विशेषण में आया हो वह हेतूत्प्रेक्षा तथा जिसका फल विशेषण रूप में आया हो वह फलोत्प्रेक्षा कहलाती है। तो यह भी ठीक नहीं। कारण, ऐसी दशा में

"तनयमैनाकगवेषणलम्बीकृतजलधिजठरप्रविष्टहिमगिरिभुजायमानाया भगवत्या भागीरथ्याः सखी"

इस पूर्वोदाहृत स्वरूपोत्प्रेक्षा में "पुत्र मैनाक का ढूँढ़ना" रूपी फल उत्प्रेक्षा किए जानेवाले पदार्थ ('भुजा') की विशेषण-कोटि में प्रविष्ट हो गया है, अतः यहाँ भी फलोत्प्रेक्षा होने लगेगी; क्योंकि जहाँ फल विशेषणरूप में आवे वहाँ आपके हिसाब से फलोत्प्रेक्षा होनी चाहिए। आप कहेंगे—वहाँ फल यद्यपि विशेषण है, तथापि उत्प्रेक्षा किए जानेवाले का साक्षात् विशेषण नहीं, किंतु परंपरया है, अतः फलोत्प्रेक्षा नहीं मानी जा सकती। तो हम कहते हैं कि—फल उत्प्रेक्षा किए जानेवाले पदार्थ का साक्षात् ही विशेषण होना चाहिए, परंपरया नहीं, इस बात में कोई अनुकूल तर्क नहीं है; क्योंकि दोनों जगह अप्रधानता समान है। अतः प्राचीनों ने इस विषय में धोखा खाया है। सत्य बात वही है जो हमने लिखी है। अच्छा, अब इस घरेलू झगड़े को समाप्त करिए—समझदारों के लिये इतना पर्याप्त है।

कई उत्प्रेक्षाएँ हों तो वहाँ कौन उत्प्रेक्षा बतानी चाहिए ?

उत्प्रेक्षित किए जानेवालों में भी (अर्थात् जहाँ अंगरूप में अन्य उत्प्रेक्षाएँ हों वहाँ भी) जिस विषयी की उत्प्रेक्षा विधेयरूप में प्रतीत हो उसी की उत्प्रेक्षा बताना उचित है। कारण, प्रधानता उसी उत्प्रेक्षा की होती है। सो "विश्लेष-दुःखादिव बद्धमौनम्" इस जगह नूपुर में रहनेवाले दुःखरूपी धर्म की उत्प्रेक्षा (गम्या) होने पर भी उस उत्प्रेक्षा का निर्देश उचित नहीं—अर्थात् इस वाक्य को 'धर्मोत्प्रेक्षा' का उदाहरण नहीं कहा जा सकता। कारण, वह उत्प्रेक्षा अंग होने के कारण अनुवाद्य है, विधेय नहीं। किंतु पंचमी के अर्थ की उत्प्रेक्षा (हेतूत्प्रेक्षा) का निर्देश उचित है; क्योंकि 'इव' शब्द से उसी का बोध होने के कारण विधेय वही है।

इसी तरह "चोलस्य यद्भीतिपलायितस्य······" इस पद्य में भी 'वनप्रदेश' में 'ललाट के अक्षर देखने' की उत्प्रेक्षा बताना भी उचित नहीं, किंतु 'तुमुन्' के अर्थ की उत्प्रेक्षा (फलोत्प्रेक्षा) बताना ही उचित है; क्योंकि 'इव' शब्द का उसी के साथ योग है।

इसी तरह "तनयमैनाक···" इत्यादि गद्य में फलोत्प्रेक्षा न बताई जानी चाहिए और न "कलिंदजानीरभरेऽर्धमग्नाः···" इस पद्य में चंद्रमा के बच्चों की अभेदोत्प्रेक्षा अथवा उस उत्प्रेक्षा से उठाई गई 'अंधकार जिसका कर्त्ता है और वैर

जिसका हेतु है ऐसे निगलने के कर्म' की अभेदोत्प्रेक्षा। कारण वही पूर्वोक्त है। और "कलिन्दजानीरभरेऽर्धमग्नाः" इस उदाहरण में भी शशिकिशोर के अभेद संबंध से और तन्मूलक ध्वान्तकर्तृक वैरहेतुक निगरण क्रिया के कर्म के तादात्म्य संसर्ग से उत्प्रेक्षा मानना भी उचित नहीं, क्योंकि ये विधेय नहीं।

निमित्त धर्म

(उत्प्रेक्षा का निमित्तरूप) धर्म भी दो प्रकार का है— एक स्वतः साधारण (विषय विषयी दोनों में रहनेवाला, जिसे 'अनुगामी' कहते हैं), दूसरा साधारण बनाने के उपाय द्वारा असाधारण होने पर भी साधारण कर लिया गया। उनमें से स्वतः साधारण के विषय में तो कुछ कहना नहीं है। रहा साधारण बनाने का उपाय; सो वह कहीं रूपक, कहीं श्लेष, कहीं अपह्नुति, कहीं बिंबप्रतिबिंबभाव, कहीं उपचार और कहीं अभेद का अध्यवसान (एक धर्म के प्रतिपादक शब्द में अन्यधर्म को प्रविष्ट समझ लेना) रूपी 'अतिशय' होता है। जैसे—

नयनेन्दिन्दिरानन्दमन्दिरं मिलदिन्दिरम्।
इदमिन्दीवरं मन्ये सुन्दराङ्गि! तवाऽऽननम्।

हे सुंदरांगि! नयनरूपी भौंरों का आनंद-स्थान और शोभा से संयुक्त यह तेरा मुख, मानो, कमल है।

यहाँ पूर्वार्ध में आया हुआ पहला धर्म 'भौंरों के आनंद का स्थान होना' **रूपक** ('नयनरूपी भौंरे) **द्वारा** विषय (मुख) और विषयी (कमल) दोनों में **साधारण कर दिया गया है।** और दूसरा 'शोभा से संयुक्त होना' रूपी धर्म भिन्न-भिन्न प्रकार की शोभाओं (क्योंकि मुख और कमल की शोभाएँ जुदे-जुदे प्रकार की हैं) का अभेद मानकर (अर्थात् **'अतिशय' द्वारा) साधारण कर दिया गया है।**

निमित्त धर्म **केवल शब्दात्मक** भी हो सकता है; जैसे—

अङ्कितान्यक्षसंघातैः सरोगाणि सदैव हि ।
शङ्के पङ्केरुहाणीति शरीराणि शरीरिणाम् ॥

मैं शंका करता हूँ कि—शरीरधारियों के शरीर कमल हैं। कारण, ये 'अक्षसंघातों' (इंद्रियसमूहों; अन्यत्र—कमलगट्टों के समूहों) से चिह्नित हैं। और 'सरोग' (रोग-सहित; अन्यत्र—सरोवर में रहनेवाले) हैं।

केवल शब्दात्मक धर्म उपात्त ही होता है। और अर्थ-रूप धर्म तो अनुपात्त भी हो सकता है; जैसे—"द्विनेत्र इव वासवः=(यह राजा) मानो दो आँखवाला इंद्र (है)" इत्यादि में 'जगत्पति होना' आदि।

आप कहेंगे—यहाँ 'दो आँखवाला होना' रूपी उपात्त धर्म ही साधारण धर्म है—'जगत्पति होने' आदि उपरान्त के धर्म की कल्पना ठीक नहीं; क्योंकि साधारण करने के लिए

ही तो विषयी (इंद्र) में उस ('दो आँखोंवाला होने' आदि) धर्म का आरोप किया गया है। पर यह आपका कथन ठीक नहीं। कारण, उस धर्म के साधारण कर देने पर भी; सुंदर न होने के कारण वह धर्म उत्प्रेक्षा को नहीं उठाता; क्योंकि चमत्काररहित धर्म उत्प्रेक्षा का निमित्त नहीं हो सकता। आप कहेंगे—तब यह साधारण करना किस मर्ज़ की दवा है ? तो हम कहते हैं—वह तो 'सहस्र आँख-वाला होने' रूपी उत्प्रेक्षा के प्रतिबन्धक धर्म के हटाने के लिए है; जैसा कि पहले कहा ही जा चुका है।

श्लेष द्वारा साधारण किया हुआ निमित्तधर्म; जैसे—

दृष्टिः संभृतमङ्गला बुधमयी देव ! त्वदीया सभा
काव्यस्याऽऽश्रयभूतमास्यमरुणाधारोऽधरः सुन्दरः।
क्रोधस्तेशनिभूरनल्पधिषण ! स्वान्तं तु सोमास्पदं
राजन् ! नूनमनूनविक्रम ! भवान् सर्वग्रहालम्बनम् ॥

राजा की स्तुति है—हे देव ! आपकी दृष्टि 'मंगल' (शुभ + मंगल ग्रह) से परिपूर्ण है; आपकी सभा 'बुधमयी' (प्रचुर विद्वानोंवाली + बुधग्रह-रूप) है; आपका मुख 'काव्य' (कविता + शुक्रग्रह) का आश्रय है; आपका सुंदर अधर 'अरुण' (ललाई + सूर्यग्रह) का आधार है; आपका क्रोध '(ऽ) शनि' ('अशनि = वज्र + शनिग्रह) का स्थान है;

और हे महामते ! आपका मन 'सोम' (सांब = । शिव + चंद्रग्रह) का निवास-स्थान है। (अत:) हे महापराक्रमी राजन् ! आप, निश्चय ही, सब ग्रहों के आलम्बन हैं—एक भी ग्रह ऐसा नहीं जो आपसे संबंध न रखता हो।

इस पद्य में 'सब ग्रहों के आलंबन' की (राजा में अभेद संबंध से) उत्प्रेक्षा की जा रही है। उस 'आलंबन' के धर्म हैं 'उन-उन ग्रहों से आश्रित अंगोंवाला होना'; क्योंकि जिसके अंगों में ग्रह आश्रित हों वही तो 'ग्रहों' का आलंबन कहा जा सकता है। वे धर्म "दृष्टि 'मंगल' से परिपूर्ण है" इत्यादि अनेक रूपों में आए हैं, उनके विशेषण रूप में आए हुए वे वे (अर्थात् मंगल आदि) ग्रह, उत्प्रेक्षा के विषय 'राजा' के धर्म 'शुभ से परिपूर्ण होने' आदि के विशेषण बने हुए 'शुभ' आदि धर्मों के साथ, श्लेष द्वारा, अभिन्न बना दिए गए हैं। अर्थात् यद्यपि 'मंगल ग्रह' का राजा के धर्म में किसी तरह प्रवेश नहीं हो सकता, तथापि 'मंगल' शब्द के दूसरे अर्थ 'शुभ' का प्रवेश उसके धर्म में हो सकता है। सो 'मंगल' शब्द में उन दोनों अर्थों का श्लेष होने के कारण वे अर्थ अभिन्न बना दिए गए हैं। और उस अभिन्न बनाने द्वारा वैसे (पूर्वोक्त) धर्मों की साधारणता सिद्ध हो जाती है।

अथवा जैसे—

विभाति यस्यां ललितालकायां
मनोहरा वैश्रवणस्य लक्ष्मीः ।

कपोलपालिं तव तन्वि ! मन्ये
नरेन्द्रकन्ये ! दिशमुत्तराख्याम् ॥

नायक नायिका से कहता है—हे कृशांगी राजकुमारी ! 'ललितालका' (सुंदर अलकोंवाली; अन्यत्र—सुंदर अलका पुरीवाली) और जिस पर 'वैश्रवण' (निश्चित रूपेण कानों; अन्यत्र—कुबेर) की मनोहर शोभा प्रकाशित हो रही है ऐसी तेरी कपोल-भित्ति को, मैं, 'उत्तर' नामवाली दिशा मानता हूँ।

यहाँ भी विषय ('कपोलभित्ति') का धर्म है 'सुंदर अलकोंवाली होना' आदि और विषयी ('उत्तर दिशा') का धर्म है 'सुंदर अलकापुरीवाली होना' आदि। इन धर्मों के विशेषणरूप में 'अलक' और 'अलका' तथा 'श्रवण' और 'वैश्रवण' आए हैं। उनके श्लेष द्वारा अभिन्न हो जाने पर धर्म की साधारणता हो गई।

अथवा जैसे—

नासत्ययोगो वचनेषु, कीर्त्तौ तथाऽर्जुनः, कर्मणि चापि धर्मः।
चित्ते जगत्प्राणभवो यदास्ते वशंवदास्ते किमु पाण्डुपुत्राः।

हे राजन् ! आपके वचनों में जो 'नासत्ययोग' (असत्य का योग नहीं; अन्यत्र—अश्विनीकुमारों = नकुल-सहदेव का संयोग) है; कीर्त्ति में 'अर्जुन' (श्वेतता; अन्यत्र—अर्जुन) है; कर्म में 'धर्म' (पुण्य; अन्यत्र—युधिष्ठिर) है; और चित्त

में 'जगत्प्राण भव' (परमेश्वर*; अन्यत्र—भीम) है, सो क्या पांडव लोग आपके वशवर्त्ती हैं ?

यहाँ 'पांडव' विषय हैं। उनमें 'राजा के वशवर्त्ती' की अभेद संबंध से उत्प्रेक्षा की गई है। यहाँ विषयी का धर्म है 'राजा के आश्रित होना' वह, श्लेषद्वारा, विषयों (पांडवों) का और विषयी में रहनेवालों—असत्य के अभाव, श्वेतगुण, पुण्य और परमेश्वर—का अभेद सिद्ध कर दिए जाने से विषयों के साथ साधारण कर दिए गए हैं।

अपह्नुति द्वारा निमित्त धर्म का साधारण करना; जैसे—

स्तनान्तर्गतमाणिक्यवपुर्बहिरुपागतम् ।
मनोऽनुरागि ते तन्वि ! मन्ये वल्लभमीक्षते ॥

हे कृशांगि ! स्तनों के मध्यवर्त्ती रक्तिमा-युक्त माणिक के रूप में बाहर आया हुआ तेरा अनुरागी मन, मानो, प्रियतम को देख रहा है।

यहाँ 'मन' में 'प्रियतम के देखने' रूपी धर्म की उत्प्रेक्षा की जा रही है। इस उत्प्रेक्षा का निमित्त 'मन का अंदर से बाहर आना' अपेक्षित है; क्योंकि बाहर आए बिना 'देखना' नहीं बन सकता। 'बाहर आने' का अर्थ है '(देह के) किसी

---

* 'जगत्प्राण भव' का नागेश ने 'हनुमान्' अर्थ भी किया है; पर पण्डितराज को परमेश्वर अर्थ ही अभीष्ट है। अतएव आगे विवेचन में उन्होंने 'परमेश्वर' अर्थ ही लिखा है।

बाहरी हिस्से से संबंध' रूपी धर्म, जो केवल 'माणिक' में रहता है, मन में उस धर्म का संभव नहीं; अतः माणिक की 'अपह्नुति' द्वारा (अर्थात् माणिक को छिपाकर) उस धर्म को 'मन में रहनेवाला' बनाया गया है।

बिंब-प्रतिबिंब-भाव (द्वारा धर्म का साधारण करना) तो "कलिन्दजानीरभरेऽर्धमग्नाः ......" इस पूर्वोक्त उदाहरण में लिखा ही जा चुका है।

उपचार द्वारा धर्म का साधारण करना; जैसे—

माधुर्यपरमसीमा सारस्वतजलधिमथनसंभूता ।
पिबतामनल्पसुखदा वसुधायां ननु सुधा कविता ॥

मधुरता की परम सीमा, सरस्वती-संबंधी (साहित्यरूपी) समुद्र से उत्पन्न हुई और पीनेवालों को महान् आनंददायिनी कविता, मानो, पृथ्वी पर अमृत है।

यहाँ कविता में मुख्य (वाच्य) 'मधुरता' और 'पीना' रूपी धर्म असंभव हैं; अतः 'आस्वादन' और 'सुनने' रूपी कविता के धर्मों को उपचार (लक्षणा) द्वारा (पूर्वोक्त) मुख्य धर्मों के साथ साधारण कर दिया गया है। और लक्षणा लाक्षणिक अर्थ को मुख्य अर्थ से अभिन्न रूप में समझाया करती है; अतः इन दोनों अर्थों को अभिन्न माना गया है।

केवल अभेद के अध्यवसान (अतिशय) द्वारा धर्म का साधारण करना; जैसे पूर्वोक्त "व्यागुञ्जन्मधुकरपुंजमंजु-

गीताम्......" इस हेतूत्प्रेक्षा में। वहाँ 'नीची शाखावाले' और 'झुकी गरदनवाले' इन दोनों विषय-विषयियों का साधारण धर्म 'गरदन झुकाना' लिखा गया है। उसकी दोनों में साधारणता करने का उपाय 'शाखाओं के नीचे होने' और 'गरदन झुकाने' के अभेद का अध्यवसान ही है—यदि 'गरदन झुकाने' शब्द से ये दोनों अर्थ न लिए जायँ तो 'गरदन झुकाना' दोनों अर्थों में किसी तरह साधारण नहीं हो सकता।

केवल यहीं नहीं, किंतु जहाँ जहाँ हेतु और फल की उत्प्रेक्षा की जाय वहाँ सब जगह, जिसके हेतु की अथवा फल की उत्प्रेक्षा की जाय वह पदार्थ, इसी तरह साधारण बनाया जाकर निमित्त माना जाता है—वहाँ सर्वत्र अप्रकृत धर्म में प्रकृत धर्म का अध्यवसान रहता है; यह बात बार बार समझा दी गई है।

कहीं कहीं निमित्तधर्म नहीं रहता, किंतु उसका उठानेवाला धर्म ही रहता है।

इसी तरह कहीं धर्म उपात्त होने पर भी, या तो विषय और विषयी दोनों में साधारण न होने के कारण, या सुंदर न होने के कारण, स्वयं उत्प्रेक्षा को साक्षात् उठाने में यद्यपि असमर्थ होता है—अर्थात् स्वयं निमित्त धर्म नहीं हो सकता; तथापि उत्प्रेक्षा के उठाने में समर्थ किसी अन्य धर्म के उप-

स्थित करने में अनुकूलता करने के कारण उत्प्रेक्षा में उपयोगी हो जाता है। जैसे—

द्यौरञ्जनकालीभिर्जलदालीभिस्तथावव्रे ।
जगदखिलमपि यथाऽऽसीन्निर्लोचनवर्गसर्गमिव ॥

आकाश, काजल-सी काली मेघों की पंक्तियों से ऐसे घिर गया; जैसे, मानो, सारे संसार में नेत्रहीनों के थोकों की सृष्टि हुई हो।

इस पूर्वोदाहृत पद्य में यद्यपि 'आकाश' का 'मेघ-पंक्ति से युक्त होना' रूपी धर्म ग्रहण किया गया है, तथापि वह 'जगत के नेत्रहीनों के थोकों की सृष्टि से युक्त होने' की उत्प्रेक्षा में उपयुक्त नहीं है; क्योंकि 'मेघों की पंक्ति से युक्त होना' और 'नेत्रहीनों के थोकों की सृष्टि से युक्त होना' ये दोनों धर्म साथ साथ नहीं रहते; और जो धर्म उत्प्रेक्षा किए जानेवाले धर्म के साथ न रहता हो वह धर्मोत्प्रेक्षा का निमित्त हो नहीं सकता। तथापि 'मेघपंक्ति से युक्त होना' 'सघन अंधकार' को सिद्ध करता है और उसके द्वारा 'नेत्र-संबंधी सब प्रकार के ज्ञान से रहित होना' रूपी धर्म सिद्ध हो जाता है, जो कि इस उत्प्रेक्षा का निमित्त है। इस तरह परंपरया निमित्त धर्म के उपस्थित करवा देने से 'मेघों की पंक्ति से युक्त होना' रूपी धर्म उत्प्रेक्षा में उपयोगी हो जाता है।

विषय का अपह्नव

'विषय' का भी उपात्त का तो निरूपण हो ही चुका है; क्योंकि अब तक के सभी उदाहरणों में विषय उपात्त ही आया है। पर कहीं यह (विषय) अपह्नुत (अपह्नुति अलंकार द्वारा छिपाया हुआ) भी होता है; जैसे—

जगदन्तरममृतमयैरंशुभिरानन्दयन्नयं नितराम्।
उदयति वदनव्याजात् किमु राजा हरिणशावनयनायाः॥

(अपनी) अमृतमय किरणों से जगत् के मध्यभाग को अत्यंत आनंदित करता हुआ, यह क्या, मृगशावकनयनी के मुख के मिष से, चन्द्रमा उदय हो रहा है?

यहाँ 'मुख'रूपी उत्प्रेक्षा का विषय, अपह्नुति अलंकार द्वारा, छिपा दिया गया है और इस छिपाने का फल है 'मुख में चंद्रमा के अभेद की संभावना का दृढ़ हो जाना'। अर्थात् इस तरह लिखने से उत्प्रेक्षा और भी दृढ़ हो जाती है।

द्वितीय भाग समाप्त

परिशिष्ट नं० १

पारिभाषिक शब्दों के अर्थ

उपक्रम

प्रस्तुत अनुवाद में संस्कृत के पारिभाषिक शब्द, यथासंभव, हिंदी में न आने देने का पूर्ण अवधान रखा गया है। इतने पर भी कुछ नव्यन्याय के शब्द ऐसे हैं कि जिनके समानार्थक शब्द, हिंदी तो क्या, शायद संसार की किसी भी प्रचलित भाषा में, बिना नवीन निर्माण के कदाचित् ही प्राप्त हो सकें; ऐसे शब्द कहीं कहीं आए ही हैं। उन सब का अनुवाद ठेठ हिंदी में तो असंभव ही था, और यदि उनके समानार्थक कुछ नए सरल शब्द तैयार किए भी जाते तो वे, संकेतज्ञान के अभाव तथा पर्याप्तार्थ-निदर्शक न होने के कारण, संस्कृत तथा हिंदी दोनों ही भाषाओं के अध्येताओं के लिये भ्रमजनक ही हो सकते थे। अतः इसकी अपेक्षा यही मार्ग सरल समझा गया कि ऐसे शब्दों की एक सूची ग्रंथ के अंत में दे दी जाय और उनके पारिभाषिक अर्थ—जहाँ तक हो सके—सरल हिंदी में समझा दिए जायँ। यद्यपि ऐसे पारिभाषिक शब्दों में से कुछ के अर्थ जहाँ-तहाँ टिप्पणी अथवा ब्रेकिट में भी दिए गए हैं, पर वे पर्याप्त और यथेष्ट सुविधाजनक

नहीं हैं। कारण, किसी महाग्रंथ के एक प्रकरण में आए अर्थ को बिना किसी विशेष संकेत के पुन: ढूँढ़ निकालना अति कठिन कार्य है, और यदि कोई संकेत कर भी दिया जाय तो भी अनेक शब्दों के अर्थों के लिये भिन्न भिन्न पृष्ठों को बार बार उलटते रहना, पाठकों को अनुभव होने में घोर असुविधाजनक होता है, और बार बार एक शब्द के विस्तृत अर्थ को दुहराते रहना अनुचित प्रपंचमात्र होता, अत: वैसे शब्दों की एक वर्णक्रम-सूची तैयार कर ली गई है और यथाशक्य उदाहरणादि सहित उनके सरल अर्थ नीचे लिखे जा रहे हैं—

१—**अतिव्याप्ति**—किसी व्यक्ति अथवा वस्तु के लक्षण का उसके अतिरिक्त किसी अन्य व्यक्ति अथवा वस्तु में चला जाना अतिव्याप्ति कहलाता है; जैसे 'गाय' का लक्षण 'सींग-वाला बनाया जाय तो इस लक्षण की भैंस आदि अन्य पशुओं में अतिव्याप्ति होगी।

२—**अध्यवसान**—उपमान (विषयी) उपमेय (विषय) में से किसी एक मात्र को लिखकर अन्य का उसके साथ मान लिया जानेवाला अभेद अध्यवसान कहलाता है; जैसे 'महलों की छतों पर चंद्रमाओं की पंक्तियाँ सुशोभित हो रही हैं' यहाँ चंद्रमारूपी उपमान के साथ कामिनियों के मुखों का अभेद मान लिया गया है।

३—**अनुयोगी**—जिस वस्तु में किसी वस्तु का संबंध अथवा सादृश्य बताया जाय वह अनुयोगी कहलाता है;

जैसे 'राम श्याम का लड़का है', 'कामिनी का मुख चंद्रमा के समान है' इन वाक्यों में क्रमशः राम और मुख अनुयोगी हुए।

४—**अन्यथानुपपत्ति**—जिस वस्तु के न होने के कारण अन्य वस्तु का होना असंभव हो जाय वहाँ अन्यथानुपपत्ति मानी जाती है; जैसे शब्द से अर्थ के ज्ञान में अन्यथानुपपत्ति के द्वारा 'संकेत ज्ञान' को हेतु माना जाता है, क्योंकि शब्द अर्थ दोनों के प्रत्यक्ष हो जाने पर भी—अर्थात् कानों से शब्द सुन लें और चीज सामने पड़ी रहे तब भी—बिना 'संकेतज्ञान' के अर्थावबोध असंभव है, जैसा कि संस्कृत या अँगरेजी न जाननेवाले के सामने संस्कृत या अँगरेजी में कहने पर होता है।

५—**अवच्छेदक**—जो धर्म न न्यून में रहे न अधिक में उसे अवच्छेदक कहते हैं; 'जैसे घट में घटत्व'। क्योंकि संसार का कोई घड़ा ऐसा नहीं जिसमें यह धर्म न रहता हो और न यह धर्म घड़े के अतिरिक्त किसी वस्तु में ही रहता है।

६—**अव्याप्ति**—अधूरे लक्षण में अव्याप्ति दोष समझा जाता है; जैसे गाय का लक्षण 'कपिलापन'; यह लक्षण अधूरा है, क्योंकि सभी गायें कपिला नहीं होतीं।

७—**असंगति**—प्रमाण के अभाव में किसी बात का ठीक ठीक न जमना असंगति कहलाती है; जैसे 'पृथिवी

चपटी है' यह बात असंगत है, क्योंकि इसमें पुरःस्फूर्तिक दृष्टि के अतिरिक्त कोई प्रमाण नहीं।

८—**असंभव**—जिस चीज का लक्षण बनावें उस चीज में उस लक्षण का सर्वथा न रहना 'असंभव' दोष कहलाता है; जैसे गाय का लक्षण 'एक खुरवाली होना'। यह लक्षण असंभव दोष से ग्रस्त है; क्योंकि कोई भी गाय एक खुरवाली नहीं होती।

९—**आत्माश्रय**—जहाँ स्वयं उस वस्तु के समझ लिए जाने पर ही वह वस्तु समझी जा सके वहाँ 'आत्माश्रय' दोष होता है; जैसे कोई बालक पूछे कि 'नकशे में काशी कहाँ है?' और उसका उत्तर दिया जाय कि 'जहाँ बनारस है', यहाँ आत्माश्रय दोष होगा, क्योंकि जो बनारस है वही काशी है, अतएव जब तक काशी का स्थान नहीं जान लेगा, तब तक बनारस का भी नहीं जान सकता।

१०—**आरोप**—जिसमें जो धर्म नहीं है उसको उस धर्म से युक्त बताना आरोप कहलाता है; जैसे 'मुखचंद्र', यहाँ मुख के चंद्रत्व धर्म से युक्त न होने पर भी उसे चंद्र (चंद्रत्व धर्म से युक्त) बताया जा रहा है। यहाँ इतना और याद रखना चाहिए कि साहित्य की परिभाषा के अनुसार जहाँ 'मुख' और 'चंद्र' दोनों शब्द लिखे हों, वहाँ आरोप माना जाता है और जहाँ एक को लिखकर दूसरे को अध्याहृत (understood) समझा जाय वहाँ अध्यवसान होता है।

११—**आहार्यज्ञान**—बाधित जानते हुए भी कल्पित ज्ञान को आहार्यज्ञान कहते हैं; जैसे 'मुख को चंद्रमा कहना' अथवा आग के लिये यह कहना कि 'अगर आग ठंडी हो जाय'। क्योंकि यहाँ प्रत्येक वक्ता यह जानते हुए भी कि, न तो मुख चंद्रमा हो सकता है, न आग ठंडी हो सकती है, इन बातों को मान लेता है।

१२—**उपमान**—जिसके साथ किसी की तुलना की जाय उसे उपमान कहते हैं, जैसे मुख की चंद्रमा के साथ तुलना की जाय तो चंद्रमा उपमान होगा।

१३—**उपमेय**—जिसकी तुलना की जाय वह उपमेय होता है; जैसे उपर्युक्त उदाहरण में मुख।

१४—**गौरव**—किसी भी बात के मात्रा से अधिक बढ़ जाने में गौरव दोष माना जाता है; जैसे जातिवाचक 'गौ' आदि पदों का जाति में संकेत न मानकर व्यक्तियों में माना जाय तो गौरव दोष होगा, क्योंकि व्यक्ति अनंत हैं, अत: अनंत बार अनंत संकेत मानने पड़ेंगे।

१५—**धर्म**—जो स्वतंत्र न रहकर केवल दूसरे के आश्रित ही रहे वह 'धर्म' कहलाता है, जैसे जाति, गुण, क्रिया आदि।

१६—**निर्विकल्पक ज्ञान**—किसी भी वस्तु को हम तभी ठीक ठीक समझ सकते हैं, जब उस चीज के विशेष धर्म (जाति आदि) को अच्छी तरह समझ लें; जैसे अँधेरे में

मनुष्य है अथवा खंभा—इस बात को हम तभी कह सकते हैं जब उस चीज में मनुष्यपन अथवा खंभापन का हमको पहले ज्ञान हो जाय। इस तरह यह सिद्ध होता है कि हम किसी भी व्यक्ति या वस्तु को ठीक ठीक तभी जान सकते हैं जब व्यक्ति अथवा वस्तु और विशेष धर्म (मनुष्यपन आदि) दोनों का ज्ञान हो। इस पूरे ज्ञान को **सविकल्पक ज्ञान** कहते हैं। इस तरह यह सिद्ध हुआ कि किसी भी वस्तु अथवा व्यक्ति का ज्ञान तो बिना विशेष धर्म के हो नहीं सकता, किंतु सविकल्पक ज्ञान के पूर्व जो विशेष धर्म (मनुष्यत्व आदि) का ज्ञान होता है वह निर्विकल्पक होता है, क्योंकि विशेष धर्म पर भी विशेष धर्म मानकर यदि उसे भी सविकल्पक ज्ञान माना जाय तो अनवस्था हो जायगी।

१७—**प्रकार**—किसी विशिष्ट (विशेषण सहित) वस्तु के विशेषण रूप में ज्ञात होनेवाले धर्म को प्रकार कहते हैं; जैसे 'घट' उस वस्तु का नाम है जिसमें घटत्वरूपी विशेष धर्म रहता है, अतः घट शब्द का अर्थ होता है 'घटत्व धर्म से युक्त वस्तु'। यहाँ 'घटत्व' धर्म प्रकार कहलावेगा और 'घट' पदार्थ विशेष्य। मोटे तौर से यह समझना चाहिए कि विशेषण को प्रकार कहते हैं।

१८—**प्रकृति**—शब्द का वह मूल भाग जिससे कोई भी प्रत्यय किया जाता है प्रकृति कहलाता है, जैसे 'जयपुरीय' शब्द में 'जयपुर' प्रकृति है और 'ईय' प्रत्यय।

१९—**प्रतियोगी**—जिस वस्तु का अभाव, संबंध अथवा सादृश्य बताया जाय वह वस्तु प्रतियोगी कहलाती है; जैसे 'कामिनी का मुख चंद्रमा के समान है' यहाँ चंद्रमा का सादृश्य कामिनी के मुख में बताया गया है, अतः चंद्रमा प्रतियोगी हुआ। यह अनुयोगी का बिलकुल उलटा है।

२०—**प्रातिपदिक**—बिना विभक्ति या (हिंदी की कारक दृष्टि से) केवल नाम को प्रातिपदिक कहते हैं, जैसे 'राम'।

२१—**लाघव**—किसी बात को बहुत न बढ़ाना पड़े और थोड़े ही में काम हो जाय तो वहाँ लाघव गुण होता है; जैसे 'सादृश्य' को अतिरिक्त पदार्थ न मानकर समानधर्म रूप मान लेने में। यह 'गौरव' दोष का बिलकुल उलटा है।

२२—**विषय**—संदर्भ में तुलना आदि के लिये प्रस्तुत वस्तु को विषय कहते हैं, जैसे उपमेय।

२३—**विषयी**—जिस अप्रस्तुत वस्तु को प्रस्तुत वस्तु के साथ तुलना आदि के लिये उपस्थित किया जाय उसे विषयी कहते हैं, जैसे उपमान।

२४—**व्यभिचार**—अभीष्ट भाग से अन्यत्र भी चले जानेवाले हेतु आदि में व्यभिचार दोष होता है, जैसे 'इस घर में आग है; क्योंकि इस घर का हमको पूरा पता है'। यहाँ 'क्योंकि हमको इस घर का पूरा पता है' इस हेतु में व्यभिचार दोष है। कारण, पूरा पता तो आपको घर का

ही नहीं, किंतु और कई चीजों का भी है, तो क्या उन सब चीजों में भी आग होनी चाहिए।

२५—**व्यापार**—किसी चीज से पैदा होकर उससे पैदा होनेवाली चीज को पैदा करनेवाले को व्यापार कहते हैं, जैसे लकड़ी के काटने में 'कुल्हाड़े और लकड़ी का संयोग'; क्योंकि वह कुल्हाड़े से पैदा होता है और 'लकड़ी के काटने' को पैदा करता है, बिना लकड़ी से मिले कुल्हाड़ा लकड़ी को काट नहीं सकता।

२६—**सविकल्पक ज्ञान**—देखिए (नं० १६) निर्विकल्पक ज्ञान।

२७—**संसर्ग**—एक पद के अर्थ से दूसरे पद के अर्थ के संबंध को शाब्द बोध में संसर्ग कहते हैं, जैसे 'पंडित रामचंद्र' इन पदों में पंडित और रामचंद्र इन दोनों पदों के अर्थों का अभेद संसर्ग है, क्योंकि जो पंडित है वही रामचंद्र है और जो रामचंद्र है वही पंडित है।

२८—**सामान्य लक्षणाप्रत्यासत्ति**—सविकल्पक ज्ञान के लक्षण (नं० २६ और १६) में यह बात अच्छी तरह समझा दी गई है कि—बिना किसी विशेष धर्म के किसी भी वस्तु का ज्ञान नहीं होता। वह विशेष धर्म 'त्व' प्रत्यय के द्वारा समझाया जाता है, जैसे गाय में 'गोत्व'। इस धर्म को 'सामान्य' (अथवा 'जाति') कहते हैं। हमें एक गौ के देखने पर जो अन्य गौओं का ज्ञान हो जाता है—हमारे ज्ञान

के अंदर अन्य सभी गौएँ प्रत्यक्ष रूप में आ जाती हैं—यह प्रत्यक्ष ज्ञान उपर्युक्त 'सामान्य' के द्वारा अथवा उस 'सामान्य' के ज्ञान द्वारा होता है। इस तरह उस अलौकिक प्रत्यक्ष करवा देनेवाले सामान्य अथवा ऐसे सामान्य के ज्ञान को 'सामान्य लक्षणाप्रत्यासत्ति' कहते हैं।

'हिंदी-रसगंगाधर' में आए हुए पद्यों की सूची

पद्य का प्रथमांश	पृष्ठांक
अ	
अकरुणहृदय	२४७, ५४३
अगाधं परितः पूर्णम्	४२३
अङ्कायमानमलिके	२३६
अङ्कितान्यक्षसंघातैः	१६२, ४८५
अतिमात्रबलेषु	३९०, ३९४
अत्युच्चाः परितः	४०९
अथ पक्वित्र	५०३
अद्य या मम गो	३७६
अद्वितीयं रुचा	२६०, २८३
अधरं बिम्बमाज्ञाय	५५५
अधिरोप्य हरस्य	५१७
अनन्तरत्नप्रभवस्य	२६३, ३९८
अनल्पजाम्बूनद	५८०
अनल्पतापाः कृत	५६९
अनवरतपरोपकरण	२३६
अनेकार्थस्य	८
अपारे संसारे विषम	४९६
अबलानां श्रियं हृत्वा	२८
अभिनवनलिनी	७२
अमितगुणोऽपि	३८९, ३९०
अमृतद्रवमाधुरी	२३८
अम्बरत्यम्बरं	३६९
अम्बा शेतेऽत्र वृद्धा	५३४
अम्भोजिनीबान्धव	५९७
अयं सज्जनकार्पास	४६५
अर्थिनो दातुमेवेति	५६२
अर्थिभिश्छिद्यमानो	३९७
अलससिरोमणि	८३
अलिर्मृगो वा	५३९
अविचिन्त्यशक्तिवि-	४८०
अविरतं परकार्य	४८४

पद्य का प्रथमांश	पृष्ठांक
अविरतचिन्तो लोके	३४५
अविरलविगल	२८१, ४९०
अस्यां मुनीनामपि	६१९
अस्याः सर्गविधौ	५२५
अहं लतायाः सदृशी	३५१
अहितापकरण	४५०
अहीनचन्द्रा लसता	४९८
आ	
आगतः पतिरिती	३३२
आज्ञा सुमेषोरवि	५२९
आत्मनोऽस्य तपो	४६६
आनन्दनेन लोकानाम्	२१०
आनन्दमृगदावाग्निः	४६४
आलिङ्गितो जलधि	२४३
आलोक्य सुन्दरि	५५८
आह्लादिनी नयनयोः	२६८
इ	
इत एव निजालयं	४०४
इदं लताभिः स्तबका	४१७
इदमप्रतिमं पश्य	४१८
इदमुदधेरुदरं वा	५३८
इन्दुना परसौन्दर्ये	५१५
इयति प्रपञ्चविषये	३६६
उ	
उदितं मण्डलमिन्दोः	९७
उन्मेषं यो मम	६२३
उपकारमस्य साधोः	४१९
उपकारमेव कुरुते	३९०, ३९४
उपरि करवाल	५६६
उल्लासः फुल्लपङ्के	४८७
ऋ	
ऋतुराजं भ्रमरहितं	४२३
ए	
एकीभवत्प्रलय	४०२
एतावति प्रपञ्चे सुन्दर-	३७२
एतावति प्रपञ्चेऽस्मि	३७०
एतावति महीपाल	३३३
क	
कनकद्रवकान्ति	५४५

पद्य का प्रथमांश	पृष्ठांक
कंदर्पद्विपकर्णकम्बु	४३३
कपाले मार्जार: पय	५६०
कमलति वदनं	२७०, ३६२
कमलावासकासार:	४५१
करतलनिर्गलद	६१
कलाधरस्येव कला	२१३
कलिन्दजानीरभरे	५९८
कलिन्दशैलादियमा	६०३
कलेव सूर्यादमला	२६८
कस्तूरिकातिलक	४९१
कस्मै हन्त फलाय	९६
काचित्काञ्चनगौराङ्गी	५३०
कातरा: परदु:खेषु	५६४
कान्त्या चन्द्रं विदु:	५५९
कारुण्यकुसुमाकाश:	४६५
काव्यं सुधा रस	४५४
कुङ्कुमद्रवलिप्ताङ्ग:	४६८
कुचकलशेष्वबलानाम्	२१८
कुरङ्गीवाऽङ्गानि	५१०
कुलिशमिव कठिन	३४५
कृतक्षुद्राघौघानथ	३६५
कृतं त्वयोन्नतं कृत्य	१०८
कृपया सुधया सिञ्च	४७६
कृष्णपक्षाधिकरुचि:	७५
कैशोरे वयसि क्रमेण	४७९
कोपेऽपि वदनं तन्वि	२१४
कोमलातपशोणाभ्र	१९२, २४२, ३१७
कौमुदीव भवती	३४३
क्वचिदपि कार्ये मृदुलं	४२२
ख	
खल: कापट्यदोषेण	२५०
ग	
गगनाद् गलितो गभस्ति	५४०
गगने चन्द्रिकायन्ते	५६५
गङ्गा हृद्या यथा	३६७
गाम्भीर्येणातिमात्रेण	३६०
गाहितमखिलं विपिनम्	२१८
गीष्पतिरप्याङ्गिरसो	१२१
गुञ्जन्ति मञ्जु	८३
गुरुजनभयमद्विलो	१९६

पद्य का प्रथमांश	पृष्ठांक
ग्रीष्मचण्डकरमण्डल	२०८
च	
चपला जलदाच्च्युता	५२१
चराचरोभयाकार	४१४
चलद्भृङ्गमिवाम्भोज	२४२
चाञ्चल्ययोगि	२६
चिराद्विषहसे तापं	५१३
चोलस्य यद्भीति	६२४
ज	
जगदन्तरममृत	६६१
जडानन्धान्पङ्गून्	५८३
जनमोहकरं तवालि	६१२
ज्योत्स्नाभमञ्जुहसिता	२७१
ढ	
ढुँढुगन्तो हि मरीहसि	२१२
त	
तदवधि कुशली	९८
तद्रूपकमभेदो य	४२६, ४३८
तद्गुना युगपद्‌	३५६
तं दृष्टवान्प्रथम	५२२
तया तिलोत्तमीयन्त्या	२२०
तरणितनया किं	५२०
तारानायकशेखराय	४६६
तिमिरं हरन्ति	४६२
तीरे तरुण्या वदनं	५२८
तुषारास्तापसव्राते	५६४
त्वत्पादनखरत्नानां	४३२
त्वत्प्रतापमहादीप	६०८
त्वदालेख्ये कौतूहल	५८२
द	
दयिते रदनत्विषां	१०३, ५८१
दरानमत्कंधर	४०५
दर्पणे च परिभोग	५३१
दशाननेन दर्पेन	२४४
दासे कृतागसि	५०३
दिवानिशं वारिणि	६१३
दीनव्राते दयार्द्रा	५६३
दृष्टिः संभृतमङ्गला	६५४
देवाः के पूर्वदेवाः	१००, ४५२
दोर्दण्डद्वयकुण्डलो	४००
द्यौरञ्जनकाली	६०५

पद्य का प्रथमांश	पृष्ठांक
द्राक्षेव मधुरं वाक्यं	३२९
द्विनेत्र इव वासवः	६०६
द्विर्भावः पुष्पकेतोः	४९९
ध	
धर्मस्यात्मा भाग	४४९
न	
नगरान्तर्महीन्द्रस्य	२७२
नगेभ्यो यान्तीनां	३७९
नदन्ति मद	९४, २५७
न नगाः काननगाः	६१३
न मनागपि राहु	९३
नयनेन्दिन्दिरानन्द	६५२
नरसिंह धरानाथ	५११
नरैर्वरगतिप्रदे	५१७
नवाङ्गनेवाङ्गणेऽपि	३३९
नासत्ययोगो वचनेषु	६५६
निःसीमशोभासौभाग्यं	६१२
निखिलजगन्मह-	२१०
निखिले निगम	३४४
नितान्तरमणीयानि	६११
निधिं लावण्यानां	६१७
निरपायं सुधापायं	२१७
निरुपादानसंभारम्	७६
निर्भिद्य क्ष्मारुहाणाम्	९६
नीलाञ्चलेन संवृत	३३६
नीवीं नियम्य	२५८
नृणां यं सेवमानानां	२३१
नृत्यत्त्वद्वाजिराजि	५५६
नेत्राभिरामं रामाया	५३६
प	
पञ्चशाखः प्रभो	४८५
परस्परासङ्गसुखात्	६०९
पान्थ मन्दमते किं वा	५१६
पूर्णमसुरै रसातल	३८७
पृष्टाः खलु परपुष्टाः	३७९
प्रफुल्लकह्लारनिभा	३२७
प्राची संध्या समुद्यन्	४५२
प्राणापहरणेनासि	२०९
प्राणेशविरहक्लान्तः	४८६
प्राप्तश्रीरेष कस्मात्	४६२
प्रायः पतेद् द्यौः शकली	५९०

पद्य का प्रथमांश	पृष्ठांक
ब	
बधान द्रागेव द्रढिम	१०९
बाहुजानां समस्तानाम्	६०५
बुद्धिरर्चिर्महीपाल	४९४
बुद्धिर्दीपकलालोके	४४८
भ	
भवग्रीष्मप्रौढातप	४४६
भानुरग्निर्यमो वायं	५६१
भासयति व्योमगता	५७०
भुजभ्रमितपट्टिशो	४०१
भुजो भगवतो भाति	१९४
भुवनत्रितयेऽपि	३८१
भूधरा इव मत्तेभा	२७९
भूमीनाथ शहाबदीन	३८१
म	
मकरप्रतिमैर्महा	२७१
मनुष्य इति मूढेन	५८०
मयि त्वदुपमाविधौ	३८६
मरकतमणिमेदिनी	५२०
मलयानिलमनलो	२१५
महर्षेर्व्यासपुत्रस्य	४९७
महीभृतां खलु गणे	२७४
माधुर्यपरमसीमा	६५८
मीनवती नयनाभ्यां	४८१
मुनिः श्वदयं भाति	३२७
मृगतां हरयन्मध्ये	२७७
मृद्वीका रसिता	८६
य	
यच्चोराणामस्य च	२२४
यथा तवाननं चन्द्रः	२५५
यथा लतायाः स्तबका	२५१
यद्भक्तानां सुखमयः	२३२
यद्यनुष्णो भवेद्वह्निः	१६९
यमः प्रतिमहीभृतां	५६६
यशःसौरभ्यलशुनः	४८७
यस्य तुलामधि	२११
यान्त्या मुहुः	२४६
र	
रजोभिः स्यन्दनो	३०८
रणाङ्गणे रावण	३३१
रमणीयस्तबकयुता	३०४
रम्यहासा रसोल्लासा	१०५

पद्य का प्रथमांश	पृष्ठांक
रराज राजराजस्य	३३१
राजा दुर्योधनो	२७७
राजा युधिष्ठिरो	२७६
राजेव संभृतं कोषं	३३३
राज्ञो मत्प्रतिकूलान्मे	७७
राज्याभिषेकमा	६०२
रामं स्निग्धतरश्यामं	५५४, ५८९
रामायमाणः श्रीरामः	३६८
रूपजला चलनयना	४४६
रूपयौवनलावण्य	२३४
रूपवत्यपि च क्रूरा	२५१
ल	
लङ्कापुरादतितरां	३६९
लोहितपीतैः कुसुमैः	३६३
व	
वदनकमलेन बाले	५९०
वदने विनिवेशिता	५७४
वनितेति वदन्त्येतां	५५८
वराका यं राका	६१०
वागिव मधुरा	२७९

पद्य का प्रथमांश	पृष्ठांक
वामाकलितवामाङ्गो	३२९
वारिधिराकाशसमो	३४६
विज्ञत्वं विदुषां गणे	४८९
विद्धा मर्मणि वाग्बाणै	५०८
विद्वत्सु विमलज्ञाना	५६५
विद्वद्दैन्यतमस्त्रिमूर्त्ति	५४०
विद्वन्मानसहंस	१६४
विभाति यस्यां ललिता	६५५
विमलतरमतिगभीरं	२८२
वियोगवह्नि	६१५
विलसत्याननं तस्या	१९०
विष्णुवक्षः स्थितो	३३०
व्यागुञ्जन्मधुकर	६१०
श	
शतकोटिकठिनचित्तः	२४७
शनिरशनिश्च	७९
शरदिन्दुरिवाह्लाद	२४१
शान्तिमिच्छसि	५०८
शिञ्जानैर्मञ्जरीति	५४८
शिशिरेण यथा	२३८
शोणाधरांशुसंभिन्ना	२१९

पद्य का प्रथमांश	पृष्ठांक
श्यामं सितं च	५७२
श्यामलेनाङ्कितं	२४८
स	
संकेतकालमनसं	५३३
सङ्ग्रामाङ्गणसंमुखा	५७५
सदसद्विवेकरसिकैः	३८७
सदृशी तव तन्वि	३४२
सन्त्येवास्मिञ्जगति	४१६
सपल्लवा किं नु	५३७
समृद्धं सौभाग्यं	४८३
संपश्यतां तामति-	५३६
सरसि प्लवदाभाति	३२८
सरोजतामथ सतां	२७८
सर्प इव शान्तमूर्तिः	२५६
साम्राज्यलक्ष्मी	५२७

पद्य का प्रथमांश	पृष्ठांक
साहंकारसुरासुरा	१०१
सिन्दूरारुणवपुषो	२४९
सिन्दूरैः परिपूरितं	५२२
सुधेव वाणी	२१५
सुविमलमौक्तिक- ४३३	४६१
सैषा स्थली यत्र	६३८
सौमित्रे ननु सेव्यतां	४०८
स्तनान्तर्गतमाणिक्य	६५७
स्तनाभोगे १८९, २०१,	३६४
स्मयमानाननां तत्र	५७०
स्मितं नैतत्किंतु	५७१
ह	
हरिचरणनख-कमल	२१०
हरिचरणनखर	५६२
हलाहलकालानल	६१५

शुद्धि-पत्र

पृष्ठ	पङ्क्ति	अशुद्ध	शुद्ध
३	२	प्रोढोक्ति-सिद्ध	प्रौढोक्तिसिद्ध
७	५	रह जाता है	रह जाती है
१४	४	अतः इसमें	इसमें
१६	२	इसलिए आप	सो
३२	६	इत्यादि	इत्यादि में
४०	१८-१६	साहचार्य	साहचर्य
४१	५	उदाहरण लेना	उदाहरण होना
६३	६	(देखिए पृ० ११)	(देखिए पृ० २२)
८५	१६	उद्धार	उभार
११३	१८	अर्थात् (शब्दार्थबोध)	(अर्थात् शब्दार्थबोध)
११४	८	'शब्द का	शब्द का
११४	६	शब्दार्थबोध	'शब्दार्थ बोध
१३२	२	अव्यवस्थ	अव्यवस्था
१४४	टि० ६	और	है और
१५०	१८	(मुख्य शब्द···)	(मुख शब्द···)
१५२	१	(विषयवाचक)	(विषयिवाचक)
१५४	१५	प्रयोजन=ज्ञान	प्रयोजनज्ञान

पृष्ठ	पङ्क्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१७४	१	सदृश'	सदृश' में
१६४	१२	चञ्चच्चाणूरचूर्णने	चञ्चंश्चाणूरचूर्णने
२२४	१०	शरद्राका मृगांकति	शरद्राकामृगाङ्कृति
२६६	१६	इवाऽयिघरणि	इवाऽधिधरणि
२७०	१८	यस्या मलयन्त्यलका	यस्यामलयन्त्यलका
२७०	२१	सांपों के समान	भौंरों के समान
२७२	१०	उपमा को	उपमा के
२६३	१८	'से और अभिन्न'	'से' और 'अभिन्न'
२६३	१६	'से'	से
३७६	४	गोविन्द ?	गोविन्द !
३७६	१२	सं···ध	संबन्ध
३८६	५	क्रुद्धं	क्रुधं
४१२	१६	प्रेमान्	प्रेयान्
४२०	३	"शंख" की	"शंख की
४२७	२०	चिंतादिमूलक	चिंतादिमूलक का
४२६	४	तत्पाद	त्वत्पाद
४५२	५	दग्धाशन	दुग्धाशन
४५७	८	चन्द्रिकाचन्द्री	चन्द्रिकाचन्द्रो
४६०	११	यही	यहाँ
४७७	२	यह	यह है
४८६	४	व्याधिमत्वान्	व्याधिमत्त्वान्

पृष्ठ	पङ्क्ति	अशुद्ध	शुद्ध
५०२	१६	आंशिक के	आंशिक
५१६	११	झट से	०
५२१	१०	निरगौवीदथ	निरगौषीदथ
५४७	८	अनुभव 'तादृश'	अनुभव
५४९	५	उसकी	उल्लास (उठने) की
५५८	३	ज्ञानको	ज्ञानका
५७५	७	कियाद्विश्वम्भरा	कियद्विश्वम्भरा
५७९	१८	अनिह्नुति	अनिह्नुत
५८२	११	पौष्यं	पौष्पं
६१०	३	मुदयत्रया	मुदयन्त्रपा
६१०	१६	मानो, प्राप्त हो जाने के कारण	प्राप्त हो जाने के कारण, मानो,
६१५	१६	क्रिया-फलोत्पेक्षा	क्रियाफलोत्प्रेक्षा
६१२	२२	प्रकृतस्य समेन	प्रकृतस्य समेन यत्
६२४	१५	को और 'हर्ष के	को 'हर्ष के
६२८	३	'आश्रयता'	'आश्रयता' है
६३५	टि० ४	वह भाव	वह भाग
६२९	६	अनुपात	अनुपात्त
६४४	८	'कर्त्ता' की	अथवा 'कर्त्ता' की
६५५	१	सांब=।	सांब=